सस्ता साहित्य मंडल का ११५ वाँ ग्रन्थ

पुरुषार्थ

रचयिता—
डाक्टर भगवानदास,
(एम. ए., कलकत्ता ; डी. लिट्., बनारस
तथा इलाहाबाद युनिवर्सिटी)

प्रकाशक—
सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली,
संवत् २००० वि० (जनवरी १९४४ ई०)

प्रथम संस्करण, १०००;

मूल्य, ३ रु. तीन रुपया ।

मुद्रक—
विश्वनाथ प्रसाद
ज्ञानमंडल यन्त्रालय,
बनारस

पुरुषार्थ की विषय-सूची

प्रस्तावना पृष्ठ १—११

अध्याय १— १

साहित्य का पूर्ण रूप—चार पुरुषार्थ के चार शास्त्र १-६८

(ऋषि-वदन, १, साहित्य का प्रयोजन, ३; 'साहित्य' शब्द का पूरा अर्थ, ७; धर्मशास्त्र, इतिहास-पुराण, ८; राज-धर्म, १५; अर्थशास्त्र, १८; कामशास्त्र, कलाशास्त्र, २१; मोक्षशास्त्र, २६, देश और जाति के विविध अङ्गों की जाग, २८; व्यापक भाषा की आवश्यता, ३२; हिन्दी या हिन्दुस्तानी, ३३; एक लिपि और विविध भाषाओं के शब्द, ३७; लेख और ग्रन्थ, ४२; पुराने यशो का नया रूप, ४९; गुणग्रहण की आवश्यकता, ५२; तथा दोपत्याग की, ५२, साहित्य-सम्मेलन के कार्य, ५३; ग्रंथ निर्माण के अधिकारी, ५५; नारद और व्यास का समागम, ५७; चतुरङ्ग साहित्य का परिशिष्ट, ५८)

अध्याय २—हिन्दी साहित्य ६९-१२०

(क्षमापन, ७०, पुलकी भवति पठितः, ७२; पुस्तकों की रक्षा, ७३, उत्तरदातृत्व, ७४, शास्त्रीय ग्रंथ, ७८; कैसे ग्रन्थो की आवश्यकता है, ७९; 'अपूर्व' और 'अनुवाद', ८२, राजनीति, ८३, राजा और राज्य की उत्पत्ति, ८४, 'प्रजा' का अर्थ, ८५, वैदिक धर्म, ८८, मात्य और शालीन, ८९, विज्ञान, ९०, राष्ट्रीय शिक्षा, ९०, मोक्ष शास्त्र, ९२; भागवत का अनुवाद, १०४, रसों की सख्या, १०५)

(चीन देश की एक कविता का अनुवाद, १२०)

अध्याय ३—रसमीमांसा १२१-१७६

("रसो वे सः", साहित्य और सँहित्य, १७७ , 'रस' क्या है ? उसके कितने भेद है, और क्यों ?, १२४ ; 'रस' के

अति-सेवन के दोष, १४१; रस के भेदों की उत्पत्ति, अस्मिता, १४६; सुख-दुःख, राग-द्वेष, १४७, राग और द्वेष के तीन तीन मुख्य भेद, १४९; राग-द्वेष का और भावों तथा रसों का सम्बन्ध, १५१; भाव, १५१; स्थायी, सचारी, व्यभिचारी भाव, १५२; अनुभाव, अलङ्कार, सात्त्विकभाव, १५३, ध्रुव की कथा मे अनुभावों का वर्णन, १५४, विभाव, १५६, रागद्वेषोत्थ षट्क् के शब्दों मे स्थायी भाव, १५७; हास मे दर्प; नारायण-उर्वशी की कथा, १५७; भक्ति मे पूजा, वात्सल्य मे दया, उत्साह मे रक्षा-बुद्धि करुणा, विस्मय मे आदर, १५९; शान्त मे विराग तथा अन्य सब रस, १६०, राग-द्वेषात्मक स्थायिभाव, १६२, सर्वव्यापिनी अस्मिता, १६३, रस-सकर, १६४, अपने अनुभव की एक कथा, १६५, मनमाना कानून, १६७, आध्यात्मिक कारण, समाज की अपरिहार्य क्रूरता, १६७, ग्रामगीत मे करुणा-रस, १६८, रामावतार की करुणामय कथा, १७०, कृष्णावतार की करुणामयता, १७३, आत्मसम, १७३, निष्कर्ष, १७४; करुणामय जगन्नाटककार की वन्दना, १७४)

([illegible] की एक उर्दू कविता का हिन्दी अनुवाद, १७६)

अध्याय ४—कामाध्यात्म,

कामशास्त्र के आध्यात्मिक तत्त्व १७७—४६[illegible]

मनुष्य की तीन प्रधान एषणा—आहार, परिग्रह, सन्तान, [illegible] की उत्पत्ति, १७८, [illegible], १८०; [illegible], १८[illegible], [illegible] [illegible], [illegible] आदि [illegible], १८[illegible]; [illegible] [illegible], १८[illegible], दोनों मार्गों के [illegible];

रूप और दो अवान्तर रूप, १८९; प्रवृत्ति मार्ग का प्रधान पुरुषार्थ—'धर्म' से अर्जित 'अर्थ' से परिष्कृत 'काम'-सुख, १९२; काम-सामान्य, १९३; काम-विशेष, १९७; काम के अन्य अर्थपूर्ण नाम, २०२, ब्रह्मचर्य के गुण, २०५; क्षय रोग और हस्त-मैथुन आदि, २०७; कामविषयक शिक्षा का प्रकार और प्रचार, २१६, टिप्पणी—ग्रन्थ के छपने मे विलम्ब के हेतु, अन्य अनिवार्य कार्य, २४१-२४९, मानस आधि और शारीर व्याधि, दो दृष्टिया, अतर्मुख और बहिर्मुख; भारत की और पाश्चात्य देशो की दशा, राज-कर्मचारियों के घोर दोष; तृतीया प्रकृति, २५०-२७१, ब्रिटेन आदि की दशा, २७२; काम-विकार जनित रोग, रोग-दोष से सावधानता, २९२; साव-धानः सदा सुखी, २९७; वैज्ञानिको की नवीन अन्तर्मुख-प्रवृत्ति की दूसरी धारा, 'साइको-ऐनालिसिस', २९९; व्यक्तिवाद और समाजवाद, ३०१, अधिभूत से अध्यात्म गुरुतर, ३०२; इस विषय का समग्र तथ्य, ३०८, काम-विषयक शिक्षा, ३१५)

(सर्वाङ्गीण काम शास्त्र की रूप-रेखा, उसके तीन अग, ३३०; ज्ञानाङ्ग—शारीर स्थान; स्त्री-पुरुष की प्रजनन-इन्द्रियाँ, इनके रोग; विवाह के प्रकार; पति-पत्नी-सम्बन्ध, विवाह को सुखमय बनाने के उपाय, सन्तानोत्कर्ष, सन्तान-निरोध; उत्तम और अल्प-सख्यक अपत्य, सौशील्य, ३३०, गर्भ-स्थान, ३८८; पारदारिक और वैशिक; इनके घोर दोष, ३९२। इच्छाङ्ग वा रसाङ्ग—वधू वर का परस्पर प्रेम-वर्धन, ४०२ अष्टाङ्ग मैथुन, इन अङ्गो के गुण-दोष, नवधा नवाङ्गा भक्ति, अष्टाङ्ग योग, ४०३, भिन्न प्रकृतिक सतति, ४०६, तृतीया प्रकृति, ४०९। क्रियाङ्ग—गार्हस्थ्य की सामग्री, चतुःषष्टि कला। औपनिषदिक वाजीकरणादि, 'सर्कम्-

विज्ञान'—कर्ण-वेध?—आदि, 'कन्या' शब्द का अर्थ, ४१५)

(वात्स्यायन-कृत काम-सूत्र, कामशास्त्र का इतिहास, वात्स्यायनीय काम-सूत्र के गुण-दोष, हिन्दी मे, सर्वाङ्गीण कामशास्त्र का नया ग्रन्थ रचने के लिए, एतद्विषयक पाश्चात्य गवेषणाओं और उत्तम ग्रन्थों से भी सामग्री लेने की नितान्त आवश्यकता, चेतावनी, ४२३-४३९, समापन, ४४०)

परिशिष्ट १ ४४२-४५५

(बच्चों की शिक्षा, 'दादाजी' और पौत्र-पौत्रियों की प्रश्नोत्तरी) ,,

परिशिष्ट २ ४५६-४६०

(नव-विवाहित वर-वधू के लिये दो शब्द, ४५६-४६०)

भागवत के एक श्लोक का अनुवाद ४६०

(सर्वभावमय कृष्ण, ४६०)

अध्याय ५—विवाह और वर्ण; चतुःपुरुषार्थ-साधक वर्णाश्रम धर्म मे अन्तर्वर्ण (अ-स्व-वर्ण) विवाह का स्थान ४६१-५८०

(विवाह प्रथा के शोधन के लिये नये विधान की आवश्यकता, उपयुक्त विधान, ४६१, ज्ञाति मे विचार की आवश्यकता, ४६३, हिन्दू धर्म की विशेषता, ४६४, 'अति' के दोष ४६६, कुटुम्ब और समाज, ४६८, आत्म-कल्पना की [illegible] का [illegible], ४६९, हिन्दू 'धर्मशास्त्र', कहानी मात्र, ४७०, प्राचीन '[illegible]' का रूप और उसके वैज्ञानिक आधार, [illegible] अर्थ शास्त्र; समाज शास्त्र, राजनीति [illegible], [illegible] शास्त्र, ४७१-[illegible] का पुनरुद्धार, [illegible]; नये [illegible], [illegible]; धर्म शास्त्र, इस के

पक्ष में, ४८८. विधान किसी को विवश नहीं करता, ४८८; वर्ण में उपवर्ण ४८९; हिन्दू रीति-रिवाजों की व्यामोहक अनन्त भिन्नता, ४८९; 'वर्ण' का सच्चा अर्थ—पेशा, ४९१; 'वर्ण' का परिवर्त्तन, गोत्र के परिवर्त्तन के ऐसा, ४९२, वर्ण-नाम-परिवर्त्तन के प्रवर्त्तमान प्रकार, ४९३ पुरानी परिपाटी का उद्धार, ४९८; दृष्टियों का समन्वय, ५००, अभीष्ट मध्यमार्ग; वर्ण-परिवर्त्तन के सैकड़ों पौराणिक उदाहरण, ५०१, 'हिन्दुत्व' के बाह्य लक्षण, ५११, अन्य समाजों से तुलना, ५१२, कुरूपता का कारण—किसी एक अंग की अति वृद्धि या ह्रास, ५१३; शास्त्रीय विचार, ५२०, आरोग्य शास्त्र और सु-संतति शास्त्र, ५२६, ज्योतिष के विचार, ५२७, पारस्कर गृह्य-सूत्र और जीविका-वर्ण, ५२८. 'सवर्ण-विवाह' और 'वर्ण-संकर' का सच्चा अर्थ, ५२९, अस्पृश्यता का प्रश्न, ५३१, प्राणहारक शब्द और प्राणकारक भाव, ५३१; सच्ची 'कर्मणा' वर्ण-व्यवस्था की सर्वसमाहरकता, और विशेषता, ५३३, साम्प्रतकालीन भारत में सत्सिद्धान्तों की उपेक्षा, ५३८; तीन मूढ़ग्राह, ५३९: एक-विवाह के, तथा विवाह-सम्बन्ध-विच्छेद के, विषय में विचार, ५४५—५५६, 'अन्तर्वर्ण-विवाह' में कई आपत्तियों का निवारण, ५५६, वर-वधू की परस्पर प्रतिज्ञाएँ, ५६१; हिन्दू रीतियों का एक 'अपूर्व' दृष्टान्त, ५६६; कानून की आवश्यकता, और औचिती, ५६९; संक्षिप्त निष्कर्ष और समाप्ति, ५७८)

अध्याय ८—चतुः पुरुषार्थसाधक विश्वव्यवस्था-कारक विश्वधर्म ५८१–६३३

(विश्व-व्यवस्था और विश्वधर्म· मत-भेद का मुख्य स्थान—'जन्मना' वा, 'कर्मणा' वा ?; 'सामान्य' और 'विशेष', ५८१;

'विश्वधर्म' कोई विशेष धर्म नहीं, ५८५; 'वैज्ञानिक' शब्द का अर्थ, ५८६; 'विश्व-धर्म' का अर्थ; उसकी रूपरेखा, ५९०, साम्प्रदायिक उपद्रव, उनके उन्मूलन का उपाय; 'धर्म सर्वस्व', 'सामासिक धर्म', व्यवहार मे कैसे लाया जाय, ५९३; 'छिद्य-त्यन्तरितो जनः' राजनीतिक व्यवहार, ५९६, लक्ष्यभूत 'ब्रिटेन-भारत सघ' और उसके द्वारा 'मानव-जगत्-सघ,' ५९७, सर्व-धर्म-सम्मेलन सभाएँ, ५९८, क्या 'सामान्य' पर जोर देने से 'विशेष' भूल जायगा ?, ५९९, 'जन्मना वर्णः' का प्रत्यक्ष दुर्विपाक, ६०१; कौन वर्ण-व्यवस्था सनातन और व्यावहारिक है ?, ६०२; 'भारतवर्ष की, समाज-शास्त्र को, खास देन', ६०२, सवर्ण और समर्ण का द्वद्व, ६०३, एक सदिग्ध अभ्युपगम, ६०२; 'सब' को मानना, या किसी एक 'विशेष' को मानना ?, ६०४; 'अहं एव, मम धर्म एव, श्रेष्ठतम.' के हठ का फल, ६०७, वर्त्तमान समय क्या चाहता है, ६०९, 'विश्वधर्म' से व्याप्त 'विश्व-व्यवस्था' की रूपरेखा, ६०९, 'वर्ण' का निर्णय कौन करे, 'डिग्री' कौन दे ?, ६१२, कुछ प्रतिप्रश्न, ६१४, सस्थाओं, [illegible]ितियों, आचारों की, कालप्रवाह मे, विकृतियाँ, ६१७, सुधार की आवश्यकता, प्रतिपक्षियों को भी स्वीकार, पर क्या सुधार ?— [illegible], ६१०, 'शास्त्र' शब्द का क्या अर्थ, ६२०; [illegible] ६२१, पुनरपि [illegible] निवेदन—[illegible] [illegible] बनावें, ६२६; [illegible] को [illegible] करने की आवश्यकता, [illegible] [illegible], ६२९; [illegible], ६३१; [illegible], ६३२)।

प्रस्तावना

(श्री इन्दिरारमण शास्त्री लिखित)

श्रद्धेय डाक्टर श्री भगवान् दास जी के लिये मेरे मन में जैसी श्रद्धा है, उसका पूरा वर्णन यदि करूँ, तो वह सज्जन उस को अतिरञ्जित समझेंगे, जिन को निकट से उनका रहन-सहन, आचार-विचार, शास्त्राभ्यास और लोक-व्यवहार देखने सुनने का अवसर नहीं मिला है, जैसा मुझको दस बारह वर्ष से मिला है। उन्हीं के ग्रन्थ के आरंभ में उस सब का लिखना प्रायः उचित भी न होगा; यद्यपि, भारत-जनता के समष्टि-चित्त ने जो 'श्रद्धेय' की पदवी उनको दे रक्खी है, उससे ऐसी अनौचिती का स्यात् परिमार्जन हो जाता।

मनीषि-प्रवर ग्रन्थकार के परिचय के लिये, उनका नाम ही पर्याप्त है। स्थानीय, दैशिक, तथा सर्वमानवीय लोकसेवा के उनके कार्यों से देश-विदेश के बहुतेरे सज्जन—विशेषत विद्वान् जन—परिचित हैं। उन्हो ने अपने जीवन के विगत पचास वर्षों मे अनेक लोकाऽभ्युदयिक व्यावहारिक काम भी किये है; पर इन सब से अधिक महत्त्वशाली और

---

१ श्री इन्दिरारमण जी के और मेरे परस्पर सौहार्द के आरम्भ और वृद्धि की कथा, उनके रचे 'मानव आर्ष भाष्य' नाम के, सद्विचार और सद्विद्या से पूर्ण, ग्रन्थ के आरम्भ मे, मैं ने 'परिचायन' मे लिखा है। शास्त्री जी ने, 'पुरुषार्थ' के लिये जो 'प्रस्तावना' लिखी है, उसमे, इस सौहार्द के हेतु से, पक्षपात तो बहुत है, तो भी उसको यहाँ स्थान देना उचित जान पड़ा, संस्कृत शास्त्रों के एक बहुश्रुत उत्कृष्ट विद्वान् के चित्त पर, ग्रन्थ का क्या प्रभाव पड़ा, चाहे पक्षपात से उसमे अतिरञ्जन भी कुछ हो, इसका जानना, पाठक सज्जनो को प्राय रुचिकर ही होगा—ग्रन्थकार।

परार्थ-परमार्थ-पथ-प्रदर्शक उनका बौद्धिक शास्त्र-कर्म है। आप ने हिन्दी, अंग्रेज़ी, तथा संस्कृत में, लोक-कल्याण-प्रवर्तक बहुत ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें एक यह 'पुरुषार्थ' है, जो अब प्रकाश हो रहा है।

ग्रन्थ-विषय-आलोचन

यह सद्-ग्रन्थ, अपने विषय को स्वतः अति स्पष्टता से प्रकट करता है; एक बार पढ़ने में ही सुज्ञ सज्जनों को यह सुज्ञात होगा। इस ग्रन्थ के उपक्रम और उपसंहार को देखने से, तथा २४१–२५० पृष्ठों पर लिखित, "कुछ निजसम्बन्धी, कुछ शास्त्रविषयक, निवेदन" शीर्षक वाली टिप्पणी में भी, ग्रन्थकार और ग्रन्थ के सम्बन्ध की बहुत सी ज्ञातव्य बातें विदित होंगी। यहाँ कतिपय विशेष अवधेय विषयों पर ही पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ, वह भी बहुत संक्षेप में।

ग्रन्थप्रणयन का प्रयोजन

श्रद्धेय भगवान् दास जी के ग्रन्थ-निर्माण का प्रवर्त्तक हेतु 'लोक-सेवा' भाव ही होता है, और प्राय आप के ग्रन्थों का उपक्रम, किसी न किसी व्याख्यान से होता है, जो किसी विशेष अवसर पर, किन्हीं सज्जनों के अनुरोध या सूचना से दिया गया। इस ग्रन्थ के अध्यायों के आरम्भ में जो टिप्पणियाँ लिखी हैं, उनसे इन दोनों बातों का संकेत स्पष्ट है।

विचार पद्धति

यद्यपि अत्यन्त [illegible] ग्रन्थकार की सदसद्विवेकिनी बुद्धि में विचार की स्वतन्त्रता है; तथापि आप, मुख्यतः, एकवाक्यता-साधक मीमांसक विचार-पद्धति से ही ग्रन्थ लिखते हैं, और शब्दार्थ के निर्वचन के लिये नैरुक्त पद्धति का भी बहुधा प्रयोग करते हैं, तथा शास्त्रार्थ की स्पष्टता के लिये, [illegible] में, वैज्ञानिक विमर्श-पद्धति की भी सहायता लेते हैं। शब्द और अर्थ की 'कुशाग्र [illegible]' [illegible] जाँच कर, [illegible] प्रयोग करने में आप [illegible] कुशल हैं। संस्कृत, हिन्दी, [illegible] अंग्रेज़ी, फ़ारसी, आदि भाषाओं की भी [illegible] [illegible] समाज को कितना लाभ [illegible]

संभावना है, यह बताना न होगा ; इसके उदाहरणों से सारा ग्रन्थ
त-प्रोत है; आप के अन्य ग्रन्थ जैसे प्रायः सर्वपथीन होते रहे हैं, वैसे
: शब्द-प्रयोग-शैली भी सर्वपथीन है ; इस से विवक्षित आशय भी
धेक विशद हो जाता है, हिन्दी शब्दकोष का भी परिवर्धन होता है,
ा अंग्रेज़ी और फ़ारसी के पर्याय शब्दों का ज्ञान भी पाठक सज्जनों में
ता है, जो ज्ञान इस काल में, हिन्दी-उर्दू का झगड़ा मिटाने में बहुत
योगी है। श्रद्धेय भगवान् दास जी की वाक्य-रचना-पद्धति का, पर्याय-
ल शब्द-प्रयोग के कारण, और प्रतिपाद्य शास्त्रार्थ को हेतु-हेतुमद्भाव-
दा-पूर्वक विशद करने की चेष्टा से, कहीं-कहीं जटिल होने का सम्भव
; पर, विविध विराम चिह्न और कोष्टक आदि के प्रयोग से, यह
लता दूर कर दी गई है।

प्राचीनता में अपूर्वता

श्रद्धेय डा० भगवान् दास जी की प्रतिभा ने शास्त्रार्थ का कलेवर
 दिया है। आप, प्राचीनतम आर्ष वचनों का ही ऐसा अर्थ लगाते
ो नये देश, काल, पात्र, निमित्त आदि के लिये उपयुक्त भी, और
न भाव के अविरुद्ध भी, सिद्ध होता है। यही कारण है कि आप के
, नवीन के प्रतिपादन होने पर भी प्राचीन, तथा प्राचीन के अनु-
न होने पर भी नवीन, 'मौलिक' वा अपूर्व' मालूम पड़ते हैं।
 द्वारा, वृद्ध जरा-ग्रस्त शास्त्र-शरीर का कायकल्प भी हो जाता है ;
उसकी सनातन वेदार्थात्मा, इनमें अक्षत और अनुस्यूत भी बनी रहती
वस्तुतः प्राचीनतम ऋषि-दृष्ट वेद-शास्त्र के 'प्र-णवी-करण' के उद्देश्य
श्रद्धेय भगवान् दास जी का शास्त्र-कर्म प्रवृत्त है ; किसी नये
के आविष्कार के लिये नहीं।

शास्त्र-प्रस्थान-भेद

ास्त्र के प्रस्थान-भेद का निरूपण, इस [पुरुषार्थ] ग्रन्थ के प्रथम
में है। इस में 'चार पुरुषार्थ के चार शास्त्र' को 'साहित्य का
प' कहा है। अनन्तर, विविध शिरस्कों से निर्दिष्ट (सूची को

देखिये) विविध शास्त्रों के सच्चे स्वरूप, लक्षण, साधन, विषय, प्रयोजन, परस्पर सम्बन्ध वा अङ्गाऽङ्गिभाव, योग्य अधिकारी आदि का विशद वर्णन किया है । इन शास्त्रों की वर्त्तमान अल्पविषयता, संकुचितार्थता, और विकृति का वर्णन करते हुए, इनके संस्कार की आवश्यकता तथा सुधार की रीति बतायी है । इस प्रसङ्ग मे, चार शास्त्रों के प्रतिपाद्य चार पुरुषार्थों के क्रमयोग, मिथःसहायकत्व, तथा हेतु-हेतुमद्भाव, और मनुष्यमात्र के लिये उनकी प्राप्ति के उपाय पर, जो सोपपत्तिक प्राञ्जल विचार किया है, उसमें ग्रन्थकार की उदार चित्तवृत्ति, महती लोकहितैषिता और अगाध विद्वत्ता का परिचय मिलता है । इस प्रकरण [प्रथम भाग] में आपने साहित्य वा वाङ्मय के पूर्ण और व्यापक रूप का निरूपण कर के, इसके सत्शास्त्रत्व और पुरुषार्थसाधकत्व की सिद्धि का उपाय भी बताया है ।

ग्रन्थकार का कविकर्म

श्री भगवान् दास जी की विद्वत्ता से तो प्रायः देश-विदेश के शिक्षित सभी परिचित हैं, तथा आप की संस्कृत श्लोक-रचना की योग्यता भी 'समन्वय-धर्म सार' ऐसे ग्रन्थ को श्लोकबद्ध लिखने से, प्रसिद्ध हुई है । पर यह बहुत कम लोग जानते हैं, कि आप हिन्दी मे भी उत्तम कविता कर सकते हैं । 'पुरुषार्थ' के प्रथम पृष्ठ पर मङ्गलाचरण के रूप में जो भगवान का सर्वाङ्गवेद पद्य उद्धृत है, इसी ग्रन्थ के चतुर्थ पृष्ठ पर, आपने उसका जैसा सुन्दर, सरस, सरल, कोमल, श्रुतिमधुर, भावा[illegible] और यथार्थ [illegible] हिन्दी पद्यानुवाद किया है, ऐसा कोई [illegible] निपुण [illegible] विद्वान ही कर सकता है । वस्तुतः निपुण कवि [illegible] श्री भगवान् दास जी के सदृश आत्मनिष्ठ [illegible] । [illegible] प्रकृति के [illegible] सरल, सत्य [illegible], यथार्थ [illegible] । [illegible] के लिये [illegible] होता है, [illegible]

का सहज वाङ्मय उद्गार, तत्वत: सच्ची कविता है। इसी लिये वेदों या त्रिवेदी महाकविता है ; इनके रचयिता ऋषियों को "कविर्मनीषी" कहते हैं ; "कवयो विदु.", "कवयोऽप्यत्र मोहिता.", इत्यादि वाक्यों में 'कवि' का अर्थ यही सहज प्रतिभाशाली, अध्यात्मविज्ञ, प्रकृति का पुरोहित, है। सत्कविकर्म के उज्ज्वल उदाहरणों को सन्त-साहित्य में (सूर, तुलसी, कबीर, नानक, तुकाराम आदि की वाणियों में) और सहज ग्राम-गीतों में देखना चाहिये , 'पुरुषार्थ' के पृ० १६८–१६९ पर एक ग्राम गीत, उदाहरणार्थ छापी है। हठाद्‌आकृष्ट कतिपय पदों की रचना, जिस में काव्य के गुण, दोष, रीति, अलङ्कार, शय्या, पाक, रस, भाव आदि का समावेश, अस्वाभाविक ('आर्टिफिशल', कृत्रिम) रूप से, अस्थान में भी, हूँस-हूँस कर किया गया हो, वह प्राकृतिक ('नेचुरल') कविता नहीं है। श्रद्धेय भगवान् दास जी ने कवि-वाङ्मय के क्षेत्र में भी प्राचीन-पद्धति का ही अनुसरण किया है। आप का विचार, सम्पूर्ण भागवत पुराण का वैसा ही हिन्दी काव्यमय अनुवाद करने का था ; पर इतर ग्रन्थों के निर्माण, और दूसरे सार्वजनिक कार्यों में सतत व्यस्त रहने के कारण, अभी तक उसके लिये आपको अवकाश नहीं मिला है। यदि आप के द्वारा यह अनुवाद महाकाव्य सम्पन्न हो सकता, तो हिन्दी को एक महती अमर कृति प्राप्त होती, और देश के बहुजन वर्ग के लिये सर्वसात्त्विक रस-भावमय भागवतामृत का सहज स्रोत खुल जाता। इस विषय में, स्वयं श्रद्धेय श्री भगवान् दास जी के विचारों को जानने के लिये, इस ग्रन्थ के ९७वें पृष्ठ से आरम्भ होने वाले "भागवत का अनुवाद" शिरस्क वक्तव्य को, तथा पृ० ४७, ५७, ९९–१०४, १२४, १६७–१६८, ४६० पर, उनके स्वकृत, भागवत के अनेक श्लोकों के, हिन्दी पद्याऽनुवाद को देखना चाहिये।

अपूर्व "रसमीमांसा"

'पुरुषार्थ' के तीसरे अध्याय में 'रस' के सम्बन्ध का विशद विचार हुआ है। इस अध्याय के पूर्व ही १०५ वें पृष्ठ पर, 'रसों की संख्या' का

उपक्रम करके, १२०वें पृष्ठ के बाद 'रस-मीमांसा' प्रकरण का आरम्भ होता है। आगे, 'साहित्य और सौहित्य', 'रस क्या है?' 'उसके कै भेद हैं?' इत्यादि (सूची को देखिये) प्रकरणार्थ-सूत्र-रूप शीर्षकों के नीचे, रस-सम्बन्धी सभी विज्ञातव्य विषयों पर जो मार्मिक विवेचन, इस ग्रन्थ मे किया गया है, वह सब गुण सर्वथा अपूर्व है। रस-रहस्य-अन्वेषण मे अपने प्रयत्न का, और सहृदयों के साथ एतद्विषयक वार्तालाप का, जो इतिहास स्वयं ग्रन्थकार ने लिखा है, उसी से यह स्पष्ट विदित होता है कि, आप की रस-विज्ञान विषयक जिज्ञासा का सन्तोषप्रद उत्तर, विद्वानों से न मिलने पर, आप को स्वयं प्रगाढ़ प्रणिधान द्वारा, अध्यात्मयोगाऽधिगम से रस-रहस्य की खोज करनी पड़ी। वस्तुतः रस-ज्ञान के विषय मे जो प्रतिभा श्रद्धेय भगवान् दास जी को प्राप्त हुई है, उस का कारण है, आप का आध्यात्मिक ज्ञान; साहित्यिक अनुसन्धान मात्र नहीं। क्यों कि प्रचलित संस्कृत या हिन्दी काव्य-साहित्य, कामशास्त्र, गुह्यसमाजागम, तन्त्र-ग्रन्थ आदि में कहीं भी, रस, भाव, आदि के सम्बन्ध में ऐसा अपूर्व और इतना सर्वाङ्गपूर्ण विचार-विमर्श, अब तक नहीं दृष्टिगोचर हुआ है। मनीषिप्रवर ग्रन्थकार ने, इस विषय का मौलिक उपज्ञान किया है, और अनेक रस-मन्त्र ऐसे बतलाये हैं, जो वैयक्तिक जीवन को हित-मित रस-मैत्री, सच्चा [illegible] सुखी, करने के लिये अत्यन्त आदेय उपादेय हैं। बात यह है कि श्री भगवान् दास जी ने, यद्यपि पुस्तकीय ज्ञान का सम्पादन भी बहुत किया है; अन्य का, अनेक आचार्यों द्वारा नाना शास्त्रों का अधिगम बहुत [illegible] है, तथापि आप अपनी प्रतिभा से उपस्थित, दृष्ट, श्रुत, [illegible] आदि सभी विषयों पर, आध्यात्मदृष्टि से विचार करते हैं, [illegible] प्रत्य-[illegible] नहीं। मनुष्य के सब प्राकृतिक स्वभावादिगुण, [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible], आदि, सब मनोभावों की व्याख्या [illegible] [illegible], [illegible] भगवान् दास जी, [illegible], और [illegible], का [illegible]

है। इस ध्यानिक अन्वीक्षा-पद्धति के द्वारा चित्त-चैतन्य-तत्त्वानुसन्धान से ही रस-भाव प्रभृति चित्तवृत्तियों के व्यञ्जक प्रकाशक शारीरक पदार्थों का ज्ञान, और उनके नाम, संख्या, स्वरूप, लक्षण, प्रभाव, परिणाम या कार्य, आदि का यथार्थ विशिष्ट भान होना सम्भव है। सुतरां, किसी भी विषय पर आध्यात्मिक (मानव-स्वभाव-विज्ञानाऽनुसारिणी) दृष्टि से ही विचार करने वाले श्री भगवान् दास जी को, यदि, अध्यात्म परिवार के ही परम परिचित, 'रस' प्रभृति भावों का इतना पूर्ण परिज्ञान हुआ, तो इस से आश्चर्यचकित होने का कोई कारण नहीं, पर इतना तो मानना पड़ता है कि श्रद्धेय जी की 'रस-मीमांसा', साहित्यिक बाज़ार में एक नयी क्रान्ति, उपज्ञा, या आविष्कार है। इस पर विशेष अवधान और मनन करना, तथा तदनुसार 'रस'-सेवन की उचित मर्यादा बाँध कर लौकिक जीवन को सरस और सुखी बनाना, प्रत्येक परहित और आत्महित चिंतक सज्जन का श्रेयस्कर कर्त्तव्य है।

"कामशास्त्र के आध्यात्मिक तत्व"

जैसे 'पुरुषार्थ' के पूर्व अध्यायों में, 'साहित्य' और 'रस' के सम्बन्ध में, मौलिक, 'अपूर्व', विचार प्रकट हुए हैं, वैसे ही, इस ग्रन्थ के चतुर्थ—'कामाऽध्यात्म'—अध्याय में (पृ० १७७–४६०) 'कामशास्त्र के आध्यात्मिक तत्व' का निरूपण, बड़ी आरभटी से किया गया है। साहित्य और रस-शास्त्र का, कामशास्त्र से तादात्म्य-सम्बन्ध है, अतः इन में से एक के निरूपण के प्रसङ्ग में दूसरे दोनो का विचार भी आ ही जाता है। और साहित्य, रस, काम आदि सभी चैतन्य तत्त्व, हैं भी एक ही अध्यात्म या शारीरक परिवार के अवयव। यह बतलाया ही जा चुका है कि श्रद्धेय भगवान् दास जी आध्यात्मिक परिवार के तत्त्वविज्ञान में बड़े निपुण, और अध्यात्म-दृष्टि से, तथा तन्मूलक विचार-पद्धति से, ही तत्त्वाऽधिगम करने के अभ्यस्त हैं। आप के इस अभ्यास के परिणाम और उदाहरण आप के अनेक अँग्रेज़ी ग्रन्थ हैं, (इस पुस्तक के अन्त में ग्रन्थ सूची देखिये); तथा 'समन्वय' 'प्रयोजन' आदि हिन्दी ग्रंथ भी। ये सभी अध्यात्ममूलक

"काव्येषु नाटकं श्रेष्ठं, नाटकेषु शकुन्तला,
तत्राऽपि च चतुर्थोऽङ्कः, तत्र श्लोकचतुष्टयम्।"

यहाँ भी एक ऐसे ही श्लोक का प्रसङ्ग है,

शास्त्रेषु भगवद्दासग्रन्था. सारप्रदर्शका,
तत्राऽपि 'पुरुषार्थो'ऽय, तत्राऽध्यायश्चतुर्थकः।

सारांश यह कि श्रद्धेय ग्रन्थकार ने, शताब्दियों से दूषित, विकृत, अश्लील, बीभत्स घोर-कामुक-जन-जुष्ट, कोक दुशास्त्र भूत, अत एव 'गोपनीय-कथित' असत् कामशास्त्र को आध्यात्मिक संस्कार द्वारा विशुद्ध कर के, 'सत्कामशास्त्र' और सब के लिये अगोप्य, प्रत्युत अनुष्ठेय, बना दिया है। यह प्रसन्न-गम्भीर ग्रंथ, गूढ आध्यात्मिक-विवेचनमय होने पर भी सुस्पष्टार्थ है, क्योंकि साधारण शिक्षित लोगों को भी, तृतीय महापुरुषार्थ काम के विषय का सज्ज्ञान प्रदान करने के उद्देश्य से, उदारचेता ग्रन्थकार ने सरल आरभटी से, एक शब्द के अनेक भाषान्तर-पर्यायों के प्रयोग से, ग्रन्थ को विस्पष्टार्थ बनाने के लिये यथेष्ट प्रयत्न और परिश्रम किया है। ग्रंथ, विवेकशील पाठकों के हाथों मे जा रहा है, वे स्वय इसके गुणोत्कर्ष को पहिचानेंगे। यहाँ उदाहरण-प्रदर्शन के लिये मूल ग्रन्थ से सन्दर्भ उद्धृत करना अनावश्यक है। नितान्त अवधेय इस कामशास्त्राऽध्याय के प्रतिपाद्य विषयों के आपाततः ज्ञान के लिये, विषय-सूची को देखना चाहिये।

मुख्य शिरस्कों के अन्तर्गत अनेक अवान्तर विषयों के विभाग सूचक लघु शीर्षक हैं; जिनमे तत्तद्विषय का, विश्लेषण-पूर्वक, निरूपण है। कामाऽध्यात्म के दोनो परिशिष्ट, वृद्धों और नव-विवाहित वर-वधुओं के लिये, बहुत मनोरञ्जक भी और उत्तम शिक्षाप्रद भी है। 'चेतावनी', कामान्ध-कुदृष्टि की चिकित्सा, कामाऽतुरता-व्याधि से मुमूर्षुओं के लिये सञ्जीवनी बूटी, समीचीन शिक्षा है। कामाऽध्यात्म के प्रथम परिशिष्ट की टिप्पणी "(दादाजी के लिये , छोटे पौत्रादिकों के पढ़ने के लिये नहीं)" प्रत्येक 'दादाजी' को, पौत्रादिकों के प्रति सतत सावधान रहने, और उन्हें काम-पिशाच-दुर्जन-संसर्ग-सम्पर्क से बचाये रखने, की चेतावनी देती है।

और कार्यान्वित करने से विश्वमानव-समाज की सब विषम समस्याओं का 'हल' और सभी जटिल प्रश्नों का सम्यक् उत्तरण हो सकता है। इस पर लोक-हितैषी मनीषियों को विशुद्ध सद्भाव से निष्पक्ष विचार करना चाहिये।

श्रद्धेय भगवान् दास जी ने स्वयं तो इस निबन्ध के विचारों को सर्व-मानव-कल्याण के लिये, अनेक ग्रन्थों द्वारा, लोक की सद्बुद्धि जगाने के लिये, विश्व भर में फैलाने का महान् उद्योग, वर्षों से किया है। यह प्रस्तुत ग्रन्थ भी, साक्षात् या परम्परया, इसी सर्वसंग्राहक भावशुद्धि, समय, और 'सार-शुद्धि' [वास्तविक सामान्य धर्मतत्त्व की एकता] के उद्देश्य से, साहित्य के पूर्ण रूप चार पुरुषार्थ के चार शास्त्रों का संशोधन करने के लिये उपस्थित किया गया है, जो अपने विषय में पूर्ण कृतार्थ हुआ है।

पाठक सज्जनों से विनम्र विनीत प्रार्थना है, कि, यदि उन को इस ग्रन्थ के भाव और विचार, सच्चे, अच्छे, लोकोपकारी जान पड़ें, तो उन से स्वयं प्रसन्न हो कर संतोष न करें ; अपि तु उन का प्रचार और विस्तार कर के, भारत में उज्ज्वल नवयुग के प्रवर्त्तन में सहायता करें।

इति विज्ञेषु अल। इंदिरारमणः

ॐ

साहित्य का पूर्ण रूप—
चार पुरुषार्थ के चार शास्त्र ।

[अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के ग्यारहवें अधिवेशन के सभापति पद से कलकत्ते मे २६ मार्च १९२१ को यह भाषण किया गया ।]

ॐ

यः स्वानुभावमखिलश्रुतिसारमेकमध्यात्मदीपमतितितीर्षतां तमोऽन्धम् ।
संसारिणां करुणयाऽऽह पुराणगुह्यं तं व्याससूनुमुपयामि गुरुं मुनीनाम् ॥

सज्जनो !

यह इस देश का पुराना शिष्टाचार है कि शुभ काम के आरम्भ मे मंगलाचरण, देवता, ऋषि, महात्माओं का स्मरण वन्दन, किया जाय । इस से काम करनेवालों का मन शुद्ध और शान्त होता है, और उस मे सात्विक भाव उत्पन्न होते है, जिन से वह काम सब के लिये हितकारी होता है।

इस लिये मै इस समय भागवत पुराण के कहनेवाले व्यासजी के पुत्र शुकदेवजी का स्मरण करता हूँ और आप को कराता हूँ ।

यह ऋषिवन्दना का श्लोक मुझे इस अवसर के लिये विशेष उपयुक्त जान पड़ा । साहित्य का प्रसंग है । साहित्य के विद्वानों

ने कहा है, "रसेषु करुणो रसः"। सब रसों मे करुण रस श्रेष्ठ है। इस श्लोक मे करुणा का शब्द आया है। इस से साहित्यसम्बन्धी एक मूलसिद्धान्त की सूचना होती है, जिस की चर्चा आगे चल कर करूँगा। और एक मेरे निज के विषय मे भी आपलोगों की ओर से करुणा की दृष्टि होने की आवश्यकता है, इस की भी सूचना होती है।

आज से केवल छः दिन हुए, पिछले शनिवार को दोपहर को, साहित्य सम्मेलन की स्थायी समिति के धुरन्धर श्रीपुरुषोत्तमदासजी टण्डन पश्चिम दिशा से, और इस ग्यारहवें वार्षिक अधिवेशन के महामंत्री श्रीयुत कृष्णबल्देवजी वर्म्मा पूर्व दिशा से, मेरे पास काशी मे आ पहुँचे, और आज के काम का भार इन मायामित्रों ने, अनुग्रह के वेष मे दुराग्रह करते हुए, नितान्त निर्दयता से मेरे कन्धोंपर रख ही दिया, और मेरी विनती एक न सुनी।

एक तो मैं हिन्दी साहित्य का अत्यन्त अनजान। सारी आयु मे प्रायः पचास ग्रन्थ भी हिन्दी के आद्योपान्त न पढ़ पाया हूँगा। हिन्दी व्याकरण का एक भी पूरा ग्रन्थ सारे जीवन मे देख नहीं सका। हिन्दी कविता मे कितने और कौन छन्द होते हैं, और किस मे कै पद के अक्षर कितनी मात्रा होनी चाहियें, इसका कुछ भी सच्चा ज्ञान नहीं। अन्य कार्यों से जो कुछ अवकाश मिला उसे कुछ थोड़े संस्कृत कुछ थोड़े अंग्रेज़ी ग्रन्थों के ही देखने मे लगा दिया। दूसरे, आज साठ [illegible] सार्वजनिक आन्दोलन की [illegible] के कारण से तथा काशी मे एक नया [illegible] के कारण से अन्य कार्यों से [illegible] [illegible]

कार्यों को समेटना, और काशी में यहां तक आना, और आप की सेवा करने की सामग्री एकत्र करना। यदि मैं आप की करुणा का पात्र नहीं हूँ तो और कौन हो सकता है। मैंने पुरुषोत्तमदास-जी से भी और कृष्णबल्देवजी से भी कह दिया था कि आप ऐसा अन्याय कर रहे हैं तो मैं भी अन्याय करूँगा, और आप महा-शयों से भी मेरी यही प्रार्थना है कि इस अवस्था में यदि मैं कुछ उच्छृङ्खल बात कहूँ तो क्षमा कीजियेगा। मैं हिन्दी शब्द का भी और साहित्य शब्द का भी तथा अन्य शब्दों का स्यात् ऐसा अर्थ करना चाहूँगा जो अभ्यस्त अर्थ से कुछ भिन्न हो। इस की चर्चा आगे समय समय पर होगी।

साहित्य का प्रयोजन।

अब इस स्थान पर करुणा के ध्यान का सिद्धान्तविषयक हेतु कहूँगा। साहित्य शब्द का जो इधर सैकड़ों ही वर्षों से इस देश में संकुचित अर्थ हो रहा है, उस का हेतु यही है कि काव्य साहित्य के ग्रन्थों की रचना के प्रेरकभाव ही संकुचित हो रहे हैं। ग्रन्थ उन्हीं संकुचित भावों के प्रतिपादक होते रहे हैं। जैसा कारण वैसा कार्य।

मम्मट का काव्यप्रकाश नामक ग्रन्थ प्रायः छः सौ वर्ष हुए लिखा गया। उस में कहा है,

> काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
> सद्यः परनिर्वृतये कान्तासंमिततयोपदेशयुजे॥

अर्थात् काव्य बनाया जाता है यश के लिये, धन के लिये, व्यवहार का ज्ञान होने के लिये, अमङ्गल का नाश करने के लिये, तत्काल परमसुख के लिये, और कान्ता स्त्री जैसे मधुर प्रकार से उपदेश देती है उस प्रकार से उपदेश देने के लिये।

वाल्मीकि की कथा प्रसिद्ध है। व्याध ने पक्षी को मारा। इस को देख के मुनि के हृदय में करुणा भरी। और श्लोकरूप हो गई। उसी भूतदया की शक्ति का विस्तार पीछे रामायण के ग्रन्थ के रूप से हुआ। जिस ग्रन्थ का प्रयोजन यही था कि,

पठन् द्विजो वागृषभत्वमीयात्, स्यात् क्षत्रियो भूमिपतित्वमीयात्।
वैश्यो जनः पण्यफलत्वमीयात्, जनश्च शूद्रोऽपि महत्वमीयात्॥

अर्थात् उस ग्रन्थ के परिशीलन से, 'ब्रह्मा' के (जिस को सांख्य मे महत् तत्व अर्थात् बुद्धितत्त्व अथवा कभी अहंकार तत्व भी कहते हैं, उस के) चार पुत्र, चारो सगे भाई, चार भिन्न भिन्न स्वभाव के जीव, अर्थात् ज्ञान-सत्त्व-प्रधान, क्रिया-रजः- प्रधान, इच्छा-तमः-प्रधान, और अनुद्‌बुद्ध बुद्धिवाले, चारो अपने अपने स्वभाव के अनुरूप कल्याण पावें और सुखी हों।

महाभारत के लिखे जाने का भी कारण करुणा ही है।

द्वैपायनस्तु भगवान् सर्वभूतहिते रत.।
सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु॥
इत्युक्ताः सर्ववेदार्थाः भारते तेन दर्शिताः।
धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ॥
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।
धर्मार्थकाममोक्षाणां वेदनाद् वेद उच्यते॥

मनुष्य मात्र के जो परम पुरुषार्थ है—संसार भी सधे, परमार्थ भी बने, दुनिया और आकबत दोनों मे सुख मिले, संसार का सुख तो, धर्म से अर्थ, अर्थ से काम, के द्वारा, और परमार्थ का सुख, मोक्ष के द्वारा—ये चारो पुरुषार्थ जहाँ तक बन पड़े सब मनुष्यो को मिलें, इस दयाबुद्धि से कृष्णद्वैपायन व्यास ने, महाभारत के शब्दों मे, वेद का सब अर्थ सर्वसाधारण के समझ जाने के लिये

रख दिया । वेद के कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड का भी यही प्रयोजन है, कि कर्मकाण्ड से धर्म अर्थ और काम की, और ज्ञानकाण्ड से मोक्ष की, सिद्धि सब मनुष्यों को हो । वेद तो अनन्त हैं, "अनन्ता वै वेदाः," यह स्वयं तैत्तिरीयश्रुति का वाक्य है । और प्रत्यक्ष भी है । 'वेदन' अर्थात् ज्ञान का विषय अनन्त है, तो उस का जनानेवाला ग्रन्थ भी अनन्त ही होगा । और जैसे ज्ञेय सृष्टि अपौरुषेय है, सब तत्त्वज्ञान अपौरुषेय हैं, वैसे ही उस के जनानेवाली शक्ति और उपाय भी अपौरुषेय है । जो विशेष शब्दसमूह विशेष कर के वेद के नाम से आज काल वर्ते जाते हैं, यह तो एक संकेत मात्र है । तत्त्वतः सब तत्त्वज्ञान, सब सच्चा 'सायन्स', वेद के अन्तर्गत है । और सब का ही मनुष्य के जीवन में उपयोग हो सकता है ।

पर ऐसा उपयोग करना साधारण मनुष्य की सामर्थ्य के बाहिर की बात है । इस लिये वेदों का नया संस्करण कर के उन का अनुवाद भी वेदव्यास ने, अपने समय के तथा आगे होनेवाले मनुष्यों के हित के लिये देशकालावस्था के अनुरूप, प्रचलित शब्दों में इतिहासपुराण के आकार में रख दिया । क्योंकि जो वेद चतुर्वेद के नाम से कहे जाते हैं उन की भाषा व्यासजी के समय में सर्वसाधारण के समझ में नहीं रह गई थी । और इस बात की आवश्यकता थी कि उस समय की प्रचलित बोली, अर्थात् पौराणिक संस्कृत, में वेदों का सार लोकहितार्थ प्रकाशित किया जाय ।

ऐसे [illegible] के साहित्य के अन्तर्गत वैद्यक शास्त्र के ग्रन्थ चरकसुश्रुतादि में भी आयुर्वेद ग्रन्थों के प्रवर्तन का हेतु यही लिखा है ।

[illegible] पुराणमिदं पुराम् ।
[illegible] ॥

महर्षि पुनर्वसुजी ने सब मनुष्य मात्र के ऊपर दया कर के, उन के हित के लिये, पुण्यमय परम पवित्र, आयुर्वेद, छः शिष्यों को सिखाया। उन्हों ने उसका विस्तार प्रचार किया।

साहित्य शब्द का पूरा अर्थ।

इस सब उपोद्घात से मैं आप के सामने केवल इतनी ही सूचना रखना चाहता हूं कि साहित्य शब्द का अर्थ बहुत उदार और विस्तारशील करना चाहिये। "सहितानां भावः साहित्यम्", एकत्र होकर, साथ बैठकर, गाना, बजाना, रसीली बात करना, रसास्वाद करना, चतुरता के पद्य रचना और कहना, कवियों और काव्यों की चर्चा करना, निस्सन्देह यह भी साहित्य है। "साहित्यसङ्गीतकलाविहीनः" इत्यादि श्लोक प्रसिद्ध है। पर सुख से भी अधिक दुःख मे एक दूसरे के सहित होना, परस्पर सहायता करना, ऐसा यत्न करना कि यथाशक्ति सब को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इन चारो पुरुषार्थों का लाभ हो जाय, तथा इन चारो लक्ष्यों के साधक चार शास्त्र, धर्मशास्त्र, अर्थ-शास्त्र, काम अथवा कलाशास्त्र, और मोक्षशास्त्र, इन सब शास्त्रों पर अच्छे अच्छे ग्रन्थों का निर्माण और विचार और प्रचार हो—यह साहित्य शब्द का पूरा अर्थ जान पड़ता है। प्रचलित अर्थ साहित्य का तो, काम अथवा कला-शास्त्र की चतुःषष्टि कलाओं मे से कुछ कलाओं से ही सम्बन्ध रखकर, संकुचित हो गया है। इस संकोच का विस्तार करना आवश्यक है। और हर्ष की बात है कि धीरे धीरे हो रहा है। पर "श्रेयसि केन तृप्यते", भूखे प्यासे आदमी को त्वरा रहती है। हमलोगों को यही चिन्ता रहती है कि हिन्दी साहित्य का भण्डार अभी बहुत रिक्त पड़ा है।

धर्मशास्त्र । इतिहासपुराण ।

धर्मशास्त्र में पहला स्थान तो स्पष्ट ही प्राचीन प्रथा ने वेद को दे रक्खा है। "वेदोऽखिलो धर्ममूलम्" (मनु), सब वेद धर्म का मूल है। यदि वेद शब्द का अर्थ, जैसा पहले कहा, सब आध्यात्मिक, आधिदैविक, और आधिभौतिक विषयों का मूल रहस्य और 'सायन्स', सार ज्ञान, समझा जाय, तो वेद को पहला स्थान पाना उचित ही है। आज काल की पश्चिम देश की सभ्यता में भी यही प्रथा चलता है कि धर्म अर्थात् क़ायदा क़ानून (लेजिस-लेशन) जहां तक हो सके सायंस के अनुकूल हो, उस के प्रतिकूल न हो। यह बात न्यारी है कि सायंस का ज्ञान मिथ्या हो और तदनुसार जो धर्म बनाया जायगा वह भी लाभकारक नहीं, प्रत्युत हानिकारक होगा। जैसे शीतला (मसूरिका-रोग) के लिये टीका लगाने में बहुत विवाद है। जिन्हों ने निश्चय कर लिया कि यह सच्चा सायंस, सच्चा विज्ञान, है, कि टीका लगाने से फिर शीतला का रोग नहीं होता, और न उस के कारण से कोई दूसरे प्रकार के रोग पैदा हो जाते हैं, उन्हों ने तो यह धर्म, यह क़ानून, बना दिया कि सब बच्चों को अवश्य ही टीका लगाया जाय। पर अब बहुत लोगों को अनुभव के पीछे सन्देह होने लगा है कि टीका से शीतला का रोग भी सदा के लिये नहीं रुकता, और अनेक प्रकार के दूसरे दोष भी शरीर में पैदा हो जाते हैं। यदि यही पक्ष और अधिक अनुभव के पीछे सिद्ध हुआ तो इस धर्म को बदलना पड़ेगा। सारांश यह कि सच्चे ज्ञान अर्थात् वेद के ऊपर सच्चा आचार अर्थात् धर्म बन सकता है। इस हेतु से वेद अर्थात् सच्चे शास्त्र और सायंस का स्थान धर्मशास्त्रों से पहिला है। इस के पीछे यही पुरानी प्रथा

ने, इतिहास-पुराणो को स्थान दिया है। महाभारत के पहिले ही अध्याय मे लिखा है,

> इतिहासपुराणं च पंचमो वेद उच्यते।
> इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
> बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रतरिष्यति ॥
> महत्त्वाद् भारवत्त्वाच्च महाभारतमुच्यते।
> निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

अर्थात् विना इतिहास और पुराण की सहायता के वेद का अर्थ ठीक ठीक समझ मे नहीं आता। यहाँ तक कि इतिहास पुराण को पाँचवा वेद माना है। और इतिहास पुराण के संस्कृत ग्रन्थों की व्याख्या करने के लिये निरुक्तशास्त्र से काम लेना चाहिये। विना निरुक्त के, इन्द्र और वृत्र की लड़ाई के पौराणिक वर्णन से यही समझा जायगा, कि दोनों, मनुष्य के आकार के, बड़े भारी लम्बे चौड़े जीव थे, और एक ने दूसरे को मार गिराया। इस से बालकबुद्धि को तो रस अवश्य आवेगा। और ऋषि ने सब प्रकार की बुद्धि के संतोष के लिये ग्रन्थ लिखा। पर प्रौढ़बुद्धि को शंका होगी, कि इस का अर्थ क्या, कि वृत्रासुर की एक दाढ़ पृथ्वी पर थी, दूसरी दाढ़ आकाश में छूई थी, इन्द्र ने उस को ऐरावत हाथी पर चढ़ कर वज्र से मारा। जिस को ऐसी शंका हो उस के लिये निरुक्त से उसका समाधान करना चाहिये, अर्थात् "वृश्च्यते इति वृत्रः मेघः" और "इन्दति इति इन्द्रः विद्युत्", तथा "इरा आपः, तद्वान् समुद्रः, तस्मादुत्पन्नः ऐरावतः, अन्यप्रकारको मेघः"। यह सब दो प्रकार के मेघों के संघर्ष से विद्युत् की उत्पत्ति होकर बादलों के टूटने और गलने का और वर्षा का वर्णन है।

पुराण में इस की चर्चा इस लिये की है कि अतिप्राचीन काल में लाखों वर्ष पहले, पृथ्वी की यह अवस्था नहीं थी जो अब है। जल स्थल का ऐसा स्वरूप नहीं था जो अब है। विशेष प्रकार के भाफ और 'मेघ'-धूम के पर्वत उड़ते फिरते थे, जिनको भी पर इन्द्र ने मारा, अर्थात् विद्युत् शक्ति से वे भी गले। पीछे एक ऐसा समय आया कि जल स्थल का विशेष भेद होने लगा। वर्षा का आरम्भ हुआ। पृथ्वी में जो गढ़े पड़ जाते थे वे वर्षा से मट्टी बह कर पूरे होने लगे। वृक्षों की उत्पत्ति हुई, उन में सुगन्धित फूल और सुस्वादु फल भी होने लगे, ईन्धन आदि के लिये काटे भी जाने लगे, और काट देने पर फिर बढ़ जाने लगे। नदी, तालाब, समुद्र भी हुए, और उन में मैल फेन भी हुए और रज भी होने लगे। और मनुष्य सन्तान की उत्पत्ति में और रहन सहन के प्रकार में, कई नई बातें उत्पन्न हुई. लिंग-काम का सुख भी हुआ और मासिक-धर्म और प्रसव की पीड़ा भी हुई। इन बातों की सूचना पुराण में इस प्रकार से की है कि वृत्र की हत्या से इन्द्र को पाप लगा। उस पाप को पृथ्वी ने और वृक्षों ने और स्त्रियों ने एक एक वरदान ले कर बांट लिया। पाप का फल ऊसर आदि, वरदान का फल गर्भपूर्ति आदि। इन बातों का समर्थन पश्चिमके नवीन 'जियालोजी' अर्थात् 'भूगर्भ' शास्त्र आदि से कथञ्चित् होता है, [illegible] के अर्थ की पढ़ाई ढीली हुई तब से इस देश के पण्डितों के पौराणिक ज्ञान में भारी त्रुटि आ गयी, अर्थ मिथ्या [illegible] विज्ञान का ज्ञान सर्वथा लुप्त हो गया। सब प्रकार की [illegible] 'अन्धपरम्पराओं' से एक दूसरे को बहाने लगीं। इसी लिये कहा है कि जो इतिहास-पुराण-निरुक्त को नहीं जानता उस से वेद डरता है कि मेरे अर्थ का अनर्थ करेगा।

पश्चिम के विद्वान् कहा करते हैं कि हिन्दुओं को इतिहास-बुद्धि, "हिस्टारिकल सेन्स," ही नहीं है। यह उस देश पर आक्षेप है जहां वेद के पीछे, अथवा उस से भी ऊंचा, स्थान इतिहास-पुराण को दिया है। छांदोग्य उपनिषत् में "इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं भगवो अध्येमि" ऐसा लिखा है। अर्थात् इस को पञ्चम वेद कहा है।

महाभारत के पहिले अध्याय में, अर्थवाद के द्वारा, इस से भी अधिक कहा है।

> एकतश्चतुरो वेदा भारतं चैतदेकतः ।
> पुरा किल सुरैः सर्वैः समेत्य तुल्या धृतम् ॥
> चतुर्भ्यः सरहस्येभ्यो वेदेभ्यो ह्यधिकं यदा ।
> तदा प्रभृति लोकेऽस्मिन् महाभारतमुच्यते ॥

अर्थात् वेदों से भी अधिक महिमा महाभारत के इतिहास की है। देवों ने एक ओर चारो वेदों को, एक ओर भारत को, रख कर तौला। रहस्य सहित वेदों से भारत का ग्रंथ अधिक गुरु पाया गया। तब से इस का नाम 'महाभारत' पड़ा।

पर अब इस समय में जिस प्रकार से अर्थ किया जाता है, न तो वेद ही का, न इतिहास पुराण ही का, गौरव जान पड़ता है। उलटे शङ्का और अश्रद्धा और किसी किसी को अपहास भी होता है। कारण यही कि जो बालक समान बुद्धिवालों के लिये रुचिकर अक्षरार्थ है वही तो अब कहा सुना जाता है। और परिपक्व बुद्धि का सन्तोष करनेवाला जो अर्थ हो सकता है वह, निरुक्त के तथा अन्य आधिभौतिक आधिदैविक और आध्यात्मिक शास्त्रों के ज्ञान के इस देश में उच्छिन्न हो जाने के कारण, सब भूल गया है। अन्यथा, जो आज काल पश्चिम देश के विद्वानों का कहना है, कि 'सायंस' को 'हिस्टरी' की दृष्टि से

और 'हिस्टरी' को 'सायंस' की दृष्टि से देखना जांचना चाहिये, यही अर्थ इस पुराने वाक्य का है कि,

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।

अथवा इस से भी अधिक सारगर्भ यह वाक्य है, क्योंकि पुराण शब्द का अर्थ हिस्टरी शब्द के अर्थ से बड़ा है।

इतिहास शब्द का प्रायः वही सांकेतिक अर्थ है जो हिस्टरी का है अर्थात् मानव-वंश के किसी अंश का इति-वृत्त, यथा भारतीयों का इतिहास, या चीनियों, जापानियों, ईरानियों, ग्रीकों, रोमनों, यहूदियों, मिस्रियों, या अंग्रेज़ों, जर्मनों, रूसियों आदि का इतिहास, 'इति-ह-आस', 'ऐसा हुआ'। पर,

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥

पुराण में पहिले तत्त्वों का आविर्भाव, फिर इस ब्रह्माण्ड अथवा सौर सम्प्रदाय की सृष्टि, फिर उस में विशेषकर इस पृथ्वी पर क्रमशः उद्भिज्ज सजीव चतुर्विध भूतग्राम की सृष्टि, फिर और विशेष रूप से मनुष्य-सन्तान का इतिहास, तथा अन्य जीवों के वंशों का विस्तार, और इस के पश्चात् प्रतिसर्ग अर्थात् इन सब का क्रम से तिरोभाव और प्रलय—यह पांच प्रकार से, एक ब्रह्माण्ड का सृष्टि से प्रलय तक का इतिहास होता है, केवल मनुष्यों ही का इतिहास नहीं। अंग्रेज़ी के शब्दों इन पांच बातों को प्रायः यों कहेंगे (१) "एवोल्यूशन आफ़ दी इन-आर्गेनिक एलिमेंट्स", (२) "एवोल्यूशन आफ़ दी सोलर सिस्टम्स, स्टार्स एण्ड प्लैनेट्स अथवा अस्ट्रोनॉमिकल एण्ड जियालॉजिकल एवोल्यूशन", (३) "आर्गेनिक एवोल्यूशन आफ़ दी किङ्गडम्स आफ़ लैफ़", (४) "एवोल्यूशन आफ़ ह्यूमन रेसेज़ एण्ड देयर हिस्टरी", (५) "एवोल्यूशन आफ़ डिसॉल्यूशन आदि",

था इन सब का प्रतिसंचर, प्रतिप्रसव, प्रलय, (जो प्रतिसर्ग
ब्द का अर्थ है। दूसरा अर्थ 'अवांतर सर्ग' भी है।)

पश्चिम देश मे हर्बर्ट स्पेन्सर के ग्रन्थ कुछ कुछ इस परि-
ाटी का अनुसरण करते हैं। और एक नयी पुस्तक "आँटलैन्स
ाफ़् हिस्टरी" के नाम से जो एच० जी० वेल्स महाशय ने अभी,
कई महीने हुए, कई विद्वान् लेखकों की सहायता से निकाली है,
ौर जिस मे इस सौर सम्प्रदाय के आरम्भ से जलियांवालाबाग़
े बलिदान के वृत्तान्त तक की कथा थोड़े मे सायन्स के तर्कों
ौर अनुमानों के अनुकूल, तथा मानव-इतिहास-वेत्ताओं के
िचार के अनुसार, लिख दिया है—यह उत्तम पुस्तक भी इस
ेश की प्राचीन पुराणों की शैली का अनुकरण करती है।

इस का क्या कारण है कि पश्चिम देश की सब से नयी बुद्धि
पूर्व देश की अति पुराण बुद्धि के सदृश होती जाती है? कारण
यही है कि इतिहास पुराण से बढ़ कर कोई प्रकार सर्वसाधा-
रण की शिक्षा का, "पाप्युलर एज्युकेशन का", है ही नहीं।
मनुष्य के चारो पुरुषार्थों की उपयोगी बातें प्रायः सभी इतिहास
पुराण मे, सरस कथा और आख्यायिका की लपेट मे, कही हैं,
जिस से बाल, युवा, वृद्ध, स्त्री, पुरुष, सब को रोचक होती हुई,
विज्ञान की, राजधर्म की, भूगोल की, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, गृह-
धर्म, परस्पर व्यवहार की, सुख दुःख के कारणभूत पुण्य पाप
की, विविध देशों और जातियों के रहन सहन की, अर्थशास्त्र
की, विविध कलाओं की, बातों का ज्ञान सहज मे हो जाता है।

इस देश मे इतिहास पुराण के द्वारा सर्वसाधारण की शिक्षा
की प्रथा बहुत पुरानी है। और इसका इस देश के मनुष्यों से, क्या
मनुष्य मात्र से, स्वाभाविक सात्म्य है। इस लिये इस का जीर्णोद्धार
करना परमावश्यक है। अध्ययन-अध्यापन के सम्बन्ध मे आज

काल जो अनन्त प्रश्न उठ गये हैं, उन में से बहुतों का उत्तम उत्तर सहज में इस प्रथा के पुनर्वार जगाने से हो सकता है। पर इस जीर्णोद्धार में एक भारी समय अर्थात् शर्त है। वह यह कि इन इतिहास पुराणों का नया संस्करण होना चाहिये, और यह नवीन संस्करण आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान से भी, और इस देश के प्रचलित व्यवहार से भी, सहायता लेकर होना चाहिये। कारण यह कि प्राचीन "सायंस", विज्ञान, अर्थात् आधिदैविक और आधिभौतिक शास्त्रों की परंपरा लुप्त अथवा भ्रष्ट हो गई है। प्राचीन और धार्मिक शास्त्र और निरुक्त जो कुछ बचा है उस से भी अधिक सहायता लेना अत्यंत आवश्यक है ही, जैसा पहिले कह चुका। नहीं तो अनर्थ की परम्परा घटने के स्थान में बढ़ेगी।

रामचन्द्र की अयोध्या से लंका तक की यात्रा, भरत की केकय देश से अयोध्या तक की यात्रा, सुग्रीव के आदेश के अनुसार वानरों का पृथ्वी की चारों दिशाओं में पर्यटन, यह सब वर्णन भूगोल के ज्ञान के लिये इस समय में तब उपयोगी होंगे जब स्थानों के प्राचीन नामों के साथ साथ उन के नये नाम भी, जो आज काल बरते जाते हैं, रखे जांय। ऐसे ही, महाभारत में पांडवों के दिग्विजय की यात्राओं के वर्णन।

यह केवल दिग्दर्शन मात्र है। इस विषय पर बहुत विस्तार से कहा जा सकता है। पर इस का समय नहीं है। थोड़े में इतना ही कहना है कि कम से कम प्रारम्भिक शिक्षा, 'स्कूल एज्युकेशन', के अधिकांश प्रश्न इतिहास पुराण के उचित उपयोग से हल किये जा सकते हैं—यदि व्याख्याता सद्विद्वान सर्वहितैषी और विवेकी दूरदर्शी हों और प्रत्येक अध्याय के अन्त में यह कह दें कि [illegible] प्रकार आप बुद्ध को [illegible] है।

यद्यपि हिन्दी भाषा में प्रायः सभी संस्कृत इतिहास पुराणों के अनुवाद छप गये हैं, पर उनसे देश की बुद्धि की मलिनता का मार्जन ठीक ठीक नहीं होता, प्रत्युत बहुत अंशों में वह मलिनता बढ़ती है। नये प्रकार से संसार के और मनुष्यसन्तान के इतिहास पुराण के लिखे जाने की बड़ी आवश्यकता है, जिन में सब आवश्यक ज्ञान का संग्रह किया हो।

यदि भिन्न भिन्न शास्त्रों पर बड़े बड़े ग्रन्थ बने होते तो भी ऐसे संग्राहक ग्रंथ की आवश्यकता होती, उन सब का समन्वय दिखाने को। नहीं तो परस्पर विरुद्ध जान पड़ेंगे। जो कुछ ब्रह्माण्ड में है वह सर्व मनुष्य के पिण्ड में है। सब शास्त्रों का विषय मनुष्य के देह और जीव, अन्तःकरण और बहिष्करण में, वर्त्तमान है। जितने "केमिस्ट्री" और "फ़िज़िक्स" अर्थात् आधिभौतिक शास्त्रों के तत्व, और "बायोलाजी" अर्थात् आधिदैविक शास्त्र की बातें और शक्तियां, "सैकालोजी" अर्थात् अध्यात्मशास्त्र की सूक्ष्म वृत्तियां, तथा "मेटाफिज़िक" अर्थात् ब्रह्मविद्या के विषय हैं, वे सब प्रत्येक मनुष्य में एकत्र हैं। इसी प्रकार से मनुष्य समाज के जीवन और इतिहास में, "सोशियालोजी" में, सब शास्त्रों का समावेश है, और उन का परस्पर उपयोग और साहित्य देख पड़ता है। इस हेतु से ऐसे इतिहास पुराण के ग्रन्थों के बिना उत्तम शिक्षा सिद्ध नहीं हो सकती।

ऐसे संग्रह ग्रन्थों के सिवा विशेष विशेष देशों और जातियों के सविस्तर इतिहासों का भी बड़ा अभाव है। इस पर बहुत ध्यान देने की आवश्यकता है।

राजधर्म।

इस के पीछे, विशेष शास्त्रों के सम्बन्ध में, राजधर्म के ग्रन्थों की हिन्दी साहित्य में बड़ी अपेक्षा है। राजधर्म में वह

सब विषय अन्तर्भूत हैं जिन को अङ्गरेजी में "पालिटिक्स", "सिविक्स", "सोशियालोजी", "सोशल आर्गनिजेशन", "जूरिसप्रूडेंस" आदि कई नाम रख कर कई शास्त्रों में विभक्त कर दिया है। ऐसा विभाग करने से अपने को अपनी बुद्धि की एक विशेष चतुरता जान पड़ती है, और किसी अंश में ऐसा करना अच्छा भी है। पर इन सब का सम्बन्ध और समन्वय याद रखना बहुत आवश्यक है। "समासव्यासधारणम्" दोनों चाहिये। राजधर्म पदार्थ में सब का समावेश है।

सर्वे योगा राजधर्मेषु युक्ताः, सर्वे धर्मा राजधर्मेषु दृष्टाः।
सर्वा विद्या राजधर्मे प्रयुक्ताः, सर्वा दीक्षा राजधर्मेषु चोक्ताः॥
सर्वे भोगा राजधर्मेषु भुक्ताः, सर्वे लोका राजधर्मे प्रविष्टाः॥
आत्मत्यागः सर्वभूतानुकम्पा लोकज्ञानं पालनं मोक्षणं च॥
विषण्णानां मोक्षणं पीडितानां क्षात्रे धर्मे विद्यते पार्थिवानाम्॥

(शान्ति०, अ० ६२,६३,६४)

सब योग अर्थात् उपाय, सब धर्म, सब विद्या, सब दीक्षा, सब [illegible] की रक्षा, इहलोक परलोक सब का क्षेम, सभी राजधर्म के अंतर्गत हैं। प्राणोत्सर्ग तक करके सब लोक की अनुकम्पा और भलाई करना, सब लोक का ज्ञान रखना और पालन पोषण करना और दीन दुखियों को पीड़ा से छुड़ाना, यह सब क्षात्र धर्म अर्थात् क्षत्रियों के राजधर्म में अंतर्गत है। इसी लिये क्षत्रियों का धर्म राजा का धर्म और धर्मों का राजा है।

राजधर्म का विषय बहुत [illegible] है। यदि [illegible] जी ने "पालिटिक्स" के लिये एक विशेष विद्यालय खोला है तो उन्होंने इस देश के प्राचीन [illegible] का भी अनुसरण किया है। इस विषय के ज्ञान के प्रचार की देश में बड़ी आवश्यकता है और [illegible] है कि इस पर हिन्दी में बहुत काम [illegible]

मिलते हैं। और यह भी खेद का विषय है कि जो एक दो ग्रन्थ लिखे भी गये हैं उन मे पश्चिम के भावों को ही हिन्दी शब्दों मे दिखाने का प्रयत्न अधिकतर किया गया है। चाहिये था, और देश के कल्याण के लिये आवश्यक है, कि प्राचीन भावों को दिखाते हुए उन की अपेक्षा से पश्चिम के नये भावों के गुणदोष, तथा इस देश के लिये उपयोगिता अथवा हानिकारकता दिखायी जाय। पश्चिम के ग्रन्थों के नये नये शब्दों पर रीझ जाना, और उन के लिये हिन्दी मे नये पर्याय शब्द बड़े श्रम से गढ़ना, इस मे शक्ति का अपव्यय होता है। पर हां, यह कहा जा सकता है कि बिना रोग का अनुभव किये आरोग्य का सुख नहीं ही जान पड़ता। "पेट्रियाटिज्म" देशभक्ति जान पड़ती है, "नेशनलिज्म" जातिभक्ति जान पड़ती है, और ऐसा जान पड़ता है कि ये दोनों बहुत नये भाव हैं, पश्चिम की जातियों ने नवीन कल्पना की है। पर जब हम याद करते हैं कि हमारे देश मे तो "पेट्रियाटिज्म" के स्थानपर "यूनिवर्सलिज्म" अर्थात् विश्वभक्ति रही है, और "नेशनलिज्म" के स्थान पर "ह्यूमनिज्म" अर्थात् सर्व मानव भक्ति, "सर्वभूतहिते रतिः," "सर्वलोकहितैषिता," "सर्वप्रिय-हितेहा च," तब हम को यह देख पड़ता है कि जिस को देशभक्ति समझे थे वह केवल देशमद है, और जिस को जातिभक्ति जाना था वह जातिमद। हमारा स्वाभाविक विश्वास तो यह है कि,

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥ (ईशोपनिषत्)

एवं तु पंडितैर्ज्ञात्वा सर्वभूतमयं हरिम्।
क्रियते सर्वभूतेषु भक्तिरव्यभिचारिणी॥ (विष्णुपुराण)

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्यसौ भागवतोत्तमः॥ (भागवत)

कामर्स," यह सब अन्तर्गत है। कुसीदशास्त्र. "सायन्स आफ़ बैंकिङ्" और शिल्पशास्त्र, "सायन्स आफ़ एनजिनियरिङ्" के सब भेद, यह सब भी इसी मे अन्तर्गत है।

पर एक बात इस स्थान पर कहने की है, कि जहां वैश्य धर्म कर्म मे कृषि गोरक्षा और वाणिज्य को फिर फिर याद कराया है वहाँ कुसीद और शिल्प पर इतना आग्रह प्राचीन ग्रन्थों मे नहीं किया है। शिल्प के नाम से अथर्ववेद सम्बन्धी उपवेद भी कहा है. अर्थात् शिल्पवेद, जिस का दूसरा नाम स्थापत्यवेद कहा है। तो भी इस का स्थान स्मृतियों मे ऊँचा नहीं रक्खा है। प्रत्युत महायंत्रप्रवर्त्तन को, और तत्संबन्धी आकरकर्म को, अर्थात् खानो के काम को, उपपातकों मे गिनाया है, और "उत्तमं गोधनं धनं," "वार्तामूलं इदं सर्वं," "वार्ता च सर्वं जगतां परमार्त्तिहंत्री," "कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं लोकाना-मिह जीवनम्" इत्यादि कृषि गोपालन और वाणिज्य की प्रशंसा की है। यह भी विचारने की बात है कि शिल्पवेद सम्बन्धी अथर्ववेद को भी अपवित्र कहा है। इस मे, और बहुत सी बातों के साथ, अभिचार, मारण, उच्चाटन, आदि के उपाय भी मिलते है। "शत्रूणामभिचारार्थमथर्वेषु निदर्शिताः।"

इस का हेतु यही जान पड़ता है कि जिन दो सभ्यताओं की चर्चा भगवद्गीता मे की है, दैवी संपत् और आसुरी संपत्, और जिनके स्वरूप का प्रदर्शन, विस्तार से, वाल्मीकि रामायण मे, रावण की लंका और राम की अयोध्या के वर्णन से किया है, उन मे दैवी संपत् कृष्यादिमातृक है, और आसुरी संपत् महायन्त्रादिप्रधान है। इस देश की सभ्यता "एग्रिकल्चरल-पास्टोरल-रूरल सिविलेजेशन" की और वर्णाश्रमीय "सोश-लिज्म" अर्थात् समाजवाद वा वयं-वाद की है। पश्चिम देश

ही आसुरी सभ्यता "इण्डस्ट्रियल-मिकानिकल-अर्बन सिविलि-जेशन" और "इंडिविजुयेलिज्म" अर्थात् व्यक्तिवाद या अहं-वाद की है। प्रधान शब्द पर ध्यान रखना चाहिये। सुर और असुर, आदित्य और दैत्य, सगे सौतेले भाई हैं, एक ही कश्यप और दो पत्नियों दिति और अदिति की सन्तान हैं। वही जीव जन्मान्तर में कभी देव और कभी दैत्य होते हैं। और दोनों में दोनों के गुण दोष वर्तमान हैं। पर एक की प्रधानता से एक नाम पड़ता है, दूसरे की प्रधानता से दूसरा नाम। देवताओं के भी शिल्पी हैं, जिनका नाम विश्वकर्मा है। निरुक्त बताता है कि जैसे "पश्यकः कश्यपो भवति, पश्यकः सूर्यः," और अदिति दिति यह दोनों पृथ्वी के ही परार्थी और स्वार्थी अवस्थाओं के नाम हैं, वैसे विश्वकर्मा प्राण-वायु का नाम है। "विश्वं करोति, विश्वकर्म करोति, विश्वासां क्रियाणां मध्यमः विश्वकर्मा वायुः," इत्यादि।

पर दैत्यों के शिल्पी मयासुर शम्बर आदि, ये दूसरे प्रकार के हैं। प्राणशक्ति से मन्त्रशक्ति से, काम कम लेते हैं, यंत्रशक्ति से ही अब काम लेते हैं। और इन यन्त्रों में अग्नि, वायु, वरुण इत्यादि को अपनी तपस्या के बल से परास्त कर के बन्द कर देते हैं, और उन से गुलामों का काम लेते हैं, एक बटन दबाया रोशनी हो गई, [illegible] उठी, दूसरा 'स्विच' चलाया, पंखा घूमा और हवा चलने लगी, तीसरा 'टैप' फिराया, वरुण देवता पानी के रूप में बहने लगे। फिर कृषिप्रधान ग्रामराज्यवाली दैवी सम्पत् की [illegible] सम्पत् को राक्षसराज्य के और आसुरी संपत् के उत्पन्न कर के पीछे देते हैं जिस का प्रतिकार नये ढंग से इस युग में भी [illegible] अवस्था दैवी सम्पत् यहाँ करते हैं।

सारांश यह कि हम को इन सब शास्त्रों पर हिन्दी में ग्रन्थों की अपेक्षा है, पर कृषि, गोरक्षा अर्थात् सब प्रकार के उपयोगी घरेलू पलुआ पशुओं के पालन पर (गच्छतीति गौः) और वाणिज्य पर अधिक, और कुसीद और शिल्प पर दूसरे दर्जे में।

कुसीद और शिल्प का प्रयोग जहाँ मर्यादा से थोड़ा भी आगे बढ़ गया कि वह सब आपत्तियाँ देश और जाति पर आ जाती हैं जिन का अनुभव यूरोप का देश इधर कई वर्षों से कर रहा है, और यूरोपियन सभ्यता और आंग्ल साम्राज्य के अधीन होने के कारण भारतवर्ष जिन को और भी अधिक भुगत रहा है। इस प्रयोग के जो कुछ सुख हैं वे तो मिलते नहीं, वे तो पश्चिम देश के धनाढ्यों और हुकूमत करनेवालों को मिलते हैं, किन्तु उस के जो दुःख हैं, अर्थात् बहुतेरों की अत्यन्त गरीबी और चारो ओर नीयत का कच्चापन और जुआ-चोरी और सेला और फाटका का रोजगार और शराब कबाब का अधिकाधिक प्रचार—यह सब दुःख भले ही इस देश को भुगतने पड़ रहे हैं।

साहित्य का काम है कि देश को इन आपत्तियों की चेतावनी देता रहे, और इन से बचने का उपाय दिखाता रहे।

कामशास्त्र अथवा कलाशास्त्र।

अर्थशास्त्र के पीछे कामशास्त्रका स्थान है।

धर्मादर्थोऽर्थतः कामः कामाद्धर्मफलोदयः।
इत्येवं निर्णयं शास्त्रे वर्णयन्ति विपश्चितः॥
धर्मश्चार्थश्चकामश्च मोक्षश्चेति चतुष्टयम्।
यथोक्तं सफलं ज्ञेयं विपरीतं तु निष्फलम्॥

(पद्मपुराण, उत्तरखंड, अ० २४८)

दम्भ करता है अहंकार से कि "एक वेर मै ब्राह्मा के घर गया; सब मुनि तुरत अपना २ आसन मुझे देने लगे, पर मै ने नाक सिकोड़ी; तब ब्रह्माने अपनी जाँघ को गोबर से लीप कर शुद्ध कर के मुझ को शपथ देकर और बहुत अनुनय विनय करके उसी पर बैठाया।"

अर्थात् अधिकाँश मिथ्या छूत छात के लोकविग्राहक ढोंग में ही धर्म रह गया है। जो धर्म का मर्म है, और जो सर्वलोक-संग्राहक राजधर्म राजनीति का सार है, उसकी ओर कुछ भी ध्यान नहीं है।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचं इन्द्रिय निग्रहः।
धीः विद्या सत्यं अक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥
अहिंसा सत्यं अस्तेयं शौचं इन्द्रिय निग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन् मनुः॥ (मनु)
श्रूयतां धर्मं सर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥
यद्यद् आत्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिंतयेत्।
(म० भा० शांति०)
वर्णानां आश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता॥ (मनु)

धीरज से सद्भावों को उत्तम लक्ष्य को धरे रहो, क्षमा करो, मन की अशुभ वासनाओं का दमन करो, चोरी मत करो, शरीर को शुचि स्वच्छ रक्खो, इन्द्रियों का निग्रह करो, उनको रोके रहो, वे लगाम के घोड़ों के ऐसा मनमाना इधर उधर दौड़ने मत दो, बुद्धि बढ़ाओ, विद्या सीखो, सच बोलो, क्रोध मत करो—ये ही धर्म के दस लक्षण हैं। इन मे से भी पांच और सारभूत हैं, सब वर्णों के लिये हैं। और भी। धर्म का सर्वस, धर्म का सार, सुनना चाहो तो यह है कि, जो अपने

विषय प्राचीन कामशास्त्र का था। आज काल पश्चिम के खोजी विद्वान् इस शास्त्र के एक मुख्य अंग के तत्त्वों को "यूजेनिक्स" के नाम से खोज रहे हैं, जिस का मूल मन्त्र मनु के एक श्लोक मे दिया है। तथा महाभारत मे भी, नलदमयन्ती की कथा मे।

अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा।
निन्दितैर्निन्दिता नृणाम्, तस्मान् निन्द्यान् विवर्जयेत् ॥ (मनु)
विशिष्टाया विशिष्टेन संगमो गुणवान् भवेत्। (म० भा०)

उत्तम स्त्री उत्तम पुरुष के सात्विक स्नेह और प्रीतिमय विवाह से उत्कृष्ट प्रजा उत्पन्न होती है। निन्दित सम्बन्धों से दुराचार दुःशील कुरूप निन्दनीय सन्तान उत्पन्न होती है।

तो इस परमोपयोगी गार्हस्थ्यशास्त्र पर उत्तम ग्रन्थों की नितान्त आवश्यकता है। और उसके सम्बन्ध मे विविध व्यवहारोपयोगिनी तथा रसमयी ललित कलाओं के ग्रन्थों की भी आवश्यकता है। तौर्यत्रिक अर्थात्, गीत, वाद्य, और नृत्य, तथा चित्रकारी, रूपोत्किरण, वास्तुशिल्प, घर को रुचिर और उसकी शालाओं को मनोहर बनानेकी विद्या, पुष्प विद्या, सुगन्ध विद्या, षड्रस विद्या, काव्य साहित्य, सुन्दर आभूषण, सुरंजित सुछृत वस्त्र, तरह तरह के खेल, पहेली, उद्यान विद्या, पुष्पवाटिका, फलवृक्षवाटिका, क्रीड़ाशैल, आराम, स्नानवापी, धारागृह आदि के निर्माण करने की विद्या, इत्यादि। काशी मे अब तक प्रथा है कि होली के दिनों मे चतुःषष्टि देवी का दर्शन करते । चतुः षष्टि देवी से मतलब चतुः षष्टिकलाओं का है। कोमल बुद्धि को सहज मे समझा देने के लिये, बालक की स्मृति मे एक रोचक रूप से ज्ञान के तत्त्व को दृढ़ बैठा देने के लिये, अमूर्त्त ब्रह्म की विविध मूर्त्तियों की कल्पना, प्राचीन दयामय ऋषियोंने कर दी। पर जैसे और

यदि मोक्ष के लिये यत्न करें तो कृतार्थ होता है। तभी उन को मोक्ष का लाभ, सब ऋणों और बंधनों से छुटकारा अर्थात् सब जीवात्माओं की एकता का निश्चय, परमात्मा का अनुभव, ठीक ठीक होता है, अन्यथा नहीं।

इसलिये जब तक अन्य तीनों शास्त्रों के ग्रन्थ अच्छे न बन जायें, जब तक इन तीन शास्त्रों के विषय का ज्ञान और अनुभव देश मे न फैले, तब तक मोक्ष का अनुभव भी ठीक नहीं हो सकता। जैसा पुनः पुनः पुराणो मे, तथा तुलसी दास जी की रामायण मे भी, कलियुग के वर्णन मे कहा है, आज काल तो सभी वेदांती हो रहे हैं, सभी प्रकार के नितांत विषयी और पापी जन भी, "अहं ब्रह्मास्मि, सर्वं ब्रह्म" पुकारते हुए, दूसरोंका मालमता 'आत्मसात्' करने के लिये, 'अपनाने' के लिये, सदा सन्नद्ध रहते हैं, और जीवन्मुक्त बने निर्द्वन्द्व विचरते हैं।

इस विषय पर कहने को तो बहुत है, पर यह स्थान और समय अधिक विस्तार का अवसर नहीं देता। इतने ही से अपने वक्तव्य के इस अंश को समाप्त कर के मै आप को स्मरण कराना चाहता हूँ कि यह मैने भारतवर्ष के प्राचीन संस्कार के अनुसार सर्वांग साहित्य का सीधा सादा आकार खींच दिया है। और यह दिखाने का यत्न किया है कि मनुष्यसमाज के जीवन मे सहायता करना, 'साथ' देना, 'सहित' होना, मनुष्य के सुख की वृद्धि करना, मनुष्यमात्र को चारो पुरुषार्थों की प्राप्ति का उपाय दिखाना, यही सम्पूर्ण 'साहित्य' का प्रयोजन है, और यह प्रयोजन बिना इस आकार के पूर्ण हुए ठीक सिद्ध नहीं हो सकता।

द्वितीय भाग।

अब मैं यह सूचना करने का यत्न करूँगा कि ऐसे साहित्य की पूर्ति के क्या उपाय हैं, और तत्सम्बन्धी फुटकर बातों की भी चर्चा करूँगा।

जब सोता आदमी जागने लगता है, जब नशे से या चोट से बेहोश आदमी होश में आने लगता है, तब पहिले उसके अंग एक साथ मिल के काम नहीं करते। हाथ किसी तरफ फेंकता है, पैर किसी तरफ फैलता है, आँख खुलती है और बन्द हो जाती है, कान कुछ और ही सुनता है, मुख से कुछ बेजोड़ आवाज अलग निकलती है। धीरे धीरे, सब देह में प्राणसंचार होकर आदमी खड़ा हो जाता है, और एकसूत्रकाय होकर, एक उद्देश से, काम में लगता है।

यही दशा भारतवर्ष की है। आज चालीस पचास वर्ष से इस देश और इस जाति में जाग हुई है।

देश और जातिके विविध अंगोंकी जाग।

एक परमात्मा, एक खुदा, एक अल्ला के बन्दोंमें अनन्त मतों और फिरकों के भेद पैदा होकर आपस में मारकाट होने के कारण भारत देश बहुत [illegible] चला था। इस के शोधन के वास्ते नानक [illegible] कबीर की चेतावनी की जाने लगी, कि इस मूढ़ [illegible] कि सभी एक ही परमात्मा, एक [illegible], आप ही हिन्दू और [illegible] आपस में [illegible] और [illegible] [illegible] और फिर

बनावट के धर्म को गढ़िये, दीन और धर्म के नाम की दुर्दशा कर के पशु के लिये मनुष्य की हत्या मत कीजिये, बल्कि एक दूसरे को अकल से समझाइये। कृष्ण ने, शराब कबाब वाला इन्द्र-मख उठा कर, गो-पूजा इस वास्ते कायम की कि देश मे अन्न दूध का सौम्य "सिविलिज़ेशन" अर्थात् समयाचार और सभ्यता चले, और शराब कबाब का प्रचण्ड "सिविलिजेशन," जिस से एक दो नगर की अत्यन्त समृद्धि के वास्ते सारा देश उजाड़ हुआ जाता था, कम हो। (यद्यपि यह काम केवल गो-वर्धन मख से नहीं हुआ। इसके लिये कृष्ण को महाभारत का युद्ध और यादवों का संहार भी कराना पड़ा।)

जहॉ एक ओर इस प्रकार से साम्प्रदायिक वैरों को शांत करने का यत्न होने लगा, वहॉ दूसरी ओर यह यत्न आरम्भ हुआ कि नई पुश्त की शिक्षा का प्रचार देश के हाल के अनुसार हो, विदेश के मतलब के अनुसार नहीं। इस वास्ते ग़ैर सरकारी और नीम सरकारी स्कूल कालिज कायम किये जाने लगे, जिन का भाव यही था कि देश के काम की अर्थकरी, शिक्षा का प्रचार हो, और बेकार, बेसूद, अर्थ रहित शिक्षा बंद हो।

तीसरी ओर देश के सुशासन, जनता के अधिकारों की रक्षा, के उपाय के संबंध मे, प्रजा को दुःशासन की पीड़ा से बचाने के प्रकार के बारे मे, बड़ा विचार और आन्दोलन शुरू हो गया।

चौथी ओर देश की डूबती हुई जीविका का कैसे पुनरुद्धार हो, कैसे यहाँ की जनता अपने पैरों पर खड़ी हो, अपने बूते अपना और बाल बच्चों का बिना नितान्त पराधीनता के पालन पोषण कर सके, कैसे स्वदेशी व्यापार सर्वथा नष्ट न हो जाय—इस बारे मे जतन होने लगा।

ब्राह्मण वर्ग, मौल्वी वर्ग, विद्वान्-पादरी वर्ग, ज्ञानप्रधान जीवों, के द्वारा शिक्षा का प्रबन्ध। क्षत्रिय वर्ग, सिपाही वर्ग, "सोल्जर वर्ग," क्रियाप्रधान जीवों, के द्वारा रक्षा का प्रबन्ध। वैश्य वर्ग, ताजिर और किसान और पशुपालक और शिल्पी वर्ग, अर्थात् इच्छाप्रधान जीवों, के द्वारा जीविका का प्रबन्ध। सेवक वर्ग, अनुद्बुद्धबुद्धि जीवों बाल्बुद्धि जीवों, के द्वारा सब की सहायता और मनोरञ्जन आदि का प्रबन्ध, सब के वास्ते परस्पर कर देना, देश काल अवस्था के अनुसार—यही उत्तम शासन का स्वरूप और सिद्धान्त है।

ज्ञान की देवी ब्रह्मचारिणी सरस्वती, उपवन और अरण्य में बसनेवाली। क्रिया की देवी, शोभा सौन्दर्य सम्पत्ति की अधिष्ठात्री गृहस्थिनी लक्ष्मी, नगर में बसनेवाली। इच्छा की देवी, प्राण की, अन्न की, वैवाहिक स्नेह और सन्तान की, काम की, तथा क्रोध और वीरता की भी देवी, महागृहस्थिनी विविधरूपिणी गौरी, अन्नपूर्णा, दुर्गा, गाँव खेत देहात की रहनेवाली; तथा सब से आगे, सब स्थान में रहनेवाले, जिन के बिना किसी का भी काम नहीं चल सकता, बाल्बुद्धि के देवता, अति पुराण बालक गणेश जी—हम भारतवासी जन तो इन सब को एकसा मानते और पूजते हैं। हम को तो सभी चाहिये। इन चार में से किसी एक को भी नहीं छोड़ सकते।

पर इस पच्छिमी सभ्यता ने लक्ष्मी को माता न समझ कर वाराङ्गना बना लिया है, और सरस्वती, अन्नपूर्णा, तथा गणेश जी को उस का गुलाम बना दिया है। उनका बराबरी का वास्ता मिटा दिया है। इसी के कारण सारे पृथिवीमण्डल में राम राज्य के स्थान में रावणराज्य हो गया है।

जब तक इन तीनों देवियों की समतावस्था फिर से नहीं

व्यापिनी बोली कही जा सकती है। लोकमान्य तिलक ने, महाराष्ट्र प्रान्त का शरीर रखते हुए भी, इस बात को स्वीकार किया, और पर साल काशी में हिन्दी में व्याख्यान दिया। महात्मा गान्धी ने, गुजरात प्रान्त का शरीर धारण करते हुए भी, इस बात पर सत्य आग्रह किया है कि हिन्दी ही समग्र भारतवर्ष की राष्ट्र भाषा है और होना चाहिये, और जिस जिस प्रान्त में इस का प्रचार अभी कुछ कम है वहां अधिक होना चाहिये। स्वयं वे प्रायः अब हिन्दी ही में अपने प्रभावशाली सारमय हृदयग्राही व्याख्यान देते हैं। बंग देश के भी कई विद्वान् और अग्रणी इस को मान चुके हैं। दूसरे देश के भी जो निष्पक्षपात निस्स्वार्थी विद्वान् हैं वे भी इस को मानते हैं। और गत सम्मेलनों में यह बात बड़े पाण्डित्यपूर्ण सद्युक्तिमय व्याख्यानों से सिद्ध की गई है। अब इस पर अधिक कहना निष्प्रयोजन है।

हिन्दी या हिंदुस्तानी।

हाँ, 'हिन्दी' शब्द में कुछ सन्देह हो गया है। इधर हिन्दी उर्दू का विवाद कुछ दिनों तक जो चला, उस के कारण हमारे, मुसलमान धर्मवाले, 'हिंद' में रहनेवाले, अतः 'हिन्दी', भाइयों को इस शब्द से कुछ शंका हो गई। गो कि वह हुज्जत हिन्दी उर्दू ज़बानो की नहीं थी, बल्कि नागरी फ़ारसी हरफ़ों की थी, तौ भी इस शक और हुज्जत को मिटाने के लिये इधर कई मुअज्ज़िज़ पेशवाओं की सलाह यह है कि हिन्दी लफ़्ज़ की जगह हिन्दुस्तानी लफ़्ज़ का इस्तअमाल किया जाय।

यह भी अच्छा है। मेरा निवेदन केवल यह है कि जो ही अर्थ हिन्दुस्तानी का है वही हिन्दी का है, और हिन्दी शब्द छोटा और बहुत दिनोसे बर्ताव में है और सुविधा का है।

इनका प्रयोग छोड़ देना चाहिये, 'भारत, और 'भारतीय' ही कहना चाहिये, इत्यादि। पर "योगाद् रूढिर्बलीयसी", यह सिद्धान्त है। अति प्राचीन वैदिक भाषा मे असुर शब्द का वह अर्थ था जो अब सुर का है, "असून् राति इति", और सुर का वह अर्थ था जो अब असुर का, पर ऐसा बदल गया कि अब उस में शंका का स्थान ही नहीं है। ऐसे ही, यह तो प्रत्यक्ष स्पष्ट है कि हिन्दी मे जो तीता और कडुवा ये दो शब्द हैं, इन के मूल संस्कृत के दो शब्द तिक्त और कटु हैं। पर अर्थ बिलकुल उलटा है, "निम्बं तिक्तं", नीम कड़वी है, और "मरिचं कटु", मिर्च तीती है। तो "योगाद् रूढिर्बलीयसी", अब तो 'हिन्द' हमारा प्यारा देश है, और 'हिन्दी' हमारी प्यारी बोली है, जिस को हिन्द के पन्द्रह सोलह करोड़ हिन्दी तो साक्षात् बोलते ही हैं, और बाकी पन्द्रह सोलह करोड़ हिन्दियों मे से दस करोड़ किसी न किसी प्रकार से समझ लेते हैं, और साधारण कामोंके लिये बोल भी लेते हैं। पर, साथ ही इसके, 'भारत' और 'भारतीय' को भुला नहीं देना है। इन शब्दों का भी प्रयोग समय समय पर होते रहना ही चाहिये।

इस सम्बन्ध मे काशी की विशेष अवस्था की कुछ चर्चा यहाँ करना चाहता हूं। कई मानी मे सारे हिन्द का संक्षेप रूप काशी है। लाहौरी टोला मे पंजाबियों की बस्ती, बंगाली टोला मे बंगालियों की, केदार घाट हनुमान घाट पर तामिल तेलंगों की, दुर्गाघाट पंचगंगा पर महाराष्ट्रों की, चौखम्भा मे गुजरातियों की, घाट घाट पर विशेष विशेष राजरियासतोंके आदमियों की, मदनपुरा अलईपुरा मे मुसलमान भाइयों की, और सिक्रौल मे ईसाई भाइयों की आबादी है। इन की रिश्तादारियाँ चारों ओर हिन्द भर मे हैं और होती रहती

इनका प्रयोग छोड़ देना चाहिये, 'भारत, और 'भारतीय' ही कहना चाहिये, इत्यादि। पर "योगाद् रूढिर्बलीयसी", यह सिद्धान्त है। अति प्राचीन वैदिक भाषा मे असुर शब्द का वह अर्थ था जो अब सुर का है, "असून् राति इति", और सुर का वह अर्थ था जो अब असुर का, पर ऐसा बदल गया कि अब उस में शंका का स्थान ही नहीं है। ऐसे ही, यह तो प्रत्यक्ष स्पष्ट है कि हिन्दी मे जो तीता और कडुवा ये दो शब्द है, इन के मूल संस्कृत के दो शब्द तिक्त और कटु है। पर अर्थ बिल्कुल उलटा है, "निम्बं तिक्तं", नीम कड़वी है, और "मरिचं कटु", मिर्च तीती है। तो "योगाद् रूढिर्बलीयसी", अब तो 'हिन्द' हमारा प्यारा देश है, और 'हिन्दी' हमारी प्यारी बोली है, जिस को हिन्द के पन्द्रह सोलह करोड़ हिन्दी तो साक्षात् बोलते ही है, और बाकी पन्द्रह सोलह करोड़ हिन्दियों मे से दस करोड़ किसी न किसी प्रकार से समझ लेते है, और साधारण कामोंके लिये बोल भी लेते हैं। पर, साथ ही इसके, 'भारत' और 'भारतीय' को भुला नहीं देना है। इन शब्दों का भी प्रयोग समय समय पर होते रहना ही चाहिये।

इस सम्बन्ध मे काशी की विशेष अवस्था की कुछ चर्चा यहाँ करना चाहता हूं। कई मानी मे सारे हिन्द का संक्षेप रूप काशी है। लाहौरी टोला मे पंजाबियों की बस्ती, बंगाली टोला मे बंगालियों की, केदार घाट हनुमान घाट पर तामिल तेलंगों की, दुर्गाघाट पंचगंगा पर महाराष्ट्रों की, चौखम्भा मे गुजरातियों की, घाट घाट पर विशेष विशेष राज-रियासतोंके आदमियों की, मदनपुरा अलईपुरा मे मुसलमान भाइयों की, और सिक्रौल मे ईसाई भाइयों की आबादी है। इन की रिश्तादारियाँ चारों ओर हिन्द भर मे है और होती रहती

संशोधन की आवश्यकता है। अब तो उस से न इहलोक मे न परलोक मे कुछ फल दिखाई देता है।

हाँ, उस प्राचीन विद्याके केन्द्र की, जो अब भी हिन्द का केन्द्र है, प्रचलित बोली हिन्दी मे, साहित्यका संग्रह और प्रचार हो, तो पूरी आशा है कि सर्वाङ्गीण जाग ठीक ठीक हो जाय, और शिक्षा रक्षा जीविका आदि सब कार्यों मे सफलता स्वतंत्र और स्वाधीन रूप से हो। जिन की एक बोली उन का एक मन। और यदि देश के सब निवासियों का एक मन हो जाय तो कौन सी इष्ट वस्तु है जो इन को न मिल सके।

एक लिपि और विविध भाषाओं के शब्द।

इस लिये इस बोली का जितना अधिक प्रचार हो उतना ही अच्छा है। मुझे इस का बहुत खेद है कि स्वर्गवासी श्रीयुत शारदाचरण मित्र ने जो एकलिपिविस्तारपरिषत् स्थापित की थी और उस की जो त्रैमासिक पत्रिका निकाली थी, वह दोनों शान्त हो गईं, और इस ओर पुनर्वार प्रयत्न नहीं किया गया।*

यह भी प्रायः निर्विवाद है कि जैसी नागरी अक्षरावली, वैसे नागरी लिपि भी, अन्य सब लिपियों की अपेक्षा अधिक शास्त्रीय, "सायन्टिफिक", सम्पूर्ण, अभ्रान्त, और सब बोलियों के लिखने मे समर्थ है। यदि पाँच सात आवाज़ें अरबी और अङ्गरेज़ी की ऐसी हैं जिन के लिये संस्कृत अक्षरावली और लिपि मे प्रबंध नहीं है, तो वे सहल मे, स्वरवर्ग और व्यंजन-

* अब श्री प्रेमचन्द और श्री कन्हैया लाल मुंशी ने 'हंस' नामक मासिक पत्रिका मे इस प्रकार का कार्य फिर आरंभ किया है—भ०, सं १९३६, ई० ।

बता मिलेगा। पर लिपि एक नागरी यदि सब प्रान्त मे बरती जाने लगे तो प्रान्तीय भाषाओं का भेद रहते हुए भी एक दूसरे का अभिप्राय समझने में बहुत बड़ी सुविधा हो जाय। काशी का हाल तो मैं जानता हूँ कि वहाँ के सब मुसलमान भाइयों की कोठियों मे भी बही खाते एक प्रकार की नागरी अर्थात् महाजनी लिपि मे ही लिखे जाते हैं। महाराष्ट्र भाषा के ग्रन्थ और पत्र सब नागरी लिपि मे छपते हैं। और मेरी समझ मे तो ऐसा आता है कि बँगला और गुजराती तथा उर्दू के अच्छे अच्छे ग्रन्थ यदि नागरी लिपि मे छपें तो व्यापार रोजगार की दृष्टि से भी छापने वालों ही को बहुत लाभ होगा, क्योंकि हिन्दी वाले भी इन को, बिना अनुवाद के श्रम के, मूल शब्दों मे ही पढ़ कर, अधिकांश का अर्थ ग्रहण कर सकने के कारण खरीदेंगे, और इन का प्रचार, जो अब तत्तत्प्रांत की सीमा के भीतर संकुचित है, वह समग्र भारत मे फैल जायगा। गालिब और ज़ौक की कविताओं के संग्रह जो नागरी मे छपे हैं, उन की अच्छी बिक्री है। कवि अकबर के भी पद्य अगर नागरी अक्षरों मे छपें तो हजारों प्रतियाँ हाथों हाथ उठ जायँ। इस सम्बन्ध मे एक बात और विचार ने की है। हिन्दी मे जो संस्कृत, फ़ारसी, अरबी, अङ्गरेजी आदि के शब्द लिये जायँ वे अपने शुद्ध रूप मे बरते जाँय, या हिन्दी की बोली के अनुसार उन की शकल कुछ बदली जाय। जैसे एक देशको छोड़ कर आदमी दूसरे देश मे जा बसता है और अपना पुराना पहरावा छोड़ कर उस देश के पहिरावे को धारण कर लेता है, तभी उस देश के आदमियों मे मिल पाता है, नहीं तो विदेशी बना रहता है। कुछ लोगों का विचार है कि अगर शकल बदलनी शुरू हुई तो रोज़ रोज़ बदलती ही जायगी। कहीं स्थिरता न आवेगी। और

लगा ही रहे हैं। सर्वसाधारण की सूत्रात्मा ने कोई निर्णय नहीं कर पाया है। पर ग्रन्थसाहित्य अधिक बढ़ने पर इसका भी निर्णय हो ही जायगा। जैसा अंग्रेज़ी मे हो गया है। जैसा सुनता हूँ कि बंगला, गुजराती, मराठी मे कुछ न कुछ हो गया है। इन तीन भाषाओंको यह सुविधा है कि इन को फ़ारसी अरबी शब्दों से काम कम है। प्रायः संस्कृत ही का आसरा है। हिन्दी को फारसी अरबी से भी काम है और संस्कृत से भी। तुलसीदासजी ने, जिन्हों ने वाल्मीकि रामायण का हिन्दी मे अनुवाद वैसा किया जैसा व्यासजी ने वेदों का महाभारत के रूप मे, "रज़ाइश" का आकार "रजायसु" कर दिया है। "आश्रय" का तो 'आसरा' सहज ही है। फारसीदाँ "रज़ाइश" पर ही ज़ोर देते हैं। संस्कृतज्ञ के कर्ण को "आश्रय" ही प्रिय है। पर सर्व-साधारण को प्रायः रजायसु और आसरा ही भला लगेगा। मेरा निज का विचार कुछ ऐसा होता है कि लिखे और छपे ग्रंथों के लिये यदि शब्दों के शुद्ध आकार पर ज़ोर दिया जाय तो साहित्य की स्थिरता बढ़ेगी। और ज़ाहिरा खड़ी बोली का प्रयोग बढ़ता जाता है। यही शकल हिन्दी और उर्दू के मेल की, अर्थात् हिन्दुस्तानी की, होती देख पड़ती है। मामूली बोल चाल मे तो, जैसे आदमी आदमी की शकल सूरत मे और आवाज़ मे फर्क होता है, वैसे ही शब्दों मे कुछ न कुछ होता है और रहेगा। एक घर मे बच्चे कुछ और बोलते हैं, स्त्रियाँ कुछ और, पुरुष कुछ और, नौकर कुछ और। एक दूसरे की बात ठीक ठीक समझ जायँ, इतना तो ज़रूरी है, और जैसे हो वैसे साधना चाहिये। इस के बाद यदि थोड़ा भेद रहे तो वह भी संसार की विचित्रता के आवश्यक रस मे सहायता ही देता है।

'परस्परानुग्रहन्याय' से, वैसे ही इस देश के शीलभंग से स्वाधीनता और धन की हानि हो गई, और निर्धनता से कोई भी व्यवसाय पनपते नहीं, और पराधीनता और दरिद्रता के कारण शील भी फिर से दृढ़ होने नहीं पाता। ऐसा अनर्थचक्र हो गया है। "उत्पद्य हृदि लीयन्ते दरिद्राणां मनोरथाः" और "बुभुक्षितः किं न करोति पापं" इत्यादि। पर लोग जाग रहे हैं, और दिन दिन परार्थबुद्धि, न्यायबुद्धि, राष्ट्रबुद्धि, कुछ न कुछ बढ़ती जाती है, यद्यपि स्वार्थ और लोभ के भाव भी स्यात् कुछ तीव्र हो रहे हैं। इस से आशा कुछ की जा सकती है कि खोया हुआ शील स्यात् लौटेगा, और उस के साथ साथ अन्य सब कल्याण गुण वापस आवेंगे।

नाटक और उपन्यास अर्थात् आख्यायिका के ग्रन्थ बहुत से अच्छे अच्छे अब हिन्दी मे लिखे जाते हैं। देशभक्ति की कविता अच्छी अच्छी निकलती है। छोटे काव्य भी कई अच्छे अच्छे छपे हैं। पर तुलसीदासजी की रामायण के ऐसे महाकाव्य की रचना का किसी ने प्रयत्न नहीं किया है। ऐतिहासिक नाटकों और आख्यायिकाओं का अनुवाद और अधिक संख्या मे होना चाहिये। इन के ग्रन्थ अन्य भाषाओं मे बहुत और अच्छे अच्छे है। अनुवाद सहल मे हो सकता है। जो अन्यथा-सिद्ध है उस पर प्रयास करना अनुचित है। यदि स्वभावतः किसी को नवकल्पना की शक्ति अच्छी हो तो बहुत अच्छा है। पर अनुवाद मे कोताही करने का कोई कारण नहीं है। अलबत्ता इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि यदि किसी लेखक ने जातिमद से किसी दूसरी जाति के विषय मे अभद्र भाव प्रकट किये हैं, या मिथ्या बातें लिखी हैं, तो उनका संशोधन अनुवादक कर ले। ऐतिहासिक आख्यानों और नाटकों की बहुतायत

अभिनंदन के योग्य है। पुरानी संस्कृत प्रथा भी यही है कि ऐतिहासिक वृत्त के आधार पर काव्य नाटक आदि बनाना चाहिये। इसका फल यह है कि जो शिक्षा शुद्ध इतिहास से होती है वही इनसे, और अधिक रुचिकर रूप में, होती है। शुद्ध इतिहास के ग्रन्थों की भी यही दशा है। इस विषय का साहित्य अन्य भाषाओं में बहुत भारी है। हिन्दी में अनुवाद करने की देर है। उक्त जातीय पक्षपातों और द्वेषों से जो दोष मूल ग्रन्थों में आ गये हों उनके संशोधन की आवश्यकता है। पश्चिम देश के इतिहासों के विषय में तो यदि कई भाषा जाननेवाला अनुवादक हो तो यह काम सहज में हो सकता है। जैसे इंग्लिस्तान के जो इतिहास अंग्रेजों ने लिखे हैं उनका संशोधन फ्रेंच और जर्मन विद्वानों के लिखे इंग्लिस्तान के इतिहासों से हो सकता है। यथा, सं १८१५ ई० में वाटरलू की प्रसिद्ध लड़ाई में नेपोलियन की फरासीसी सेना, अंग्रेजी और जर्मन सेनाओं के मुकाबिले हार गई। अंग्रेज लेखक इसका सब श्रेय अंग्रेजी सेना को ही देता है। जर्मन लेखक जर्मन सेना को ही। फरासीसी लेखक हार के कारण ऐसे बताता है जिनको अंग्रेज और जर्मन छिपाना चाहते हैं। इत्यादि।

अपने देशों का इतिहास तैयार करने में योरप और, विशेष कर [illegible] ग्रन्थों के तथा फारसी ग्रन्थों से, जो सहायता मिल सकती, वह अब तक पूरी तरह से नहीं ली गई है। पर जैसे जैसे [illegible] का प्रचार दिन दिन अधिक होता जाता है, [illegible] इतिहास की सामग्री धीरे धीरे, जिसका [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

अन्य शास्त्रों के विषय मे, जिनकी चर्चा पहिले की गई, अधिक परिश्रम की आवश्यकता है। उन पर हिन्दी मे अच्छे ग्रन्थ तभी तैयार होंगे जब उनके लेखक उस उस विषय के, न केवल पाश्चात्य ज्ञान और विचार से परिचित हों, किन्तु प्राचीन संस्कृत ज्ञान और विचार को भी अच्छी तरह जानते हों, और दोनों को देश की वर्तमान दशा की दृष्टि से देख कर ग्रन्थ लिखें। यह काम तभी ठीक होगा जब विद्यालयों में तत् तत् शास्त्रके आचार्य पौर्व पाश्चात्य दोनों ज्ञानों के जानकार हों, और वे हिन्दी मे ग्रन्थ लिखें। जापान ने इसी प्रकार का अनुसरण करके पन्द्रह बीस ही वर्ष मे अपनी भाषा मे समस्त पाश्चात्य ज्ञान का निचोड़ रख लिया। निज़ाम हैदराबाद की उस्मानिया यूनिवर्सिटी मे भी उर्दू लिपि मे अच्छे अच्छे ग्रन्थ कुछ इसी प्रकारसे तैयार किये गये हैं, और कई छप भी गये हैं। उनका अनुवाद हिन्दी मे होना चाहिये।

साहित्यसम्मेलन ने जो हिन्दी मे परीक्षाओं का क्रम सम्वत् १९७१ से बांधा है, उससे अवश्य बड़ा उपकार हो रहा है। पर उन परीक्षाओं की ग्रन्थसारणी देखने से मालूम पड़ता है कि उत्तमा परीक्षा के कई विषयों के लिये प्रायः अंग्रेज़ी भाषा के ही ग्रन्थ देखने पड़ते हैं।*

पर हर्षका स्थान है कि यत्न बराबर हो रहा है। अट्ठाईस या तीस तो पुस्तकमाला निकल रही हैं। जिनमे चार पांच मालाओं मे अच्छे अच्छे ग्रन्थ रहते हैं। काशी नागरी प्रचारिणी सभा की मनोरंजन पुस्तक माला मे विशेष कर शास्त्र

---

* इधर इस सारणी मे यथोचित परिवर्त्तन हुआ है—भ०, सं, १९३६ ई०।

अपने काम में गाफिल और लापरवा हैं तो उनको भी चेतावनी देते हुए, अपने कल्याण के सब काम अपने हाथ में लेवें, और इधर उधर के खर्चों में कमी करके हिन्दी द्वारा शिक्षा और हिन्दी विद्यापीठों की स्थापना और हिन्दी साहित्य की पूर्ति में चित्त और धन दें।

पर सबसे पहिले करने का और महत्व भी काम, जैसा मैं पहिले कह आया हूं, इतिहास और राजधर्मके ग्रन्थों के सम्पादन का है। क्योंकि इनसे मनुष्य के जीवन को अत्यन्त उपयोगी जो बातें हैं, वे सब थोड़ेमें रोचक रूपसे परमात्मा की महिमा के साथ साथ मालूम हो जाती हैं। भागवत की कथा का आरम्भ यों ही कहा है। ऋषियों ने सूत से कहा,

अति विचित्र रचना हूं बानी हरियश जो न बखाना,
जासों जग पवित्र होवै, तौ मानहु काग बसाना,
विविध प्रकारहु अन्न जहा है फेंक्यों जूठन थामी,
मानस हंस तहां नहीं रमते निर्मल नीर निवासी।
अति कराल कलिकाल चल्यो यह, अल्प आयु मतिहीना,
भाग्यरहित रोगन तें पीड़ित, सब प्रानी अति दीना,
तिन के हित, मुनि, शास्त्रकथन में, बहुत परिश्रम कीना।
शास्त्र बहुत अरु कर्म बहुत अरु सुनत करत न ओराय,
हे साधो! जो सार चुन्यो तुम, अपनी बुद्धि बराय,
वही कहो, जो सुनि श्रद्धालुन की आतमा जुड़ाय॥

॥ ॐ ॥

पुराने यज्ञो का नया रूप।

इस देशकी पुरानी प्रथा रही है कि,

नैमिषेऽनिमिषक्षेत्रे सत्रे द्वादशवार्षिके।
प्रजानां हितकामाय ऋषयस्तु समागमन्॥

मै ने इस का अर्थ यह समझ रखा है कि प्रति बारहवें वर्ष नैमिष क्षेत्र मे देश के वृद्ध, तपस्वी, जिन का हृदय सब लोक की ओर वैसा था जैसा पिता पितामह का अपनी प्रजा की ओर होता है, एकत्र होकर विचार करते थे, कि क्या क्या उपाय लोक के हित के लिये किया जाय। उन उपायों में एक मुख्य उपाय इतिहास पुराण का पुनः संस्करण और प्रचारण हुवा करता था, जिससे उपयोगी ज्ञान देश भर मे फैले, अविद्या का अंधकार मिटे, और सद्विचार सदाचार का प्रकाश उदय हो। शायद अब तक जो कुम्भ के मेले की चाल बारहवें वर्ष की चल रही है, कुछ इसी का लेश शेष हो। पर अब पुराने मेलों का आंतरिक भाव बिल्कुल बिगड़ गया है, जैसे अति वृद्ध शरीर रोगोंका घर हो जाता है। इस कारण भारतवर्ष की सूत्रात्मा ने इन मेलों के प्राचीन उत्तम भाव के वास्ते नया शरीर, ऐसे सम्मेलनों का, ग्रहण किया है। हज़ार वर्ष पुराने हिन्दी साहित्य ने भी अपना बहुत पुराना रूप छोड़कर नई काया धारण किया है। इस बत्तीस करोड़ मनुष्यों की महाजाति की, इस पांच लाख वर्गकोस के महादेश की, दृष्टि से इन सम्मेलनों की अभी बहुत बाल्यावस्था है, तौ भी इन्होंने बड़ा काम कर लिया है।

विघ्नों और त्रुटियोंसे निराश नही होना चाहिये।

जो लोग काम मे लगे हैं, उसकी भीड़ मे पड़े हैं, इस विषम आपत्काल में अपने बूते से बहुत अधिक बोझ उठाये है,

सभा विसर्जन के समय का सभापति का भाषण।

सज्जनो !

[illegible] हि दुःखेन याति ।

सज्जन बड़े सौभाग्य से मिलता है। उस का बिलग अच्छा नहीं लगता। पर क्या किया जाय, संयोग के साथ वियोग होना ही है। यह दैवी नियम है। इस सभा का आज इस काल में विसर्जन भी करना ही पड़ता है। पर संतोष का स्थान है कि जिस काम के लिये आप लोग एकत्र हुए थे, वह सब निर्विघ्न, शान्ति से, तुष्टि से, पुष्टि से, सौमनस्य से समाप्त हुआ।

मेरी प्रकृति कुछ ऐसी परमात्मा ने बनाई है कि नई बातों को पुरानी ही आंखों से देखना चाहता हूं। पुरानी आंखों से अर्थात् पुराण की आंखों से। इस कारण बहुतेरे मेरे प्रिय मित्र सुधारक, नये ज़माने में डाकरिया पुराण फैलाने का यह उद्यम करता है, ऐसा आक्षेप करते हैं, और दया कर के स्नेह से हँसते भी हैं। पर मेरा विश्वास दृढ़ बना है कि जैसे देह बदलते रहते हैं और आत्मा पुराना ही बना रहता है, वैसे ही ज़माने नये होते रहते हैं, पर संसार की गति के नियम वे ही बने रहते हैं, जो पुराणों ने दिखाये हैं। और यह उचित भी है। यौवन में कैसा भी सुन्दर और बलवान शरीर रहा हो, पर बहुत काल पाकर जीर्ण शीर्ण होवे गा ही, और तब उसको बदल लेना ही अच्छा है, यद्यपि बदलकर शुरू मे बच्चे का ही अशक्त शरीर मिलेगा।

पुराने यज्ञो का नया रूप।

इस देशकी पुरानी प्रथा रही है कि,

नैमिषेऽनिमिषक्षेत्रे सत्रे द्वादशवार्षिके।

प्रजानां हितकामाय ऋषयस्तु समागमन्॥

मैं ने इस का अर्थ यह समझ रखा है कि प्रति बारहवें वर्ष नैमिष क्षेत्र मे देश के वृद्ध, तपस्वी, जिन का हृदय सब लोक की ओर वैसा था जैसा पिता पितामह का अपनी प्रजा की ओर होता है, एकत्र होकर विचार करते थे, कि क्या क्या उपाय लोक के हित के लिये किया जाय। उन उपायो मे एक मुख्य उपाय इतिहास पुराण का पुनः संस्करण और प्रचारण हुवा करता था, जिससे उपयोगी ज्ञान देश भर मे फैले, अविद्या का अंधकार मिटै, और सद्विचार सदाचार का प्रकाश उदय हो। शायद अब तक जो कुम्भ के मेले की चाल बारहवें वर्ष की चल रही है, कुछ इसी का लेश शेष हो। पर अब पुराने मेलों का आंतरिक भाव बिल्कुल बिगड़ गया है, जैसे अति वृद्ध शरीर रोगोका घर हो जाता है। इस कारण भारतवर्ष की सूत्रात्मा ने इन मेलो के प्राचीन उत्तम भाव के वास्ते नया शरीर, ऐसे सम्मेलनों का, ग्रहण किया है। हज़ार वर्ष पुराने हिन्दी साहित्य ने भी अपना बहुत पुराना रूप छोड़कर नई काया धारण किया है। इस बत्तीस करोड़ मनुष्यो की महाजाति की, इस पांच लाख वर्गकोस के महादेश की, दृष्टि से इन सम्मेलनों की अभी बहुत बाल्यावस्था है, तौ भी इन्होंने बड़ा काम कर लिया है।

विघ्नों और त्रुटियोंसे निराश नही होना चाहिये।

जो लोग काम मे लगे है, उसकी भीड़ मे पड़े है, इस विषम आपत्काल मे अपने बूते से बहुत अधिक बोझ उठाये है,

और इस कारण खिन्न हो रहे हैं, उनको तो कभी कभी नाउमेदी होती है, और ऐसा जान पड़ता है कि परिश्रम निष्फल जायगा। पर ऐसा नहीं है।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥

अच्छे काम मे जो मिहनत की जाती है वह कभी बरबाद नहीं जाती।

कहावत है, "दीया के तले अँधेरा"। इसका अर्थ प्राय अपवादात्मक, निन्दात्मक, ही लगाया जाता है। पर नहीं, इसका अर्थ पूरा यह है कि यद्यपि दीया के तले अँधेरा होता है पर दूर तो प्रकाश होता है। यह बात कभी न भूलना चहिये। तेल और बत्ती जलेंगे ही, एक दूसरे के जलने जलाने मे मदद करेंगे, कभी धुँआ भी देंगे, दीवट पर तो चीकट जमा हो ही गी। पर जिन को प्रकाश मिलता है उन को तेल और बत्ती का उपकार मानना चाहिये, कि हमारे सुख के वास्ते ये अपने को बलिदान कर रहे हैं, होम हवन हो रहे हैं।

दूसरी कहावत का भी ऐसा ही अर्थ है, "दूर के ढोल सुहावने"। इसका भी अर्थ प्रायः लोग आक्षेपात्मक, दूषणात्मक, करते है। वे लोग सुहावने इस शब्द को भूल जाते हैं। ढोल पीटनेवाले के, और उसके अत्यन्त पास बैठ कर उस की सहायता करनेवालों के, हाथ और कान को चाहे जो क्लेश होता हो, पर दूर से सुनने वालो को तो सुहावनी ही ध्वनि सुन पड़ती है। इस वास्ते उनको ढोलवालो का गुण ही मानना चाहिये।

इन हेतुओ से हम लोगों का धर्म्म है कि इस सत्समागम के विसर्जन के समय हिन्दी साहित्य-सेवियो, नागरी प्रचारिणी सभाओं, साहित्य-सम्मेलन के जन्मदाताओ, उसकी

स्थायी समिति और स्वागत-समितियों के कार्यकर्ताओं, तथा सहायकों और प्रतिनिधियों और अभ्यागतों, और विशेष कर इस ग्यारहवें सम्मेलन की स्वागत-समिति के सभापति तथा सब उपसभापतियों को, तथा मंत्रियों, अन्य कार्यकर्ताओं, और स्वयंसेवक जनों का हृदय से धन्यवाद है।

इन सब के परिश्रमों से हिन्दी प्रचार का भी काम, और हिन्दी ग्रन्थों के संग्रह और नवनिर्माण का भी काम, देश मे बहुत हो भी गया है, और आइन्दा के वास्ते बद्धमूल हो गया है, जो और अधिक संतोष की बात है। अब वह अवश्य दिन दिन बढ़ता जायगा, रुक नहीं सकता। भारतवर्ष की सूत्रात्मा ने इसको प्रत्यक्षरूपेण अब अपने जीवन के सब अंगों मे नये प्राणसंचार का एकमात्र उपाय मान लिया है।

हिन्दी साहित्य के इस नये जन्म मे, ज़रूर है कि शुरू मे ऐयारी तिलिस्म आदि के बहुत ग्रन्थ लिखे गये। पर यह भी बाल्यकाल की रुचि के अनुसार ही था। और इस प्रकार के जो उत्तम ग्रन्थ है वे भी रक्षणीय हैं। पुराणों का एक बड़ा अंश इसी वास्ते ऐसे आकार मे लिखा गया है जो बालको को रुचि-कर और प्रमोदजनक हो। पर हां, ऐसी कहानियों का भाव शुद्ध होना चाहिये। उन मे ऐसे भाव न होने चाहिये जिन से बालको की निर्मल और स्वच्छ बुद्धि पर मैला छू जाय।

अब वह बाल्यावस्था साहित्य की हटी। अब यौवनावस्था आई, इस के अनुरूप, अर्थकरी विद्या के रोज़गार बढ़ानेवाले उपायो के, तरह तरह के प्रौढ़ इतिहास के, ज्ञान-विज्ञान के, शास्त्र-सायंस के, तथा ऐतिहासिक और सामाजिक नाटक आख्यानादि के, ग्रन्थों की आवश्यकता भी है, और कुछ न कुछ बनते भी जाते है।

गुणग्रहण की आवश्यकता।

पर यह सदा याद रखने की बात है कि स्वदेश, स्वभाषा, स्वसाहित्य की जाग मे, विदेश के ज्ञान का तिरस्कार न होने पावे। विदेश के कई आचार, विदेश का पहिरावा, विदेश के अत्यन्त धनलोभ के भाव, हमारे लिये अति हानिकारक है। पर उन का विज्ञान बहुत बढ़ा चढ़ा है। यदि हम उस का तिरस्कार करेंगे तो हमारे जीर्ण शरीर मे जो नया प्राण आ रहा है वह रुक जायगा, और इस जाग के पहिले जो उस शरीर की अत्यन्त रोगग्रस्तावस्था थी वह फिर हो जायगी। चौदह वर्ष के वनवास के अनुभव के बल से राम ने रामराज्य स्थापन किया। रावण को दंड दिया, पर विभीषण से गाढ़ मैत्री की। पांडवों को भी तेरह वर्ष के वनवास से बहुत ज्ञान मिला। उस मे भी, अर्जुन ने अपने चार भाइयों को छोड़ कर विशेष प्रवास और विशेष तपस्या किया, और रावण के चचेरे भाई इन्द्र और सौतेले भाई कुबेर आदि देवो से तरह तरह के अस्त्र सीखे, जो महाभारत मे काम आये। देवगुरु बृहस्पति ने अपने पुत्र कच को विलायत भेज कर दैत्यगुरु शुक्राचार्य से मृतसंजीवनी विद्या सिखवा मंगाई। यह उदाहरण ग्रहण करने लायक गुणों के हुए।

दोषत्याग।

युधिष्ठिर ने मयासुर से अपना सभा-भवन बनवाया, पर यह बात अनुकरणीय नही है, क्योंकि लक्ष्मी के इसी अत्यन्त विलास और नुमाइश से ही तो दुर्योधन दुःशासन को ईर्ष्या पैदा हुई। तथा राम की 'सीता,' अर्थात् उर्वराभूमि, उपजाऊ खेत की ज़मीन (जो अर्थ भी 'सीता' शब्द का निरुक्त ने बताया

हैं), मायामृग के ऊपरी चमड़े की चमक भड़क के लोभ मे पड़ी, और रावण के कारागार मे बँध गई।

विचार यह कि अच्छी तरह छान बीनकर, पश्चिम देश का जो ज्ञान विज्ञान हमारे उपयोगी है उसीका हमको संग्रह करना चाहिये। और उस को हिन्दी के वेश मे इस देश मे फैलाना चाहिये। मेरा कुछ ऐसा विश्वास हो गया है, चाहे गलत ही हो, कि बिना यूरोप और एशिया दोनों की अवस्था व्यवस्था ठीक ठीक जाने, बिना पुराण ज्ञान और नवीन ज्ञान के एकत्र हुए, बिना पूर्व के अध्यात्म और अधिदैव तथा पश्चिम के अधि-दैव और अधिभूत शास्त्र के हिन्दी साहित्य मे सम्मेलन हुए, भारतवर्ष का जीर्णोद्धार नहीं होगा। इसलिये कुछ साहित्य-सेवियों को खास खास विषय मे, दोनों ओर परिश्रम करके, दोनों ज्ञानों का सम्पादन करना आवश्यक है।

इस सम्मेलन के कार्य।

इस संबन्ध मे, इस सम्मेलन मे जो कई निश्चय हुए हैं, वे बड़े सन्तोष देनें और आशा बढ़ाने वाले है।

स्थान स्थान पर हिन्दी मे शिक्षा देनेवाले विद्यापीठों का आरंभ, जबलपूर मे सच्चे विद्वानों और देशभक्तों के मठ का स्थापन, ग्रन्थ-निर्माण के लिये विशेष प्रबन्ध, "मंगलाप्रसाद पारितोषिक" का व्यवस्थापन, यह सब कार्य बड़े होनहार हैं।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के मुख से जो देश की सूत्रात्मा ने उनसे हिन्दी साहित्य की सहायता के लिये प्रार्थना की, उस ओर प्रचलित सरकारी और नीम-सरकारी विद्यालयों ने ध्यान नहीं दिया, उपेक्षा किया, अथवा तिरस्कार और अपहास भी किया, सिवाय शायद एक के, अर्थात् कलकत्ता की यूनिवर्सिटी

के, जिसने एक बहुत थोड़े से अंश मे, इस प्रार्थना को माना। इस उपेक्षा और तिरस्कार का फल यह हुआ है कि इन सरकारी और नीम सरकारी यूनिवर्सिटियों और कालिजों से सर्वसाधारण की श्रद्धा हट गई और हटती जाती है, और प्रायः आगे चलकर उनकी सहायता सर्वसाधारण की ओर से धीरे धीरे बन्द हो जायगी।*

किन्तु देश की सूत्रात्मा के प्राण का सर्वथा निरोध तो नहीं हो सकता, जब तक उस सूत्रात्मा की आयु समाप्त न हो। योग शास्त्र का सिद्धान्त है कि स्थूल की ओर से वृत्तियों का निरोध होने से दिव्य इन्द्रियां खुल जाती हैं, और सूक्ष्म पदार्थों का ज्ञान होने लगता है। इन प्रचलित स्कूल कालिजो की ओर से और इनकी अब व्यर्थप्राय, क्या हानिकारक, शिक्षा की ओर से, निरुद्ध होकर, अब यह सूत्रात्मा नये और अधिक उपयोगी स्वदेशी बोली मे शिक्षा देनेवाले विद्यापीठ खोल रही है। पर यह कार्य सरल नही है, बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है, और पड़ेगा।

अध्ययनाध्यापन और ग्रन्थनिर्माण का सम्बन्ध स्वाभाविक है। जहाँ बुद्धिमान् अध्येता और अध्यापक एकत्र हो वहीं शास्त्र की चर्चा, काव्य साहित्य की चर्चा, होगी। और परस्पर बुद्धि के संमर्द से, और गुरु शिष्य के साथ मिल कर संसार के व्यवहार व्यापार को देखने से, ज्ञान विज्ञान विशुद्ध होगा। तब उत्तम ग्रन्थ धीरे धीरे तैयार होंगे।

यह काम यदि संग्रथन, संघटन, व्यूहन, कर्मविभाग, के

---

* अब इस दोष के मार्जन की ओर यूनिवर्सिटियों ने ध्यान देना आरंभ कर दिया है—भ०, सन् १९३६ ई०

साथ किया जाय तो यह बहुत जल्दी और बहुत पूरी तरह से सफल होगा। प्रसिद्ध है कि एक प्रधान संपादक और तीस चालीस विशेष-विभाग-सम्पादकों की मातहती में, पन्द्रह सौ लेखकों ने काम कर के दो वर्ष के भीतर भीतर "एनसैक्लोपीडिया ब्रिटानिका" ऐसा बृहत्काय आकर ग्रन्थ तैयार कर लिया, जिस में समग्र पाश्चात्य ज्ञानसमूह का, सब शास्त्रों के विषयों का, निचोड़ रक्खा है।

और यह पुराना सिद्धान्त है कि ज्ञानसंग्रह और ज्ञानप्रचार करनेवाले ज्ञानप्रधान और तपस्वी जीव को आदर सम्मान ही से अधिक हृदयाप्यायन होता है। धन तो केवल भोजनाच्छादन और कुटुम्ब-चिन्ता-निवारण मात्र के लिये जितना पर्याप्त हो उतना ही चाहिये। ज्ञानप्रचार का कार्य, वाणिज्य के ऐसा, धन के लोभ से चलाने में बड़े बड़े दोष पैदा हो जाते हैं, जिनका भी उदाहरण पश्चिम देश की दुरवस्था है। यहां भी अब बुद्धि को बिगाड़नेवाले, सद्भावों का नाश करनेवाले, असद्भावों को फैलानेवाले, बहुतेरे ग्रन्थ और लेख, धन के लोभ से लिखे जाने लगे हैं। दुर्व्यसन सिखाना सीखना सरल है, सद्व्यसन कठिन। बालक की कच्ची बुद्धि रोगोत्पादक खट्टे तीते मीठे की ओर जल्दी ढुलती है, शुद्ध और बलकारक पदार्थों की ओर नहीं। इस दृष्टि से मैं उक्त तीन चार कार्यों को बहुत होनहार समझता हूँ।

ग्रंथ निर्माण के अधिकारी।

एक बात यहाँ और कहना चाहता हूँ। जैसे शरीर का ब्रह्मचर्य आवश्यक है, वैसे बुद्धि का ब्रह्मचर्य भी। अपरिपक्व शरीर की सन्तान कच्ची होती है। वैसे ही अपरिपक्व बुद्धि की ग्रन्थरूप सन्तान भी कच्ची और रोगी होती है। इस लिये यह

आवश्यक है कि जिन को भीतर से स्वभावतः इस ओर प्रेरणा हो, कि ग्रन्थ लिख कर हम साहित्य की सेवा करें, वे पहिले ऐसे विद्यापीठों मे, इस नये समय के अनुसार, विद्वानों के नये आश्रमों और सच्चे मठों मे, अपनी बुद्धि को और विद्या को परिपक्क कर के, और जिस विषय पर लिखना हो उसका उचित अनुभव प्राप्त कर के, तब ग्रन्थनिर्माण मे प्रवृत्त हों। तथा भिन्न भिन्न शास्त्रों और भिन्न भिन्न मतों के परस्पर दूषण की बुद्धि को सदा बचाते रहें। क्योंकि परमात्मा की दृष्टि से सब अवश्यमेव, निश्चयेन, एक हैं, यद्यपि प्रकृति की दृष्टि से अनेक और भिन्न हैं, कपड़ों के आकार प्रकार मे अनन्त भेद हैं, पर शरीर की सामान्य आकृति तो सब की समान है। मनुष्यता, इंसानियत, एक है, और इस का साधन ही परम धर्म है। जिस साहित्य मे यह भाव भरा रहेगा, वही साहित्य ठीक ठीक लोकोपकारक होगा। जैसा प्राचीन आर्य संस्कृत साहित्य था और है। सादृश्य पर ज़ोर देना चाहिये, वैदृश्य पर नहीं। अभेद-बुद्धि बढ़ाना चाहिये, भेद-बुद्धि नहीं। समन्वय का, संग्रह का, यत्न करना चाहिये, विपर्यय का, विग्रह का, नहीं।

सज्जनो, हम लोगों ने इस समागम मे अच्छे अच्छे निश्चय किये। अच्छे अच्छे व्याख्यान सुने, कोई ओजस्वी, कोई रसमय, कोई ज्ञानवर्द्धक, कोई उत्तेजक, कोई पथप्रदर्शक। और परस्पर जान पहिचान और स्नेह के बन्धन बढ़ाये।

अब आप सब लोगों को, और विशेष कर स्वागत-समिति के महाशयों को, जिन्हो ने अतिथिसत्कार का इतना भार उठाया, पुनः पुनः धन्यवाद देता हूँ। तथा वंगीय साहित्य परिषत् को जिस ने इस सम्मेलन का सम्मान किया। तथा उन सज्जनों को जिन्हों ने अत्युत्तम प्राचीन चित्रों, ग्रन्थों, सिक्कों

और कारीगरियों की प्रदर्शिनी का प्रबन्ध किया। तथा नाटक-समिति को, जिसने अपने नाटक मे समाज के अद्भुत मायामय-रूप का चित्र प्रतिनिधियों को दिखाया।

अन्त मे इसी अपने संस्कार के अनुसार, फिर से आप लोगों का ध्यान, इतिहास पुराणों के पुनः संस्करण की ओर दिलाता हूँ। इन्हीं से पुनः पुनः इस देश के ज्ञान की शुद्धि हुई है, और अभ्युदय और निःश्रेयस, ऐहिकार्थ और परमार्थ, दोनों सधा है। भागवत मे लिखा है कि नारद ने व्यास को भागवत पुराण लिखने के लिये उपदेश दिया। इस समय भारतमाता की सूत्रात्मा ही नारद के स्थान पर है, और उस की बत्तीस कोटि सन्तान मे से जो जो साहित्य मे प्रवीण है वे ही व्यास-स्थानीय हैं। नारद के वचन व्यास को ये हैं,

> अहो महाभाग! भवान् अमोघदृक् शुचिश्रवा, सत्यरतो धृतव्रत.।
> उरुक्रमस्याऽखिलबंधमुक्तये समाधिनाऽनुस्मर तद् विचेष्टितम् ॥
> इत्थं सम्भाष्य भगवान् नारदो वासवीसुतम्।
> आमन्त्र्य, वीणां रणयन्, ययौ यादृच्छिको मुनि. ॥
>
> (भागवत)

> हे बड़भागी, बुद्धि तुम्हारी सब रहसन कौं देखि सकै,
> यश निर्मल, जिह्वा सांची, तन मन व्रत धारत नाहि थकै।
> सब रस अरु सब ज्ञान भरे इतिहास पुराण बनावौ,
> अरु तिन तें सब लोकन कौ तुम आतमरूप जनावौ ॥
> करि समाधि, अपने मन मे तुम हरि चरितन को ध्यावौ,
> अरु लोकन के बंध छुडावन सब को तिनहिं सुनावौ ॥
> अस संभाषण करि कै नारद वेदव्यास तें विदा भये,
> मन माने वीना झनकारत तुरतहि तहं ते चले गये ॥

॥ ॐ ॥

चतुरङ्ग साहित्य का परिशिष्ट

[सौर १ आषाढ १९९३ वि०, अर्थात् १५ जून १९३६ ई०, को लिखा गया]

"अर्थ्यते, प्रार्थ्यते, इति अर्थः," जो चाहा जाय वह 'अर्थ'। "पूः, शरीरं च, पुरं च, पुरि शेते इति पुरुषः।" जो शरीर मे सोआ हो, प्रवेश किये हो, देह का धारण किये हो, उस चैतन्यांश को, जीव को, पुरुष कहते हैं। उस का अभीष्ट, पुरुषार्थ। जीवमात्र का एक ही अभ्यर्थनीय साध्य, सुख। वह दो प्रकार का, विषयानन्द और ब्रह्मानन्द, लज़्ज़तुद्दुनिया और लज़्ज़तुल् इलाहिया। शरीर मे वर्त्तमान ज्ञानेन्द्रियों कर्मेन्द्रियों के विषयो और क्रियाओ के अनुभव से जो (दुःख से मिश्रित 'मै यह शरीर हूँ, मै यह शब्द-स्पर्शा-दि विषयों का अनुभव कर रहा हूँ, मै यह क्रिया कर रहा हूँ,' एतद्-अस्मिता-त्मक, अहं-कारा-त्मक) सुख, वह विषयानन्द। इन विशेष विशेष विषयो और क्रियाओं से थक कर ('मै यह शरीर नहीं, प्रत्युत सब कुछ मै ही हूँ,' यह ब्रह्मा-स्मिता-त्मक, भूमा-त्मक, स्व-महिमा-त्मक, निर-हंकारा-त्मक, परमा-हंकारा-त्मक, परम-ईश्वरा-त्मक) 'गाढ निद्रा' के ऐसा, परा शांति का सुख, वह ब्रह्मानन्द।

विषयानन्द की इच्छा का नाम 'काम', 'भोक्तुमिच्छा बुभुक्षा'। ब्रह्मानन्द की इच्छा 'नैष्काम्य', 'मोक्तुमिच्छा मुमुक्षा'। राग-विराग, साराग्य-वैराग्य, प्रवृत्ति-निवृत्ति, ईहा-उपरम, व्युत्थान-निरोध आदि इन्ही दो के पहलुओ के, रूपान्तरो के, भिन्न स्थानों से देख पड़ते भिन्न आकार प्रकारों के, नाम हैं।

इस दृष्टि से पुरुष के दो ही अर्थ, काम और मोक्ष। पर, जैसा ऊपर कहा, सुपरिष्कृत मनुष्योचित काम-सुख का साधन,

बिना धन के, विविध प्रकार की सम्पत्ति के, नहीं हो सकता। परिचित होगा। 'अर्थ' का विशेष अर्थ, अर्थात् पारिभाषिक, 'धन' है। धन क्या है? 'धनन्ति, फलन्ति', जो फले, सब फलने वाली वस्तु, 'धन-धान्य', फलवान वृक्ष, और 'उत्तम गोधनं धनं'। और भी, पर दूसरे दर्जे में, 'धनति, स्वनति', जो बजे, खनखनाय, सोना, चाँदी, ताम्बा, आदि, और (अब कागज के नोट भी) जिस को जनना, वाणिज्य व्यवसाय की, 'वार्ता' की, रोजगार व्यापार की, सुकरता के लिये, अन्न-वस्त्र-पात्र-उपकरण-आभूषण-गृहनिर्माणद्रव्य-भवनालंकरणसामग्री-सवारी-शिकारी-स्थलयान-जलयान-वायुयान आदि अनन्त जीवन-व्यवहारोपयोगी वस्तुओं के, अर्थात् सभी मनुष्य-भोग्य पदार्थों के, विनिमय का साधक ('मीन्स आफ एक्सचेंज') मान ले—वह भी। उक्त मनुष्य-भोग्य बहुविध पदार्थ भी। जिस से सुख सम्पन्न हो, बढ़े, पूरा हो, वह सम्पत्ति।

> ज्यों केला के पात मे पात पात मे पात।
> त्यों वेदन की बात मे बात बात मे बात॥

अस्तु। सुसंस्कृत विषय सुख का साधन अर्थ यानी धन है। और सभ्य 'सिविलाइज्ड' मनुष्य के अनुरूप धन, बिना धर्म के स्थिर नहीं होता। इस लिये काम-रूपी पुरुषार्थ के तीन अङ्ग दयामय दूरदर्शी महर्षियों ने कर दिये। और उन मे भी धर्म पर सब से अधिक ज़ोर दिया, अर्थ पर उस से कम, और काम पर सब से कम। क्योंकि काम की ओर तो मनुष्य की प्रवृत्ति स्वभाव से ही है, उस से कम अर्थ की ओर, और सब से कम धर्म की ओर। इस त्रिवर्ग की सिद्धि का नाम 'अभ्युदय', और मोक्ष का नाम 'निःश्रेयस'। संसार मे मनुष्य का 'अभितः', चारो ओर, 'उदय' होना, सुखी होना, यह

'अभ्युदय'। 'नास्ति श्रेयान् यस्मात्', जिस से बढ़ कर और कोई श्री, श्रेयान्, न हो वह 'निःश्रेयस'। इस प्रकार से, एक पुरुषार्थ से दो, और दो से चार, हो गये।

इसी के अनुसार, एक वेद मे दो विद्या, कर्मकांड और ज्ञानकांड, अपरा विद्या और परा विद्या। दो विद्या से चार शास्त्र। अपरा विद्या का ही नाम मोक्ष शास्त्र भी। अपरा विद्या के तीन शास्त्र, धर्म का शास्त्र, अर्थ का, और काम का।

"द्वे विद्ये वेदितव्ये, परा चैवाऽपरा च। तत्राऽपरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छंदो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। (मुंडकोपनिषत्)

परा विद्या ब्रह्मविद्या, जिस से अक्षर, अजर, अमर, अनादि अनन्त, निरंजन, निराकार, निर्विशेष आत्मा का, ('आत्ता', 'आपणा,' 'अपना', 'आपा') का ज्ञान हो। अपरा विद्या ऋग्वेदादि अन्य सब अनंत विद्या। "अनन्ता वै वेदाः"। ऊपर कही प्रथा से, प्राचीनो ने, वेद भगवान्, साहित्य देव, ज्ञानमयेश्वर, की मूर्त्ति की भी कल्पना कर ली है।

> छंदः पादौ तु वेदस्य, हस्तः कल्पोऽथ पठ्यते।
> ज्योतिषामयनं चक्षुः, निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
> शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य, मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
> (तस्मात् सांगमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥)

इन पुराने श्लोको मे अधूरी बखानी मूर्त्ति की पूर्ति, उक्त वेदांगों के साथ वेदोपांगो और उपवेदों का भी समावेश करके, स्यात् यों की जा सकती है।

> आयुर्वेदः स्मृतः प्राणः, धनुर्वेदो महाभुजौ।
> गान्धर्ववेदः कंठोऽस्य, शिल्पमूरू सुदर्शनौ॥

आधिभौतिकशास्त्राणि देहनिर्मातृधातव. ।
तथाऽऽधिदैविकान्यस्य शक्तय स्पंदहेतव ॥
हृदयं धर्मशास्त्र स्यात, अर्थशास्त्रमथोदरम् ।
कामशास्त्र च जघन शुभ्रसततिभूपितम् ॥
मोक्षशास्त्र ब्रह्मविद्या मूर्धा सर्वनियामक ।
वेदातसज्ञाऽस्य, यतो वेदस्तत्र समाप्यते ॥
ज्ञानस्य परमा काष्ठा धर्मकर्मादिमर्मणाम् ।
सर्वेषा शास्त्रसाराणां दर्शनाच्चापि दर्शनम् ॥
सर्वविद्याप्रतिष्ठा या ब्रह्मविद्येति गीयते ।
एव तु भगवान् वेदो सम्पन्नोऽङ्गैर्विराजते ॥
धर्मं बुभुत्समानाना प्रमाण परमं श्रुति. ।
श्रुतिं बुभुत्समानाना आत्मज्ञान परायणम् ॥
न ह्यनध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते ।
ध्यानेनैव कृतं सर्वम् आत्मना, ऽऽह मनुर्यथा ॥

वेद भगवान् का पैर छंदः शास्त्र है। कल्प नामक शास्त्र हाथ है। ज्योतिः शास्त्र आंख, निरुक्त कान, शिक्षा नासिका, व्याकरण मुख है। आयुर्वेद प्राण, धनुर्वेद भुजा, गान्धर्व वेद कंठ, शिल्पवेद जांघ है। सब आधिभौतिक शास्त्र, वह सप्त धातु, वह पांच तत्त्व, है, जिन से शरीर बनता है। सब आधिदैविक शास्त्र वह शक्तियाँ हैं जिन से शरीर के सब अंग यथोचित क्रिया करते हैं, हिलते, चलते हैं। धर्म शास्त्र हृदय, अर्थ शास्त्र उदर, काम शास्त्र सुन्दर संतति से अलंकृत गोद है। मोक्ष शास्त्र, सब का नियामक मूर्धा है, सिर है। इसी ब्रह्मविद्या को उपनिषत् मे सब अन्य विद्याओ की प्रतिष्ठा, नीवी, नींव, आधार, कहा है। सब वेद का, सब धर्म कर्मों के मर्मों का, सब मूल तत्त्वो का, ज्ञान इस मे परिसमाप्त हो जाता है,

इस लिये इस को वेद का अंत वेदान्त कहते हैं। सब शास्त्रों के सार का इस से दर्शन हो जाता है, इस लिये इसको दर्शन, सम्यग्दर्शन, आत्मदर्शन, भी कहते हैं। इस प्रकार से वेद भगवान् सब अंगों से सुसम्पन्न होकर विराजते हैं। धर्म को जानने मे परम प्रमाण श्रुति है, और श्रुति का अर्थ जानने के लिये आत्मज्ञान ही का आसरा है। विना अध्यात्म शास्त्र को जाने कोई भी किसी क्रिया को सफल नहीं कर सकता, उस से सत्फल नहीं पा सकता, क्योंकि यह सब जगत् परमात्मा ने अपनी आध्यात्मिक ध्यान शक्ति से ही वनाया है। ऐसा भगवान् मनु ने कहा है।

कृष्ण ने भी कहा है।

यदा भूतपृथग्भावम् एकस्थम् अनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं, ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ (गीता)

जब संसार के अनन्त भूतों के, पदार्थों के, चराचर प्राणियों, द्रव्यों, वस्तुओ के, पृथग्भाव को, नानात्व को, भेदभाव को, अनेकत्व को, एक तत्त्व मे, अभेदभाव से, स्थित, प्रतिष्ठित, देख लेता है। तथा उसी एकत्व मे से, एक परमात्मा मे से, अथवा परमात्मा मे ही, विस्तार पाते देख लेता है, तब जीव का, ब्रह्म, अर्थात् वेद भी, ज्ञान भी, और ब्रह्मत्व भी, परमात्मा के साथ एकत्व भी, परमात्मभाव भी, सम्पन्न सम्पूर्ण होता है।

सब 'अनेक' पदार्थ 'एक मे' और सभी 'एक से', है—यह ज्ञान, यह वेद, दो विद्या, चार शास्त्र, से सम्पूर्ण सम्पन्न होता है।

स्यात् किसी को सन्देह हो कि वेद शब्द का व्यवहार तो ऋक्, यजुः, साम, और अथर्व नामक चार प्रसिद्ध वेदो के लिये ही होता है। सब विद्या, सब शास्त्र, कैसे वेद कहला सकते

है? इस शंका का समाधान, और 'अनन्ता वै वेदाः', इस तैत्तिरीय श्रुति की व्याख्या, वेदव्यास जी ने महाभारत के (कुम्भकोण वाले संस्करण के) १२२ अध्याय में की है—

> अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा-न्यायविस्तरः ।
> पुराणं धर्मशास्त्रं च, विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥
> आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः ।
> अर्थशास्त्रं चतुर्थं तु, विद्या ह्यष्टादशैव तु ॥
> एतासामेव विद्यानां व्यासमाह महेश्वरः ।
> शतानि त्रीणि शास्त्राणां महातन्त्राणि सप्ततिम् ॥
> पुनर्भेदसहस्रं तु तासामेव तु विस्तरः ।
> ऋषिभिर्देवगन्धर्वैः सविकल्पः सविस्तरः ।
> शश्वदभ्यस्यते लोके, वेद एव तु सर्वशः ॥
> वेदाश्चतुरः संक्षिप्ताः, वेदवादाश्च ते स्मृताः ।
> एतासां पारगो यस्तु स चोक्तो वेदपारगः ॥

वेद नाम से प्रसिद्ध चार वेद, चार उपवेद, छः वेदांग, पुराणइतिहास, धर्मशास्त्र, न्याय, मीमांसा, इन अठारह विद्याओं के आधार पर, उन के उपबृंहण के रूप में, शंकर ने तीन सौ शास्त्र और सत्तर महातन्त्र बनाये। और इन का विस्तार, ऋषियों, देवों, गंधर्वों ने, हज़ारों तरह से किया। यह सब वेद ही है, और इन सब रूपों में वेद ही का अभ्यास, पढ़ना पढ़ाना, लोक में हो रहा है। संक्षिप्त रूपको 'चार वेद' कहते हैं, विस्तीर्ण रूप को 'वेदवादाः' कहते हैं। जो इन सब को, संक्षेप को भी, विस्तार को भी, जानै, वही 'वेदपारग' कहलाने के योग्य है। प्रसिद्ध चार वेदों की भी अधिकांश शाखाओं का लोप हो गया है, यह भी प्रसिद्ध है। कूर्मपुराण में, तथा पतंजलि के महाभाष्य में, कहा है कि ऋग्वेद के इक्कीस

भेद, यजुः के सौ, साम के एक सहस्र, और अथर्व के नौ थे। अब तो इनमें से बहुत ही थोड़ा मिलता है।

साम्प्रतकाल के प्रतीच्चीन यूरोपीय शास्त्रों का समावेश उक्त वेद-मूर्त्ति के अंगों में, अथवा धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष शास्त्रों के भीतर, किस प्रकार से किया जा सकता है, इस को दिखाने का यत्न मै ने अपनी अंग्रेज़ी पुस्तक "दि सायंस आफ़ सोशल आर्गेनिज़ेशन, आर दि लाज़ आफ़ मनु," की पहिली संचिका के पृ० २६८—२७० मे किया है। संक्षेप से यों कह सकते हैं कि 'सायंस' के दो विभाग, 'स्पिरिचुअल' और 'मैटीरियल,' और दूसरे के अंदर तीन विभाग होगे।

(१—क)—समाज के 'शिक्षण,' 'धारण', व्यवस्थापन, संग्रहण के साक्षात् या परम्परया उपयोगी शास्त्र, यथा 'ग्रामर' (व्याकरण), फिलालोजी' (निरुक्त) 'प्रासोडी' (छंद), 'माथेमाटिक्स' और 'आस्ट्रोलोजी' (गणित और ज्योतिष), 'सोशियालोजी' (समाजशास्त्र), 'हिस्टरी' (इतिहास-पुराण), 'पालिटिक्स'—'सिविक्स' (राज-शास्त्र), 'एथिक्स' (सदाचार-शास्त्र और पूर्वमीमांसा), 'ला एंड जूरिस्प्रूडेन्स' (व्यवहार-धर्म और पूर्वमीमांसा) इत्यादि।

(१—ख)—समाज के 'रक्षण' के उपयोगी शास्त्र, यथा 'मेडिकल सायंस' (आयुर्वेद) और उसके अन्तर्गत, अंगभूत, 'बायोलोजी,' फिसिओलोजी,' 'एनाटोमी' (चतुर्विध भूतग्राम शास्त्र, 'शारीर स्थान,') आदि, तथा 'मिलिटरी सायंस' (धनुर्वेद) इत्यादि।

ये सब 'धर्मशास्त्र' मे आवेंगे।

(२) समाज की 'जीविका' साधनेवाले तथा श्री, शोभा, समृद्धि, 'सम्पत्ति' और शक्ति बढ़ानेवाले शास्त्र। यथा,

'फिज़िक्स' (विद्युदादिशक्तिशास्त्र, तन्मात्र शास्त्र ?), 'केमिस्ट्री' (महाभूत शास्त्र, रसायन शास्त्र ?), 'जियालोजी' (भूगर्भ-शास्त्र), 'मिनरालोजी—मेटालर्जी' (खनिज शास्त्र, धातु शास्त्र), 'इकॉनॉमिक्स (सम्पत्ति शास्त्र, कुसीद शास्त्र), 'एग्रीकल्चर (कृषि शास्त्र), 'डेयरी-फार्मिंग्, 'कैटल-ब्रीडिङ्' (गोरक्षा शास्त्र), 'ट्रेड एण्ड कामर्स' (वाणिज्य शास्त्र)। इत्यादि। यह सब अर्थशास्त्र मे आवेंगे।

(३) समाजके सासारिक सुख के परिष्कार करने और बढानेवाले शास्त्र। यथा 'सेक्सालोजी और युजेनिक्स' (विवाह शास्त्र, संतानोत्कर्ष शास्त्र), सभी 'फाइन आर्ट्स' (कला शास्त्र), 'पोयट्री' (विविध रसो से भरी, विविध अलङ्कारो से भूपित, कविता), 'म्युजिक' (संगीत शास्त्र), पेंटिङ्' (चित्र शास्त्र), 'स्कल्पचर' (रूपोत्किरण शास्त्र, प्रतिमा शास्त्र), 'आर्किटेक्चर' (वास्तु शास्त्र), 'गार्डनिङ्' (उद्यान शास्त्र), इत्यादि। यह सब कामशास्त्र मे आवेंगे।

पहिले, अर्थात् 'स्पिरिचुअल सायस,' मे, 'मेटाफिज़िक' (ब्रह्म विद्या) 'सैकालोजी' (अध्यात्म शास्त्र), 'एप्लाइड सैकालोजी' (योगशास्त्र), 'सैको-एनालिसिस' और 'सैकियाट्री' (उन्माद-चिकित्सा शास्त्र, चित्त-चिकित्सा शास्त्र), 'मिस्टि-सिज्म (भक्ति शास्त्र)। इत्यादि। यह सब मोक्षशास्त्र मे आवेगे।

पर यह याद रखना चाहिए कि जैसे संसार मे किसी भी वस्तु का किसी भी अन्य वस्तु से सर्वथा पार्थक्य नही है, महाभूत सब एक दूसरे मे और चैतन्य मे ओतप्रोत है, इसी तरह, अथ च इसी हेतु से, किसी भी शास्त्र का किसी भी अन्य शास्त्र से सर्वथा स्वातंत्र्य अथवा संबंधाभाव नही है।

'सर्वं सर्वेण सम्बद्धं'। सभी शास्त्र प्रत्येक शास्त्र के अंतःपतित हैं। इसी लिये सुश्रुत मे कहा है,

> एकं शास्त्रमधीयानो न विद्याच्छास्त्रनिश्चयम्।
> तस्माद् बहुश्रुतः शास्त्रं विजानीयाच्चिकित्सकः॥

अन्यत्र भी कहा है,—

> एकमेव शास्त्रं जानानः न किंचिदपि शास्त्र जानाति।

एक ही शास्त्र को जाननेवाला उस के अर्थ को निश्चित रूप से नही जान सकता। जो बहुश्रुत है, अन्य शास्त्रों की भी बातों को कुछ न कुछ जानता है, वही वैद्य अपने शास्त्र को भी ठीक जान सकता है। इस लिये बहुश्रुत हो कर वैद्य को परमोपयोगी, प्राणरक्षक, आयुर्वेद को जानना चाहिये।

केवल, 'वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः', 'भूयसा व्यपदेशः', प्रधान विषय के नाम से विशेष विशेष शास्त्र का विशेष विशेष नाम पड़ता है। ऊपर कहा हुआ, शास्त्रो का विभाजन और राशीकरण केवल अध्ययनाध्यापन के सौकर्य की दृष्टि से ही सार्थक है। वेद भगवान्, साहित्यदेवता, सरस्वती देवी, के अंगो का विच्छेद कैसे हो सकता है। एक ही प्राण, एक ही रक्त, सब मे सदा संचार करता रहता है, और सब को आप्लावित, आप्यायित, जीवित, रखता है। अङ्गाङ्गिभाव से सब मिल कर के ही साहित्य के पूर्ण रूप को संपन्न करते है।

साहित्यसम्मेलन के वार्षिक उत्सवो पर अब कई वर्षों से उस के अङ्गो के रूप मे, दर्शन परिषत्, इतिहास परिषत्, विज्ञान परिषत्, आदि के अधिवेशनों का भी प्रबंध किया जाने लगा है। यह कार्य सर्वथा सभाजन अभिनन्दन के योग्य है। इससे विदित होता है कि प्रबंधकर्त्ता विद्वान् सज्जनो ने अनुभव किया है कि साहित्य पदार्थ मे सभी शास्त्र, सभी विद्या, का

समावेश है। यदि 'साहित्य' शब्द को 'काव्य' शब्द का पर्याय ही माने, तो भी काव्य शब्द बड़ा महिमाशाली है। गीता में, वेद में, 'कविं पुराण अनुशासितारं अणोः अणीयांसं अनुस्मरेद् यः', 'कविः मनीषी परिभूः स्वयंभूः याथातथ्येनार्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः', ऐसे सूक्तों में, परमात्मा को 'कवि' संज्ञा से, भक्ति-पूर्वक स्मरण किया है। परमात्मा ही तो 'अद्वितीय कवि' है। समस्त और व्यस्त जगत् सब उसी की कविता है, अचिन्त्य, अप्रमाण, अलक्षण, अप्रतर्क्य, अविज्ञेय, महाकाव्य है। "रसो वै सः"। परमात्मा ही रस का सार है। 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं वै प्रियं भवति'। आत्मा ही रसास्वाद करनेवाला है, जो कुछ भी पदार्थ, रसीला, प्रीतिपात्र, सुखदायक, जान पड़ता है, आत्मा ही के लिये प्रिय है, और आत्मा, अनन्त अनात्म-पदार्थों के द्वारा, अपनी सत्ता का ही आस्वादन रसन करता है, इस लिये आत्मा ही रससार है। अनंत रस, अनंत अलङ्कार, सब जगद्रूपी महाकाव्य में भरे हैं। इस के किसी भी अंश का, अंग का, सद् वर्णन, मनुष्य का किया हुआ भी, काव्य है। सहृदय के लिये, 'सायंस' में, 'शास्त्र' में, भी रस भरा है। उस के आस्वादन के अनुकूल मनुष्य की प्रकृति होनी चाहिये। जिस जगत् को परमात्मा का महाकाव्य कहते हैं, उसी को परमात्मा की प्रकृति भी कहते हैं। उस प्रकृति के सौन्दर्य का, अनंत महाकाव्य के एक मात्र विषय का, क्या कहना है।

तथा ते सौन्दर्यं परमशिवदृङ्मात्रविषयं
कथङ्कारं ब्रूमः सकलनिगमागोचरगुणे !

उस अनंत अगाध सौन्दर्य का पूरा दर्शन और आस्वादन तो परम शिव, परम कल्याणमय परमात्मा, की ही दृष्टि कर

सकती है। सकल निगम, सब वेद और वेदवाद, अशेष साहित्य जिस का मनुष्य सङ्कलन कर सकता है, उस का निरूपण चित्रण नहीं कर सकता।

> लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं
> तदपि तव गुणानामीश पारं न याति।

॥ ॐ ॥

२—हिन्दी साहित्य ।

[राष्ट्रीय हिन्दी मंदिर, जबलपुर, के तृतीय वार्षिकोत्सव के अवसर पर, जो ता० ८ और ९ अप्रेल सन् १९२३ को हुआ, यह भाषण सभापति के रूप से दिया गया ।]

॥ ॐ ॥

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः ।
हिरण्यगर्भं पश्यति जायमानं स नो बुध्या शुभया संयुनक्तु ॥

स्वागत समिति के सभापतिजी, देवियो और सज्जनो,

संस्कृत व्याकरण के जानकारों मे कहावत है, "सर्वे सर्वार्थ-वाचकाः"। अर्थात् सब ही शब्द सब ही अर्थों के वाचक हो सकते हैं। जैसे 'सन्'—इस आवाज़ का अर्थ हिंदी मे 'रस्सी बनाने की एक वस्तु' का है, और अंग्रेज़ी मे इसी आवाज़ से 'पुत्र' का, तथा 'सूर्य' का, भी ग्रहण होता है। 'पर'—इस शब्द से हिंदी मे 'लेकिन', 'किंतु', 'मगर', का संकेत होता है, 'चिड़िये के पर' का भी, संस्कृत मे अर्थ 'पराया' और 'दूसरा' तथा 'परम' भी होता है, अंग्रेज़ी मे इसी आवाज़ का अर्थ 'द्वारा', तथा बिल्ली तेंदुआ व्याघ्र आदि पशुओं के प्रसन्नावस्था मे एक प्रकार के बोलने का। इन उदाहरणो से आप देखते हैं कि न केवल अर्थ और शब्द का घनिष्ठ संबंध है, किन्तु शब्दमात्र का अर्थमात्र से संबंध है। और यह केवल किसी जनसमूह के संकेत की, मान लेने की, बात है, कि किस

शब्द से किस स्थान और किस काल मे किस अर्थ का ग्रहण किया जाय।

यह तो हुई वैयाकरणों के सिद्धांत की बात। अब आप देखिये कि मेरे और आप के प्रिय सुहृत् श्री गोविन्ददासजी ने इस की क्या दुर्दशा की है। इन्हों ने इस का अर्थ यह किया है कि सब आदमियों से सब काम लिया जा सकता है। और मुझ को स्नेह की रस्सियों से बाँधकर इन्हों ने आप के सामने राष्ट्रीय हिन्दी मंदिर के तृतीय वार्षिकोत्सव के सभापति का काम करने के लिये नियुक्त करा दिया है।

क्षमापन।

इस काम के लिये मेरी योग्यता केवल इतनी ही है कि इस जन्म मे मेरा शरीर हिंदी अर्थात् हिंद का है, मेरी मातृभाषा भी हिंदी है, और मै हृदय से मनाता हूँ कि इसका प्रचार भारतवर्ष के कोने कोने मे हो जाय, इस मे अच्छे अच्छे ग्रंथ सब विषयों के लिखे जायँ, और इस का सर्वाङ्गीण साहित्य बढ़े। एक बेर पहिले भी, आज से दो वर्ष हुए, श्री पुरुषोत्तम-दासजी टंडन ने ऐसी ही मुसीबत मे मुझ को कलकत्ते ले जाकर डाल दिया था। और उस समय भी मुझ को ऐसे ही क्षमापन करने पड़े थे।

मेरी किस्मत मे दूसरी झंझटे लिखी है, जिन के कारण, बहुत इच्छा रहते हुए भी, हिंदी के ग्रंथ पढ़ने लिखने की फुर्सत मुझ को नहीं ही मिलती। ज़रूर है कि श्री गोविंददासजी ने मुझ से, दो महीना हुआ, यहाँ आने का करार ले लिया था। पर दूसरे कामों मे अत्यन्त व्यग्र होने के कारण कल शाम तक, यानी आप के नगर मे पहुँच जाने तक, मुझ को फुर्सत नही

मिली, कि आप के सामने 'पत्र पुष्पं' आदि जो उपहार लेकर आना हो उस की सामग्री एकत्र करूं। तात्कालिक व्याख्यान करने का अभ्यास मुझे नहीं के बराबर। "रिक्तपाणिर्न पश्येत्तु मित्राणि स्वजनान् गुरून्"। खाली हाथ मित्रों के पास नहीं जाना। इस की फिक्र बड़ी भारी। कल रेल पर बड़ी मिहनत से विचार रहा था कि क्या क्या बात, नौसिखियों के आमोख्ता सी, आप लोगों को सुना जाऊं। यहाँ पहुँचने पर मालूम हुआ कि रविवार को, सवेरे से नहीं, शाम को कार्य आरम्भ होगा। इस से चंद घंटों की मुहलत मुझ को मिली। उस मे कुछ नोट कर लिया है, वही आप को सुनाता हूँ। इस मे से जो बात आप को पसंद आवे रख लीजियेगा, बाकी को दर गुजर कीजियेगा। कहावत है,

> नामंत्रमक्षरं किंचित्, न च द्रव्यमनौषधम्।
> नायोग्य पुरुष कश्चित्, प्रयोक्तैव तु दुर्लभ. ॥

कोई अक्षर नहीं जिस मे मंत्र की शक्ति न हो, कोई द्रव्य नहीं जिस मे औषध की शक्ति न हो, कोई पुरुष नहीं जो सर्वथा अयोग्य हो, हाँ, प्रयोक्ता जानकार होना चाहिये। इस कार्य मे मेरे प्रयोक्ता आप लोग है। यदि मुझ से काम न बन पड़ा तो दोष प्रयोक्ता की, अर्थात् आप की, जानकारी पर आवेगा।

यह राष्ट्रीय हिन्दी मंदिर श्री गोविंददासजी और उन के कुल के वृद्धों तथा अन्य देवियो और सज्जनो की उदारता और परिश्रम से स्थापित हुआ है। कई वर्ष तक दूसरे नाम से काम करता रहा। अब तीन वर्ष से इस नये नाम से काम कर रहा है। वार्षिक विवरणो से मालूम हुआ कि इस के तीन अंग है, पुस्तकालय, नई पुस्तकों का प्रकाशन, मासिक पत्रिका 'श्री शारदा' का प्रकाशन।

पुस्तकी भवति पंडितः ।

पुरानी कहावत है, "पुस्तकी भवति पंडितः"। जिस के पास पुस्तकें होती हैं, वह कभी न कभी, कुछ न कुछ, पढे ही गा, और पढ़ेगा तो कुछ पांडित्य उस को प्राप्त हो ही गा। अंग्रेज़ी मे भी यह विश्वास हो चला है, "अच्छा पुस्तकालय अच्छे विद्यापीठ के बराबर है"। यह कथा साधारण मनुष्यों की दृष्टि से है। उन विशेष व्यक्तियों की दृष्टि से नहीं जिन के विषय मे निरुक्त मे लिखा है "स्थाणुः अयं भारहारः किलाभूद् अधीत्य वेदान् न विजानाति योऽर्थम्", जिस का तर्जुमा शेख़ सादी ने यों किया है कि—

> न मुहक़्क़िक़् बुवद् न दानिश्‌मंद,
> चारपाये बर् ऊ किताबे चंद।

वेद को कंठस्थ कर लिया, पर उसका अर्थ नही समझा, और उस के अनुसार सद् आचरण नहीं किया, तो मानो काठ की चौकी पर पुस्तक लाद दी। न उस को सत्य का ज्ञान हुआ, न सद् बुद्धि, नेक नीयत, हुई, मानो चौपाये पर किताबो का बोझ रक्खा है। 'पंडित' शब्द का अर्थ याद रखने योग्य है। 'सद्-असद्-विवेकिनी बुद्धिः पंडा, सा जाता यस्य सः पंडितः।' सच और झूठ, भले और बुरे, नेक व बद, पुण्य और पाप का विवेक करनेवाली बुद्धि का नाम 'पंडा', वह जिस को हो गई है वही 'पंडित'।

यह विचार पश्चिम मे तो प्रायः स्थिर हो गया है कि विद्यापीठों के मुख्य अंग दो ही है 'ज्ञानविभाग' के लिये पुस्तकागार, और 'विज्ञानविभाग' अथवा शिल्पविभाग के लिये शिल्पागार या प्रयोगशाला, 'लाइब्रेरी' और 'लाबोरेटरी'। वयःप्राप्त विद्यार्थी

के लिये 'ज्ञानविभाग' मे प्राय इतनी शिक्षा पर्याप्त होती है, कि उस को बता दिया जाय कि जिस विषय का वह अध्ययन करना चाहता हो उस के अमुक अमुक ग्रंथ इस इस क्रम से पढ जाय, और, फिर, उन मे जहां जहां उस को शंका हो वहाँ वहाँ अध्यापक लोग उसका समाधान कर दें।

पुस्तकों की रक्षा।

उत्तम ज्ञान के प्रचार का उत्तम और मुख्य उपाय यह है कि उत्तम पुस्तकों का संग्रह कर दिया जाय, और ऐसा प्रबन्ध कर दिया जाय कि सच्चे जिज्ञासु विद्यार्थी उन पुस्तको को रक्षा के साथ पढ सकें। इस संबध मे रक्षा के शब्द का अर्थ करना अवश्य है। मै नही जानता कि इस हिंदी मन्दिर के पुस्तकाध्यक्ष का कैसा अनुभव है, शायद वे विशेष भाग्यवान् हों, पर बहुत पुराना अनुभव तो यही है कि मंगनी की पुस्तक के विषय मे प्रायः लोग सद्बुद्धि छोड़ देते है। इसी से कहावत हो गई है कि "पुस्तकी परहस्तगता गता।" मेरा निजी अनुभव है कि लोग मगनी न देने से बुरा मानते ही है, माँग कर स्वयं लौटाना जानते ही नही, तकाज़े पर कोप करते हैं, और यदि लौटाया भी तो प्राय· जिस रूप से पोथी गई थी उस रूप से नही ही वापस आती। कभी जिल्द टूटी और मैली, कभी पन्नों के कोने मुड़े, कभी पन्ने फटे और गायब भी। अकसर लोग खाहमखाह टेढ़े मेढ़े पिंसिल रौशनाई के निशान भी बना देते है और व्यर्थ के नोट निहायत बदसूरती से लिख दिया करते है, जिस से पुस्तक कुरूप हो जाती है। दूसरों की क्या कहूँ? मै स्वयं भी मित्रो से माँगी हुई पुस्तकों को विना याद दिलाये प्रायः नही लौटा पाता हूँ। मुझे

याद है कि एक बेर एक मित्र से कई पुस्तकें मैंने मंगनी लीं, जिन मे एक ग्रंथ दो मोटी मोटी जिल्दो मे था। लौटाते वक्त एक जिल्द मेरी निजी कितावों मे मिलकर रह गयी। कुछ दिनों बाद मित्र ने पूछा। मैंने कहा कि मैंने तो लौटा दिया। बड़े शीलवान् थे। कुछ नहीं बोले। एक दिन मुझे वह जिल्द और किताबों को उलटते पलटते मिली। बहुत अपराध-क्षमापन का पत्र लिख कर उस को मैंने उन के पास भेजा। पिंसिल से, पुस्तक के गुर्वर्थ वाक्यो के सामने, मर्म (हाशिये) पर, चिन्ह करने तथा टिप्पणी लिख देने के भी दुरभ्यास मुझ को स्वयं है, पर यह प्रायः अपनी निजी पुस्तको पर करता हूँ जिन से मुझे अपने लेखों के लिये काम लेना होता है, और निशान भी हरी और लाल पिंसिलों से, 'रूलर' रखकर, सीधा सीधा करता हूँ, और टिप्पणियों को, अक्षर बना कर, सीधी सीधी पंक्तियों मे लिखता हूँ, जिस मे पुस्तक की शोभा घटे नही, बल्कि बढ़े।

उत्तरदातृत्व।

तो इस विषय की चेतावनी हर वक्त देते रहने की ज़रूरत है। जिस को अंग्रेज़ी मे 'सेन्स आफ रिस्पांसिबिलिटी' कहते हैं, जिस को आज काल 'दायित्व' के नाम से हिंदी मे कहने लगे हैं, पर जिस का ठीक पुराना संस्कृत नाम उत्तरदातृत्व और फ़ारसी नाम जवाबदिही अथवा ज़िम्मेदारी है, वह भाव हम भारतवासियों मे कम हो गया है। हमारे ह्रास का यह एक मुख्य कारण है। जवाबदिही दो चाल की होती है, एक बाहरी, एक भीतरी। बाहरी तो तब होती है जब कोई बाहरी दंडदाता हो, प्रश्न करे और उत्तर मांगे, कि तुम ने ऐसा क्यो किया या नहीं किया, और संतोषजनक उत्तर न पाने पर दंड दे। इस

बाहर की जवाबदिही से दुनिया मे बहुत कार्य चलता है। इसी लिये मनु ने कहा है।

> दंड: शास्ति प्रजा: सर्वा, दंड एवाभिरक्षति।
> दंड: सुप्तेषु जागर्ति, दंडं धर्मं विदुर्बुधा:॥

'दमनाद् दंड', जो दमन करे, मजबूर करे, कि ऐसा ही करो, इसके विरुद्ध मत करो, वह (अंग्रेजी मे 'पावर आफ कम्पलशन') दंड शक्ति है। यही शक्ति प्रजा की शिक्षा, शासन, करती है। यही रक्षा करती है। जब सब सोते है तब यही जागती और पहरा देती है। यह दंड ही धर्म का, 'धारण शक्ति' का, रूपान्तर है।

पर यह बाहरी दंड के भय की जवाबदिही दूसरे दर्जे की है। इस को लोग बचा जाने की आशा से तरह तरह के जतन, माया के अथवा धृष्टता के, करते हैं। उत्तम जवाबदिही भीतरी है, अपनी आत्मा के सामने उत्तरदातृत्व। जिस के मन मे यह भीतरी उत्तरदातृत्व पैदा हो गया वह प्राय: वंचना या धृष्टता नहीं कर सकता, क्योंकि उस को निश्चय हो गया है कि मैं अपनी आत्मा के दंड से बच सकता ही नहीं।

इसी भाव के दूसरे नाम अथवा दूसरे रूप परार्थ बुद्धि, सामाजिक भाव, सार्वजनिक दृष्टि, 'पब्लिक स्पिरिट' आदि हैं।

पुस्तकों के सम्बन्ध मे इस को जगाने का शायद एक प्रकार यह अच्छा हो कि पुस्तकालय के प्रत्येक कमरे मे तथा प्रत्येक पुस्तक पर, छपे कागज लगा दिये जॉय, जिन पर लिखा हो कि "कृपा कर के यह याद रखिये कि जिस पुस्तक को आप पढ़ रहे हैं उस को आप के बहुत से भाइयों को भी पढ़ना है, इस लिये रक्षा से पढ़िये। आप के हाथ मे पुस्तक की अवस्था बिगड़ने न पावे, नहीं तो आप के भाइयों के काम मे न आ सकेगी।"

लोग प्रायः जान बूझ कर काम नहीं बिगाड़ते, बल्कि लापरवाई से, और विचार के और दूरदर्शिता के वैसे अभाव से जैसा बालकों को होता है। उन को अधिकांश याद दिलाते रहने ही की ज़रूरत है।

मेरा निज का अनुभव है। रेल मे एक दूसरे मुसाफ़िर साथ बैठे थे। खिड़कियाँ खुली थीं, सिर्फ़ सिर फेरने की ज़रूरत थी। पर नहीं, खाँसी आई तो खखार कर गाड़ी के अन्दर ही उन्हों ने थूका और पानी पीकर ग़ुसलख़ाने के, जो पास मे खुला था, दर्वाज़े के अन्दर, कुल्ला, जहां बैठे थे वहीं से, कर दिया। कुल्ले का गंदा पानी 'बिंचों' के नीचे और ग़ुसलखाने के फ़र्श पर फैल गया। मैंने उन से अर्ज़ किया कि जनाब ने खिरकी के बाहर थूका होता और कुल्ला किया होता तो अच्छा होता। उन्हो ने बहुत सादगी से कहा कि मुझे अगले स्टेशन पर उतर जाना है। मैंने उन से फिर अर्ज़ किया कि लेकिन मुझे तो अभी दूर जाना है और दूसरे लोग भी इस मे आते रहेंगे। तब उन को याद आई, और उन्हों ने कहा कि ज़रूर भूल हुई।

पर सब लोग ऐसे नही होते। कुछ की प्रकृति अधिक कड़ी होती है। मेरे एक मित्र को भी ऐसा ही एक अनुभव हुआ। लेकिन जब उन्होंने इन दोस्त की तवज्जुह सफ़ाई की तरफ दिलाने की कोशिश की तो यह जवाब मिला कि "जनाब, अगर आप को ऐसी सफ़ाई पसंद है तो आप रिज़र्वड क्लास मे चला करें,"। मेरे मित्र ने मजबूर होकर उन से कहा कि "अगर आप को गंदगी इस कदर पसंद है तो आप बग़ल के जाय-ज़रुर मे ही बैठ कर सफ़र कीजिये।"

आप लोगो को ख़याल होगा कि कलकत्ता बम्बई आदि की ट्राम गाड़ियों मे, और कभी कभी रेलगाड़ियोंमे भी, तख्ती लगाई

रहती है, जिस पर लिखा रहता है कि गाड़ी के अन्दर मत थूकिये। इसी किस्म की चेतावनी पुस्तकागारों में और पुस्तकों पर लगी रहे, कि किताबों की शकल को बनाये रखिये, तो कुछ तो अवश्य सुधार होगा।

सदाचार, शिष्टाचार, अदब, कायदा, विनयन, तर्बियत, इन सब का हृदय यही है कि बचपन ही से सब को हर वक्त चेतावनी होती रहे, कि सिर्फ अपनी ही फिक्र नहीं करना, दूसरों की भी फिक्र करते रहना, अपने थोड़े से आराम के वास्ते या श्रम बचा जाने के लिये या विनोद के लिये, दूसरों को भारी क्लेश न देना, उन का बड़ा नुकसान नहीं कर देना।

जिस समाज में शिष्टाचार सदाचार का यह भाव फैला हुआ है, वही समाज उत्तम और दृढ़ रीति से संग्रथित और संगृहीत है, और परस्पर सहायता के कारण बलवान् है। इस भाव का प्रचार पुस्तकालय के कर्मचारी, पुस्तकों की रक्षा की चेतावनी के प्रकार से, कर सकते हैं।

आय-व्यय।

हिन्दी मन्दिर के जो दो और अंग हैं, अर्थात् 'श्री शारदा' पत्रिका और नये ग्रंथों का आविष्कार, ये पुस्तकसंचय के फलरूप ही हैं। पुस्तकसंचय का अर्थ ज्ञानसंचय, और ज्ञान-संचय का फल ज्ञानप्रचार। मन्दिर से कई अच्छे अच्छे ग्रन्थ निकल चुके हैं। इतिहास, इतिहास का अवांतररूप अर्थात् विख्यात पुरुषों की जीवनी, अर्थशास्त्र, कवि और काव्य की समालोचना आख्यायिका आदि। जहाँ तक मालूम हुआ इन ग्रन्थों का आदर जनता ने अच्छा किया, और किसी किसी के पुनः संस्करण की आवश्यकता पड़ी। शारदा-पत्रिका का नया रूप भी बहुत सुन्दर

और विविध विषयोंके ज्ञानसे और रस-भाव से पूर्ण हो रहा है। पर एक बात व्यवहार-दृष्टि से विचारने की है। इन पुस्तकों के और पत्रिका के प्रकाशन मे व्यय बहुत बड़ा होता है, और तदनुसार आय नहीं है। कई पुस्तकों मे एक पृष्ठ पर उस के प्रकाशन के खर्च का हिसाब दिया हुआ है, इस से यह मुझ को जान पड़ा। इस का क्या प्रबन्ध होगा, यह घाटा कैसे पूरा किया जायगा, आगे घाटा न हो इस का क्या उपाय होगा, यह प्रबन्धसमिति को सोचना आवश्यक है। श्री गोविंददासजी ने अपने वार्षिक कार्यविवरणरूपी व्याख्यान मे इस की चर्चा की, और अंशतः जो कर्ज़ इस संस्था पर हो गया है उस का समाधान भी किया, पर तौ भी हमलोगों को याद रखना चाहिये कि पच्छिम के देशों का यह उसूल, कि जितना ही बड़ा 'नेशनल डेट' उतना ही बड़ा 'स्टेट', हमारे भारतवर्ष की दशा और भावों के अनुकूल नही है।

शास्त्रीय ग्रंथ।

दस पाँच पब्लिशिंग कारखानों का हाल जो मै ने दर्याफ़ किया, उस से तो ऐसा जान पड़ा कि निजी कारखानो मे, जहाँ एक ही आदमी अपना कारखाना स्वयं चलाता है, वहाँ नुकसान प्रायः नही है। शायद "आत्मनस्तु कामाय सर्वं वै प्रियं भवति", इस न्याय से वह परिश्रम और सावधानी अधिक करता है। पर साथ ही इस के यह भी मालूम होता है कि ऐसे कारखानो मे शास्त्रीय ग्रन्थ, जिन से नये ज्ञान का विस्तार हो, पर जिन के पढ़ने पढ़ाने मे श्रम लगता हो, कम निकलते है। नाटक और आख्यायिका (जिन को आजकाल उपन्यास कहने की चाल पड़ गयी है) ऐसे ही ग्रन्थ, और उन मे भी बहुत से अनुवादरूप,

ऐसे कारखानों से ज्यादा निकलते है। उन में से कितने ही अच्छे भी होते है। पर शास्त्रीय साहित्य की पूर्त्ति उन से नहीं होती। और ऐसे साहित्य की आवश्यकता रोज रोज बढती जाती है। जब से राष्ट्रीय पाठशालाओं और विद्यापीठों की ओर देश का ध्यान हुआ है, और यह भी ध्यान हुआ है कि पढाई मातृभाषा में हो, तब से इस कमी का क्लेश और भी तीव्र होता जाता है। इस की पूर्त्ति के लिये सार्वजनिक संस्थाओं के चालकों को अवश्य ही यत्न करना होगा, और तन, मन, धन, का व्यय बर्दाश्त करना होगा, और उस के ऊपर अवाच्य कुवाच्य भी सुनना होगा। फारसी में मसल मशहूर है, "न कर्दन् यक गुनाह, कर्दन् सद् गुनाह।" सूरदासजी भी कह गये हैं, "दया-निधि तेरी गति लखि न परै। कोटिन गौ देवै राजा नृग अरु भव कूप भरै।" पर यह तो 'पब्लिक वर्क', सार्वजनिक सेवा, का फल ही है। यदि उस मे चारों ओर से यश ही यश और मदद पर मदद मिले, तो फिर तपस्या और स्वार्थ-त्याग ही क्या रह जाय। सार्वजनिक काम मे जो नेकनीयती से पड़ना चाहे, उसको अपना दिल बहुत मज़बूत कर लेना चाहिये, और यदि सर्वथा निष्काम भाव से कार्य नहीं कर सकता, तो जो कुछ स्वार्थ फल की आशा रखता हो उस को परलोक से ही, या दूसरे जन्म से ही, बॉधना चाहिये।

कैसे ग्रंथों की आवश्यकता है।

किस किस विषय पर नये ग्रंथो के निर्माण की आवश्यकता है, यह बात बहुत विचारने की है। अब तक तो "साहित्य" का अर्थ हिंदी मे प्राय. छन्दोबद्ध काव्य और नाटक ही समझा जाता था। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, भारतीय अथवा प्रांतीय,

जो होते रहे हैं, उन के कार्य-विवरणों के देखने से, तथा हिन्दी साहित्य के इतिहास छोटे मोटे जो निकले हैं उन के देखने से भी यही जान पड़ता है। पर इस अर्थ से काम नहीं चलने का। कलकत्ते के सम्मेलन मे मैंने यह दिखाने का यत्न किया कि साहित्यशरीर कहिये, शास्त्रशरीर कहिये, उस को समग्र सम्पूर्ण करने के लिये हम को किन किन अंगों की आवश्यकता है। अर्थात् चार पुरुषार्थों के साधक चार शास्त्रों के ग्रन्थ हम को चाहिये। धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, और मोक्षशास्त्र। इन चारों के अन्दर जितने नये पुराने ज्ञान, विज्ञान, शास्त्र, विद्या, काव्य, नाटक, संगीत, साहित्य है, सभी आ जायँगे।

राष्ट्रीय साहित्य का राष्ट्रीय शिक्षा से घनिष्ठ सम्बन्ध है, यह तो प्रत्यक्ष ही है। शिक्षा का क्रम भी इन्हीं चारो शास्त्रो को लेकर बाँधना चाहिये। और उस शिक्षा के उपयोगी ग्रंथ भी उन्ही के ऊपर, क्रमशः लघु, सरल, और विस्तृत रूप से, तयार करना चाहिये।

समतं विदुषां ह्येतद् समासव्यासधारणम्।

और इसी भाव से पुरानी प्रथा, सूत्र, तब भाष्य, और तब टीका, फैली। जिस को पच्छिम मे 'टेब्ल आफ़ कंटेन्ट्स' या 'एलिमेन्टरी टेक्स्ट बुक' कहेंगे वह सूत्र-स्थानीय है। जिस को 'एडवांस्ड' कहेंगे वह भाष्य-स्थानीय है, जिस को 'एक्सपर्टस्' और 'स्पेशलिस्टस् मैनवलस्' कहेंगे वह टीका-स्थानीय है।

संस्कृत से अनुवाद किये हुए, हिन्दी मे बहुत ग्रंथ, दर्शनों के, पुराणो के, तथा वैद्यक के, मौजूद हैं। पर प्रायः अनुवाद ठीक नहीं है। संस्कार परिष्कार पर श्रम नही किया गया है। और परिपक्व बुद्धि और विद्या उन मे नहीं लगायी गयी है। साहित्य सम्मेलनों मे इन की ओर प्रायः ध्यान नही दिया जाता, यद्यपि

इन की चर्चा होना चाहिये, क्योंकि बिना ऐसी चर्चा के ऐसे ग्रन्थों की वृद्धि और शुद्धि नहीं होगी। हर्ष का स्थान है, कि कुछ दिनों तक पश्चिमी विद्याओं का प्रचार होने के बाद अब यहाँ फिर स्वदेशी भावों की ओर बुद्धि फिरी है। इस का फल यह हो रहा है कि नये पुराने भावों मे से उत्तम अंश ले कर एक नया 'कल्चर', समुदाचार, शालीनता, तयार होने की आशा हो रही है। और भारतवर्ष की वर्त्तमान भाषाओं मे, ऐसे भावों को एकत्र करनेवाले, अच्छे अच्छे नये ग्रन्थ लिखे जा रहे हैं। अनुवाद के द्वारा कुछ ऐसे ग्रन्थ हिन्दी साहित्य को भी मिल गये हैं। इन मे अत्युत्तम ग्रन्थरत्न लोकमान्य तिलक का "गीतारहस्य" है, जो श्री माधवराव जी सप्रे के परिश्रम से हिन्दी साहित्य को मिला। दर्शनशास्त्र के अध्येता के लिये इस का पाठ अनिवार्य है। एक और उत्तम ग्रन्थ भी इन्हीं के परिश्रम से हिन्दी मे तयार हो गया है, अर्थात् श्री चिंतामणि वैद्य की "महाभारत मीमांसा"। यह ग्रन्थ बड़े खोज का, बहुत विचारपूर्ण, बहुत बुद्धिवर्धक है। आप के हिन्दी मन्दिर से भी एक बहुत अच्छा ग्रन्थ, इतिहास का, अनुवाद द्वारा हिन्दी मे आ गया है, अर्थात् श्री नरसिंह केलकर जी का "अंग्रेज और मराठे" बंगला में से भी कई अच्छे इतिहास के और ऐतिहासिक आख्यायिका के ग्रन्थ हिन्दी मे अनुवाद द्वारा आ गये हैं। "सिराजुद्दौला" नाम का ग्रन्थ हाल मे मेरे देखने मे आया। बहुत अच्छा है। विषय तो ऐतिहासिक है ही, लेखशैली भी बहुत सरल, रस और अलंकार से शोभित, और उदार भाव से युक्त है। एवं "महाराज नन्दकुमार की फांसी" नामक ऐतिहासिक उपा[illegible] ी।

अपूर्व और अनुवाद ।

इस प्रकार के इतिहास के अच्छे अच्छे ग्रन्थ हिन्दी मे हो जायँ तो अवश्यमेव नयी राष्ट्रीय पाठशालाओं और विद्यापीठों मे विद्यार्थियों को जितना ज्ञान अंग्रेज़ी पुस्तकों द्वारा चार वर्ष मे होता है उतना दो वर्ष मे सहज मे हो जाय। और अपने देश की जो पुरानी प्रथा है,

इतिहासपुराणं च पचमो वेद उच्यते,

वह सार्थक हो जाय। अच्छे ग्रन्थो का अनुवाद—यह सब से सहज उपाय अपना भाण्डार भरने का है। और इसमे कभी संकोच नही करना चाहिये। "चिराग़से चिराग़ जलता है", यह नैसर्गिक विधि है। इस मे शर्म करने की कोई वजह नहीं है। मौलिक अर्थात् अपूर्व (ओरिजिनल) ग्रन्थो और आविष्कारो की प्रतीक्षा करते हुए, अनुवादो मे कमी करना ठीक नही। ऐसे अपूर्व आविष्कार, सब देश और सब काल मे, अन्तरात्मा की प्रेरणा से, विशेष विशेष व्यक्तियो द्वारा हुआ करते हैं, और प्रायः जंगलों मे, कुटियों मे, आश्रमो मे। रामायण, महाभारत, भागवत, "ईलियड", "ओडिसी", शेक्सपियर, मिल्टन आदि के काव्य, तथा बड़े बड़े पश्चिमी वैज्ञानिक आविष्कार भी, किसी सार्वजनिक संस्था की प्रेरणा से अथवा उस के द्वारा नहीं हुए। स्टीफ़न्सन् के मन मे 'स्टीम अंजन' का रहस्य अपने आप ही उदय हुआ। सार्वजनिक संस्थाओं को, यथाशक्ति समाज की आवश्यकताओं का विचार करके, इनको यथासंभव पूरी करने का यत्न करना चाहिये। यदि अनुवादोपयोगी उत्तम ग्रंथ मिले तो अवश्य अनुवाद से हिन्दी साहित्यभांडार इस समय भरना चाहिये। पर अनुवाद, शब्दानुवाद नहीं, आशयानुवाद, भावानु-

वाद, होना चाहिये । अनुवाद की भाषा ऐसी होनी चाहिये मानो स्वतन्त्र लेख है, ऐसी नहीं कि पढ़नेवाले को जान पड़े कि भाषान्तर से अनुवाद है । और उस के आशय और भाव का संशोधन भी यथोचित कर लेना चाहिये । ऐसे अनुवादों के द्वारा विविध ज्ञान को पी कर के, और अपने मनोमय और विज्ञानमय कोष मे उस का जरण पाचन कर के, उस के बल से, पीछे, नये ज्ञान और अपूर्व ग्रन्थों का आविष्कार आप ही किया जायगा ।

राजनीति ।

इस जमाने मे राजनीति के विषय मे जो आंदोलन हो रहा है, उस के सीधे रास्ते पर चलने के लिये परमावश्यक है कि प्राचीन राजधर्म के सिद्धान्तो और तत्वो का सच्चा ज्ञान देश मे फैलाया जाय । नही तो भारी हानि उठानी होगी । आजकाल छापाखानो से कागज़ो की और पुस्तको की बारहो महीना जो अनवरत वर्षा होती रहती है, उसका फल, एक ओर अच्छा भी है, तो दूसरी ओर यह भी हो रहा है कि—

भूमि हरित तृण संकुल सूझि परत नहि पथ ,
जिमि पाखंड विवाद ते लुप्त भये सद् ग्रन्थ ।

इतिहास के ग्रन्थो के साथ साथ इस राजधर्म के विषय के उत्तम ग्रन्थो का तयार होना अति आवश्यक है, बल्कि उन से पहिले । मेरी समझ मे तो महाभारत के राजधर्म पर्व का यदि ठीक ठीक अनुवाद किया जाय, और पाश्चात्य ग्रन्थो के ज्ञान की सहायता से उस पर टीका लिख दी जाय, और स्थान स्थान पर मनुस्मृति, शुक्रनीति, कौटिलीय अर्थशास्त्र आदि से उस का उपबृंहण कर दिया जाय, तो हमारे सब कामके लायक ग्रंथ तैयार हो जाय । सच पूछिये तो आज पर्यन्त के सारे 'पोलि-

टिकल साइन्स' का सत्त और सार उस पर्व के एक अध्याय, यानी ६६ वें अध्याय, मे रख दिया है, और ऐसी रोचक कहानी के रूप मे कि बालक का भी उस मे मन लग जाय।

राजा और राज्य की उत्पत्ति।

युधिष्ठिर ने भीष्म से पूछा कि राजा क्या चीज़ है, कैसे इस की उत्पत्ति हुई, क्यों इस की इतनी जानता मानता होती है। जैसे आँख नाक कान हाथ पैर औरों के वैसे इस के, फिर इस की इतनी बड़ाई क्यो? भीष्म ने कहा कि बहुत प्राचीन काल मे सब मनुष्य शुद्ध बुद्धि से रहते थे, सत्ययुग मे सब धर्मात्मा होते थे, उस समय मे "वर्णाश्रमव्यवस्थाश्च न तदाऽऽसन्न संकरः," (वायुपुराण), वर्ण और आश्रम के भेद नही थे, राजा प्रजा का भी भेद नही था। क्रमशः मनुष्यो मे काम, क्रोध, लोभ, बढ़े, अहंता ममता बढ़ी, 'यह मेरा यह तेरा' के भाव पैदा हुए, और पराया माल अपना करने की इच्छा होने लगी। तब बलवानों ने दुर्बलो को सताना शुरू किया। फिर क्या पूछना, बिचवई की ज़रूरत पड़ी।

अपनी आँख के सामने देखिये। घर मे बच्चे सुख से आपस मे खेलते हैं। एक खिलौने पर कलह होने लगता है, मार पीट रोना गाना शुरू हो जाता है। तब उन की दादी को बीच मे पड़ना पड़ता है। यही दशा प्राचीन काल मे बड़े परिमाण से मनुष्य समाज को प्राप्त हुई। सब ने मिल कर आपस मे समय अर्थात् शर्त किया, कौल क़रार किया, कि जो कोई ऐसा ऐसा दुराचार करेगा उस को हम सब मिल कर अपने समाज से निकाल देंगे। पर जो बलवान थे वे उस क़ौल करार पर कायम नहीं रहे। "समये न अवतस्थिरे।" तब सब दुर्बल लोग 'ब्रह्मा'

के पास गये, और उन से कहा कि "भगवन्नीश्वर हिश," हम लोगों को आप ऐसा आदमी बताइये जो, "ईशते इति ईश्वरः", इन दुष्ट बलवानों का निग्रह करे, दुर्बल सज्जनों का अनुग्रह करे, और सब से वह समय, अर्थात् कौल करार कानून, जो सब ने आपस में मिल कर ते किया और बनाया है, मनवावे। 'ब्रह्मा' ने इशारा किया कि इस 'मनु' को अपना मुखिया बनाओ। सभों ने मनु को घेरा। मनु ने कहा कि मैं इस झंझट में नहीं पड़ना चाहता, तुम लोग रोज आपस में लड़ोगे, मैं कहाँ तक निपटारा करूँगा। तब किसी किसी तरह फुसला कर मनु को राज़ी किया। बड़ी सुन्दर कन्या से तुम्हारा व्याह कर देंगे, और तुम्हारे खाने पीने को हम लोग अपनी खेती में से अन्न दे देंगे, तुम को अलग खेती में समय न देना होगा, और तुम को खूब अच्छे अच्छे बलवान् शूर वीर शस्त्रधारी योद्धा देंगे, जो तुम्हारे साथ रह कर दुष्टों का दमन करेंगे, इत्यादि। बस तब से राजा और राज्य वा राष्ट्र की उत्पत्ति अर्थात्, 'ओरिजन आफ दि स्टेट' हुई।

राष्ट्र सिद्धान्त।

यदि आप गौर से देखेंगे तो इस छोटी सी कहानी में, आज-काल पश्चिम में जितनी राय इस विषय की जारी हैं, उन सब का उत्तम अंश मौजूद है और अशुद्ध अंश छोड़ दिया है। प्लेटो, अरस्तातालीस, हाब्ज़, मॉटेस्क्यो, रूसो आदि के मतों का उत्तमांश सब इस में मौजूद है।

'ब्रह्मा' का अर्थ।

पहिले 'ब्रह्मा' शब्द का अर्थ ठीक ठीक करना चाहिये। बच्चों को समझाने के लिये तो चार मुँह का एक बहुत बूढ़ा

आदमी, जो सब का परदादा पितामह—यह ठीक है। पर बड़े खेद की बात है कि बच्चो के सिवा सयानो को भी आज काल के लोग हठात् यही अर्थ समझाते हैं, और न मानने पर 'नास्तिक' 'अधर्मी' आदि शब्दों से निंदा करते हैं। यद्यपि स्वयं महाभारत और पुराणों ही मे इस शब्द का ठीक अर्थ स्पष्ट शब्दों से कहा है, यथा—

हिरण्यगर्भो भगवान् एष बुद्धिरिति स्मृतः।
महानिति च योगेषु विरिंचिरिति चाप्यजः॥
महानात्मा मतिर्विष्णुः जिष्णुः शंभुश्च वीर्यवान्।
बुद्धिः प्रज्ञोपलब्धिश्च तथा ख्यातिर्धृतिः स्मृतिः॥
पर्यायवाचकैः शब्दैः महानात्मा विभाव्यते॥
(अनुगीता अ० २६)

मनो महान् मतिर्ब्रह्मा पूर्बुद्धिः ख्यातिरीश्वरः।
प्रज्ञा चितिः स्मृतिः संवित् विपुरं चोच्यते बुधै॥
(वायु० पु० अ० ४)

अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, शंभु इत्यादि यह सब महत्-तत्त्व, बुद्धितत्त्व, के ही नाम हैं, और यह तत्त्व जनसमुदाय मे सूत्रात्मा अंतरात्मा के रूप से व्याप्त है, और भीतर से प्रेरणा किया करता है। हिरण्यगर्भ, विरिंचि, अज, महानात्मा, महान्, मति, प्रज्ञा, उपलब्धि, ख्याति, धृति, स्मृति, मन, पूः, ईश्वर, चिति, संवित्, विपुर इति प्रभृति सब इसी के पर्यायवाचक शब्द हैं।

अपनी आंख के सामने देखिये। समाज मे जब कोई नयी आवश्यकता उठती है, पुराना दस्तूर बदलने की, नया उपाय सोचने की, तब आप से आप लोग उस विषयकी चर्चा करने लगते हैं, फिर एकत्र होते हैं, पंचायतें होती हैं। सभापति

मन्त्री, नायक, पायक, चौधरी सरदार, मुखिया सलाहकार, आदि चुने जाते है, और नये रास्ते के बारे मे एक राय कायम की जाती है। जितने आंदोलन होते है, राजनीतिक अथवा अन्य, जैसे हमारी हिंदी मन्दिर और हिन्दी प्रचार आदि के, वे सब इसी प्रकार से, समुद्र मे लहर के ऐसे, आप से आप उठते है। जो समाज मे वृद्ध हो, ज्ञान मे प्रधान हों, सबके परम मान्य हों, उन्हीं को इस 'ब्रह्मतत्त्व' का, 'बृहत्त्व' का, विशेष आविर्भावस्थान अर्थात् 'ब्रह्मा' अथवा 'लोकमत' का उद्भव-स्थान आप कह सकते है। वैदिक यज्ञ मे, सब से अधिक वृद्ध और ज्ञानवान् ऋत्विक् को, जो अन्य सब ऋत्विजो की तथा सब कृत्यो की देख रेख करे, 'ब्रह्मा' ही कहते है।

इस प्रकार से मानव इतिहास के आदि काल मे यह आंदोलन हुआ। सर्वसाधारण की समष्टि ने ही कानून बनाया, राजा ने नहीं, राजा उस समय था ही नहीं। पर जब उद्धत लोग, बल के मद से, कानून तोड़ने लगे, तो जनता की सूत्रात्मा ने एक राजा को सिर्फ इस काम के लिये मुकर्रर किया कि वह जनता के बनाये कानून पर लोगो से अमल करावे, न यह कि नया मनमाना कानून बनावे।

और भी बहुत सी बाते थोड़े थोड़े सारगर्भित शब्दो मे इस पर्व मे कह दी है, जिन से राजा और प्रजा के परस्पर कर्तव्य सब ठीक ठीक मालूम हो जाते है। इन सब बातो का प्रतिपादन अच्छे अच्छे नये ग्रंथो मे हिंदी मे होना चाहिये। और ऐसे ग्रन्थ वे ही लोग उचित रूप से लिख सकते है, जिन्होंने लोकमान्य तिलक जी के ऐसा, दोनो, अर्थात् पूर्व के और पच्छिम के, शास्त्रो का हृदय पहिचान लिया हो, और वर्तमान मनुष्य जगत् की अवस्था को भी ठीक ठीक जानते हो। केवल एक

पक्ष की विद्या को जाननेवाले और समय को न समझनेवाले लोग वर्तमान भारतवर्ष के उपयोगी ग्रन्थ नहीं लिख सकेंगे।

वैदिक धर्म।

इसी राजधर्म के साथ साथ जिस धर्म को आज काल हिंदू धर्म के नाम से कहते हैं, उसके सच्चे स्वरूप को दिखाने के लिये भी अच्छे ग्रन्थो की आवश्यकता है। राजा का मुख्य धर्म वर्ण-आश्रम-व्यवस्था की रक्षा करना, जिस से समाज का संग्रन्थन अर्थात् 'सोशल आर्गेनाइज़ेशन' होता है। और यह वर्ण और आश्रम धर्म ही हिंदू धर्म का सार है। पर जैसी भ्रांतियां इसके विषय मे आज काल फैली हुई हैं, और जैसी इसकी दुर्दशा हो रही है, जिनके कारण हिंदूसमाज दिन दिन अधिकाधिक क्षीण, दुर्बल, और अस्तव्यस्त होता जाता है, वह प्रत्यक्ष है। अच्छे ग्रन्थों के द्वारा प्राचीन स्मृतियों की सच्ची और समयोपयोगी व्याख्या करके इस सब ह्रास को रोकना बहुत ज़रूरी है। वैदिक काल मे "व्रात्यस्तोम" आदि विधियो से नये व्रात, नई जातियाँ, आर्यसमुदाय की वर्णव्यवस्था मे मिला ली जाती थी। अब ऐसी दुर्बुद्धि और मिथ्या व्याख्या बढ़ी है, और अर्थ के स्थान मे अनर्थ फैला है, कि दूसरो को अपने संग लेना तो दूर गया, अपनों को निकाल कर हम लोग अलग फेंक रहे हैं। व्रात्यस्तोम का आज काल यह अर्थ किया जाता है कि जो लोग किसी समय वर्णव्यवस्था मे थे पर संस्कारके लोप से पतित हुए, उन का फिर से संस्कार कर के उन का उद्धार करना। खैर, यह संकुचित अर्थ भी यदि वर्ता जाय तो भी ग़नीमत है। पर यह भी नहीं होता। पुराना असल अर्थ तो बहुत उदार था—"व्रातैः व्रजंति, व्रातेन वर्त्तते, व्रतमर्हंति शालीनतायै, इति व्रात्याः"। जो

झुण्ड के झुण्ड चलते हों, जिन के घर द्वार न हों, जो रोज़ की मिहनत मज़दूरी से, अथवा शिकार वग़ैरः से जीते हों, जिन के निज की स्थायी सम्पत्ति कुछ न हो, और जो व्रतादिक करा के शालीन बनाये जा सकते हों, वे 'व्रात्य' कहलाते थे। इस के विपरीत "शालिभिः कृष्युत्पादितैः जीवंति, शालासु वसंति, सदाचारैः शालंते, इति शालीनाः", खेती से पैदा हुए शालि धान्यादि से जीवन निर्वाह करें, मकानों मे, नगर ग्रामादि मे, रहें, सदाचार शिष्टाचार बर्त्तें, वे शालीन। अंग्रेज़ी के इतिहास-वेत्ता इनको 'नोमाड' और 'सेटल्ड' या 'सिविलाइज़्ड' नाम से कहते हैं।

व्रात्य और शालीन।

व्रात्यों को शालीन बना लेने की विधियों को व्रात्यस्तोम कहते हैं। शक आदि बहुत सी जातियाँ इसी प्रकार से पूर्व-काल मे अपने अपने व्यवसाय और कर्म के अनुरूप ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि वर्णों मे मिला ली गयी थीं। बिना संस्कार के, बिना उचित आचार की प्रतिज्ञा किये, जिस का जैसा जी चाहे वैसा अपना वर्ण बताने लगे, तो उस से अवश्य समाज संग्रंथन मे हानि पहुँचेगी, और कर्म-विभाग और वृत्ति-विभाग और शुल्क-विभाग, अर्थात् "डिविज़न आफ लेबर" आदि मे संकर पैदा होगा, इस वास्ते जांच रखना ज़रूरी है। पर बिना जांच किये, और बिना विधिपूर्वक संस्कार किये, वर्ण मे शामिल न करना, यह एक बात है; और झूठे थोथे बहाने निकाल कर, अपनी पवित्रम्मन्यता के अहंकार के कारण, या लोभ के वश से, जाति से निकाल देना, या जाति के भीतर किसी विधि से भी न आने देना, या फिर से न आने देना, यह दूसरी बात है।

इस मिथ्या और महाहानिकारक भाव को भी नये ग्रंथों के बल से, शुद्ध ज्ञान के पुनर्वार प्रचार से, दूर करना आवश्यक है, क्योंकि विना ऐसा किये हमारा समाज ही क्षीण होता जाता है, और क्षयरोग से मर जायगा।

विज्ञान।

ऐसे ग्रन्थों के बाद 'सायंस' का विषय विचारणीय है। इस सायंस अर्थात् विज्ञान अथवा अधिभूतशास्त्र का विषय तो हिन्दी मे अभी प्रायः छूआ ही नही गया। अर्थशास्त्र, उद्योगशास्त्र, संपत्तिशास्त्र, तथा राष्ट्रशास्त्र, शासनपद्धति, राजनीतिशास्त्र आदि के नाम से 'ईकानोमिक्स' और 'पॉलिटिक्स' के ग्रंथ तो कुछ लिख गये है। अधिभूतशास्त्रो पर 'फ़िज़िक्स', 'केमिस्ट्री', 'फ़िसियालोजी', 'बॉटनी' आदि पर, ग्रन्थ अभी नहीं देख पड़ते। एक ग्रन्थ 'फ़िसियालोजी' पर हिन्दी मे छपा है। स्वयं तो मै नही पढ़ पाया, पर दूसरों से सुना कि अच्छा है। इन सब विषयों पर ग्रन्थों की बहुत आवश्यकता है। यो भी आवश्यकता थी, और अब विशेष कर के 'राष्ट्रीय विद्यापीठो के विद्यार्थियों के लिये हो रही है।

राष्ट्रीय शिक्षा-समिति।

अभी काशी मे, २३ फरवरी से ६ मार्च, १९२३ ई०, तक, अट्ठाईस अध्यापक, भारतवर्ष के विविध प्रान्तो के, श्री शिवप्रसाद गुप्तजी के घर पर, उन के स्थापित काशी विद्यापीठ के कार्यकर्त्ताओं के प्रबन्ध से, एकत्र होकर, स्वदेशी शिक्षा, 'नेशनल एजूकेशन', के सब अङ्गों पर विचार करते रहे। बहुत विचार करके, प्रायः सर्वसम्मति से, कई गुर्वर्थ बातों पर निश्चय किया गया है। उन लोगों ने एक 'टेक्स्ट-बुक कमेटी' भी बनाई है। उस का यह

कर्तव्य होगा कि जो जो पुस्तकें इस समय भारतवर्ष की विविध भाषाओं में ऐसी मिलती हैं जो विद्यालयों की पढ़ाई की उपयोगी हैं, उन की फिहरिस्त तैयार करें, तथा नयी पुस्तकों के लिखवाने का प्रबन्ध करें। कैसे प्रबन्ध करें इस के कुछ प्रकारों की सूचना कर दी है।

मुझे आशा है कि यह कमेटी इस राष्ट्रीय हिन्दी मन्दिर तथा देश की ऐसी अन्य संस्थाओं से लिखा पढ़ी करेगी। और यह तै कर सकेगी कि किस विषय की पुस्तक कहाँ तैयार कराई जाय और किस भाषा में फिर उस भाषा से भारतवर्ष की अन्य भाषाओं में सहज में अनुवाद हो जायगा।

यह सुन कर आप लोग प्रसन्न होंगे कि इन सब प्रतिनिधियों ने—जो महाराष्ट्र, गुजरात, सिंध, पंजाब, संयुक्तप्रान्त, बिहार, उड़ीसा, बंगाल, आसाम, और आंध्र देशों से आये थे—सब ने एक मत से यह स्थिर कर लिया है कि सब प्रान्तों में, जहाँ की मातृ भाषा हिंदी अथवा हिन्दुस्तानी नहीं है, वहाँ द्वितीय भाषा, 'सेकण्ड लांगवेज', की हैसियत से, विद्यार्थियों को हिन्दी अवश्य पढ़ाई जाय, जिस में सर्वभारतीय भाषा 'लिंग्वा इण्डिका' का वह काम दे। यह सब चिन्ह अच्छे हैं। चारों ओर देश में भिन्न भिन्न रूप से भिन्न भिन्न कार्य हो रहे हैं। पर अंतरात्मा 'ब्रह्म' की प्रेरणा से सब का लक्ष्य एक ही है, सब एक ही ओर चल रहे हैं।

नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।

अर्थात् स्वदेशोद्धार और भारतवासियों के जीवन के सब विभागों में सच्ची आत्मवशता, सच्चे स्वराज्य, का पुनः स्थापन, जिस के विषय में मनु ने आदि काल में ही कह दिया है—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।

पर यह सदा याद रखने की बात है कि सच्ची आत्मवशता, सच्चा स्वराज, विना 'आत्मा' को ठीक पहिचाने और 'स्व' का अर्थ ठीक जाने, नहीं हो सकता है। प्रत्युत आपस मे घोर ईर्ष्या मत्सर विवाद और कलह के खड़े हो जाने का महाभय है।

आधिभौतिक शास्त्रो, अर्थात् 'फ़िज़िकल' या 'नेचुरल सायंस' के विषय मे, हमारा पहिला उपाय पच्छिम के ग्रन्थों के आशयानुवाद के सिवा दूसरा नहीं है। पर यह अनुवाद बुद्धिमत्ता से करना होगा। 'मक्षिकास्थाने मक्षिका' न्याय से नहीं। जैसे 'वाटनी' के ग्रन्थ मे हम को उन पेड़ पौधों के उदाहरण देने होंगे जो इस देश मे मिलते हो, विलायत के नहीं कि जो यहाँ देखने मे नहीं आते। लोग पूछ वैठा करते हैं कि शिक्षा स्वदेशी कैसी, ज्ञान मे देश और राष्ट्र और जाति का भेद कैसा? इसी उदाहरण से उनका उत्तर हो जाता है। तथा भूगोल पढ़ाने मे हम हिमालय के उच्चतम शिखर का नाम गौरीशंकर सिखावेंगे, 'माउन्ट एवरस्ट' नही, अपनी पवित्रतम नदी का नाम 'गंगा' सिखावेंगे, 'गैंजीज़' नही।

मोक्षशास्त्र।

मोक्षशास्त्र अर्थात् अध्यात्म विद्या के विषय मे संस्कृत ग्रन्थ पर्याप्त हैं, और हिन्दी मे अनुवाद वहुत है, और कुछ ग्रन्थ वहुत अच्छे भी है, तथापि पाश्चात्य शास्त्रों से नये उदाहरण ले कर, उन्ही प्राचीन तत्त्वों को अधिक विशद और नये प्रकारों से समर्थन करनेवाले नये ग्रन्थो की भी आवश्यकता है।

इन सव कार्यो को यदि यहाँ का हिन्दी मन्दिर तथा अन्य पुस्तक-प्रकाशक संस्थाएँ, 'नेशनल एजुकेशन कमेटी' की 'टेक्स्ट-बुक कमेटी' के साथ लिखा पढ़ी कर के, आपस मे वाँट

हैं, तो काम बहुत सरल और शीघ्र ही संपन्न हो जाय। "संघे शक्तिः कलौ युगे"।

इस समय का जो मेरा वक्तव्य था वह तो मैं समाप्त कर चुका, काव्यसाहित्य के नवरसों के विषय मे कुछ कहने को मेरे मन मे था, यदि बन पड़ा तो कल कहूँगा।

[द्वितीय दिवस, ता० ९ अप्रैल, १९२३, का व्याख्यान]

सज्जनो—आप लोगो ने प्रवीण वक्ताओं के अच्छे अच्छे व्याख्यान सुने, उत्सव का कार्य समाप्तप्राय है, कोई विशेष बात मेरे ध्यान मे नहीं आती जिसको सुनाकर आप को अधिक प्रसन्न कर सकूँ। पर कल मैंने कहा था कि यदि हो सका तो "साहित्य" शब्द का जो विशेष अर्थ आज काल हो रहा है, रसात्मक काव्यादि, उसके विषय मे कुछ कहूँगा।

इस प्रसग मे भारतभारती का शिरोमणि-भूत नवरसमय तथा सर्व-आध्यात्मिक-ज्ञानमय, जो एक ग्रन्थ है उसकी चर्चा करना चाहता हूँ, अर्थात् 'भागवत' की।

कल मैंने आपके सामने सूचना रूप से कहा कि किन किन विषयों पर हिन्दी मे ग्रन्थ लिखने की तत्काल विशेष आवश्यकता है। आज एक वक्ता ने आप से यह कहा है कि केवल अभावों की गिनती गिनना ठीक नहीं, प्रायः साहित्य सम्मेलनों मे आज तेरह वर्ष से ऐसी गिनती ही गिनी जाती है, संस्थाओं को चाहिये कि जैसे हो तैसे लेखकों को मजबूर करें कि वे इन इन अभावों को पहले पूरा करके, तब दूसरे लेख लिखें। तौ भी मैं आज पुनर्वार एक और अभाव की चर्चा करूँगा। सम्मेलनों मे ऐसे अभावों की चर्चा से बहुत काम हो रहा है। इन तेरह वर्षों मे सैकड़ों ग्रन्थ लिखे और छापे गये हैं, जो अंशतः उन अभावों की पूर्त्ति का यत्न करते ही हैं। मानस, तब वाचिक,

तब कायिक, यही कार्य का क्रम है। चर्चा होना अत्यावश्यक है। बीच बीच मे ऐसे सम्मेलनों मे साहित्य के विषय मे देश की अवस्था की जांच परताल हो जाने से ही संस्थाएं, अथवा व्यक्ति रूप से लेखक, तदनुसार यत्न करेंगे। और आप ने कार्यविवरण मे सुना ही है कि किस किस विषय के कितने ग्रन्थ इस संस्था ने लिखवा कर प्रकाश किये हैं। राष्ट्रीय शिक्षा-समिति की पुस्तक-निर्माणोपसमिति के द्वारा विशेष प्रयत्न होने वाला है, उसकी भी चर्चा मैंने कल की है। इस लिये मै आज फिर भी एक भारी अभाव की चर्चा करूंगा। कल मैंने यह भी कहा था कि 'साहित्य' शब्द का अर्थ अब तक प्रायः काव्य-साहित्य समझा जाता रहा है। ऐसा होते भी, बड़े आश्चर्य और खेद की बात है कि ऐसे अत्युत्तम काव्य भागवत के अनुरूप अनुवाद का यत्न अब तक नही हुआ, जिसमे नवरस, अथवा जो लोग भक्ति और वात्सल्य को अलग मानते है उनके लिये एकादश रस, भरे हैं, और इसके सिवा विविध प्रकार के ज्ञान और उपदेश भी भरे हैं।

हां, सूरदास जी ने ज़ोर लगाया, और सूरसागर लिखा, और डिंडिम भी बड़ा है कि सवा लाख पद कहे। पर इन मे से सवा हजार पद भी वर्त्ताव मे नही है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी के फुफेरे भाई श्री राधाकृष्णदास जी ने बहुत परिश्रम और कठिनता से कोई पांच हज़ार पद एकत्र कर के छपवाया है। जो मिले हैं वे अवश्य रत्नभूत हैं, पर उनमे भी दस मे से नौ हिस्सा मूल ग्रन्थ के दशम स्कन्ध के ही विषय पर है, और तत्रापि रासपंचाध्यायी के, और तत्रापि मधुकर-गीत के।

पर भागवत तो मधुकर-गीत मात्र नही है, न रासपंचाध्यायी मात्र, न दशम स्कन्ध मात्र। भागवत तो बारह स्कन्धों

वस्तुओं का सेवन करने से "नर्वस सिस्टम्," अर्थात् मस्तिष्क, मेरुदंड, इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना आदि क्रियावाहिनी, ज्ञानवाहिनी, और इच्छाधारिणी नाड़ियाँ, जिसको फ़ारसी तिब मे दिमाग़ कहते हैं, कमज़ोर हो जाती हैं। त्रिकटु और त्रिकषाय का भी सेवन साथ साथ करते रहना स्वास्थ्य के लिये आवश्यक है। भोजन चतुर्विध और षड्रस उचित कहा है, एकविध और एकरस ही नहीं। तथा व्यायाम का क्लेश और तरह तरह का परिश्रम भी सहते और करते रहना चाहिये। क्षयरोगी के मुख पर भी एक अवस्था मे सुन्दरता आ जाती है; और सौंदर्य के अति सेवन से क्षयरोग उत्पन्न होता है, यह भी प्रसिद्ध है। कालिदास ने रघुवंश के अन्तिम सर्ग मे इस को दिखाया है।

"अग्नि वर्ण राजा की दशा क्षयरोग मे, कामियों के अभिसार की सी दशा थी। मुख श्वेत अथवा पीला, भूषण हलके, दूसरों के सहारे से चलना, बोली धीमी", इत्यादि।

तस्य पांडुवदनाऽल्पभूषणा सावलंबगमना मृदुस्वना।
राजयक्ष्मपरिहानिराययौ कामयानसमवस्थया तुलाम्॥

ऐसे हेतुओं से मेरी बहुत वर्षों से उत्कट इच्छा है कि भागवत का आद्योपांत सरस पद्यमय हिन्दी मे अनुवाद होता, जैसा तुलसीदास जी ने रामायण का कर दिया है। रामायण से मर्यादापुरुष का सर्वांगीण चित्र हम लोगों की आँखों के सामने आ जाता है। उत्तम पुत्र, उत्तम पति, उत्तम भ्राता, उत्तम प्रजापालक, उत्तम मित्र, उत्तम शत्रु, उत्तम वीर, उत्तम स्वामी, उत्तम पिता, इन सब भावों का एकत्रीभूत चित्र रामायण मे खींचा है। मधुकर गीत से अतिमानुष परम पुरुष का एक ही रूप देख पड़ता है, अर्थात् गोपीजन के आत्यन्तिक

प्रेम और विरह के भावों के भाजन। इतने से हमारा काम नहीं चलता, प्रत्युत हानि हो रही है। हम को तो उनके सभी रूप चाहियें। यह ठीक है कि कृष्णावतार मर्यादावतार नहीं माना जाता है, क्योंकि इन के चरित्र अतिमानुष हैं साधारण जन के अनुकरणीय और निदर्शनरूप नहीं हैं। इसी लिये स्वयं भागवत में कहा है, "ईश्वराणां वचः सत्यं, तथैवाऽऽचरितं क्वचित्"। अर्थात "ईश्वरों के उपदेश सब सच्चे और मानने योग्य होते हैं, पर उन के आचरण कोई कोई ही ऐसे होते है, सब ही अनुकरणीय नहीं होते।' पर द्वापर और कलि मे धर्म कर्म के संकर, और द्वापर अर्थात् संशय, और जीवों मे परस्पर कलि अर्थात् कलह, होते हैं, उन के समझने के लिये, और उनकी ग्रन्थियां सुलझाने के लिये, आवश्यक है कि इस अवतार का संपूर्ण चरित, जो द्वापर और कलि की संधि मे हुआ, अच्छी तरह से जाना और समझा जाय। तभी "अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि (ष्यति) मा शुचः" का अर्थ ठीक मन मे बैठेगा। अर्थात् 'अहम् अहम्', 'मै मै', इस चेतन रूप से जो परमात्मा सब प्राणियों मे व्याप्त है, वह अवश्य मोक्ष दे सकता है, क्योंकि इस 'अहम्' की व्यापकताको पहिचानना, उस की परमात्मता को जानना, ही तो जन्म मरण के भय और शोक मोह आदि सब 'पापों' से मोक्ष पाना और अजर अमर हो जाना है।

सम्पूर्ण भागवत का अनुवाद

ऐसे हेतुओं से, मुझे बड़ा आश्चर्य और खेद है कि भारत-वर्ष के हिन्दी कवियों ने भागवत के सर्वजनीन अनुवाद की ओर क्यों नहीं ध्यान दिया। अच्छे अच्छे, कवित्व शक्ति से सम्पन्न,

कवि, हिन्दी भाषा के हो गये हैं, और हो रहे हैं। और देखते भी हैं कि तुलसीदास जी की रामायण क्या काम कर रही है, और तीन सौ वर्ष से कैसा ज्ञान का दीपक, भारतवर्ष के गांव गांव मे, पराधीनता के अंधकार मे, वाले हुए है। यह भी देखते है कि सूरदासजी की सूरसागर की कैसी छिन्नभिन्न अवस्था हो रही है। पर किसी ने इस ओर जतन नहीं किया कि हिन्दी मे 'रामायण' के ऐसी 'भागवत' भी तयार हो जाय, और उस अंधियारे को दूर करने मे सहायता दे। रीवा के एक भूलपूर्व महाराज ने हिन्दी मे पद्यमय अनुवाद छपवाया, पर वह किसी कमी के कारण जनता का हृदयग्राही और प्रचलित नहीं हुआ।

मैने कई जान पहिचानों से, जिनको कवित्वशक्ति है और कविता करते है, प्रार्थना की, कि आप लोग छोटे छोटे दो दो चार चार पद, अथवा छोटे काव्य नाटक ही, रचने मे अपनी शक्ति का व्यय न करके, यह बड़ा काम उठाइये। और यदि एक को बहुत भार जान पड़े तो यहाँ भी "संघे शक्तिः कलौ युगे" इस न्याय से काम लीजिये, और एक एक स्कंध, अथवा दस दस पांच पांच अध्याय, अपनी अपनी रुचि के अनुसार, बांट कर, और भक्ति के द्वारा भगवद् भाव का अपने मन मे आवाहन कर के, यह काम कर डालिये।

पर किसी ने इस ओर अब तक रुचि नहीं की।

भागवत का जो संपूर्ण रूप है उसी से उस की भी महिमा और कृष्णावतार की भी महिमा जानी जा सकती है। एक ही अंश से नहीं। व्यासजी ने एक वेद के चार विभाग करके उन का पुनः संस्करण कर के चार वेद बनाये, महाभारत लिखी, पुराण बनाये, ब्रह्मसूत्र लिखे। तौ भी उनको संतोष नहीं हुआ। नारदजी ने उन को उपदेश दिया, कि आपने ज्ञान और

कर्म का विशेष वर्णन किया है, भक्ति के साथ मिला कर कहिये, तब सन्तोष होगा। इस पर इन्हों ने भागवत रचा और शुक को सिखाया।

न गोदोहनमात्रं हि गृहेषु गृहमेधिनां।
अवेक्षते महाभागस्तीर्थीकुर्वंस्तदाश्रमं॥

शुक की कथा कहा कहियें।
अचरज प्रीति हरष परमादर सानि मनहि मन रहियै,
यह पुरान बालक घरवारन के घर उतनिहि वेरि सहै,
जब लौं गौ को दूध दुहानो अजुरिन नाहिं गहै,
उन गेहन कौ भाग्य बढ़ावत तीर्थ बनावत फिरत रहै।

शुक ने परीक्षित को सुनाया, जिसके रस से उनको अनशन व्रत का भी दुःख जान ही न पड़ा।

नैषाऽतिदुःसहा क्षुन् मां त्यक्तोदमपि बाधते।
पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजाच्च्युतं हरिकथाऽमृतम्॥

शुक सों कहत परीक्षित राजा अनशन व्रत धरे—
तन झुरात दुःसह पियास मोहिं जानिहु नाहिं परै,
जब कौ वदन कमल तें तुमरे हरि गुन रस निसरै,
तौन अमृत कौ मन हमार अति लोलुप पान करै,
स्थूल देह की सुधि बिसारि सब सूक्ष्म प्रान भरै।

इस कथा के ही कारण, राजा परीक्षित ने ऋषिपुत्र के शाप को ईश्वर का बड़ा अनुग्रह माना। नारद ने भी व्यास से अपने पूर्वजन्म की कथा कहते ए यही कहा था कि हानि को लाभ समझना चाहिये। बाल्यावस्था मे उनकी माता का देहान्त हो गया।

एकदा निर्गतां गेहाद् दुहन्तीं निशि गां पथि।
सर्पोऽदशत् [illegible]पृष्टः कृपणां कालचोदित॥

तदा तद् अहमीशस्य भक्तानां शमभीप्सतः ।
अनुग्रहं मन्यमानः प्रातिष्ठं दिशमुत्तरां ॥
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ।
चतुर्विधा भजंते मां जना॰ सुकृतिनोऽर्जुन ॥
यस्याऽनुग्रहमिच्छामि तस्य सर्वं हराम्यहम् ॥

इक दिन माता गायन दूहन घर ते बाहर जो निकसी,
अंधियारे पथ चलत छुवानी सांपिन बाके पायँ डँसी,
माता कृपन ईश काल बस परलोकन मे जाइ बसी ।
ईश आतमा अन्तर्यामी कहत पुकारि पुकारी,
जाको चहौं अनुग्रह वाकी छीनौ संपद सारी,
संपद खोइ, होइ आरत अति, परम अर्थ अर्थावै,
जिज्ञासा करि, ज्ञान पाइ, तब सब जग मे मोहि भावै,
माटी कांच खोइ, रोइ, मोहि धन अनंत कौ पावै ।
सो मै सीस नवाइ सह्यौ अति विपता मातु वियोगा,
भक्तन पर यह ईस अनुग्रह, अस समुझ्यौ दुख भोगा ।

ऐसा समुझ कर, पूर्वजन्म मे, बालक नारद घर छोड़ जंगलों की ओर चल पड़े ।

स्फीतान् जनपदांस्तत्र पुरग्रामव्रजाकरान् ।
खेटखर्वटवाटीश्च वनान्युपवनानि च ॥
चित्रधातुविचित्राद्रीन् इभभग्नभुजद्रुमान् ।
जलाशयान् शिवजलान् नलिनीः सुरसेविताः ॥
चित्रस्वनैः पत्ररथैः विभ्रमद्भ्रमरश्रियः ।
नलवेणुशरस्तम्बकुशकीचकगह्वरम् ॥
एक एवाऽतियातोऽहं अद्राक्षं विपिनं महत् ।
घोरं प्रतिभयाकारं व्यालोलूकशिवाऽजिरम् ॥
परिश्रान्तेन्द्रियाऽत्माऽहं तृट्परीतो बुभुक्षितः ।

स्नात्वा पीत्वा ह्रदे नद्या उपस्पृष्टो गतश्रमः ।
आत्मानमात्मनाऽऽत्मस्थं यथाश्रुतमचिन्तयम् ॥

गिरि में चल्यौ दिशा उत्तर कौं, देखत विस्तृत देशन ,
पुर अरु ग्राम रु व्रज अहिराने, वाटी वन अरु उपवन ,
अरु धातुन की खान विविध विध, झरना भरी तराईं ,
विविध धातु रंग रँगे पहारन, अरु जंगल हरियाईं ,
पेड़ गिरावत बड़े दँतारे गज, अरु निर्मल नीरा
ताल, जहां विकसी नलिनी, जिन सेवत देव शरीरा ,
अति मीठे स्वन बहु विध पक्षी कूंजत, गूंजत भौंरा ,
नरकट सरई बास कास अरु बांसिन के जहँ झौंरा ,
सर्प व्याघ्र फुफकार गरज जहँ हृदय कँपावत घोरा ,
इत शृगाल अरु घूकहु रोवत, उत नाचत बहु मोरा ,
अरु झिल्ली झंकार चहूँदिसि सतत मचावत सोरा ।
यह सब देखत सुनत चलत जब इन्द्रिय तन मन थाके ,
फल कछु खाइ, पाइ सलिलहु कछु, ध्यान कियौ मैं वाके ,
मुनि जनते मैं सुन्यो रह्यो बहु अनँत नाम गुन जाके ।

ऐसे प्रदेशों को देखते, बालक, भगवान् की कृपा से ही भगवान् को खोजता हुआ, उत्तरा खंड मे जा पहुँचा, और वहाँ समाधि मे उसने अपने अभीष्ट का दर्शन पाया, जिस से बढ़ के और कोई लाभ नहीं है ।

यह भागवत धर्म की महिमा भागवत ग्रन्थ मे कही है । और दूसरे देश मे भी उत्तम जीवो ने इस सिद्धान्त को पहिचाना है । शेख सादी ने भी कहा है ।

न गुम् शुद् कि रूयश् ज़ि दुनिया बिताफ्त ,
कि गुम् गश्तए ख़ेश रा बाज़ याफ्त ,

अर्थात् जिस ने दुनिया को खोया, उस ने अपने को पाया ।

भागवत को प्रायः लोग कृष्ण की भक्ति के मार्ग का ग्रन्थ समझते है, पर उसकी स्वयं प्रतिज्ञा अद्वैतवाद की है। हां, अति सुन्दर भक्ति के भावों और शब्दों मे उस ने ज्ञान को सान दिया है। इसी कारण से तो 'अद्वितीय' ग्रन्थ हो रहा है, और इसी कारण से उस के अच्छे अनुवाद की आवश्यकता है।

वदंति तत्तत्त्वविदः तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

स वेद धातुः पदवीं परस्य दुरंतवीर्यस्य रथाङ्गपाणेः।
योऽमायया संततयाऽनुवृत्या भजेत तत्पादसरोजगन्धम्॥
अथेह धन्या भगवन्त इत्थं यद्वासुदेवेऽखिललोकनाथे।
कुर्वन्ति सर्वात्मकमात्मभावं, न यत्र भूयः परिवर्त्त उग्र.॥

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्यसौ भागवतोत्तम.॥
इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसंमितं।
उत्तमश्लोकचरितं चकार भगवान् ऋषि.॥
सर्ववेदेतिहासाना सारं सारं समुद्धृतं।
निःश्रेयसाय लोकस्य धन्यं स्वस्त्ययन महत्॥
कृष्णे स्वधामोपगते धर्मज्ञानादिभि. सह।
कलौ नष्टदृशामेष पुराणाऽर्कोऽधुनोदितः॥

वाही कौ पुनि तत्व कहतु हैं सत कौ है जिन जाना,
सब दुजागरी रहित, शून्य दुविधा सों, अद्वय ज्ञाना,
यही ब्रह्म, याही परमातम, याही है भगवाना।
सब जीवन कौ जीव एक ही, सब तन अँग इक तन के,
इक सांचे के झूठ विविध विध, सपना सब इक मन के।
पुण्य तीर्थ की सेवा होवै अरु गुरुजन चरनन की,
तब श्रद्धा शुश्रूषा उपजै हरि गुन गान सुनन की।

परम विधाता, वीर्य अनन्ता, कालचक्र जा के हाथ नचै,
वा की गति वहु सोइ जन जानै जिन के मन मे भक्ति मचै—
आतम भक्ति, शुद्ध, विनु माया, निश्छल, नाम र रूप विना,
जिन मे छिपि नित घन अविद्या, भरमावे जन रैनदिना,
जे परमातम चरन कमल की गध लेत है, मगन सदा,
प्रवृत्ति निवृत्ति की अनुवृत्ति करते, मायाजाल न परै कदा।
वासुदेव, सव लोकनाथ जो, परमातम, जग जेहि मे,
सव की आतम, मेरो आतम, मै वा मे, वह मोहि मे,
मै, चेतन, सव को आधार जो, मै ही सव मे वासी—
अस भावे ते आपु भये भगवान, धन्य, अविनासी,
परम धाम को पहुँचे, जह नहिं आवागम की फासी।
यह पुरान भागवत नाम को, वेद तुल्य अर ब्रह्म भर्यो,
उत्तम कीर्ति, पुण्य नाम अति, कृष्णचरित के व्याज कर्यो,
ऋषि भगवान व्यास, जो होवे सव लोकन को परम भलो,
जाको मुनि नि श्रेयस बोलत, यही अर्थ मुनि जतन चल्यो।
और, नाहि केवल नि श्रेयस, लोक सुख हु यह ल्यावै,
आतमज्ञान विना न धर्म है, वा विनु अर्थ न पावै,
अर्थ विना न काम उत्तम है, वरु ज्यों पशुहि नचावै।
जे नहि जानत जीव कहा है, जन्म कहा, अरु मरन कहा,
हम है कौन, कहा हैं आये, कह ते आये, करन कहा,
दु ख कहा, सुख कहा, शाति संतोप कहा, इहलोक कहा,
परलोक कहा, अरु जीवन कौ पुरुषारथ, हर्ष रु शोक कहा,
पुण्य पाप जे सुख दु खकारण तिनको होवै सार कहा—
जे नहि जानत इन तत्वन को, वे नर सद् व्यवहार कहा
साधे, औ लै जावैं सङ्गिन साथिन कौ भव पार कहा।
विना ज्ञान विनु धर्म सधे नर, अर्थ काम के लोभा,

विप्र, राज, अरु धनी पुरुष, सब लूट मचाइ अशोभा,
अंधन को ज्यों अंध चलावत, जग नाशत करि क्षोभा।
जे जानत अध्यात्म तत्व को, वे ही हैं यह लायक,
सौंप्यौ जाय काज उनको सब, वनिज, राज, अध्यापक;
स्वार्थ रोकि वे ही परार्थ को भली भाँति ते साधि सकैं,
पिता मातु ज्यों बालकसेवा सदा करैं अरु नाहिं थकैं।
अंतर्यामि-रूप सब ही मे बसत मोहिं जे भावैं,
अरु मो मे सब ही कौ, वे ही सत भागवत कहावैं।
सो सब ज्ञान धर्म भरि या मे, यह पुराण मुनि धन्य रच्यो,
स्वस्ति रूप, कल्याण भरो, जत दुहुँ लोक-परलोक बच्यो।
अति दयालु, सब के हित कारण, मुनि विरच्यौ यह ग्रन्थ महा,
सब वेदन इतिहासन हूँ कौ जा मे सारहि सार कहा।
कृष्ण जबहिं निज धाम सिधारे, धर्म ज्ञान तिन सङ्ग गये;
उनकौ फेरि बुलावन जग मे, कृष्ण नाम कौ व्याज लिये,
यह पुराण, कलि-अंध लोक हित, सूर्य देव इव उदय भये।
जेई दास भगवान कहैं यह, जेइ दास भगवान सुनै,
तेई चीन्हि भगवान गुनन कौ, निर्गुन सगुन अभेद गुनै॥

यदि हमारे वर्त्तमान कवियो मे, ऐसी पवित्र, मानस और पार्थिव, आभ्यंतर और बाह्य, तीर्थों की, और गुरुजन के चरणो की, सेवा का पुण्य उदय होगा, तथा हिन्दी-भाषी भारतवासियों मे भी, तब वे इन को यह समग्र कथा सुनाने का यत्न करेंगे, और ये सुनेंगे। मेरा ऐसा भाग्य नहीं, ऐसा पुण्य नहीं, ऐसी कविता शक्ति नहीं, जो इस उच्च कोटि की भगवत्सेवा कर सकूँ। मेरे लिये, मेरी क्षुद्रता के अनुरूप, दूसरी बहुत नीची कोटि की चाकरी की आज्ञा दी गई है; सो भी नहीं निबहती। इसलिये इस महाकार्य के लिये दूसरों से प्रार्थना करता रहता हूँ।

रसों की संख्या ।

मैंने भागवत को नव-रस-मय अथवा एकादश-रस-मय कहा। रसों के सम्बन्ध में मुझ को यह प्रश्न उठा करता था कि क्यों नौ ही, अथवा दस या ग्यारह ही । इस से कम वेश क्यों नहीं । और ये ही नौ या दस या ग्यारह क्यों । अक्सर कवियों और संस्कृत साहित्यशास्त्र के जानकारों से चर्चा हुई । पर सब ने प्राय यही कहा कि यह वस्तुस्थिति ही है, इस मे हेतु के अन्वेषण का स्थान नहीं, जैसे, महाभूत, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, पाच ही पाच क्यो, इसका पता नही । पर इतने से मेरा संतोष नहीं हुआ । 'वस्तुस्थिति' शब्द से काम चल जाय, तो संसार मे जो कुछ है और हो रहा है, सभी 'वस्तुस्थिति' है, कही भी 'क्यो' का अवसर नहीं । मै हेतु ढूंढ़ता रहा, और एक प्रकार से मै ने अपने मन का सम्बोधन कर लिया । उस प्रकार को आपके सामने, वहुत थोड़े मे, सूचना के रूप से, रख देना चाहता हूँ ।

"सुखानुशयी रागः । दुःखानुशयी द्वेषः ।" जिस वस्तु से सुख मिलै उस की ओर राग, जिस से दुःख मिलै उस की ओर द्वेष, उत्पन्न होता है । यह प्रायः सर्वतंत्रसिद्धात है । अर्थात्, इच्छा के मूल रूप दो हुए, राग और द्वेष । काम और क्रोध इन्हीं के पर्याय है । अपने से बड़े अथवा अधिक बलवान् की ओर, अपने बराबर की ओर, अपने से छोटे अथवा हीन और दुर्वल की ओर, होने से, इन दोनों मे से प्रत्येक के तीन तीन भेद हो जाते हैं । राग के भेदों के प्रकार और श्रेणियां ये हैं, (१) आदर, सम्मान, बहुमान, पूजा आदि, (२) प्रणय, स्नेह, प्रीति, सख्य आदि, (३) दया, करुणा, अनुकम्पा आदि, तथा द्वेष के, (१) शंका,

साध्वस, भय आदि, (२) क्रोध, कोप, रोष आदि, (३) अपमान, तिरस्कार, घृणा, जुगुप्सा, वीभत्सा, आदि।

महतां वहुमानेन दीनानामनुकम्पया।
मैत्र्या चैवात्मतुल्येषु न तापैरभिभूयते ॥

इत्यादि भागवत के श्लोको मे इस राशीकरण की सूचना मिलती है।

काम अथवा राग के जो प्रणय, स्नेह, प्रीति, सख्य आदि रूप हैं, उनका शृंगार से संवन्ध है। वहुमान, पूजा आदि का अद्‌भुत से। ईश्वर की और प्रकृति की अद्भुत आश्चर्यमय विभूतियो को देखते विचारते पूजा का भाव हृदय मे उत्पन्न होता है। दया, अनुकम्पा, आदि का स्पष्ट ही करुण रस से सम्वन्ध है। एवं भय का सम्वन्ध भयानक से। क्रोध का रौद्र से। और तिरस्कार, जुगुप्सा, वीभत्सा का वीभत्स से।

हास्य और वीर ये मिश्रित रस हैं। हास्य मे कुछ अंश स्नेह, प्रीति, का है, कुछ अंश तिरस्कार का। विना दूसरे को वेवकूफ वनाये, अथवा किसी अन्य प्रकार से दूसरे को छोटा और अपने को वड़ा किये, हास्य पैदा नही होता। जहां तिरस्कार का अंश वढ़ा और प्रीति का अंश घटा, वहां हंसी के वदले रोना शुरू हुआ। इसी लिये कहावत प्रसिद्ध हो गई है, "रोग का घर खांसी, झगड़े का घर हांसी।" स्नेह का अंश अधिक वनाये रखना, यही नर्मालाप की सात्विकता और वुद्धिमत्ता है। साहित्य-शास्त्रियों ने छः प्रकार की हंसियां गिनाई हैं। उनमे राजस तामस गवाँरों की हंसियां, अपहसितं, अतिहसितं, आदि नामो से कही हैं।

एवं वीररस भी मिश्र है। युद्धवीर मे शत्रु के लिये रौद्रता और भयंकरता होना ही चाहिये। उसका तिरस्कार भी होना

चाहिये। पर एतावता पर्याप्त नहीं। व्याघ्र और वृक आदि पशु भी इन गुणों को दिखाते हैं, जब मांसपिंड के लिये आपस में लड़ते हैं। पर उनको कोई शूर नहीं कहता, क्रूर ही कहता है, अथवा यदि शूर कहता है (—देसी कहावत में, "चीटा, साँप, जंगली सुअर, और बाघ आधा—ये साढे तीन शूर", प्रसिद्ध हैं—), तो उन पर आक्रमणकारी (अतः दुष्ट) के दमन के धर्म का काल्पनिक अध्यारोप कर के। वीर रस की संपत्ति के लिये दया का अंश आवश्यक है। किसी दुर्बल की रक्षा के लिये, किसी की अनुकंपा से, जब सबल का वारण किया जाय, और अपने को जोखिम में डाला जाय, तभी वीर-रस सम्पन्न होता है। राजा का एक मात्र धर्म है—

दुष्टानां निग्रहश्चापि शिष्टानां चाप्यनुग्रहः ।

मरजाद छाडि सागर चलै, कहि हमीर परलय करन,
अलादीन पावै न तो, मैं मगोल राख्यो सरन।

विना अपने ऊपर जोखिम उठाये भी वीर रस की सम्पत्ति नहीं।

तिमिरकरिमृगेंद्रं बोधकं पद्मिनीनां

में शत्रु-दमन और दुर्बलपोषण दोनों हैं, पर सूर्यदेव को कोई जोखिम नहीं उठानी पड़ती, इस लिये इस भाव में वीरता का उद्बोधन नहीं होता, अथवा यदि है तो कृत्रिम आलंकारिक उत्प्रेक्षा मात्र ही है।

इन बातों को विचारते हुए, ऐसा मन में आता है कि यद्यपि साहित्यशास्त्रियों ने निर्णय किया है कि "रसेषु करुणो रसः," पर यह ठीक निर्णय नहीं किया। "वीर एव रसः स्मृतः" ऐसा

कहना चाहता था। अथवा यों समाधान किया जा सकता है, कि वीर रस मे भी उत्तम सात्त्विक अंश दुर्बल के लिये करुणा और उस की रक्षा की कांक्षा ही है, और उस के रौद्र, भयानक, आदि सहचारी अंशो की प्रेरक है।

खेद का स्थान है कि हिन्दी कविता मे वीर रस के ग्रंथ नहीं के बराबर हैं, कामाग्नि और विरह और शृंगार सम्बन्धी भावो और शब्दों की नटबाज़ी, यही अधिकतर भरी है।

बिहारी की सतसई पर टीका पर टीका बनती चली जा रही है, उस की नकल पर नकल की जा रही है; 'हम्मीरहठ' की चर्चा सुनने मे नही आती, 'शिवाबावनी' का प्रचार भी नहीं के बराबर है। हां, कहीं कही, गावो मे, जहाँ बाहरी और भीतरी हवा अधिक विकृत नही है, प्रकृत्यनुसारिणी है, और जनता हृष्टपुष्ट है, शहरों की बलनाशक नज़ाकत और बदबू से दूर है, वहां 'आल्हा' की गीत अलबत्ता यदा कदा सुनने मे आ जाती है, और, गाते गाते, और सुनते सुनते, लोग कभी कभी ऐसे जोश से भर जाते हैं कि सचमुच का युद्ध करके 'रण-रस' का स्वाद लेने लगते हैं। ऋषियो के बनाये काव्यो मे 'वीर' और 'करुणा' अर्थात् 'भूतदया', के ही भाव और रस प्रधान हैं। "परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृतां।" शृङ्गार की अति, भारत के अधःपात की कारण भी है और कार्य भी। शृंगार का दुरुपयोग एक ओर भ बहुत हानिकारक हुआ है, भक्ति के साथ बांध दिया गया है। तत्रापि, रुक्मिणी-कृष्ण की चर्चा तो सुन नहीं पड़ती, राधा-कृष्ण पर न जाने कितनी कविता-शक्ति खर्च कर डाली गयी है, और नये पंथ निकल आये हैं जिनमे अनाचार व्यभिचार को ही धर्म बना डाला है। 'राधा' का अस्ल अर्थ तो दूसरा ही है।

मूलप्रकृतिरूपिण्या संविदो, जगदुद्भवे ।
प्रादुर्भूतं शक्तियुग्मं, प्राण-बुद्धि-अधिदैवतम् ॥
राधा दुर्गा-इति यत्प्रोक्तं, रहस्यं परमं हि तत् ।
जीवानां चैव सर्वेषां नियन्तृ प्रेरकं सदा ॥
राध्नोति सकलान्कामांस्तस्माद्राधेति कीर्तिता ॥
सर्वबुद्ध्यधिदेवीयम् अन्तर्यामिस्वरूपिणी ।
दुर्गसंकटहन्त्रीति दुर्गेति प्रथिता भुवि ॥

(देवी भागवत, स्क० ९, अ० ५०)

परमात्मा की मूल प्रकृति रूपिणी संवित् चेतना से, जगत् की उत्पत्ति के समय, दो शक्तियां प्रादुर्भूत हुई, बुद्धि-शक्ति जिस से ज्ञानेन्द्रियाँ निकलीं और जिसका सांकेतिक नाम 'दुर्गा' रखा गया, तथा प्राण-शक्ति जिस से कर्मेन्द्रियाँ निकलीं और जिसका नाम 'राधा' हुआ। एवं करुणा का भी दुरुपयोग ऐसा ही भक्ति के साथ बांध कर किया गया है। जैसे, भारत के अग्रणी, गीता के उपदेशक, जगत् के शिक्षक शासक, दुष्टों के दमयिता, अद्वितीय प्रवीर, कृष्ण भगवान् के स्थान पर "साँवलिया जी, रणछोड़ जी, राधिकावल्लभजी", और "त्रिविक्रम" के स्थान पर "त्रिभंग जी, मुरलीवाले जी, रासलीला और माखन चोरलीला और चीरहरणलीलावाले जी" ही रह गये है, वैसे ही "मो सम नहीं पतित दूजो, तो सम नही पावन", "पतितता मे मैं ही यकता हूँ, अपनी सब करुणा मेरे ही ऊपर खर्च कर दीजिये", दीनता की हद कर देने का अभिमान, नम्रता का अहंकार, हो गया है, अपने ही ऊपर करुणा का रस चख कर लोग कृत-कृत्य होने लगे। अस्तु। संतोष का स्थान है, कि इधर जब से महात्मा गांधी ने कांग्रेस के वहित्र की पतवार अपने हाथ मे ली है, और नये रूप से देश मे राष्ट्रीयता और आत्मसम्मान के

भाव जागे हैं तव से कुछ वीरकविता की, तथा अन्य रसों की गद्यपद्यमयी कविता की, ओर भी जतन हो रहा है।*

नवाँ रस शान्त कहा जाता है।

> शृंगार-हास्य करुण-रौद्र-वीर-भयानकाः ।
> बीभत्सोऽद्भुत इत्यष्टौ शांतस्तु नवमो रसः ॥

सच पूछिये तो शुद्ध शांत भाव मे रस पहिचानना कठिन है। "न सुखं न च वा दुःखमित्येपा परमार्थता।" शांति की जो परा काष्ठा, जो परम अर्थ है, विदेह कैवल्य, उस मे न सुख ही है न दुःख ही। इस लिये उस मे रसत्व नही हो सकता। रस से तो आनन्द होता है, यह सिद्धान्त ही है। पर यह भी अनुभव से सिद्ध है कि वैराग्य की, तथा निराकार परमात्मा की शुद्ध भक्ति की, कविता से एक विलक्षण रस का आस्वाद होता है, जो रस अपर आठो से कुछ अलग है। तो यह मानना पड़ता है कि परा काष्ठा की नही, उस से कुछ नीचे के दर्जे की, शांति से, जीवन्मुक्तावस्था से, सदेह कैवल्य से, इस शांत रस का सम्बन्ध है।

---

* यह व्याख्यान सन् १९२३ ई० मे हुआ था। तब से तेरह वर्ष हो गये। प्रति वर्ष विविध विषयों के सैंकडों ही ग्रन्थ हिन्दी मे निकलते रहे है। हिन्दी साहित्य का रूप बहुत बदलता जा रहा है। मुझे कहने का अधिकार तो नहीं है, क्योंकि इस सब साहित्य से परिचित नहीं के समान हूँ, तो भी मुझे ऐसा भान होता है कि सर्व साधारण की, आम जनता की, उपयोगी और बोध्य पुस्तकें कम बनी हैं, 'नागरिकों' के ही शौक़ समझ की ज्यादा हैं, और जो हैं उन मे 'चतुः-पुरुपार्थ-साधकता' के सूत्र से व्यूहन संग्रन्थन नहीं है, जैसे मोती के दानों का रेशम से होता है। भ०—१९३६ ई०।

सूक्ष्म दृष्टि से देखिये तो अनुभव होगा कि वैराग्य भी क्रोध ही का रूपांतर है, और शुद्ध भक्ति तो स्पष्ट ही राग का विकार नहीं उत्कृष्ट संस्कार है।

भक्तिः, परेशानुभवो, विरक्तिरन्यत्र, चैष त्रिक एककालः। (भागवत)

सर्वजगद्व्यापी परमेश का ज्ञान, उन पर भक्ति, सक्ति, रक्ति, उन सनातन से अन्यत्र अर्थात् नश्वर सांसारिक स्वार्थी पदार्थों की ओर विरक्ति वैराग्य—यह तीन एक साथ ही उदय होते हैं। तुलसीदासजी ने साकार ईश्वर की सात्त्विक भक्ति से, आश्रित की आश्रयदाता पर भक्ति से, आप्लावित, मानव जीवन के व्यवहार का परिष्कार करने वाला ज्ञान बताया है। सूरदास जी ने, साकार ईश्वर की बाललीला के, कुमारलीला के, नंद, यशोदा, गोपी, उद्धव आदि के भावों के, अति ललित वर्णन से, वात्सल्यमयी, प्रेममयी, पूजामयी, उत्तम भक्ति का रूप दिखाया है। कबीरदासजी ने, वैराग्य से निषिक्त, निष्णात, शराबोर, भीतर बाहर भीगा, निराकार, स्वाश्रयी, ज्ञान और योग सिखाया है। भागवत मे तीनो हैं।

वैराग्य के भी, अन्य भावों के ऐसे, तीन भेद होते हैं, सात्त्विक, राजस, और तामस।

> अपकारिणि चेत् क्रोध, क्रोधे क्रोध. कथ न ते।
> धर्मार्थकाममोक्षाणां सर्वेषां परिपंथिनि॥

ऐसा श्लोक महाभारत के शांति पर्व मे मिलता है। जिस वस्तु से, जिस प्राणी से, हमारा अपकार होता है, उस पर हमारे मन मे क्रोध जागता है, तो चारो पुरुषार्थ की सिद्धि मे जो बाधक है उस क्रोध पर क्रोध होना तो अत्यंत उचित है। दूसरे प्रकार के क्रोध कुछ तामस हों, कुछ राजस हो, पर यह क्रोध पर क्रोध, तथा ऐसे ही अन्य सांसारिक लोभ लालचों, और

स्वार्थी भावों, और अनित्य और क्षणभंगुर पदार्थों, पर अनास्था—यह सब सात्त्विक क्रोध अर्थात् वैराग्य है।

ऐसे ही, भक्ति-सूत्रों मे, भक्ति के पर्याय शब्दों मे, ईश्वर पर परम प्रेम, अथवा अनुराग, ऐसे शब्द कहे हैं। जिस से निर्विवाद सिद्ध है कि राग का ही पवित्र सात्त्विक रूपान्तर भक्ति है। तो अब, जब साधारण शांत भाव मे द्वेष और राग के ये सूक्ष्म रूप वर्त्तमान ही हैं, तब उस मे रस का उद्बोधन होना उचित ही है।

भक्ति को कोई दसवां रस मानते है। तथा वात्सल्य को भी कोई अलग ग्यारहवां रस मानते हैं। पर जो बातें पहिले कही गईं, उन से प्रायः आप लोगो के मन मे भी आ गया होगा, कि एक मूल प्रकृति, इच्छा अथवा वासना, की दो मूल विकृति, और उनकी छः मुख्य विकृति; और तदनंतर, उनके संमिश्रण और संकर से अनंत विकृतियां पैदा होती है। ऐसी विकृतियों को भाव, क्षोभ, संवेग, मनोविकार, आदि नामो से कहते हैं। सब ज्ञानेंद्रियो के विषयों का भी कम वेश ऐसा वर्गीकरण हो सकता है। कम वेश इस लिये, कि इस विषय के शास्त्रो मे ऐकमत्य अभी तक नही हुआ है। पर प्रिय और अप्रिय के भेद के अनुसार, प्रत्येक इंद्रिय के विषय मे दो मुख्य भेद, और तदनंतर कई विकार, देखे जाते हैं। जैसे शब्द मे, उदात्त और अनुदात्त, अथवा मंद्र और तार, तत्पश्चात् सप्तस्वर आदि। रूप अर्थात् वर्ण या रंग मे, शुक्ल कृष्ण, फिर सात वर्ण सूर्य की किरण के, जिन्ही से सूर्य का नाम सप्तसप्ति अथवा सप्ताश्व पड़ा है। स्पर्श मे कोमल और कर्कश, फिर रूक्ष, चिक्कण, आदि। गंध मे सुगंध और दुर्गंध, फिर बहुत प्रकार। एवं रस मे, इष्ट-द्विष्ट, रोचक-शोचक, स्वादु-दुःस्वादु, सुरस-

कुरस, फिर छः प्रसिद्ध मुख्य भेद, मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय। इत्यादि।

मैं पहिले कह आया हूँ कि किन्हीं का मत है, "रसेषु करुणो रसः"। कोई वीर को प्रधान मानते हैं। अर्वाचीन संस्कृत तथा हिन्दी के कवियों की कृतियों से यही अनुमान निकलता है कि उन्होंने शृंगार ही को प्रधान मान रक्खा है। यदि इन लोगों ने अश्लीलाश पर इतना परिश्रम न किया होता, और नख सिख वर्णन को ही कविता की परा काष्ठा कर के न दिखाया होता, तो इन का ऐसा मानना स्यात् सत्-शास्त्र के विरुद्ध न होता क्योंकि मानव-वंश के संतानन का आश्रय इसी पर है। पश्चिम देश मे इस प्रकार के अनावृत वर्णन की चाल कवियों मे नहीं है। अपने यहाँ भी आर्ष ग्रन्थों मे नहीं है, जहां कहीं है, जैसे वाल्मीकि रामायण मे, रामजी के अद्भुत शरीर के वर्णन मे, वहां शृंगार रस के और काम के उद्बोधन के लिये नहीं, किंतु आदर्श पुरुष का, पुरुष-सार का, सर्वांग सुन्दर, सर्वांग बलिष्ठ, शरीर कैसा होना चाहिये—यह शिक्षा सब को देने के लिये। इस प्रसंग मे यह बात याद आती है, कि आर्ष काव्यो मे, उत्तम पुरुष-शरीरों का जितना वर्णन मिलता

---

* यहाँ यह कहना उचित है कि यह बात शब्दत पहिले अधिक सत्य थी, और अब भी प्राय सत्य है, कि लिखी हुई अंग्रेज़ी कविता मे नख सिख वर्णन प्रायः नहीं पाया जाता है, स्त्रियों के प्राय मुख का, और स्त्री पुरुष दोनों के समग्र शरीर का साधारण गोल निर्विशेष शब्दों मे, वर्णन मिलता है, पर अब १९१४-१८ ई० के महायुद्ध के बाद से, पश्चिम के 'दृश्य काव्य' मे, नाटक, 'सिनेमा' आदि मे, तथा चित्रो मे, नग्नता की हद कर दी जाने लगी है।

है उतना स्त्री-शरीरोंका नहीं, और अर्वाचीन संस्कृत हिन्दी कविता मे इसके विपरीत स्त्री-शरीरों का ही वर्णन मिलता है, पुरुष-शरीरों का तो प्रायः है ही नहीं। महाभारत मे, नागरिको की बोल चाल और व्यवहार का वर्णन करते हुए, एक स्थान मे कहा है, "नैवासीद् वाग् अनावृता," बात लपेट कर नज़ाकत नफ़ासत के साथ कही जाती थी, भदेस भोंडे प्रकार से नही। स्त्री पुरुष के नग्न अंगों की नग्न वार्त्ता नख-सिखादि का सब के समक्ष बहुत वर्णन करना, यह प्राकृत जन के अनुरूप हो। तुलसीदास जी ने नहीं किया है। सूरदास जी ने भी प्रायः नहीं ही किया है। हृदय के ही उत्तम सात्विक भावों का प्रायः वर्णन किया है। और उस मे भी, ऐसे प्रामाणिक सर्वादृत सार्वदेशिक कवियों ने अलंकार पर अत्यन्त ज़ोर नहीं दिया है, रस पर ही अधिक ध्यान दिया है। भारतवर्ष मे इधर कितने ही दिनो से संस्कृत मे भी, तथा हिन्दी मे भी, शब्दालंकार पर बहुत अधिक ध्यान हो रहा है, रस पर कम। अलंकार का तो अर्थ यही है कि जो रस को 'अलम्' अर्थात् पूरा करै। जहाँ रस ही नहीं वहाँ शब्दो की नटबाज़ी तो मानों मुर्दे को गहना पहिनाना है। खाद्य, पेय, लेह्य, चोष्य, चतुर्विध षड्रसमय भोज्य पदार्थ नहीं, वर्त्तन के रंग रूप पर बहुत मिहनत। हाँ, वर्त्तन का स्वच्छ होना तो आवश्यक ही है, और सुन्दर भी हो तो सोना मे सुगन्ध; पर रस होना परम आवश्यक है, अलंकार हो या न हो; शरीर सुन्दर पहले, फिर स्वच्छ कपड़े, फिर तीसरे दर्जे मे गहने।

यह सब बात, शृंगार रस के रसों मे प्रधान होने के संबंध मे, उठी है। मै ने पश्चिम देश के एक कवि का उल्लेख किया। वहाँ भी, मनुष्य के स्वभाव के अनुसार, स्त्री पुरुष के प्रेम को,

पद्य काव्य, नाट्य, गद्य आख्यायिका, आदि का प्रधान विषय मानते हुए, उस के संबंध मे अनेक अन्य भावों और वृत्तों अर्थात् घटनाओं का दिखाने वाला कवितामय लेख बहुत है। कालरिज नाम के प्रसिद्ध कवि ने यहाँ तक कहा है—

"आल थाट्स, आल पैशंस, आल डिलाइट्स,
ह्वाटेवर स्टर्स दिस मार्टल फ्रेम,
आल आर बट मिनिस्टर्स आफ लव,
एंड फीड हिज़ सेक्रेड फ्लेम।"

अर्थात्—

सब विचार, सब भाव, हर्ष सब, स्पंद देह के जेते।
'कामदेव' की दिव्य अग्नि के, होम द्रव्य हैं तेते॥

इस सब का हास्यमय प्रतिवाद करने के लिये एक दूसरे कवि ने 'बुभुक्षा देवी' की महिमा की स्तुति एक कविता मे की। 'बुभुक्षा देवी' प्रत्यक्ष ही 'मुमुक्षा देवी' की जेठी बहिन है। बिना भूख और भोग के बंधों का अनुभव किये, मोक्ष का अनुभव हो ही नहीं सकता। जिन के हृदय मे कहिये, उदर मे कहिये, बुभुक्षा देवी विराजमान है, उन के हृदय मे काम और शृंगार के लिये जगह कहाँ। हाँ, क्रोध और रौद्र रस का भले ही बुभुक्षा देवी, अशनाया-पिपासा देवी, का साथ हो, और पौराणिक रूपक मे, काली देवी का रूप, रुधिर की पिपासा से, भयंकर रौद्र कहा ही है। जब क्षुधा-तृषा देवी का संतोष हो जाता है, तब उसके पीछे शृंगारादि की उपासना हो तो हो सकती है, अन्यथा नहीं। तो शृंगार रसको प्रधान न मान के, बुभुक्षा रस को, जिसी मूल 'रस' के यह सब साहित्यिक 'रस' कृत्रिम अथवा छाया रूप हैं, जिसी से उन्हों ने अपना नाम तक मंगनी लिया है, उसी को प्रधान क्यो न माना जाय!

हे महादेवि भूख, तेरा गान करूं,
तेरी पूजा के द्रव्यों का ध्यान धरूं;
नही वह जो तेरी न सेवा करै,
और तेरा ही दम मरते दम तक भरे!

यह पश्चिम के कवि की बुद्धि की स्फूर्त्ति और तबीयतदारी ही नही है। स्वयं भीष्म ने शांतिपर्व मे सिद्धान्तरूपेण कहा है। (अ० १२३).

धर्ममूलोऽर्थं इत्युक्तः, कामोऽर्थफलमुच्यते।
सकल्पमूलास्ते सर्वे, संकल्पो विपयात्मकः॥
विपयाश्चैव कात्स्न्येंन सर्व आहारसिद्धये।
मूलमेतत् त्रिवर्गस्य, निवृत्तिर्मोक्ष उच्यते॥

अर्थात्, अर्थ का, धन का, मूल धर्म है, और फल काम है काम का मूल संकल्प; उसका मूल विपय, विपय जो भी, जित भी, है, सब अंततो गत्वा आहार की सिद्धि के लिये है। य त्रिवर्ग का, धर्म-अर्थ-काम का, मूल है। इन सब से हट जान निवृत्ति, यही मोक्ष है।

पर साथ ही इसके, सर्वज्ञानमय मनु ने कहा है,

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता।
काम्यो हि वेदाधिगम., कर्मयोगश्च वैदिकः॥

और स्वयं वेदवाक्य भी है,

काममय एवायं पुरुपः।

इन सब का समाधान यही है कि बुभुक्षा मे दोनो शामिल है

या देवी सर्वभूतेपु क्षुधारूपेण संस्थिता।

इच्छा देवी का जो मूलस्वरूप है आहार का काम, भो पदार्थ की कामना, जिसी से शरीर का धारण होता "शरीरमाद्यं खलु सर्वसाधनं", उस मे सब कुछ अंत

है। पर, जो काव्य-साहित्य का प्रयोजन है, उसकी, शुद्ध भूंग के रस से, सर्वांगीण संपत्ति नहीं होती, किन्तु स्त्री-पुरुष, पति-पत्नी, का जो परस्पर प्रेम कहिये, चाह कहिये, भूंग कहिये, उसके रस से ही होती है।

स्त्री-पुरुष का मूल रूप प्रकृति-पुरुष है। इन्हीं के अनंत रूपों की अनंत क्रीड़ा द्वंद्वमय संसार है। उनके बीच में जो उभयरूपिणी प्रवृत्ति-निवृत्ति, बंध-मोक्ष, अविद्या-विद्या, राग-द्वेष का, रूप रखने वाली इच्छा है, उसी के रूप रूपांतर सब ही मनोविकार हैं। इस अनादि आदि-सम्बन्ध में पति-पत्नी का (तामस-राजस) परस्पर काम-भाव भी अंतर्भूत है, तथा माता पुत्र, पिता-दुहिता, भ्राता-स्वसा, के शुद्ध सात्त्विक (तथा राजस) भाव भी सब अंतर्भूत हैं। इसी से, सच्चे पति-पत्नी एक दूसरे को कह सकते हैं, जैसा शायद किसी अवसर पर राम और सीता ने एक दूसरे को कहा हो—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बंधुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देवि देव॥

वाल्मीकि रामायण में शोकाकुल दशरथ ने शरीर छोड़ते समय, कौसल्या के लिये कहा है—

भार्यावद् भगिनीवच् च, मातृवच् चोपतिष्ठते।

ऐसे विचारों से भी सिद्ध होता है कि, यदि शृंगार रस का ऐसा विस्तृत अर्थ किया जाय तो, अवश्य ही इस में सब रस अन्तर्गत हैं, अथवा इस से और सब उत्पन्न होते हैं, जैसे पति-पत्नी, पुरुष-प्रकृति, के राग-द्वेषमय मूल सम्बन्ध से और सब प्रकार के सम्बन्ध उत्पन्न होते हैं।

इस सब विषय का सविस्तर प्रतिपादन इस स्थान और समय पर नहीं हो सकता। मैं ने इस का विचार अलग ग्रन्थों

मे किया है। पर वे ग्रन्थ अंग्रेज़ी भाषा मे लिखे गये हैं। कई मित्रों ने इस कारण से मेरा स्नेह पूर्वक उपालम्भ भी किया है, कि क्यों तू ने हिन्दी मे नहीं लिखा। उन से मेरी विनीत प्रार्थना यही है, कि यदि आप उन विचारों को अच्छा समझते हैं, तो अब आप उन को हिन्दी का लिबास पहिना कर इस देश मे सैर सफ़र कराइये। अंग्रेज़ी मे होने के कारण इतना तो लाभ हुआ कि, एक पुस्तक का चार पाँच अन्य विलायती भाषाओं मे अनुवाद होकर, वे विचार, जो भारतवर्ष के अतिप्राचीन अध्यात्म-शास्त्र के सिद्धान्तों के सर्वथा अनुयायी और प्रदर्शक मात्र हैं, पृथिवी के,कई अन्य देशो मे भ्रमण कर आये। और भी आप सोचें। अपना घर कितना भी अच्छा हो, पर यदि सदा उसी मे रहना पड़े तो कोई भी आदमी घबरा जायगा। जी चाहेगा कि अन्यत्र भी चंक्रमण करें। बाहर घूम आने से, दूसरों के घर देख आने से, फिर अपना घर अच्छा मालूम होने लगता है। इस न्याय से भी, भारतवासियों के लिये, कुछ दिनों, पाश्चात्य विचारों और भावों का, ईश्वर की मर्ज़ी से, अनुभव करना उचित ही हुआ। और यह भी बात है कि सब चीज़ और सब प्रकार अपने घर के, इस समय मे, अच्छे भी तो नहीं हैं। बहुत से दुखदायी विकार भी आ गये हैं। बाहर के ज्ञान के बल से उन मे परिमार्जन परिशोधन की बड़ी आवश्यकता है। "द्विज देवता बरहिं के बाढ़े" की कूपमंडूकता भी छोड़ना ज़रूरी है। इसी लिये ईश्वर की इच्छा हुई कि भारतवर्ष का दूसरे देशों से सम्बन्ध हो। यहां पवित्रम्मन्यता का अहङ्कार बहुत बढ़ गया था। साहित्य मे भी अश्लीलता और दूषित भाव और शब्दाडम्बर और सच्चे और उत्तम रस की शून्यता बहुत बढ़ गयी थी। "किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनां", यह भूला जा

रहा था। ईश्वर के अनुग्रह का एक उत्तम स्वरूप ताडन है, यह मैं नारद जी की कथा मे पहिले कह चुका हूँ।

ऐसे भावों से भावित होकर, और यह देख कर कि कथा बहुत लम्बी हुई जा रही है, और आप लोग थक गये होंगे, मैं एक अद्भुत कविता के नमूने को आप के सामने रख कर कथा समाप्त करता हूँ। कविताकी अद्भुतता यह है कि पूर्वीय देश चीन के एक योद्धा कवि की मूलकृति है। पश्चिमके एक अंग्रेज़ के किये हुए अंग्रेजी आशयानुवाद को मैंने पूर्वीय जापान देश की एक मासिक पत्रिका मे देखा। मुझे ऐसा जान पड़ा कि उस आशय मे, सब के सब, नौ अथवा ग्यारह रस, सूक्ष्म और ललित रूप से, देख पड़ते हैं, तथा वह समग्र आशय इस समय के भारत देश की अवस्था के बहुत ही अनुरूप, और भारत वासियो के लिये क्षिप्राप्रद और उत्साह-वर्धक है। इस लिये मैं ने उसका हिन्दी मे आशयानुवाद कर लिया है।

उचित तो यह था कि किसी प्राचीन भारतवर्ष के ही प्रतिष्ठित कवि की नव रस मय कविता से कार्य समाप्त होता। "मधुरेण समापयेत्"। पर एक तो मुझे अपने देश के हिंदी कवियो का इतना ज्ञान ही नहीं, दूसरे मुझ को यह भी अभीष्ट है कि बेगानो की प्रशंसा कर के अपनो को चुनौती दूँ। इस वास्ते इस 'द्रविड़ प्राणायाम' रूप कविता को, जो चीन से इग्लिस्तान, और वहाँ से फिर जापान, और वहाँ से हिंदुस्तान आई, आपके सामने रखता हूँ। और फिर याद दिलाता हूँ, कि भोजन की वस्तुके स्वाद और रस पर ध्यान दीजियेगा, वाक्यों के अनगढ़पन और शब्दो की अपरिष्कृति पर ध्यान न दीजियेगा। जैसा मौलाना रूम ने कहा है

लफ्ज़ बिगुज़ारी सुये मानी रवी।

कविता का देश-काल-निमित्त यह है, कि किसी प्राचीन समय मे चीन देश की सरहद पर शत्रुओं और डाकुओं ने बहुत उपद्रव मचा रक्खा था। एक सेनापति को आज्ञा हुई कि जाकर उनका दमन करो। सेनापति कवि भी थे। उन्हों ने प्रस्थान के सवेरे अपनी धर्मपत्नी को यह कविता पढ़ के जगाया, और उस से विदा होकर प्रस्थान किया।

"जागु पिया"

जागु पिया, सुख निसा सिरानी, तारा अस्त भये,
धरु धीरज, करु हृदय कठिन, सहने हैं दुःख नये।
जानौ मोहि अति दूर, मरुन पर, अरु पर्वत घाटन मे,
जेहि सुमिरत मन थकत, चलत नहि,नद,वर्फान रु वन मे .
अरु अचरज-भय-मय समुद्र की घोर उठत लहरन मे।
ता पर, ठांव पहुँचि, दारुन रन करनौ है रिपु गन तें,
रक्त मांस कौ कीच बनत जहं छिन मे नरदेहन तें,
अरु तिन तें तिलमात्र भूमि नहि हटनौ है मन तन तें,
सरल प्रजाकी होत बहुत दुख नित नित जिन दुष्टन तें।
जागु पिया, अरु देखु मोहि, भरि वीरधर्म नयनन मे,
इष्टदेव ते जय मनाउ मोहि, दुःख ल्याउ नहिं मन मे।
जीति, लौटि, अँकवार भेंटि तोंहि, हसौं फेरि उपवन मे।
तजौं देह जौ, सदा होय तौ, संग जनम जनमन मे।
जिनके मन परमातमभाव, नहिं शोक मोह उन जन मे।
जागु पिया, तम निसा सिरानी, दिनमनि उदय भये।
चित प्रसाद धरु, हृदय शांत करु, करने काज नये॥

॥ ॐ ॥

३—रस-मीमांसा

[श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी जी की ७० वीं वर्षगाँठ के अवसर पर संवत् १९९० वि०, (सन् १९३३ ई०), में काशी नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से उन को अभिनन्दन ग्रन्थ दिया गया। उस के लिये यह लेख लिखा गया था।]

"रसो वै सः"

साहित्य और सौहित्य

'साहित्य' शब्द हिंदी मे प्रसिद्ध है। संस्कृत मे एक शब्द और इसी आकार का है जो हिंदी मे इतना प्रसिद्ध नहीं है, न संस्कृत मे ही—'सौहित्य'। दोनो का प्रधान लक्ष्य 'रस' है। 'दधाति इति हितम्'। 'धाता' 'विधाता' मे जो 'धा' धातु है वही 'हित' मे है। जगद्धाता-जगद्धात्री, जगत् का 'धान' करने वाले देव-देवी। जो विशेष प्रकार से, वि-धियो, वि-धानो, नियमो, से बनावे वह 'वि-धाता'। जो बनाए रहे वह 'हित'। 'हितेन सह सहितम्, तस्य भावः साहित्यम्'। 'सु-शोभनं हितं सुहितम्, तस्य भावः सौहित्यम्'। तथा, 'सह एव सहितम्, तस्य भावः साहित्यम्'। 'साहित्य' शब्द का अब रूढ़ अर्थ है—ऐसा वाक्य-समूह, ऐसा ग्रंथ, जिसको मनुष्य दूसरो के सहित, गोष्ठी मे, अथवा अकेला ही, सुने, पढ़े, तो उसको 'रस' आवे, स्वाद मिले, आनंद हो, और उसके चित्त की तृप्ति तथा आप्यायन भी हो।

'साहित्य' का अर्थ प्रायः काव्यात्मक साहित्य समझा जाता है, पर अब धीरे-धीरे इस अर्थ मे पुनः विस्तार हो रहा है। सब प्रकार के ग्रंथ-समूह को साहित्य कहना चाहिये, और कहने लगे है।* यथा—संस्कृत-साहित्य, अरबी-साहित्य, फ़ारसी-साहित्य, अँगरेजी-साहित्य, फ़रासीसी-साहित्य, जर्मन वा चीनी वा जापानी-साहित्य, आयुर्वेद-विषयक-साहित्य, वैज्ञानिक-साहित्य, ऐतिहासिक-साहित्य, गणित-साहित्य, वैदिक-साहित्य, लौकिक-साहित्य आदि। अँगरेज़ी भाषा मे 'लिटरेचर' शब्द का प्रयोग भी इसी प्रकार से होने लगा है, यद्यपि पहले प्रायः काव्यात्मक साहित्य के अर्थ मे ही उसका भी प्रयोग होता था। तो भी बिना विशेषण के साहित्य शब्द जब कहा जाता है तब प्रायः उसका अर्थ काव्य-साहित्य ही समझा जाता है। और यह निर्विवाद है कि 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'—रसीले वाक्य को ही काव्य कहते है; काव्य का आत्मा 'रस' है।

'सौहित्य' शब्द का अर्थ है उत्तम हितकर रसमय भोजन और तज्जनित तृप्ति। मनु जी का आदेश है, 'नातिसौहित्यमाचरेत्'—उत्तम भोजन भी अति मात्रा मे न करे, अति तृप्त न हो जाय, भोजन परिमित ही अच्छा। स्यात् यह भी आदेश मनु जी ने किया होता कि 'नातिसाहित्यमाचरेत्', रस भरी कविता का भी अति सेवन न करे, तो अनुचित न होता!

जैसे अति सौहित्य से, विशेषकर तीव्र रसवाले चटनी-अचार और खटाई-मिठाई के व्यंजनो के अति भोजन से, शरीर मे व्याधि उत्पन्न होती है, वैसे ही अति साहित्य से, अति मात्र रसों और अलंकारों की ही चर्चा से, चित्त मे आधि, विकार,

---

* पहिले अध्याय, "साहित्य का पूर्णरूप", मे इस विषय पर विस्तार किया गया है।

शैथिल्य, दौर्बल्य पैदा होते हैं। 'अति सर्वत्र वर्जयेत्'। प्रत्येक इंद्रिय का जो उचित विषय है, वही उसका आप्यायक, तर्पक, 'भोज्य' है। केवल जिह्वा का ही भोज्य, 'रस'-मय पदार्थ, नहीं है। कान का भोज्य सुखदायक शब्द है, आँख का आनंदकारी रूप-रङ्ग, त्वचा का प्रमोदवर्धक स्निग्ध, मसृण, कोमल स्पर्श, घ्राण का आह्लादक सुगंध। किसी भी इंद्रिय का अपने 'भोज्य' के, 'अर्थ' के, साथ मिथ्या-योग, अथवा चिरकाल तक अ-योग, अथवा अतियोग हो, तो व्याधि उत्पन्न होगी। जैसे समग्र शरीर मे, विषमाशन, अनशन, और अत्यशन से। यह वैद्यक का सिद्धान्त है। मधुर गीत वाद्य मंजुल वर्ण आकृति, मृदु स्पर्श, उत्कृष्ट स्वाद, उत्तम सौरभ—किसी के भी अतिमात्र सेवन से, तत् तत् इंद्रिय पहिले तो कुंठ हो जाती है, फिर व्याधित। जैसे पैर का तलवा, जो जन्म के समय, शरीर के दूसरे भागो के चमड़े से अधिक कोमल होता है, वह पीछे, सयानी अवस्था मे, बहुत चलते चलते, मोटा और कर्कश हो जाता है, और अति चलाई पर बेवाई, गोखरू, आदि से रुग्ण हो जाता है। इसलिये जो मनुष्य इंद्रियो की और चित्त की स्वस्थता और मृदु-वेदिता ('सेन्सिटिवनेस') बनाये रहना चाहते है, उनको किसी भी 'विषय' के मिथ्या-योग, सर्वथा अ-योग, तथा अति-योग, तीनो से बचना चाहिये।

अस्तु। प्रकृत अभिप्राय यह है कि जैसे जिह्वा का रस 'सौहित्य' मे प्रधान है, वैसे ही मन का रस 'साहित्य' मे।

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसयुतम्।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः॥
वयं तु न वितृप्याम उत्तमश्लोकविक्रमे।
यच्छृण्वतां रसज्ञानां स्वादु स्वादु पदे पदे॥ (भागवत)

अर्थात्,

वेदकल्पतरु पै उपज्यौ फल, शुकमुख छूइ गिरायौ।
बह्यौ सुधा-'रस', पियौ 'रसिक' सब जब लगि लय नहि आयौ॥
चरित पुनीत सुनत हरि के नित नित चित तृप्ति न जोहै।
पद पद मे जाके निसरत 'रस' 'रसिकन' के मन मोहै॥

कोई-कोई, गिने-चुने, ग्रंथ ऐसे महाभाग हैं, श्रीमद्भागवत, महाभारत, वाल्मीकीय रामायण, तुलसी रामायण, जिनमे 'रस' भी भरा है और स्वास्थ्यवर्द्धक आधिशोधक तोपक-पोपक सदाचारशिक्षक ज्ञान भी।

नैषाऽऽतिदु.सहा क्षुन् मां त्यक्तोदमपि बाधते।
पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजाच्च्युतं हरिकथाऽऽमृतम्॥ (भागवत)

अर्थात्,

शुक सौं कहत परीक्षित राजा, अनशन बरत धरे,
तन झुरात दु.सह पियास मोहि जानिहु नाहिं परै।
जब लौ बदन-कमल तें तुम्हरे हरि गुन-'रस' निसरै,
तौन अमृत को मन मेरो अति लोलुप पान करै,
स्थूल देह की सुधि बिसारी सब सूक्षम प्रान भरै।

'रस' क्या है?

उसके कै भेद हैं? उनमे परा-अपरा-जाति का परस्पर सम्बन्ध है या नहीं?

'रस' क्या है? 'अस्मिता' का अनुभव, आस्वादन, रसन ही 'रस' है। इसका प्रतिपादन आगे किया जायगा। इस स्थान पर इतना कहना पर्याप्त होगा, कि पांच इंद्रियों के पांच विषयों मे, जिह्वा के ही विषय को 'रस' कहते हैं, और जिह्वा का पर्याय

'रसना' है। जल का गुण 'रस' है। सूखा सूखा पदार्थ, सूखी जिह्वा पर रख दिया जाय, तो कुछ स्वाद न निकलेगा। जिह्वा भी आर्द्र हो, पदार्थ भी आर्द्र हो, तभी स्वाद आवेगा। जैसी 'तृप्ति' स्थूल शरीर की जल से होती है, वैसी अन्न से, अथवा वायु से भी, नहीं होती, यद्यपि प्राण के धारण के लिये वायु अधिक आवश्यक है। इस लिये मानस स्वाद का, आस्वादन का, बुद्धिपूर्वक विशेष प्रकार के अनुभवन का, भी संकेतन 'रस' शब्द ही से किया गया है। और जैसे भोज्य पदार्थ तीन राशियो मे बांटे जा सकते हैं, सुरस, कुरस, और नीरस, वैसे ही वाक्य और वाक्य-समूहरूप काव्य भी।

'साहित्य' शब्द का साधारण अर्थ ऊपर कहा। तदनुसार साहित्य-शास्त्र का अर्थ है। जैसे सब प्रकार की गिनतियों का शास्त्र 'गणित', ग्रह-नक्षत्रादि की गतियों का 'ज्योतिष', रोगो की चिकित्सा के उपायों का 'आयुर्वेद', वैसे ही सब प्रकार की कविताओं का शास्त्र 'साहित्य-शास्त्र' है। जो पदार्थों का राशियों मे, जातियों मे, संग्रह और सन्निवेश कर के, उन के कार्य-कारण-संबंध को अनुगमों और नियमो के रूप मे बतावे, सिखावे, 'शासन' शंसन करे, और जिस के ज्ञान से मनुष्य के ऐहिक अथवा पारलौकिक अथवा उभय प्रकार के व्यवहार मे सहायता मिले, भविष्य का प्रबन्ध किया जा सकै, "ऐसा करने से यह फल मिलैगा, इस लिये ऐसा करना चाहिये, ऐसा नहीं", वह 'शास्त्र'। जिस शास्त्र से काव्य का तत्त्व, रहस्य, मर्म, मूल रूप, तथा उस के अवांतर अंग, सब परस्पर व्यूढ, परस्पर सम्बद्ध, रूप से जान पड़े, और जिस से कविता के गुण-दोष के विवेक की शक्ति जागे, तथा अच्छी कविता करने मे सहायता मिले, वह 'साहित्य-शास्त्र'।

शास्ति यत् साधनोपायं पुरुषार्थस्य निर्मलम् ।
तथैव बाधनाऽपायं, तत् शास्त्रम् अभिधीयते ॥

चतुर्विध पुरुषार्थ मे से किसी पुरुषार्थ के साधन का उपाय, और बाधन का अपाय अर्थात् विघ्नों को दूर करने की युक्ति, जो बतावै वह 'शास्त्र'। पुरुषार्थों के अधीन संसार के सभी विषय हैं, सभी उचित उपयोग से साधक, अनुचित प्रयोग से बाधक, हो सकते हैं।

संस्कृत मे भरत मुनि का 'नाट्यशास्त्र' इस विषय का आकर-ग्रंथ और आदि-ग्रंथ भी माना जाता है। बहुत अन्य ग्रंथ छोटे-मोटे लिखे गये हैं। आज काल पढ़ने-पढ़ाने मे दंडी के 'काव्यादर्श', आनंदवर्धन के 'ध्वन्यालोक', मम्मट के 'काव्य-प्रकाश', विश्वनाथ के 'साहित्य-दर्पण', का अधिक उपयोग देख पड़ता है। इन के आधार पर हिन्दी मे भी अच्छे-अच्छे ग्रंथ बने हैं और बनते जाते हैं।*

कविता का प्राण 'रस' है, यह सब ने माना है। शब्द और अर्थ उस के शरीर हैं। शब्दालंकार, अर्थालंकार, उस के विशेष अलंकरण हैं। 'रसं वा सौन्दर्यं वा अलं पूर्णं कुर्वन्ति इति अलङ्काराः'—जो रस को, सौंदर्य को, बढ़ावे, पूरा करें, वे अलंकार। पर यह याद रखना चाहिये कि—

अस्ति चेद् रससम्पत्तिः अलङ्काराः वृथा इव ।
नास्ति चेद् रससम्पत्तिः अलङ्काराः वृथैव हि ॥

यदि रस की सम्पत्ति पूरी पूरी है तो अलंकार चाहे हों

---

* 'साहित्य-दर्पण' की एक उत्तम टीका, हिन्दी मे, श्री शालग्राम शास्त्री साहित्याचार्य ने लिखी है, जो सं० १९७८ मे लखनऊ मे छपी है।

उस के छः भेद बताए हैं—स्मित, हसित, विहसित, अवहसित, अपहसित, अतिहसित। 'एको रसः करुण एव, निमित्तभेदात्' कई प्रकार का हो जाता है। इत्यादि। जैसे प्रत्येक स्थायी भाव के साथ एक स्थायी रस, वैसे प्रत्येक संचारी या व्यभिचारी भाव के साथ एक संचारी या व्यभिचारी रस होता है। अब प्रश्न यह है कि रसों मे 'सामान्य'-'विशेष', 'परा'-'अपरा' जाति, है या नहीं?*

जहाँ तक देखने-सुनने मे आया, और विद्वानों से पूछने पर जान पड़ा, इस विषय पर किसी ग्रन्थकार ने विचार नहीं किया, कि यह सब रस सर्वथा परस्पर भिन्न और स्वतन्त्र हैं, अथवा इन मे भी राशीकरण हो सकता है, 'परा' 'अपरा' जाति का संबंध इन मे भी है। किसी-किसी ने रसों की संख्या घटाने-बढ़ाने का यत्न तो किया है। यथा, 'वात्सल्य' रस दसवाँ है, ऐसा कोई मानते हैं। परमेश्वर की, अथवा किसी भी इष्टदेव की, नवधा 'भक्ति' के रस को भी अलग मानते है। कोई कहते हैं कि सब रस चमत्कारात्मक 'अद्भुत' के ही भेद है। पर विद्वल्लोकमत ने नौ को ही मान रक्खा है, और जो नए बताए जाते हैं उन का इन्हीं मे इधर-उधर समावेश कर लेता है। पर इन नौ का जन्म कैसे; एक से दो, दो से चार, इत्यादि क्रम से, पर वा अपर 'सामान्यों' की, ये नौ 'अपर' जाति या 'विशेष' संतान हैं; या नहीं; इन प्रश्नों पर विचार नहीं मिलता। और बिना 'विशेषों' और 'अपरा जातियों' को 'सामान्य' की अँकवार मे संग्रह किये, चित्त को सन्तोष नहीं।

---

* इस विषय की चर्चा दूसरे अध्याय, "हिन्दी-साहित्य", मे थोड़े मे की गयी हैं। उसी का कुछ विस्तार इस लेख मे किया जाता है।

यदा भूतपृथग्भावम् एकस्थम् अनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ (गीता)

पृथक्ता को एकता में स्थित, एकता को पृथक्ता में विस्तृत, जब पुरुष जान लेता है, तब उस का ब्रह्म अर्थात् वेद अर्थात् ज्ञान संपन्न, संपूर्ण, होता है, तथा तब पुरुष अर्थात् जीव ब्रह्ममय, ब्रह्मरूप, निष्पन्न हो जाता है ।

इसलिये इस प्रश्न पर विचार करना उचित है ।

'रस' पदार्थ सब नौ रसों का 'सामान्य' स्पष्ट ही है । 'रस' के स्वरूप की भी मीमांसा करने से स्यात् पता चले, कि इस एक के सद्य: नौ की पृथक्-पृथक् उत्पत्ति हुई, अथवा एक से दो या तीन, और दो या तीन से चार या छः या नौ, इस क्रम से 'परा अपरा जाति' और 'विशेष' के रूप से जन्म हुआ ।

'रस' का मुख्य अर्थ 'जल' 'द्रव' है ।

सहस्रगुणम् उत्स्रष्टुम् आदत्ते हि रसं रविः । (रघुवंश)

जैसे सूर्य, जो 'रस' अर्थात् जल पृथ्वी पर से सोखता है, उस का सहस्र गुना वर्षा काल में लौटा देता है, वैसे सच्चा सदाचारी राजा, जो बलि अर्थात् कर प्रजा से लेता है, उस सब को उसी प्रजा की भलाई के लिये प्रजा पर ही व्यय करता है, अपनी आरामतलबी और ऐयाशी बदमाशी में नहीं ।

अमरकोष में जल के पर्यायों में 'घनरस' है ।

आम का रस, ईख का रस, पान का रस, अनार, अंगूर, नारंगी आदि का रस—यह सब उस के 'विशेष' हैं । रस के 'आस्वादन', चषण, (फारसी में 'चशीदन'), धीरे धीरे चखने से, जो 'अनुभव' हो, उस को भी 'रस' कहते हैं ।

यदि भूखा बच्चा जल्दी-जल्दी आम खा जाय, तो उस को 'स्वाद' तो अवश्य आवेगा ही, पर भूख की मात्रा अधिक और

स्वाद की मात्रा कम हो तो 'रस' नहीं आवेगा। खा चुकने पर जब उस के मुँह पर मुस्कुराहट और आँखों मे चमक देख पड़े और वह कहे कि 'बड़ा मीठा था', तब जानना चाहिये कि उस को 'रस' आया। खाते वक़्त भी, कवलो को जल्दी जल्दी निगल न जाय, एक एक लुक़मे को ज़बान पर देर तक रख कर, चुभला कर, चबा कर, चर्वण कर, उस का ज़ायका ले, और पहिचाने और कहे कि इस का ऐसा और उमदा (या ख़राब) ज़ायका है, तौ भी उस को 'रस' (या 'कुरस') आ रहा है।

ऐसे ही, दो मनुष्य, क्रोध मे भरे, एक दूसरे पर खड्गों से प्रहार कर रहे हो, तो दोनो का 'भाव' रौद्र अवश्य है, पर उन को रौद्र का 'रस' नही आ रहा है; किन्तु, यदि एक मनुष्य दूसरे को गहरा घाव पहुँचा कर और बेकाम कर के ठहर जाय और कहे—'क्यों, और लड़ोगे, फिर ऐसा करोगे, अब तो समझ गए न ?' तो उस को रौद्र 'रस' आया, ऐसा जानना चाहिये। दो लड़के कुश्ती लड़ते हैं; शोर करते हुए, हाँफते हुए, दाँत पीस कर, एक दूसरे को गिरा देने, हरा देने, के जतन मे तन मन से लगे हैं, उन को 'वीर-रस' नहीं, 'वीर-भाव' है। पर एक लड़का दूसरे को पटक कर अलग खड़ा हो जाता है और कहता है 'क्यों कैसा पटका'! अब इसको 'वीर-रस' आया; दूसरे को लज्जा या क्रोध का 'भाव' हुआ; लड़ते समय दोनों को 'वीर-भाव' था , लेकिन अगर, लड़ते वक़्त भी, बीच बीच में, मुस्कुराते हुए, एक दूसरे से कहें कि 'देखो अब तुमको पटकता हूँ', तो उस उस समय उनको 'वीर-रस' भी आ रहा है। किसी दुःखी दरिद्र को देख कर किसी के मन मे करुणा उपजे और उस को धन दे, वा अन्य प्रकार से उस की सहायता करे, तो दाता तो करुणा का, दया का,

दुःखी के शोक मे अनु-कम्पा, अनु-क्रोश, अनु-शोक, (अंग्रेजी मे 'सिम-पैथी') का 'भाव' हुआ, पर 'रस' नहीं आया, यदि सहायता कर चुकने के बाद उस के मन मे यह वृत्ति उत्पन्न हो—'कैसा दुःखी था, कैसा दरिद्र था, कैसा कृपापात्र था', तो जानना कि उस को करुण रस आया। महापुरुष की कथा को सावधान सुनना, और उसके प्रति भक्ति का 'भाव' उपजना भी. 'रस' नहीं, पर मन मे यह वृत्ति उदित होना कि 'वाह, कैसे अलौकिक उदार महानुभाव चरित है, इनके सुनने से हृदय मे तत्काल कैसी उत्कृष्ट भक्ति का संचार होता है, कैसे सात्विक भाव चित्त मे उदित होते हैं'—यह 'रस' का आना है। किसी को किसी दूसरे से किसी विषय मे तीव्र ईर्ष्या, मत्सर, का 'भाव' उत्पन्न हो, पर उसके वश हो कर वह कोई अनुचित कार्य न कर बैठे, और उस भाव की वर्त्तमानता मे ही, अथवा उस के हट जाने या मंद हो जाने पर, अपने से या मित्रों से कहे—'कैसा दुर्भाव था, क्या-क्या पाप करा सकता था', तो जानना कि उसको ईर्ष्या का 'रस' आया। पहलवान अपनी भुजा को देखता, ठोकता, और प्रसन्न होता है, अपने बल का 'रस' लेता है। सुंदर स्त्री पुरुष अपने रूप को 'दर्पण' मे ('दर्पयति इति दर्पणः') देख कर आनंदित होते हैं, 'मै ऐसा रूपवान्, ऐसी रूपवती, हूं', अपने रूप का 'रस' लेते हैं।

जैसे बच्चे तीती वस्तु को चीख कर 'सी-सी' करते हैं और फिर भी चीखना चाहते हैं, अर्थात् यदि अति मात्रा मे तीतापन नहीं है तो उस मे दुःख मानते हुए भी सुख मानते हैं, सो दशा साहित्य के उन रसो की है जिन के 'भाव'—यथा भय, बीभत्स, आदि—'दुःख'-द भी हैं, पर उन के 'स्मरण' मे ('सुख'-मय नहीं तो) आनंद-मय 'रस' उठता है।

क्यों सुख मे भी जीवात्मा को 'आनन्द' मिलता है, और दुःख मे भी (सुख नही) 'आनन्द' मिलता है, तथा भयानक और वीभत्स आदि कथाओं मे क्यों 'रस' मिलता है—इस का विस्तार से विचार करने का यत्न, "दि सायंस आफ़ दि इमोशन्स" नाम की अंग्रेज़ी मे लिखी पुस्तक मे, मैं ने किया है। थोड़े मे, 'मै हूँ', आत्मा को अपने अस्तित्व का अनुभव करना ही, 'आनन्द' है। परमात्मा सब साऽन्त भावो का 'विद्या' द्वारा निषेध कर के 'मै मै ही हूँ, मै से अन्य कुछ भी नही हूँ', अनन्त 'आनन्द' का सदा एकरस अखंड स्वाद लेता है। जीवात्मा, 'अविद्या'-द्वारा साऽन्त भावों को ओढ़ कर, 'मै यह शरीर हूँ', शरीर की सभी अवस्थाओं और क्रियाओ से अपने अस्तित्व का अनुभव करता है, चाहे वह अवस्था या क्रिया सुखमय हो या दुःखमय हो; बल्कि, दुःख मे अपने अस्तित्व का अनुभव और तीव्र हो जाता है; प्रसिद्ध है कि सुख का वर्ष दिन बराबर, दुःख का दिन वर्ष बराबर। तत्रापि, काम-क्रोध आदि क्षोभात्मक भावो मे अपने अस्तित्व का अनुभव अधिक तीक्ष्ण होता है। 'काममय एवाऽयं पुरुषः', 'चित्तं वै वासनात्मकम्'। 'काममयः' अर्थात् 'इच्छामयः', अर्थात् 'इच्छान्तर्गत–सर्वप्रकारक–काम-क्रोध-लोभादिमयः जीवात्मा'। अत एव, इच्छा, वासना, तृष्णा, के क्षय से मोक्ष अर्थात् परमात्म-भाव सिद्ध होता है। सुख दुःख दोनों से (विशेष अर्थ मे) 'आनन्द' होता है ("जो मज़ा इन्तिज़ार मे देखा, वो नही वस्लि यार मे देखा"; "विपदः सन्तु नः शश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरो, भवतो दर्शनं यत् स्याद् अपुनर्भवदर्शनं।")। काव्यादि मे भयानक वीभत्स आदि के वर्णन से आनन्दात्मक स्पृहणीय 'रस', दो प्रकार की विरुद्ध प्रकृतियों के, तबीयतों के, लोगो को उठता है, और वे

उसको शौक से, रुचिपूर्वक, सुनते पढते है। एक किस्म वह जो अपने ऊपर भयकारक बीभत्सोत्पादक बलवान् की सत्ता का 'स्मरण', आवाहन, कल्पन, कर के, वह रस चखते है जो खल को अपने बल का प्रयोग दुर्बलों को पीड़ा देने के लिये करने से होता है.

विद्या विवादाय, धन मदाय, शक्ति परेषा परिपीडनाय ।
परस्य, साधोर्विपरीतमेतत्, ज्ञानाय, दानाय, च रक्षणाय ॥

दूसरी प्रकृति के लोग, पीड़ित, भयभीत, बीभत्सित, के भावका अपने ऊपर, उद्भावन चिंतन कर के, उसके साथ अनुकम्पा के करुण रस का, और दुष्ट के ऊपर क्रोध घृणा आदि के रस का, आस्वादन करते है, और सचमुच दुःखी इस लिये नही होते कि निश्चय से जान रहे है कि यह सब मिथ्या कल्पना है, कहानी है, वास्तव मे यह कष्ट हम को नही है।

निष्कर्ष यह कि अबुद्धिपूर्वक, अनिच्छापूर्वक, 'स्वाद' नही, किंतु बुद्धिपूर्वक, इच्छापूर्वक, 'आस्वादन' की अनुशयिनी चित्त-वृत्ति का नाम 'रस' है। 'भाव' (क्षोभ, संरंभ, संवेग, आवेग, उद्वेग, आवेश, अँगरेजी मे 'ईमोशन') का अनुभव 'रस' नही है, किंतु उस अनुभव का 'स्मरण', प्रति-संवेदन, 'आस्वादन', 'रसन', रस है। 'भावस्मरणं रस.'। और आस्वादन का रूप यह है—'मै क्रोधवान् हूँ (अहं क्रोधवान् अस्मि'), 'मै (अहं) करुणावान् हूँ (अस्मि)', 'मै शोकवान् या अनु शोकवान् हूँ', 'मै भक्तिमान् हूँ', 'मै ईर्ष्यावान् हूँ', 'मै बलवान् हूँ', 'मै सुरूप हूँ'। अर्थात् 'मै हूँ'—यही रस का सार-तत्त्व है 'रस-सामान्य' है।

ऐतरेय ब्राह्मण मे क . -है " पुरुषे त्वेवाविस्तरामात्मा, स हि प्रज्ञानेन सम्प [illegible] तं वदति, विज्ञातं पश्यति,

(पशवः) न विज्ञातं वदन्ति, न विज्ञातं पश्यन्ति,.. "। पशु जानते हैं, देखते हैं, वोलते हैं; पर यह नही जानते कि हम जान, देख, वोल रहे हैं। मनुष्य जानता, देखता, वोलता है, और साथ ही यह भी जानता है कि हम जान, देख, वोल रहे हैं। इस लिये पुरुष मे आत्मा का आविर्भाव सव प्राणियों से अधिक है, उस मे ज्ञान भी है और प्रज्ञान भी है। आत्मज्ञान का आरम्भ, मनुष्ययोनि मे पहुँच कर, जीव को होता है। इसी लिये "मोक्षस्तु मानवे देहे" । ऐसा ऐतरेय ब्राह्मण मे कहा तो सही कि पशु "न विज्ञातं वदन्ति", पर इसको भी "वैशेष्यात् तु तद्वादः", सापेक्ष उक्ति जानना चाहिए। पशु सर्वथा इस प्रकार के 'प्रज्ञान' से रहित ही हैं, ऐसा भी नही कह सकते; क्योंकि वे 'खेलते' हैं, और 'खेलना', 'क्रीड़ा', 'लीला', का मर्म 'आत्मानुभव रस' ही है। मुँह से, व्यक्त वाणी से, वे यह नही कह सकते हैं कि हम को यह-यह अनुभव हो रहा है, पर ऐसा कह सकने का वीज उन मे है अवश्य; वल्कि व्यक्त नहीं तो अव्यक्त अस्पष्ट विविध प्रकार की ध्वनियों से, आवाजों से, कहते भी हैं, कुत्ते के, खेलने के मिथ्या भूँकने और गुर्राने मे, औ सचमुच गुस्से के भूंकने और गुर्राने मे, वहुत भेद होता है। ऐसे प्रज्ञान के और कह सकने के वीज का पशुओ मे भी होना उचित ही है, क्योंकि वे भी तो परमात्मा चैतन्य की ही कला हैं। और यह सव अनन्त जगत् ('पुनः पुनः गच्छति, जंगम्यते, सदा गच्छत्येव, इति जगत्'), अनन्त संसार ('संसरति इति', चलता ही रहता है), परमात्मा की लीला, क्रीड़ा, रसाऽस्वादन, आत्मानुभव ही है।

लोकवत् तु लीलाकैवल्यं । (ब्रह्मसूत्र)
क्रीडन्निवैतत् कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः । (मनु)

स्वाभाविक वासना ('इन्स्टिंक्ट') से मनुष्य 'नाटक' के साथ 'खेलना' का प्रयोग करते हैं। अंग्रेजी मे भी 'ड्रामा' को 'प्ले' करते हैं। 'नटना' का अर्थ 'बनना'। 'खेलना' का अर्थ जान बूझ कर कोई बनावटी काम, मन बहलाव के लिये, करना, 'सचमुच नहीं, मानो ऐसा'। ठीक यही अर्थ 'मा-या' का है। 'या मा', जो है नहीं, पर मालूम होती है कि है। जगन्नाटक, परमात्मा की बाल-लीला ही है। वह इसका सदा रस लेता रहता है।

जानना, इच्छा करना, क्रिया करना, और इसको अनुभव करना, पहचानना, प्रत्यभिज्ञान करना, प्रज्ञान करना, कि हम मे ज्ञान, इच्छा, क्रिया हो रही है—इस बुद्धि-वृत्ति को विविध दर्शनो मे विविध नामो से कहा है। यथा--अनुव्यवसाय, प्रतिसंवेदन, प्रत्यभिज्ञान, प्रत्ययानुपश्यता, निजबोध, प्रत्यक् चेतना, आलयविज्ञान प्रभृति। इनमे 'प्रस्थानभेद से दर्शनभेद' के न्याय के अनुसार सूक्ष्म-सूक्ष्म भेद हो सकता है, पर मुख्य आशय एक ही है, अर्थात् बहिर्मुखीन विशेष वृत्तियों के साथ-साथ, उन मे अनुस्यूत 'अहं अस्मि', 'मै हूँ', इत्याकारक अखंड एक-रस निर्विशेष अंतर्मुखीन वृत्ति।

बाह्य पदार्थों के अनुभव के साथ साथ यह आत्मानुभव-रूपिणी वृत्ति सत्-विद्यमान है, चित्-चेतन है, आनंद-सुखमय है। इस 'मै हूँ' मे जो 'आनंद' का अंश (अंग, अवयव, कला, मात्रा, रूप, भाव, पहलू) है वही 'रस' बुद्धि है, उसी का पर्याय 'रस' है। इसी लिये उपनिषदो मे आत्मा के विषय मे कहा है, "रसो वै सः", "स एष रसानां रसतमः", "रसं ह्येवाऽयं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति", "कृत्स्नो रसघन एव", "सद्घनोऽयं चिद्घन आनन्दघनः", "आत्मनस्तु कामाय सर्वं वै प्रियं भवति",

"सोऽयमात्मा श्रेष्ठश्च प्रेष्ठश्च", "आङ्गिरसो अङ्गानां हि रसः", "प्राणो हि वा अङ्गानां रसः", "एप हि वा अङ्गानां रसः," "स एवाऽयं मुख्यः प्राणः", "आपयिता ह वै कामानां भवति य एत-देवं विद्वानक्षरमुपास्ते", "को ह्येवाऽन्यात् कः प्राण्याद् यदेप आनन्दो न स्यात्", "सैपा आनन्दस्य मीमांसा भवति"। 'अहम् अस्मि'—यही सन्मय, चिन्मय, आनंद-रस-मय है। आत्मा का, किसी 'अनात्मा' के बहाने से, ('विद्या' मे अनात्मा के नि-पेध प्रतिपेध से, 'अविद्या' मे अनात्मा के आ-सेध उप-सेध से) अपनी सत्ता का आस्वादन—यही रस, लीला, क्रीड़ा, नटन है। कविता मे श्रेष्ठ नाटक इसी कारण से है, "काव्येपु नाटकं श्रेष्ठम्", कि नाटक मे प्रत्यक्ष ही पात्र 'वनते' है, अपने को अपने से अन्य 'वनाते' है; 'वुद्धिपूर्वक, लीला से, माया से ('या-मा') जो नहीं हैं वह 'वन' जाते है, और उस मे अधिक रस मानते हैं, अधिक आनन्द पाते है। ऐसा क्यो होता है, परमात्मा को, व्रह्म को, व्रह्म मे, व्रह्म से, मा-या क्यों भासती है—यह वेदान्त का गूढ़तम प्रश्न है। इसका पुराना उत्तर, नये शब्दों मे, 'समन्वय' नामक ग्रन्थ के अन्तिमाध्याय मे, तथा 'दि सायंस आफ़ पीस' नामक अंग्रेज़ी ग्रन्थ मे, देने का यत्न किया गया है।

'चैतन्य' का परोक्ष नाम 'आत्मा' है, 'अपरोक्ष' नाम 'अहम्' है। ॐ भी उसका नाम है, पर थोड़ा 'अव्यक्त' सा है*।

---

* इस विपय पर मैने अपने 'समन्वय' नामक ग्रंथ के अंतिमाध्यायों मे—'प्रणव की पुरानी कहानी' और 'महासमन्वय' मे—कुछ विस्तार किया है। तथा 'प्रणव-वाद' और 'दि सायंस आफ़ पीस' नामक अंग्रेज़ी ग्रन्थों मे प्रणव के अर्थों पर विस्तार से विचार किया है।

'अहम्'—यह दिन-दिन के व्यवहार मे कुछ अधिक व्यक्त जान पड़ता है। संस्कृत वर्णमाला का आदिम अक्षर 'अ' और अंतिम 'ह' है। इन दोनों के बीच मे अन्य सब अक्षर है। अक्षरों के संयोग मे सब वाक्य है, जो अनन्त प्रकार के ज्ञान, इच्छा, क्रिया के वाचक बोधक है। तन्त्रशास्त्र मे एक-एक अक्षर से एक-एक तत्त्व की, एक-एक पदार्थ की, जिनका वर्णन साख्य आदि दर्शनों मे किया है, सूचना होती है। यह भी देखने की बात है कि यदि मुह खोल कर साँस ली जाय, तो भीतर खींचते समय प्राय. 'अ' की सी ध्वनि होती है और बाहर छोड़ते समय 'ह' की सी आवाज़ होती है. तथा बोलने की क्रिया सब श्वास ही की क्रिया है, हाफता हुआ आदमी बोल नहीं सकता, साँस को रोके हुए, अंत·कुम्भक या बहि·-कुम्भक किये हुए भी बोल नहीं सकता, श्वास को धीरे धीरे छोड़ते हुए ही वर्णो का उच्चारण कर सकता है, इस हेतु से भी जीव का 'अ-ह-म्' नाम उचित है, 'स्वरं श्वासं अनु', सब स्वर के साथ साथ, अव्यक्त या व्यक्तरूप से, 'म्', 'अनुस्वार', भी नासिका से आती जाती साँस के साथ, लगा ही रहता है। 'अहम्' इस आद्य अंत्य (और सर्वव्यापी मध्य) अक्षरो के संयोग से आत्मा की निगूढ सर्वज्ञता सूचित होती है, तथा यह भी कि "अहम् एव सर्वः", "मयि स्थितमिदं जगत् सकलमेव", सब पंचविंशति, षड्विंशति, षट्त्रिंशत् प्रभृति तत्त्व एक 'अहम्' के, 'मै' के, भीतर है, 'मै' किसी के भीतर नहीं है। इस विश्वंभरता विश्वोदरता की 'भूमा' के, बड़ाई के, परम महत्त्व के, आस्वादन से बढ़ कर कौन आनन्द-रस-आस्वादन हो सकता है ? जो भी कोई, कुछ भी, रस-आनंद है, वह सब इसी की छाया है।

इति नानाप्रसंख्यानं तत्त्वानां कविभिः कृतम् ।
सर्वं न्याय्यं युक्तिमत्त्वाद् विदुषां किमसाम्प्रतम् ॥ (भागवत)

कवियों ने तत्त्वों की संख्या नाना प्रकार से की है; सभी युक्ति-युक्त हैं; समुझदार पुरुष सब का समन्वय कर ले सकते हैं ।

इस 'अहम्' मे, 'अस्मि' मे, आनन्द का अंश 'रस' है, ऐसा कहा । यहाँ एक धोखा होने का भय है । ऊपर कहे 'विद्या' और 'अविद्या' के भेद से उस का निवारण हो जाना चाहिये । तौ भी दूसरे शब्दों मे दुहरा देना स्यात् अच्छा होगा । 'अहम्' नाम परमात्मा (वा प्रत्यगात्मा) का भी है, और जीवात्मा का भी । दोनों मे एकता होते हुए भी जो भेद है वह प्रायः प्रसिद्ध है । देश-काल-द्रव्य आदि से परिच्छिन्न, अवच्छिन्न, परिमित, विशेषित, आधिभौतिक शरीर की उपाधि से उपहित, चैतन्य को जीवात्मा कहते हैं । इन सब से अतीत चैतन्य को परमात्मा कहते हैं । ऐसे ही एक 'अस्मिता' परमात्मा की, और एक 'जीवात्मा' की, होती है । पुराणों मे, दर्शनसूत्रों मे, बताया है, कि परमात्मा मे विद्या अविद्या दोनों भासती हैं । अनंत आत्मा अपने को शान्त, हाड़-मांस का बना शरीर, मान ले, तो इसे 'अविद्या', अर्थात् सीधी बोली मे, मूर्खता, कहना चाहिये । पर अपनी ही 'माया' से परमात्मा इस 'मूर्खता' मे पड़ा हुआ 'भासता' है, सचमुच पड़ा नहीं है, इससे 'अविद्या' बनावटी है, नाटक है, लीला और क्रीड़ा है । जैसे दूब मे से 'पोर' निकलती है वैसे अविद्या मे से भी 'पर्व' निकलते हैं । पहली पोर स्वयं 'अविद्या', दूसरी 'अस्मिता', तीसरी 'राग', चौथी 'द्वेष', पाँचवीं 'अभिनिवेश' (हठ से, आग्रह से, शरीर मे निविष्ट हो जाना, घुस जाना, धँस

जाना, 'मैं यह हाड़-मांस ही हूँ', 'यह बात यों ही है', 'जो बात मैं मानता कहता हूँ वही ठीक है')। इस लिये 'पंच-पर्वा' अविद्या। 'विद्या' के साथ रहनेवाली 'अस्मिता', पारमात्मिक, पारमार्थिक, अस्मिता। 'अविद्या' के साथवाली 'अस्मिता', सांसारिक, व्यावहारिक, जैवात्मिक। 'मैं सान्त पदार्थ नहीं हूँ, मैं मैं ही हूँ, मैं से अन्य कुछ नहीं हूँ',

'अहमेव, न मतोऽन्यत्' (भागवत)।

'मत्त परतर नाऽन्यत् (गीता),

'यत्र नाऽन्यत् पश्यति स भूमा' (वृ० आ० उपनिषत्)

—यह 'विद्या'। 'मैं यह शरीर हूँ'—यह 'अविद्या'।

जैसे पारमार्थिक अस्मिताऽऽनुभवरूपी 'रस', पारमार्थिक 'आनंद', ब्रह्मानंद का पर्याय है, वैसे ऐहार्थिक व्यावहारिक अस्मिताऽऽनुभवरूपी 'रस', लौकिक काव्यसाहित्य से संबंध रखनेवाले 'आनन्द', विषयानन्द, का पर्याय है। यह आनन्द उस आनन्द की, यह रस उस रस की, छाया है, नकल है।

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मय ।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदर ॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राण कैश्चित्प्रमातृभि ।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनाऽयमास्वाद्यते रस ॥

(साहित्य-दर्पण)

सत्त्वगुण का चित्त मे उद्रेक होने पर, जो अनुभव, अखंड, स्व-प्रकाश, आनन्दमय, चिन्मय, ब्रह्मास्वाद का सगा भाई, अनुभूत होता है, जिस मे कोई दूसरा वेदनीय पदार्थ छू नहीं गया है, अलौकिक लोकोत्तर चमत्कार ही जिस का प्राण है, जिस को कोई कोई विशिष्ट बुद्धिवाले प्रमाता ही अनुभव कर सकते हैं, जो अनुभव करनेवाले से अभिन्न जान पड़ता है, जैसे अपना

जाना, 'मै यह हाड़-मांस ही हूँ', 'यह वात यों ही है', 'जो वात मैं मानता कहता हूँ वही ठीक है')। इस लिये 'पंच-पर्वा' अविद्या। 'विद्या' के साथ रहनेवाली 'अस्मिता', पारमात्मिक, पारमार्थिक, अस्मिता। 'अविद्या' के साथवाली 'अस्मिता', सांसारिक, व्यावहारिक, जैवात्मिक। 'मै साऽन्त पदार्थ नही हूँ, मै मै ही हूँ, मै से अन्य कुछ नही हूँ',

'अहमेव, न मत्तोऽन्यत्' (भागवत)।

'मत्त परतर नाऽन्यत् (गीता),

'यत्र नाऽन्यत् पश्यति स भूमा' (बृ० आ० उपनिषत्)

—यह 'विद्या'। 'मै यह शरीर हूं'—यह 'अविद्या'।

जैसे पारमार्थिक अस्मिताऽऽनुभवरूपी 'रस', पारमार्थिक 'आनंद', ब्रह्मानंद का पर्याय है, वैसे ऐहार्थिक व्यावहारिक अस्मिताऽऽनुभवरूपी 'रस', लौकिक काव्यसाहित्य से संबंध रखनेवाले 'आनन्द', विपयानन्द, का पर्याय है। यह आनन्द उस आनन्द की, यह रस उस रस की, छाया है, नकल है।

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मय ।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदर ॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राण कैश्चित्प्रमातृभि ।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनाऽयमास्वाद्यते रस ॥

(साहित्य-दर्पण)

सत्त्वगुण का चित्त मे उद्रेक होने पर, जो अनुभव, अखंड. स्व-प्रकाश, आनन्दमय, चिन्मय, ब्रह्मास्वाद का सगा भाई, अनुभूत होता है, जिस मे कोई दूसरा वेदनीय पदार्थ छू नहीं गया है, अलौकिक लोकोत्तर चमत्कार ही जिस का प्राण है, जिस को कोई कोई विशिष्ट बुद्धिवाले प्रमाता ही अनुभव कर सकते हैं, जो अनुभव करनेवाले से अभिन्न जान पड़ता है. जैसे अपना

ड़े ध्यान से, और रसिकता तथा साहित्यज्ञता और मातृता का अभिमान छोड़ कर, यदि साहित्यदर्पणकार वेद्वान् देखते, तो उनको स्पष्ट विदित होता कि नटखट (? 'नट' े ऐसा जान बूझ कर 'खटपट' करने वाले) बच्चे, हास्य, रौद्र, भयानक, वीर, अद्भुत, करुणा, और वीभत्स रसो के, उन से, और नट वृत्ति से जीविका करनेवालो को छोड़ कर, प्रायः सभी सयानो से, अधिक प्रज्ञाता और नटयिता होते है। बूढ़ो की नकल करना, उन को चिढ़ा कर भागना, एक दूसरे को डराना, शूरवीर का अभिनय करना, हाथो से मुह ढाँक कर मिथ्या रोना, ये सब बाल्यावस्था मे स्वाभाविक है, और रसप्रमातृत्व के प्रमाण हैं। पर, इस मे संदेह नही कि ऊपर के उद्धृत श्लोको का अभिप्राय ठीक है, चाहे बहुत सूक्ष्मेक्षिका से अर्थ-परिष्कार और शब्द-परिष्कार करने लगे तो कुछ परिवर्त्तन करना पड़े। अस्तु।

'रस' के अति सेवन के दोष

'काव्य' के कई प्रयोजन कहे है—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्य परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥

(काव्यप्रकाश)

पर मुख्य प्रयोजन 'निर्वृतये', रस का आनंद ही है। व्यवहारज्ञान नितान्त उपयोगी है, पर वह काव्य के आनुषंगिक ऐतिहासिक अंग का फल है, जैसे 'निर्वृति' इतिहास-पुराण के काव्यांग का फल है। हाँ, यदि काव्य का अर्थ कोई भी लेख, संदर्भ, या निबंध किया जाय, तो अवश्य उद्धृत श्लोक ठीक हो सकता है। उस पर भी कहना होगा कि अन्य सब प्रयोजक फल, यश, धन, आदि, गौण हैं, और निर्वृति-साधकता और

करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम्।
सचेतसामनुभव. प्रमाणं तत्र केवलम्॥
किं च तेषु यदा दुःख न कोऽपि स्यात्तदुन्मुख.॥

(साहित्य-दर्पण)

करुण आदि रसो मे भी बड़ा 'सुख' मिलता है, इसका प्रमाण 'सचेत', 'सहृदय', लोगो का अनुभव ही है, यदि सुख न मिलता तो इसकी ओर उन्मुख क्यो होते।

करुण रस की कहानी कभी-कभी बच्चे तक शौक से सुनते है। ग्रामगीत तो अधिकांश अत्यन्त करुणाजनक होते है, जैसी करुणा 'उत्तररामचरित' मे भी मिलना कठिन है। उन्हे ग्राम की स्त्रियाँ बड़े चाव से गाया करती है। यदि उन गीतो से दुःख ही होता तो क्यो सुने, गाए, पढ़े जाते? पर यह भी व्यक्ति व्यक्ति की प्रकृति पर आश्रित है। कोई अति कोमल, मृदुवेदी बालक, स्त्री, पुरुष ऐसी करुण कथा को नही सुन सकते।

पिकाद्वने श्रृण्वति भृङ्गहुङ्कृतैर्दशामुदञ्चत्करुणे वियोगिनाम्।
अनास्थया सूनकरप्रसारिणी ददर्श दून स्थलपद्मिनी नल.॥

(नैषधचरित)

कोकिल, बिछुड़े हुए प्रेमियो की करुण कथा, जंगल से कह रही थी, जगल उस को ध्यान कान लगा कर सुन रहा था, और भौरो की गूंज से हुंकारी भर रहा था। पर स्थल पद्मिनी को इतना दुःख हुआ कि वह सुन न सकी, और फूल के हाथ फैला कर उस ने कोकिल को मना किया। कवि ने यहां तो उत्प्रेक्षा ही की है, पर एक मानव-प्रकृति के अनुकूल ही की है। इसके विरुद्ध, दूसरी प्रकृति के लोगो मे, कहीं-कहीं, कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है, जैसा 'नीरो' नामक 'रोम'-राज्यके सम्राट् (ईसा की पहिली शताब्दी मे), तथा उस देश

रक्षक और भक्षक, देव और दैत्य, के बीच मे बहुत सूक्ष्म अंतर है। "क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया"। थोड़ी भी भूल हुई और विष्णु के पार्षद, हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष हो गए, दैत्य-योनि मे आ गिरे। इस लिये इस मार्ग पर बहुत सावधानी से चलना चाहिए। परिष्कृत, संस्कृत, 'रस' के थोड़े आस्वादन तक संतोष करना, चटनी, अचार, खटाई, मिठाई से पेट न भरना, उसी मात्रा मे इनका सेवन करना जितने से प्रधान भोज्य—काव्य के पुष्टिकारक अंग, इतिहास आदि—के भोजन को रुचिकर बनाने मे, और उसका पाचन करने मे, सहायता मिले। तथा इस ओर ध्यान सदा रखना, कि काव्य और नाटकों के धीर, उदात्त, ललित, शांत, दक्षिण, नायक-नायिकाओं की परिष्कृत सुरस रीति-नीति, बोल-चाल, हाव-भाव का अनुकरण यथाशक्य यथोचित अपने जीवन मे किया जाय, क्षुद्र, क्षोभालु, नीच, उद्धत, अभद्र, शठों का नहीं। पुरुषार्थ के साधक व्यवहार का ज्ञान इतिहास से मिलता है। उसका निचोड़ पुरानो ने यों कह रखा है।

रामवद् आचरितव्यम्, न रावणवत्।
अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकार पुण्याय, पापाय परपीडनम्॥
स्वयं कृतं स्वेन फलेन युज्यते।
नाऽधर्मश्चरितो लोके सद्य फलति गौरिव।
शनैरावर्त्तमानस्तु कर्त्तुर्मूलानि कृंतति॥
अत्युग्रपुण्यपापानामिहैव फलमश्नुते॥

मर्यादा पुरुष, प्रमाण पुरुष, राम के ऐसा आचरण करो, रावण के ऐसा नहीं. अठारह पुराणो मे व्यास जी ने बात दो ही कही है, परोपकार से पुण्य होता है और परपीड़न से पाप

जो जो उस की विरोधक हानिकारक है उन की ओर 'द्वेष', 'क्रोध', और 'अपकर्षण', 'प्रक्षेपण', के भाव तत्काल अवश्य उत्पन्न होते हैं ।

मुनेरपि वनस्थस्य स्वकर्माण्यनुतिष्ठत. ।
उत्पद्यन्ते त्रय. पक्षा मित्रोदासीनशत्रव ॥ (महाभारत)

वानप्रस्थाश्रमोचित अपने धर्म कर्म मे लीन, जंगल मे रहनेवाले, मुनि के भी तीन पक्ष उत्पन्न हो ही जाते हैं, मित्र, शत्रु और उदासीन ।

जब तक शरीर और उस के पोषण की इच्छा और आवश्यकता है, तब तक चाहे कितनी भी विरक्त मुनि-वृत्ति से रहे, मनुष्य के—मित्र, शत्रु, और उदासीन—तीन प्रकार के पास-वर्त्ती हो ही जाते हैं। राग का विषय मित्र, द्वेष का विषय शत्रु, दोनो से रहित, तटस्थ, उदासीन। जो अपने को सुख दे वह राग का विषय, दुःख दे वह द्वेष का विषय। 'सुखाद् रागः', 'दु.खाद् द्वेष.', (योग और वैशेपिक सूत्र) ।

इच्छाद्वेषात्मिका तृष्णा सुखदु खात्प्रवर्त्तते ।
तृष्णा च सुखदु खाना कारण पुनरुच्यते ॥ (चरक)

सुख-दुःख । राग-द्वेष ।

सुख-दु.ख क्या है ? 'अहम्' की वृद्धि का अनुभव सुख, और ह्रास का अनुभव दु ख। "नाल्पे वै सुखमस्ति, भूमैव सुखम्, यत्र नान्यद्विजानाति स भूमा"। (छांदोग्य)

सर्वं परवश दु ख, सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदु खयो ॥ (मनु)

'अपने' को, 'आतमा' को, 'दूसरे' से कम जानना, दूसरे के अधीन जानना, यही दुःख है। "पराधीन सपनेहु सुख नाहीं"।

राग और द्वेष के तीन तीन मुख्य भेद।

राग के तीन भेद होते हैं, तथा द्वेष के भी—

गुणाधिका'न्मुदं' लिप्सेद्, 'अनुक्रोशं' गुणाधमात्।
'मैत्रीं' समानादन्विच्छेन्, न तापैरभिभूयते॥
महतां 'बहुमानेन', दीनानां 'अनुकम्पया'।
'मैत्र्या' चैयात्मतुल्येषु, यमेन नियमेन च॥

इत्यादि। (भागवत)

सम. समानोत्तम मध्यमा-धम।
सुखे च दु खे च जितेन्द्रियाशय॥
'दयां' 'मैत्रीं' 'प्रश्रय' च भूतेष्वद्धा यथोचितम्॥ (भागवत)
दीनेषु 'दयाम्', समेषु 'मैत्रीम्', उत्तमेषु 'प्रश्रयम्'।

(श्रीधरी टीका)

हीयते हि मतिस्तात, हीनै सह समागमात्।
समैश्च समतामेति, विशिष्टैश्च विशिष्टताम्॥ (महाभारत)

मैत्री करुणा-मुदितो-पेक्षाणा सुख-दु.ख-पुण्या-पुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्। (योगसूत्र)

अकु'र्वेर्ष्यां' विशिष्टेषु, हीनानन'वमान्य' च।
अकृत्वा सदृशे 'स्पर्धां', त्व लोकोत्तरतां गत॥ (महाभारत)
सतुल्या-तिशय-ध्वस यथा मण्डलवर्त्तिनाम्। (भागवत)

तुल्ये 'स्पर्धा', अतिशये 'असूया', ध्वसालोचने 'भयम्'। (श्रीधरी)

तथा दोषा। तत्त्रैराश्यम्। राग द्वेष मोहार्थान्तर्भावात्। रागपक्ष कामो, मत्सर', स्पृहा, तृष्णा, लोभ इति। द्वेषपक्ष. क्रोध', ईर्ष्या, असूया, द्रोहोऽमर्ष इति। मोहपक्षः मिथ्याज्ञानं, विचिकित्सा, मानः, प्रमाद इति। आसक्तिलक्षणो रागः, अमर्षलक्षणो द्वेष, मिथ्याप्रतिपत्तिलक्षणो मोह। (न्याय-भाष्य)

राग-द्वेष का और भावों तथा रसों का सम्बन्ध ।

अब देखना चाहिए कि साहित्यशास्त्र के ग्रंथों मे नौ रसों के मूल जो नौ स्थायीभाव कहे है, उन का इस आदिम द्वन्द्व राग-द्वेष और तदुत्थ त्रिक-द्वय से कुछ संबंध है या नहीं। क्रम से 'स्थायी भाव' और 'रस' ये हैं—

रति-र्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भय तथा ।
जुगुप्सा विस्मयश्चेत्थ अष्टौ प्रोक्ता. शमोऽपि च ॥
शृङ्गार-हास्य-करुणा रौद्र-वीर-भयानका ।
बीभत्सो-ऽद्भुत इत्यष्टौ रसा. शान्तस्तथा मत ॥
रसावस्थ पर भाव स्थायिता प्रतिपद्यते ॥
विभावेनानुभावेन व्यक्त सञ्चारिणा तथा ।
रसतामेति रत्यादि स्थायिभाव सचेतसाम् ॥

(साहित्य-दर्पण)

नौ रस 'शृंगार' आदि के नौ स्थायी भाव 'रति' आदि हैं। 'स्थायी भाव' ही विशेष अवस्था मे 'रस' हो जाता है। विभाव, अनुभाव, संचारिभावो से व्यंजित, व्यक्तीकृत. 'स्थायी भाव' सचेतसो, सहृदयो, के चित्त मे 'रस' हो जाता है। तथा, जब कोई 'भाव', (क्षोभ, संरम्भ), 'रस' की अवस्था को प्राप्त होता है, तब वह 'स्थायी' हो जाता है।

भाव ।

यहाँ पर 'भाव' शब्द के विषय मे कुछ कहना उचित जान पड़ता है। धातु के अर्थ से, सभी 'विद्यमान' पदार्थ 'भाव' है, 'भवति' इति 'भाव'। पर 'साहित्य' और 'अध्यात्म' शास्त्र के प्रसंग मे, 'भाव' का अर्थ है, चित्त की विशेष अवस्था. जो भी ज्ञानात्मक और क्रियात्मक अवस्था नहीं, किन्तु इच्छा के जो दो

अनुभाव, अलंकार, सात्त्विक-भाव।

मानस क्षोभ के, उत्कट भाव के, कारण, शरीर मे जो तत्कृत. तत्कार्य रूप, तत्फल रूप, विशेष दशा उत्पन्न हो जाय, उसको 'अनुभाव' कहते हैं। यथा मुंह लाल हो जाना। (शर्म से या गुस्से से), पीला हो जाना (खौफ से या अफसोस से), गुर्राना, गरजना, चीखना, तड़पना, झपटना, भागना, घिघियाना, धौंधियाना, मटकना, चटकना, चमकना, झंखना, झीखना, झनकना, पैर पटकना, हाथ मलना, गद्गद होना, 'मगन' (आनंद मे मग्न) वा 'मह्व' वा 'निहाल होना, मुस्कुराना, हंसना, रोना, (हर्ष से भी, शोक से भी) आंसू बहाना, ("प्रेम-दसलिलोत्संगितदृशः"), ताली बजाना. बगल बजाना, कूदना, फुदकना, ज़मीन पर लोटना, कराहना, छटपटाना, तड़फड़ाना, सँवारना. सिंगारना, ढिठाना, चकपकाना, इतराना, तपना, घबराना, गर्माना, ठंढाना, कड़ुआना, खटाना, मिठाना, इत्यादि। कुछ 'अनुभावों' को, संस्कृत-साहित्य शास्त्र मे, विशेष संकेत से, शस्तिलाहन्, "स्त्रीणामलंकारा.", स्त्रियो के अलंकार, हाव, भाव, हेला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, विब्बोक, कुट्टमित, इत्यादि नाम से कहते हैं। कुछ को 'सात्त्विक भाव' कहते हैं, यथा,

स्तम्भ, स्नेह, (अथ) रोमाच, स्वर-भग, (अथ) वेपथु।
वैवर्ण्यं, अश्रु प्रलय., इत्यष्टौ सात्त्विका. स्मृता.

अस्ल मे यह दशा तभी 'सात्त्विक' कहलाने के योग्य है जब तीव्र 'प्रेमा-भक्ति' के भाव और रस से, (जिसका समावेश, 'शृंगार' 'अद्भुत' और 'शांत' के मिश्रण मे किसी तरह किया जा सकता है), अथवा 'करुणा' से, उत्पन्न हों। साधारण 'काम' से जब हो, तब तो इनको 'राजस-तामस' ही कहना चाहिये।

ध्यान करो; 'विसिनोति, व्याप्य बध्नाति सर्वान् इति विष्णु.'। ध्रुव ने ऐसी ही घोर भक्ति की। भगवान् ने दर्शन दिया। तेजोमय रूप से "आगतसाध्वसः", ध्रुव सहम गया, "दंडवत्" प्रणाम किया, फिर प्रेम और भक्ति से भर कर "दृग्भ्यां प्रपश्यन् प्रपिबन् इवाऽर्भकः चुम्बन्निवाऽऽस्येन, भुजैर् इवाऽऽश्लिषन्", आँखें स्फार स्फार कर आराध्य देवता के अनुपमेय सौन्दर्य को मानो पी जाने का जतन करता हुआ, मानो मुख से चूमता हुआ, मानो भुजाओं से आश्लेषण करता हुआ, "कृतांजलिः" "गद्गदस्वरः" बालक कुछ बोल न सका, "विवक्षन्तं अतद्विदं", (प्रेम-भक्ति के अनुभाव)। भगवान् ने ॐ कारध्वनिमय, सर्ववेदमय, कम्बु से, शंख से, बालक के गाल छूए, "ब्रह्ममयेन कम्बुना पस्पर्श बालं कृपया कपोले", वाग्धारा स्तुति रूप से वह निकली (भक्ति के अनुभाव)।

त्वं नित्य-मुक्त परिशुद्ध-विबुद्ध आत्मा
कूटस्थ आदिपुरुषो भगवांस्त्र्यधीशः।
तद् ब्रह्म विश्वभवम् एकम् अनंतम् आद्यम्
आनन्दमात्रम् अविकारम् अहं प्रपद्ये॥

भगवान् ने बालक के मन की इच्छा को पहिचान कर वैसा ही वरदान दिया और अन्तर्धान हुए। उस स्थान पर विन्दुसर नाम का सरोवर हो गया। बालक ध्रुव को देख कर भगवान् के नेत्रों से वहाँ आँसू के बूंद गिरे थे (करुणा का अनुभाव) "यतो भगवतो नेत्रान्न्यपतन्नश्रुबिन्दवः"। ध्रुव उदास मन से, धीरे धीरे, सिर झुकाये, राजधानी की ओर चले, "नाति प्रीतोऽभ्यगात् पुरम्" (अपने ऊपर ग्लानि का अनुभाव), सोना फैला था, ठीकरा गांठ में बांधा, सायुज्य मोक्ष मिल रहा था, क्षुद्र कल्प-स्थायी राज्य मांगा! खोए हुए बालक को लौटना

पुष्पवाटिका, आदि। भय का आलम्बन विभाव, सिंह, व्याघ्र, सर्प आदि, उद्दीपन. अंधकार, रात्रि, जंगल आदि। क्रोध का, शत्रु, तथा उसकी विशेष चेष्टा। इत्यादि।

रागद्वेषोत्थ षट्क के शब्दों मे स्थायी-भाव।

थोड़ी-सी सूक्ष्मेक्षिका से देख पड़ता है कि 'काम' के स्थान मे 'रति', 'दर्प' के स्थान मे 'हास', 'दया' के स्थान मे 'शोक' रखे गये हैं। 'घृणा' का पर्याय ही 'जुगुप्सा' है। 'क्रोध' और 'भय' तो विना रूपातर-शब्दांतर के ही कहे गये हैं। बचे 'उत्साह', 'विस्मय' और 'शांत'। इनकी परीक्षा करनी चाहिये। पर इसके पहले 'हास' के विषय मे कुछ आलोचना उपयुक्त होगी।

हास मे दर्प। नारायण-उर्वशी की कथा

विना 'दर्प' की कुछ मात्रा के 'हास' नही होता। दूसरे को 'बेवकूफ बनाना', अपने को 'होशियार बनाना'—यह हँसी का प्रधान अंग प्राय: देख पड़ता है। तीव्र होने से कुरस हो जाती है, ललित होने से सुरस। हँसना—यह हर्ष का. सुख का, मानो उबाल है, उमड़ पड़ना है। किसी दूसरे की अपने से छोटाई देख कर, अपनी 'अहंता' की.'अहंकार' की, सद्य' और अतिमात्र 'वृद्धि' से जो हर्ष होता है. वह हर्ष. 'अमान्तमिवांगेषु', मानो अपने अंगो मे न अमा सकने के कारण, 'हास' हो कर बाहर निकल पड़ता है। इसका प्रतियोगी. दुःख से अपनी छोटाई का सद्यः अतिमात्र अनुभव करके, 'सिसकना' है। ये दोनो 'अनुभाव' पशुओ मे नही देख पड़ते। मनुष्य 'विज्ञातं विजानाति', 'अहम्' को जानता है, इस लिये 'अहंता' के सद्योवृद्धि और सद्योह्रास से दर्प और शोकसंबंधी 'अपने ऊपर मुदिता' और 'अपने ऊपर

प्रकार से 'मिश्र' रस कह सकते हैं। रागपक्ष मे भी पड़ता है, द्वेषपक्ष मे भी। थोड़ा भी दर्पांश अधिक होने से, 'अवहास' 'अपहास' हो कर, द्वेषपक्ष अधिक देख पड़ने लगता है और लड़ाई शुरू हो जाती है. अंग्रेज़ी मे भी कहावत है, 'जेस्ट आफन पासेज इन्टु अर्नेस्ट'. कारण यही है, कि दूसरे को मूर्ख बनाना—यह हँसी-ठट्ठा का मर्म ही है। परस्पर प्रीतिपूर्वक कृत्रिम दर्प का प्रदर्शन ही जब तक है तब तक 'हास' रागपक्ष मे रहता है।

भक्ति मे पूजा। वात्सल्य मे दया।

जैसे 'रति' के स्थान मे 'समान' की ओर 'काम', और 'करुणा' के स्थान मे 'हीन-दीन' की ओर 'दया', वैसे ही 'विशिष्ट' की ओर यदि 'भक्ति' का रस माना जाय तो उस का स्थायी-भाव अमिश्र 'सम्मान' 'पूजा' होगा। 'विस्मय' इसके पास पहुँचता है. पर उस मे कुछ मिश्रता जान पड़ती है। यदि 'वात्सल्य' रस अलग माना जाय तो उस का स्थायी भाव शुद्ध अमिश्र 'दया' होगी। 'करुणा' और 'वात्सल्य' मे इतना ही भेद है कि 'करुणा' मे, दयापात्र मे शोक की. और दयालु मे अनु-शोक, अनुकंपा, की, मात्रा अधिक है. और वत्स (बच्छा. बच्चा) तथा वत्सल मे बीजरूपेण ही है।

उत्साह मे रक्षाबुद्धि। विस्मय मे आदर।

'उत्साह', 'विस्मय', और 'शान्त' पर अब कुछ विचार करना चाहिये।

पदे पदे सन्ति भटा रणोद्भटा न तेषु हिंसारस एष पूर्यते। (नैषध)

केवल लड़ने की खुजली—यह वीरता नहीं है, प्रत्युत हिंसारस और हिंस्रपशुता है। सद्-उद्देश्य से धर्मयुद्ध करना

साधु जन, जिस धर्म की सेवा करते हैं, और जिस को अपना हृदय भी मानता है कि यह सच्चा धर्म है—उस धर्म को जानो।

शंका हो सकती है कि राग द्वेष के बिना स्थायी भाव, क्या कोई भी भाव, संचारी, व्यभिचारी, अस्थायी भी नहीं, फिर रस कहाँ? समाधान यही है कि निवृत्ति-मार्ग भी क्रमिक है। सद्यो विदेहमुक्ति की प्रलय निद्रा की कथा न्यारी, उस मे न शम का अवसर है न शांतरस का। क्रमिक निवृत्ति और जीवन्मुक्ति मे 'वैराग्य' 'वैद्वेष्य' क्रम से वढ़ता जाता है। उस के साथ-साथ, सांसारिक भावो और रसो के विरोधी, भावाऽभास और रसाऽभास भी, और पारमार्थिक परमानन्द 'महाभाव' का साथी, तात्त्विक, 'रसघन' का 'रस', "सर्वभूतेपु भक्तिर-व्यभिचारिणी" का 'रस' भी, अनुभूत होते हैं। इस महारस मे अन्य सब रस देख पड़ते है, यह सब का समुच्चय है। श्रेष्ठ और प्रेष्ठ अंतरात्मा परमात्मा का (अपने ऊपर) परम प्रेम, 'महाकाम, महाशृंगार' ("अकामः सर्वकामो वा", "मा न भूवं हि भूयासमिति प्रेमात्मनीक्ष्यते"), संसार की विडंबनाओ का 'उपहास', संसार के महातमस् अंधकार मे भटकते हुए दीन जनो के लिये 'करुणा', ("संसारिणां करुणयाऽऽह पुराणगुह्यम्"), पड्रिपुओ पर 'क्रोध', ("क्रोधे क्रोध· कथं न ते"), इनको परास्त करने, इंद्रियो की वासनाओ को जीतने, ज्ञान-दान से दीन भ्रांत जनो की सहायता करने, के लिये 'उत्साह' ("युयोध्यस्मज्जु-हुराणमेनः", "ईश्वरस्य भूतानुग्रह एव प्रयोजनम्". "नमो महाकारुणिकोत्तमाय"), अंतरारि पड्रिपु कहीं असावधान पाकर विवश न कर दे—इसका 'भय'. ("सर्वं वस्तु भयान्वितं जगति रे, वैराग्यमेवाभयम्". "अन्धकारे प्रवेष्टव्यं दीपो यत्नेन धार्यताम्", "भयानां भयं भीपणं भीपणानां", "भीपाऽस्माद्वातः

भावो के बोधक शब्दो मे मूल स्थायी भावो की गणना इष्ट हो तो, स्यात् ऊपर के उद्धृत श्लोक को यो पढ़ना अनुचित न हो—

कामो दर्पो दया क्रोधो रक्षागर्वो भयं तथा।
घृणाऽऽदरौ विरक्तिश्च स्थायिभावा मता इमे ॥

सर्वव्यापिनी अस्मिता।

अहंकार' 'अस्मिता' की उग्रावस्था 'दर्प' है: इस की मात्रा, अध्यात्मदृष्टि से सब वृत्तियो मे, अनुस्यूत है। काम का पर्याय 'कंदर्प' है। 'कं दर्पयति, अथवा कं न दर्पयति इत्यपि'। काम किस के दर्प को रहने देता है? सब को नीचा दिखाता है; तथा किस के दर्प को एक बेर नही बढ़ा देता, किस को उद्धत नही कर देता? हास के दर्प की कथा ऊपर कही गयी। दया करुणा मे भी, दूसरे की सहायता करने की शक्ति मुझ मे है—ऐसा सात्विक दर्प छिपा है, जैसे काम मे तामस, हास मे राजस, अपहास अतिहास मे तामस-राजस, स्मित हसित विहसित मे सात्विक राजस। क्रोध मे भी शक्ति-सामर्थ्य जब है, तब दर्प उपस्थित है। उत्साह मे, दीन की रक्षा की इच्छा और शक्ति के अपने मे अनुभव से, और दुष्ट के तिरस्कार से, अवश्य दर्प की सात्विक मात्रा है। भय मे अहं का, अस्मिता का, राजस-तामस रूप है; दर्प का विवर्त्त दैन्य है. ऊपर कहा गया है कि दुःख मे, 'अहंता-ममता' का वेदन अधिक तीक्ष्ण होता है, सुख मे उतना नही होता, यह ठीक है कि सुख मे जीवात्मा की उपाधि का विकास वा वृद्धि होती है, और दुःख मे संकोच वा ह्रास. पर द्वंद्व-न्याय से, फूलते फैलते हुए भी सुख और उपाधि मानो पतले पड़ते है, और सिकुड़ते हुए भी दुःख और उपाधि मानो पिंडित,

घनीभूत, और द्रुत होते हैं। दुःखों की घृणा में, अपने उत्कर्ष का अनुभव स्पष्ट है। आदर, विस्मय, शब्दों की व्युत्पत्ति से भी जान पड़ता है कि इन में भय और पूजा के भाव मिले हुए हैं। 'ईषद् दरः, भयं, आदरः। विगतः स्मयो यस्मात्, भय से विशिष्टः स्मयः, विस्मयः'।

यदि द्वंद्व, जोड़ा, करना चाहें, तो स्यात् यों देखें—शृंगार-रौद्र (काम क्रोध), हास्य-करुण (हर्ष-शोक, दर्प-दैन्य, तिरस्कार-दया), वीर-भयानक (सामर्थ्य गर्व—असामर्थ्य भय, उत्साह-अपस्मार); बीभत्स-अद्भुत (घृणा-बहुमान)। इन सब के अध्यात्म तत्त्वों की चर्चा विस्तार से मेरे अँगरेजी ग्रंथ 'दि सायंस आफ़ दि इमोशंस' में की गयी है।

रससंकर।

रसों के मिश्रण के विषय में ग्रंथकारों ने लिखा है कि इन-इन रसों का साथ है, यह-यह विरोधी हैं, इन-इन का संकर कविता में न करना चाहिए, इन-इन का संकर हो सकता है और उचित है। ठीक है। पर परमेश्वर के इस जगद्रूप अनंत नाटक में सभी रसों का प्रतिपद संकर देख पड़ता है। लौहित्य में लवण और मधुर का संकर वर्जनीय है। अम्ल के साथ मीठा भी चलता है, (स लवण) सलोना भी। पर नमक और शक्कर एक में मिलाने से दुस्वाद होता है और वमन करा देता है। तो भी, उत्सर्ग के अपवाद भी होते ही हैं। आम की 'मीठी' बनाने में, नमक भी डाला जाता है और गुड़ भी। हाँ, अचार 'सिद्ध' किया जाता है, या धूप से 'सिझा' है, और 'खटाई' में गुड़ भी और नमक भी दोनों हैं। ऐसे ही, साहित्य में "भयानकेन करुणेनापि हास्यो

विरोधभाक्" । पर जीवज्जगन्नाटक मे सबका संकर बहुधा देख पड़ता है ।

अपने अनुभव की कथा ।

कई वर्ष हुए, माघ-मेला के दिनो मे, 'छोटी लाइन' की रेलगाड़ी सवेरे के समय बनारस से चली । गंगा का पुल पार कर के, प्रयाग मे दारागंज के स्टेशन पर ठहरी । भीड़ उतरी । एक 'टिकट-कलक्टर' ने, टिकट जाँचते हुए, एक डब्बे मे से एक स्त्री और तीन बच्चो को उतारा ।

'एक टिकट मे चार आदमी जाना चाहती है ?'

'सयाने कर टिकट लगत हौ. ई तीन तो बच्चा हैं, माफ है, इनकर टिकट नाही लागी ।'

'कैसे न लगेगा ? इन मे से दो तो ज़रूर तीन बरस से ज्यादा हैं. आठ और दस बरस के मालूम होते है, तीसरा भी चार-पाँच का नज़र आता है। तुम को सब के लिये अद्धे टिकटो के दाम देने पड़ेगे, नही तो जुर्माना और कैद भुगतना पड़ेगा ।'

टिकट-कलक्टर ने स्त्री को बहुत 'डाँटना-धमकाना' शुरू किया । वह बहुत नाटे कद की थी । जाड़े का दिन, सवेरे का समय, गंगा-किनारे के मैदान की ठंढी और तेज़ हवा । उस के तन पर केवल एक फटी धोती थी । बच्चे भी ऐसे ही फटे-पुराने कपड़ो मे लपेटे थे । टिकट-कलक्टर अँगरेजी वर्दी पहनते हैं, उस वर्दी मे रोब अधिक होता है । गवर्मेंटी चपरासी भी 'अफसरी' की शान दिखाना चाहते हैं, जिस को 'खादिम' होना चाहिये वह अपने को 'हाकिम' कहता है. जो नौकर था वह मालिक बन गया है । पहले तो स्त्री डरी, घबराई, फिर बच्चों को देख कर उस को 'क्रोध' और 'उत्साह' हुआ । ज़रा-सी

ठिगनी स्त्री ने हैट-कोट-बूट [illegible] जानदार [illegible] टिकट-कलक्टर को [illegible] के ढंग [illegible] तुनकना शुरू किया।

'तूँ हम से जरीमाना और काहे का लेगा? बच्चे हैं इतने कहती [illegible] मोरी गोद पर थाप, तोहार मन होय तो पकड़ के उतार ला। केहू भाँत तीन ठे बच्चन के लिपाइला, तो जरीमाना काहे के कोट कहिहै! और जो तूँ कहता ला कि तीन बरस से जास्ती होवे, तो बरस-ओरस का कायदा नाही हो। कायदा हो कि गिरकी से ऊँचा न होय। तो नाप ला कि इनमें से कोई तो गिरकी से ऊँचा हो।'

देखनेवाला यह देखक 'डर' रहा था कि कहीं टिकट-कलक्टर महाशय इन सब बेचारों को स्टेशन पर रोक ही न ले। (स्त्री और बच्चों को अगले स्टेशन पर उतरना था, पर वहाँ के भी टिकट इसी स्टेशन पर ले लिये जाते थे, और देखनेवाले को भी अगले स्टेशन तक, जहाँ 'लाइन' समाप्त होती है, जाना था)। वह कहना ही चाहता था कि मुझ से टिकटों का दाम ले लो कि टिकट कलक्टर की 'मनुष्यता' ने ज़ोर किया, गिरकीवाली दलील पर 'हँस' पड़ा, माता के हृदय को पहचाना, उसके 'वात्सल्य' का क़ायल हुआ, उन सब की अति दीन 'करुण' अवस्था पर उस को 'दया' आई। कहा—'जा माई, ' 'बहिना' कहना चाहिये था, पर इसकी चाल कम है!),

ं। को लेकर डब्बे मे जा बैठ।'

, 'मुस्कुराती' भी और 'बड़बड़ाती' भी, बच्चों को लेकर जा बैठी।

` ।ले के चित्त मे, टिकट-कलक्टर के 'रौद्र' आरम्भ, 'भय', 'उत्साह' और 'वीरता', 'करुण दशा', 'मार्द-

वात्सल्य', दलील पर 'हास', पृथ्वी पर अधिकांश मानवों को अन्न-वस्त्र के विषय में भी घोर दुर्दशा पर 'ग्लानि' और 'वीभत्सा' भी, तथा ईश्वर के 'अद्भुत' नीतिदारिद्र्य अथवा दारिद्र्यनीति पर 'विस्मय' 'आश्चर्य', और अंततः संसार की लीला का विचार कर के 'शांति'—सभी रसों का संकर हो गया !

मनमाना क़ानून।

प्रसङ्गतः, इस दैनंदिन दृश्यमान तथ्य का भी उदाहरण एक और मिल गया कि कायदा कानून वही जो उस का मनवानेवाला गवर्मेंटी नौकर चाहै। पहिले 'अद्धा टिकट का दाम देना पड़ैगा'—यह कायदा कानून था. पीछे 'जा, माई, जा'—यही कायदा कानून हो गया।

आध्यात्मिक कारण। संसारकी अपरिहार्य द्वंद्वता।

जान पड़ता है कि परमात्मा करुण रस के आस्वादन के लिये ही रौद्र, भयानक, आदि उत्पन्न करता है।

असौ गुणमयैर्भावै. भूतसूक्ष्मेंद्रियात्मभि ।
स्वनिर्मितेषु निर्विष्टो भुंक्ते भूतेषु तद्गुणान् ॥
भावयत्येष सत्वेन लोकान्वै लोकभावनः ।
लीलावतारानुरतो देव-तिर्यङ् नरादिषु ॥
स्वशान्तरूपेष्वितरै. स्वरूपैरभ्यर्धमानेष्वनुकम्पितात्मा ।
परावरेशो महदंशयुक्तो ह्यजोऽपि जातो भगवान्यथाग्नि ॥

(भागवत)

अपुने ही शांत रूप, अपुने ही घोर रूप,
घोर रूप शातन कौं अर्दन करतु हैं—
ऐसो देखि करुणा ते कम्पित-हृदय होइ,
महत्तत्त्व लेइ हरि प्रकट रूप धरतु हैं,

अंगन में अंगन की आपुन को अगम सों
　　　　तिन ही में जीव आदि देव निगमु है;
कूरन को दरद करि, गोरन को गोरन करि,
　　　　करुना भरि धीरहु रस दूनों ही भरतु है।
आपु निर्माण करि, आपु निजि पैर कै,
　　　　आपु सब भूपन को गुन रस पागतु है,
आपु सब लोकन को आपुने ही साम्य तें,
　　　　भावना ध्यान करि सब विधि भावतु है,
आपु अवतार लैन लीलावश विविध वेश,
　　　　देवन पशु पच्छिन मे, मनुजहू दर्शावतु है,
आपु ही बनावत, अरु आपु ही बिगारत, अरु
　　　　आपु ही सदा की सब शान्ति साधि रागतु है।

गाँवों की स्त्रियों के गीतों मे, एक-एक कड़ी मे, जितना करुण रस भरा रहता है – क्योंकि अपने अपरोक्ष घोर अनुभव से उमड़ कर संचित होता है—उतना, स्यात् आर्ष काव्यों को छोड़ कर, अर्वाचीन काव्यों मे, 'उत्तररामचरित' मे भी, कठिनाई से मिलेगा। बहुत वर्ष हुए, सहधर्मिणी के मुख से कुछ गीत सुने, जो उन्हों ने ग्राम की स्त्रियों से सुन कर याद कर लिये थे। सात बहिन और एक भाई मे से छोटी बहिन दूर देश के [illegible] पर बड़े परिवार वाले कुल मे ब्याही गई. बहुत वर्षों [illegible] छोटा भाई उसको देखने गया। 'स्वजनस्य हि दुःखमग्रतो [illegible]रमिवोपजायते', अपने प्राणी के आगे दुःख के कपाट जाते हैं, और आँसू वह चलते हैं। बहिन कहती

सात समुंदर डाँकि अइलै, भैया बीरन् (वीर) ;
सात बहिनिया के भाय, भैया बीरन्,

मोरी माई के एकल पूत, भैया बीरन्,
मोरे बावा के प्रान अधार, भैया बीरन्,
मन एक कूटौं, मन एक पीसौं,
मन एक सीझौ रसोंइया, भैया बीरन्,
पछिली लिटियवा, भैया, मोरा रे भोजनवाँ,
ओहू मे देवरवा कै कलेवा, मोरे बीरन्,
फटही लुगरिया एकं मोरा रे पहिरनवाँ,
ओहू मे देवरवा कै भगहिया, मोरे बीरन्,
एतना दुखवा, भैया, बहिनन से जिन कह्यो,
मोर सुनि ससुरे न जैहैं, मोरे बीरन्,
एतना दुखवा, भैया, बावा से जिन कह्यो,
सभवहिं (सभा मे) बैठल पछितैहैं भैया बीरन्,
एतना दुखवा, भैया, माई से जिन कह्यो,
मचियहिं बैठल माई रोइहैं, मोरे बीरन्।

वर्षो का घोर दारिद्र्य-दुःख, अन्न-वस्त्र का दैनंदिन महाकष्ट, इन शब्दो मे से उबल कर बह रहा है। जब पहले पहल यह गीत सुने, तब चित्त ऐसा व्याकुल हुआ कि किसी तरह शान्त ही न हो धीरे धीरे, उस व्याकुलता ने और उस के सान्त्वन के यत्न ने मिल कर, मन मे नीचे लिखे श्लोको का रूप धारण किया, उन को लिखा तब मन कुछ स्थिर हुआ. आदि कवि महर्षि वाल्मीकि जी के रचे प्रथम श्लोक के जन्म की कथा अब ठीक समझ मे आई, मालुम हुआ कि सच्ची कविता, यथा ग्रामगीत. उत्कट भावो के तात्कालिक उद्गार से ही बनती है।

अहह, वेद्मि यतोऽसि जनार्दनो, ननु जगज्जनकोऽपि भवन्भवान्।
स्रवति नाति पयो जननीस्तनाद् यदि न रोदिति वेदनयाऽर्भक ॥

परमनाटककृत् करुणारतिर्भृशतरं ननु रौद्रमचीकरः।
उदयतेऽति विनाऽद्यमर्दनं न ननु दीनजने दयनीयता॥
अपि रसेषु रसः करुणो वरो, ह्यपि भवान् रसिकोऽसि रसे वरे।
अपि ततो जगतां जनकोऽपि सन् भवसि निर्दय एव जनार्दनः॥

हे भगवन्!, अब मुझे जान पड़ा कि आप क्यों, समस्त जगत् के जनक पिता होकर, जन (नाम दैत्य के भी, और मानव जनता) के (भी) अर्दन करनेवाले भी हो; जब तक बालक रोता नहीं तब तक जननी के स्तन से दूध नहीं बहता। हे परम कवि! जगन्नाटककार! भृशतर करुणा का स्वाद लेने के लिये आप घोर रौद्र रचते हो, विना दीन दुर्बल को दारुण पीड़ा दिये, उन मे दयनीयता नहीं उत्पन्न होती, इसी लिये जनता के जनक होते हुए जनार्दन भी हो जाते हो; रसों मे करुण रस श्रेष्ठ कहा है, और आप रसिकों मे श्रेष्ठ हो।*

हाँ, ग्रामगीतों मे शब्द-अर्थ का परिष्कार-अलंकार न हो, पर—

अस्ति चेद्रससम्पत्तिः अलङ्कारा वृथा इव।
नास्ति चेद्रससम्पत्तिः अलङ्कारा वृथैव हि॥

रामावतार की सर्वरसमय कथा।

अच्छा, यह हुई जीवज्जगन्नाटक मे रस संकर की कथा। लिखित काव्य की कथा देखिये। 'भट्टिकाव्य' का प्रथम श्लोक है—

---

* जैसे 'आप' के साथ 'हो' का प्रयोग अनुवाद मे किया है, 'है' का नहीं, वैसे ही संस्कृत श्लोक मे 'भवान्' के साथ 'असि' का प्रयोग पूर्वार्द्ध किया है, 'अस्ति' का नहीं; कान को कुछ अधिक मीठा लगता, और पुस्तकों मे कहीं कहीं मिलता भी है।

अभून्नृपो विबुधसखः परन्तप.
श्रुतान्वितो दशरथ इत्युदाहृत ।
गुणैर्वरं भुवनहितच्छलेन यं
सनातन पितरमुपागमत् स्वयम् ॥

सनातन पुरातन पुरुष, अतिवृद्ध ("कालेनानवच्छेदात्"), 'शांत'-रसाधिष्ठाता, ब्रह्मांडपति, अतिविस्तृत संसार के असंख्य जीवो के निग्रह-अनुग्रह-प्रग्रह-संग्रह की, और कर्मफल-दान की, अपरिमेय चिंता करते-करते थक गए, उवियाय (उद्विग्न हो) गए। यह सब चिंता दूर फेक कर, एक बेर मन भर, कैसे खेल लें—यह उत्कट अभिलाषा उठी। "अश्वैः यानं यानं, दुग्धैः पानं पानं, बालैर्लीला लीला।" आप छोटे बच्चे हो जायँ, और दूसरे बच्चो का साथ भी हो, तब दूसरो के माथे भर पेट खेलते-कूदते बने। पर सब माता-पिता एक-से नही होने, कोई-कोई तो बच्चो की डॉट-घोट भी किया करते है, और पुरुष-पुरातन के माता-पिता होने के लिये ऐसे-वैसे जीव भी नही चाहिये, सर्वोत्कृष्ट ही हो। तो ऐसे माँ-बाप ढूँढ़ना चाहिये जो अच्छे से अच्छे हो, सारी पृथ्वी के आदरणीय पूजनीय हों, और बच्चों पर खूब रीझे भी और 'निहाल' हो। चारो ओर देखा। करीब-करीब अपने ही इतने बूढ़े कौशल्या और दशरथ देख पड़े, महाराज दशरथ, "श्रुतान्वित," सर्वज्ञप्राय, और ज्ञानी ही नही, बडे धर्मी कर्मी, क्षत्रियधर्म राजधर्म के अनुसार परंतप, बड़े शूर-वीर, प्रतापी, दुष्ट शत्रुओ का दमन करनेवाले। वह भी ऐसे-वैसे तलवार चलानेवाले नहीं, "विबुधसख", इस उच्च कोटि के अस्त्र-शस्त्र का प्रयोग करनेवाले कि इन्द्र भी उन से मित्रता खोजते थे और देवासुर-संग्रामो मे सहायता माग लिया करते थे। "गुणै-र्वर", सब श्रेष्ठ-वरिष्ठ गुणो से विभूपित। और "नृप", पृथ्वी

परमनाटककृत् करुणारतिर्भृशतरं ननु रौद्रमचीकरः।
उदयतेऽस्ति विनाऽदयमर्दनं न ननु दीनजने दयनीयता॥
अपि रसेषु रसः करुणो वरो, ह्यपि भवान् रसिकोऽसि रसे वरे।
अपि ततो जगतां जनकोऽपि सन् भवसि निर्दय एव जनार्दनः॥

हे भगवन् !, अब मुझे जान पड़ा कि आप क्यों, समस्त जगत् के जनक पिता होकर, जन (नाम दैत्य के भी, और मानव जनता) के (भी) अर्दन करनेवाले भी हो; जब तक बालक रोता नहीं तब तक जननी के स्तन से दूध नहीं बहता। हे परम कवि ! जगन्नाटककार ! भृशतर करुणा का स्वाद लेने के लिये आप घोर रौद्र रचते हो; बिना दीन दुर्बल को दारुण पीड़ा दिये, उन में दयनीयता नहीं उत्पन्न होती; इसी लिये जनता के जनक होते हुए जनार्दन भी हो जाते हो; रसों में करुण रस श्रेष्ठ कहा है, और आप रसिकों में श्रेष्ठ हो। *

हाँ, ग्रामगीतों में शब्द-अर्थ का परिष्कार-अलंकार न हो, पर—

अस्ति चेद्रससम्पत्तिः अलङ्कारा वृथा इव।
नास्ति चेद्रससम्पत्तिः अलङ्कारा वृथैव हि॥

रामावतार की सर्वरसमय कथा।

अच्छा, यह हुई जीवज्जगन्नाटक में रस संकर की कथा। लिखित काव्य की कथा देखिये। 'भट्टिकाव्य' का प्रथम श्लोक है—

---

* जैसे 'आप' के साथ 'हो' का प्रयोग अनुवाद में किया है, 'है' का नहीं, वैसे ही संस्कृत श्लोक में 'भवान्' के साथ 'असि' का प्रयोग जानबूझ कर किया है, 'अस्ति' का नहीं, कान को कुछ अधिक मधुर जान पड़े, और पुराणों में कहीं कहीं मिलता भी है।

अभून्नृपो विबुधसखः परन्तपः
श्रुतान्वितो दशरथ इत्युदाहृत ।
गुणैर्वरं भुवनहितच्छलेन यं
सनातन पितरमुपागमत् स्वयम् ॥

सनातन पुरातन पुरुष, अतिवृद्ध ("कालेनानवच्छेदात्"), 'शांत'-रसाधिष्ठाता, ब्रह्मांडपति, अतिविस्तृत संसार के असंख्य जीवों के निग्रह-अनुग्रह-प्रग्रह-संग्रह की, और कर्मफल दान की, अपरिमेय चिंता करते-करते थक गए, उबियाय (उद्विग्न हो) गए। यह सब चिंता दूर फेंक कर, एक बेर मन भर, कैसे खेल ले—यह उत्कट अभिलाषा उठी। "अश्वैः यानं यानं, दुग्धैः पानं पानं, बालैर्लीला लीला।" आप छोटे बच्चे हो जायँ, और दूसरे बच्चो का साथ भी हो, तब दूसरो के माथे भर पेट खेलते-कूदते बने। पर सब माता-पिता एक-से नहीं होते, कोई-कोई तो बच्चों की डाँट-धोंट भी किया करते हैं और पुरुष-पुरातन के माता-पिता होने के लिये ऐसे-वैसे जीव भी नहीं चाहिये, सर्वोत्कृष्ट ही हो। तो ऐसे माँ-बाप ढूँढ़ना चाहिये जो अच्छे से अच्छे हो, सारी पृथ्वी के आदरणीय पूजनीय हो, और बच्चों पर खूब रीझे भी और 'निहाल' हो। चारो ओर देखा। करीब-करीब अपने ही इतने बूढ़े कौशल्या और दशरथ देख पड़े; महाराज दशरथ, "श्रुतान्वित, सर्वज्ञप्राय; और ज्ञानी ही नहीं, बड़े धर्मी कर्मी, क्षत्रियधर्म राजधर्म के अनुसार परंतप, बड़े शूर-वीर, प्रतापी, दुष्ट शत्रुओं का दमन करनेवाले। वह भी ऐसे-वैसे तलवार चलानेवाले नहीं, "विबुधसख", इस उच्च कोटि के अस्त्र-शस्त्र का प्रयोग करनेवाले कि इन्द्र भी उन से मित्रता खोजते थे और देवासुर-संग्रामो मे सहायता माँग लिया करते थे। "गुणैर्वर", सब श्रेष्ठ-वरिष्ठ गुणो से विभूषित। और "नृप", पृथ्वी

के प्रजापालक सम्राट्, महासमृद्धिशाली, जिन के यहाँ मक्खन-मिसरी की कमी नहीं, जो लड़कों को बहुत प्रिय भी है और बहुत उपकारक भोज्य-सार भी है। और सर्वोपरि यह कि उन के संतान नहीं, और संतान के लिये रात-दिन तरसते हैं। बूढ़े आदमी, अपनी आजन्म की बटोरी अक्कल को फेंक कर, बेवकूफ होकर, बच्चों पर 'छछाते' हैं, और उन को मनमानी तोड़-फोड़ फेंक-फाँक करने देते हैं। तो, बस, इन्हीं की गोद में जन्म लेना और इन के सिर पर खूब खेलना। पुरुष कितना भी बच्चों पर रीझें पर स्त्रियों के ऐसा नहीं ही 'छछा' सकते, "उशतीरिव मातरः", और एक माता जितना प्रेम करेगी, उस का अवश्य तिगुना प्रेम तीन माता करेंगी, इस दृष्टि से भी दशरथ ही जँचे, क्योंकि उन की तीन पत्नियाँ थीं। फिर अकेला बच्चा कैसे खेलेगा? साथी चाहियें, साथी बच्चे कहाँ से आवें? अपने चार टुकड़े कर डाले। लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न के साथ रामजी दशरथ के घर आए। पुराण-पुरुष खेलने चले, लोग हँसेंगे। कोई बहाना निकालना चाहिये। तो "भुवनहितच्छलेन", राक्षसों को दूर कर के संसार का उपकार करेंगे, आसुरी संपत् को हटाकर दैवी संपत् का पुनः भारतवर्ष में उज्जीवन करेंगे। बहुत अच्छा, भारत-जनता के हृदय में घर-घर अवतार लेकर बहाने को [illegible] सदा कीजिये। अवतारों को, "परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृताम्", सब विविध प्रकारों के महाकार्य करने पड़ते हैं, एक ओर रक्षा साधुओं की, एक ओर विनाश पापियों का। इस से इन के महाचरितों में सभी 'रस' प्रकट होने पड़ते हैं। बाल्यलीला में और माता-पिता के संबंध में 'वात्सल्य' और 'भक्ति'; स्त्रीसाहचर्य में ललिततम 'शृंगार'; विविध वियोगों की 'करुणा'; दुर्जनता में 'वीर', 'रौद्र', 'भयानक', और रणभूमि

की युद्धानंतर 'बीभत्सता', सनातन के पिता खोजने मे और भुवनहितच्छल मे 'हास्य' और 'अद्भुत'; सनातनता मे 'शान्ति'—सभी एकत्र हैं ।

कृष्णावतार की सर्वरसमयता ।

भागवत मे कृष्णावतार का भी श्लोक है—

मल्लानामशनिः, नृणां नरवर , स्त्रीणां स्मरो मूर्त्तिमान् ,
गोपानां स्वजनो, ऽसतां क्षितिभुजां शास्ता, स्वपित्रो. शिशु ।
मृत्युर्भोजपते., विराड् अविदुषां, तत्त्व परं योगिनाम् ,
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गत केशवः ॥
रौद्रोऽद्भुतश्च श्रृङ्गारो हास्यो वीरो दया तथा ।
भयानकश्च बीभत्स शान्त सप्रेमभक्तिक॰ ॥ (श्रीधरी)

मल्लों के लिये वज्र; साधारण जनता के लिये नरश्रेष्ठ, पुरुषसार, स्त्रियो के लिये मूर्त्तिमान् कामदेव, ग्वालों के लिये अपनी विरादरी के; राजाओ के लिये शासक, माता-पिता के लिये बच्चे, कंस के लिये मृत्यु ही, नासमझो के लिये, 'विकलं राजते', मारे हुए कुवलयापीड हाथी और मल्लो के रुधिर आदि से लिप्त, 'बीभत्स लगते हैं', योगियों के लिये परमतत्त्व के अवतार, वृष्णियों के लिये इष्टदेव—रंग भूमि मे प्रवेश किये हुए केशव ऐसे विविध रूप से विविध दृष्टियों को देख पड़े ।

आत्मरस ।

"सोऽयमात्मा सर्वविरुद्धधर्माणामाश्रय ", "यस्मिन् विरुद्ध-गतयो ह्यनिशं पतन्ति ', "तस्मै समुपद्धविरुद्धशक्तये नमः परस्मै पुरुषाय वेधसे", "यदविद्या च विद्या च पुरुषस्तूभ-याश्रय॰", (भागवत); "आत्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन

आत्मानन्दः स स्वराड् भवति" (छान्दोग्य); "स स्वराड् भवति य एवं वेद" (नृसिंहतापनी), इत्यादि ।

आत्मनोऽन्यत्र या तु स्याद् रसबुद्धिर्न सा ऋता ।
आत्मनः खलु कामाय सर्वमन्यत् प्रियं भवेत् ।
सत्यो ध्रुवो विभुर्नित्य एक आत्म'रसः' स्मृतः ॥

आत्मा से अन्य पदार्थ मे जो रस-बुद्धि होती है वह मिथ्या है, आभास है, सच्ची और आत्यंतिक नही; क्योंकि आत्मा ही के लिये तो अन्य वस्तु प्रिय होती है, आत्म-रस ही सच्चा है।

निष्कर्ष ।

इस 'रसमीमांसा' का निष्कर्ष यह होता है कि, जीवात्मानंद के छः मुख्य तथा अवांतर असंख्य मिश्र 'भावों' का आस्वादन—यह काव्यसाहित्य मे व्यवहृत स्वार्थ 'रस' है। संसार-नाटक का लीला-बुद्धि से प्रवर्त्तन-निवर्त्तन और परमानंद-परमात्मानंद का आस्वादन—यह परमार्थ 'रस' है।

सर्वरसमय जगन्नाटककार की वन्दना ।

'कविं पुराणमनुशासितारम्,' यं वेदवाक्यानि गृणन्ति भूयः ।
'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः', उद्गीयमानोऽस्ति य एवमेभिः ॥
यो वै कलानां च सदाऽपि ज्ञाता आद्यश्च कर्त्ता च गुरुर्गरीयान् ।
तत्त्वं [illegible] वाल्ये, तं सर्वभावेन हृदा प्रपद्ये ॥

सृष्टिस्थितिलयाभासं सन्ततं सकलं जगत् ।
लीलामयं सर्वरसं नाटकं परमं कवेः ॥
कवेर्लीला-प्रथा प्रीतिः, लीला रसमयी क्रिया ।
रस्यभावविभूतीनामास्वादना रसनं रसः ॥
नमो रसाय [illegible] सर्वेषामथ सर्वदा ।
[illegible] द्वन्द्वानामाश्रयाय च ॥

रसाय, रससाराय, तथा रसघनाय च ।
रसाना च निधानाय, तथा रसतमाय च ॥
रसानामपि सर्वेषां रसिकायैकलाय च ।
प्रेष्ठाय, सर्वश्रेष्ठाय, परमानन्दरूपिणे ॥
जगन्नाटककाराय, सर्वपात्रमयाय च ।
सर्वस्य सूत्रधारायाऽध्यक्षाय कवये नमः ॥

॥ ॐ ॥

नज़ीर की एक उर्दू कविता

आशिके ज़ार हूं मै, तालिबे आराम नहीं,
नंगो नामूसि दुनिया से मुझे काम नहीं;
बेसरो-पाई का उश्शाक़ को खतरा क्या है?
असरे इश्क़ है यह, गर्दिशे अय्याम नहीं;
आलमे इश्क की दुनिया ही निराली देखी,
सहरो शाम वहाँ ये सहरो शाम नहीं,
बे निहायत, जिसका पाया है नहीं पायाँ,
जिस जगह हम पहुँचे हैं आगाज़ है, अंजाम नहीं;
फ़िक्र दुनिया की मलामत की तुझे क्या है, नज़ीर!,
आशिक़ों मे तो अकेला तू ही बदनाम नहीं!

(हिंदी अनुवाद)

प्रेमी घोर भयो हूं मैं तो, नहिं सुख ढूंढन वारो,
जग आडम्बर अरु लोक लाज तें नहिं कछु काज हमारो;
बे सिर पैर बात प्रेमिन की, तिन में अर्थ न हेरो,
यह तो है प्रभाव प्रेम हि को, नाहि दिनन को फेरो;
प्रेम लोक इन सब लोकन तें देख्यो भिन्न घनेरो,
यहँ के साँझ सवेरा नाहीं वहँ की साँझ सवेरो;
अति अगाध बिनु थाह जलधि यह, अंत कतहुं न निहारो,
जहँ पहुँचन तहँ आदि हि देखत, नहीं वार नहिं पारो,
लोक कथन की चिन्ता मे क्यों तुव चित निकारो!
प्रेमिन मे तो तेरो ही नहिं इकलो नाम बिगारो!

ॐ

४—काम-शास्त्र के आध्यात्मिक तत्त्व

[वात्स्यायन के कामसूत्र के एक हिन्दी अनुवाद के सम्बन्ध मे, एक सज्जन के निर्बंध से, एक छोटा निवन्ध, संवत् १९८९ वि०, अर्थात् सन् १९३२ ई०, मे लिखा गया, उसी का वहुत उपबृंहित रूप यह है।]

सोऽयमित्थमथ भीमनन्दिनीम्
दारसारमधिगम्य नैषध ।
तां तृतीय-पुरुषार्थ वारिधे
पारलम्भनतरीम् अरीरमत्॥ ॥ (नैषधचरितम्)

मनुष्य की तीन प्रधान इच्छा—आहार, परिग्रह, और सन्तान।

आहारेच्छा—बच्चा पैदा हुआ नहीं कि उसको भूख-प्यास लगती है। उसका मुँह देखते ही, उसका रोना सुनते ही, माता का वात्सल्य, मूर्ति धारण कर के, दूध के रूप मे वह निकलता है, और बच्चे का पोषण करता है। गर्भ के भीतर भी माता ने साक्षात् अपने रुधिर से, उसकी नाभि के द्वारा,

---

॥ अति सुन्दर राजा नल ने, राजा भीम की अति सुन्दरी पुत्री दमयन्ती को, स्वयम्वर की विधि से, विवाह किया, और तृतीय पुरुषार्थ 'काम' के समुद्र को, इस दारसार रूपिणी नौका के सहारे, पार किया।

मे आने पर, पुरुष और स्त्री को, दूसरों के सहारे की आवश्यकता कम हो जाती है। स्वयं दूसरों को सहारा दे सकने की योग्यता होने लगती है। शरीर मे विशेष वृद्धि, पुष्टि, रोम आदि की उत्पत्ति (मुख पर, कक्ष मे, गुह्यस्थान के पास), मन बुद्धि और शरीर मे विशेष शक्ति, स्फूर्ति, क्षोभ, चंचलता, देख पड़ती है। और 'संतान' उत्पन्न करने की इच्छा और शक्ति अनुभूत होती है।

प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवद् आचरेत्।

शुक्रधरा कला—आयुर्वेद के ग्रंथों मे कहा है कि जन्मकाल मे ही 'शुक्रधरा-कला' मूर्धा से नीचे बढ़ने लगती है। ज्यों ज्यों नीचे उतरती है त्यों-त्यों अङ्गों मे पुष्टि और कांति बढ़ती है। चौदहवें सोलहवें वर्ष मे, (सामान्य अनुगम से), स्त्री पुरुष के स्तन तक आती है; तब दोनों स्तन कुछ फूलते हैं, पुरुष के भी, स्त्री के भी। कुछ काल के बाद पुरुष के स्तनों की फूलन घट जाती है, स्त्री की बढ़ती जाती है। इस समय मे संतान उत्पन्न करने की शक्ति मनुष्य को होती है। पर वह शक्ति अभी सर्वथा कच्ची रहती है। स्त्री का रजःक्षय, पुरुष का वीर्यक्षय, यदि इसी समय मे आरम्भ हो जाय, तो शरीर और मन कच्चा, दुर्बल, तेजोहीन, रोगी हो जायगा, और संतान भी वैसी होगी। पच्चीसवें वर्ष मे यह शुक्रकला पैर की अंगुलियों तक पुष्ट होती है। 'आ नखेभ्यः प्रविष्टः' (उपनिषत्)।

यदि समाज के सौभाग्य के दिन लौटें, यदि क्षुद्रता, नीचता, और पापमय भावों की इच्छा दूर हो, और शुभता, आर्यता, और पुण्यात्मक भावों की इच्छा बढ़े, यदि सद् ज्ञान और तदुचित सद् कर्म, सद् इच्छा, और सद् आचरण समाज में फैले, यदि ब्रह्मचर्य की पूर्ण अवधि का पालन स्त्री पुरुषों से कराने लग पड़ें,

कन्या-दूषण और कुमार-दूषण का घोर पाप जो आज काल बहुत हो रहा है बंद हो, तो मनुष्यो के ठिकाने देवो और देवियो का समाज हो जाय, सब तरफ चमकते हुए चेहरे, उज्ज्वल अङ्ग, नीरोग विशाल सुंदर स्त्री-शरीर और पुरुष-शरीर, 'आशिष्ठो, बलिष्ठो, द्रढिष्ठः' (उपनिषत्), और सब शास्त्रो के मर्म को जाननेवाली बुद्धियां, चारो ओर देख पड़ने लगें।

मेधाऽसि देवि विदिताखिलशास्त्रसारा। (दुर्गासप्तशती)
ज्ञानं शौर्यं महः सर्वं ब्रह्मचर्ये प्रतिष्ठितम्। (म० भा०)
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्।
षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिक व्रतम्।
तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा॥ (मनु)
ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। (वेद)

ऐसी मेधा, बुद्धि, जो सब शास्त्रो के सार को जानती है, ब्राह्मण वृत्ति के उचित सच्चा गम्भीर ज्ञान-विज्ञान, क्षत्रिय वृत्ति के उचित सच्चा दुर्बल-रक्षक दुष्ट-तक्षक शौर्य, वैश्य वृत्ति के उचित सच्चा श्री-विस्तारक सर्व-पोषक महस्—यह सब ब्रह्मचर्य पर प्रतिष्ठित है। इस लिये कर्त्तव्य यह है कि विद्यार्थी अवस्था मे, ब्रह्मचर्य आश्रम मे, वीर्य का स्रावन, शुक्र का स्खलन, अवकिरण, न होने दे, काम का उद्दीपन करनेवाली वातों और क्रियाओ से परहेज़ करै। माता पिता का, तथा अध्यापक गुरु का, परम कर्त्तव्य है कि इस विषय मे पुत्र, दुहिता, शिष्य, की रक्षा करें; दुष्टो की कुसङ्गति से बचावें, तथा ऐसा उपदेश, समझदारी के साथ, विवेक-पूर्वक, दे, कि कन्या और कुमार अपनी रक्षा स्वयं बुद्धि-पूर्वक कर सकें, ऐसे प्रकार से उपदेश न दे कि उस ओर और कुतूहल बढ़े न ऐसे ही डरावने प्रकार से कि इसका नाम लेते ही भय और कम्प कोमल हृदय मे पैदा

मे आने पर, पुरुष और स्त्री को, दूसरों के सहारे की आवश्यकता कम हो जाती है। स्वयं दूसरों को सहारा दे सकने की योग्यता होने लगती है। शरीर मे विशेष वृद्धि, पुष्टि, रोम आदि की उत्पत्ति (मुख पर, कक्ष मे, गुह्यस्थान के पास), मन बुद्धि और शरीर मे विशेष शक्ति, स्फूर्ति, क्षोभ, चंचलता, देख पड़ती है। और 'संतान' उत्पन्न करने की इच्छा और शक्ति अनुभूत होती है।

प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवद् आचरेत्।

शुक्रधरा कला—आयुर्वेद के ग्रंथों मे कहा है कि जन्मकाल मे ही 'शुक्रधरा-कला' मूर्धा से नीचे बढ़ने लगती है। ज्यों ज्यों नीचे उतरती है त्यों-त्यों अङ्गों मे पुष्टि और कांति बढ़ती है। चौदहवें सोलहवें वर्ष मे, (सामान्य अनुगम से), स्त्री पुरुष के स्तन तक आती है, तब दोनों स्तन कुछ फूलते है, पुरुष के भी, स्त्री के भी। कुछ काल के बाद पुरुष के स्तनों की फूलन घट जाती है, स्त्री की बढ़ती जाती है। इस समय मे संतान उत्पन्न करने की शक्ति मनुष्य को होती है। पर वह शक्ति अभी सर्वथा कच्ची रहती है। स्त्री का रजःक्षय, पुरुष का वीर्यक्षय, यदि इसी समय मे आरम्भ हो जाय, तो शरीर और मन कच्चा, दुर्बल, तेजोहीन, रोगी हो जायगा, और संतान भी वैसी होगी। इक्कीसवें वर्ष मे यह शुक्रकला पैर की अंगुलियों तक पुष्ट होती है। 'आ नखेभ्यः प्रविष्टः' (उपनिषत्)।

यदि समाज के सौभाग्य के दिन लौटें, यदि क्षुद्रता, नीचता, और तामस भावों की हवा दूर हो, और शुक्लता, आर्यता, और सात्त्विक भावों की हवा बहे, यदि सत् ज्ञान और सद्विचार सत् भाव, सत् इच्छा, और सत् आचरण समाज मे फैलें, यदि ब्रह्मचर्य की पूर्ण अवधि का पालन स्त्री पुरुषों से करते बन पड़े

कन्या-दूषण और कुमार-दूषण का घोर पाप जो आज काल बहुत हो रहा है बंद हो, तो मनुष्यो के ठिकाने देवो और देवियो का समाज हो जाय, सब तरफ चमकते हुए चेहरे, उज्ज्वल अङ्ग, नीरोग विशाल सुंदर स्त्री-शरीर और पुरुष-शरीर, 'आशिष्ठो, बलिष्ठो, द्रढिष्ठः' (उपनिषत्), और सब शास्त्रो के मर्म को जाननेवाली बुद्धियां, चारो ओर देख पड़ने लगें ।

मेधाऽसि देवि विदिताखिलशास्त्रसारा । (दुर्गासप्तशती)
ज्ञानं शौर्यं मह. सर्वं ब्रह्मचर्ये प्रतिष्ठितम् । (म० भा०)
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत् ।
षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिक व्रतम् ।
तदर्धिकं पादिक वा ग्रहणान्तिकमेव वा ॥ (मनु)
ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् । (वेद)

ऐसी मेधा, बुद्धि, जो सब शास्त्रो के सार को जानती है, ब्राह्मण वृत्ति के उचित सच्चा गम्भीर ज्ञान-विज्ञान, क्षत्रिय वृत्ति के उचित सच्चा दुर्वल-रक्षक दुष्ट-तक्षक शौर्य, वैश्य वृत्ति के उचित सच्चा श्री-विस्तारक सर्व-पोषक महस्—यह सब ब्रह्मचर्य पर प्रतिष्ठित है । इस लिये कर्त्तव्य यह है कि विद्यार्थी अवस्था मे, ब्रह्मचर्य आश्रम मे, वीर्य का स्रावन, शुक्र का स्खलन, अव-किरण, न होने दे काम का उद्दीपन करनेवाली बातों और क्रियाओ से परहेज करै। माता पिता का, तथा अध्यापक गुरु का, परम कर्त्तव्य है कि इस विषय मे पुत्र, दुहिता, शिष्य, की रक्षा करैं, दुष्टो की कुसङ्गति से बचावे, तथा ऐसा उपदेश, समझदारी के साथ, विवेक-पूर्वक, दे कि कन्या और कुमार अपनी रक्षा स्वयं बुद्धि-पूर्वक कर सकै, ऐसे प्रकार से उपदेश न दे कि उस ओर और कुतूहल बढ़े न ऐसे ही डरावने प्रकार से कि इसका नाम लेते ही भय और कम्प कोमल हृदय मे पैदा

हो जाय। इस प्रकार से विद्यार्थी अवस्था में, कुमारावस्था कन्यावस्था में, शुक्र (पुरुष-वीर्य) शोणित (रजस्, स्त्री वीर्य) का सञ्चय कर के, और शरीर और बुद्धि को सुपुष्ट कर के, तब गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे, और विवाह कर के न्याय-प्राप्त शास्त्र-सम्मत धर्म-संगत काम-सुख का, रति का, प्रीति का, संतति का, अनुभव करे। उत्तम प्रकृति के जीवों के लिये, उपनयन से आरंभ कर के, ब्रह्मचर्याश्रम की पूरी अवधि छत्तीस वर्ष कही है; द्वितीय श्रेणी के लिये, अठारह, तीसरी कोटि के लिये, नौ; अथवा जो विद्या सीखना चाहता हो, उसके प्राप्त हो जाने तक।

ऐसा सौभाग्य समाज का न होने से, सात्त्विक भावों के ह्रास और संकुचित, क्षीण, न्यून हो जाने से, प्रत्युत, दुर्भाग्य के उदय से, राजस तामस भावों के विकास और प्रसार से, काम के साम्राज्य में, स्त्री-पुरुष के परस्पर व्यवहार के विषय में, नितान्त उच्छृंखलता, निर्मर्यादता, अश्लील भाषण, हस्त-मैथुन से आरम्भ कर के वेश्यागमन, परदारगमन, बलात्कार, कुमार-हरण, कन्याहरण तक, छोटे और बड़े, घोर, घोरतर, घोरतम, दुराचार पापाचार के प्रचार से, फल यह है कि निर्बुद्धि, दुर्बुद्धि, निःसत्त्व, कुरूप, विचित्र पशुओं की प्रकृति के, विविध शारीर और मानस रोगों से ग्रस्त, परस्पर-स्नेह-रहित, सद्भावहीन, छिद्रान्वेषी, दम्भात्मक, कलहशील, कामी, क्रोधी, लोभी, भीरु, मत्सर, मर्षालु, ईर्ष्यालु, असूयालु ही बहुतेरे स्त्री और पुरुष इधर उधर देख पड़ते हैं। स्त्री और पुरुष के जिन जिन गुणों अथवा दोषों से कैसी कैसी गुणवती या दोषवती सन्तान होती है, इस का वर्णन सुश्रुत में किया है जो आगे लिखा जायगा।

[illegible] ।

[illegible] ॥

युवा युवती के अंगो पर, मोती के आब, पानी, छाया, आभा, चमक, के ऐसी तरलता, जो देख पड़ती है, उसको 'लावण्य' कहते हैं। 'आभा लवणखण्डे या तद्वत्तारल्यम्अन्तरा', ऐसा कहते तो 'लावण्य' शब्द का अर्थ अधिक स्पष्ट होता; लवण, लोन, नोन, नमक के टुकड़े के ऐसी चमक। हिन्दी मे 'स-लोनी-सूरत' कहते भी है। सो आज काल ऐसी लावण्यमयी आकृति देखने को जल्दी मिलती नही, न युवा मे, न बालक बालिका मे, मध्यायु और वृद्धो की कथा दूर, आंखे खोजती रह जाती हैं। शुक्रकला की रक्षा से ही यह चमक शरीर पर उत्पन्न होती है; सो रक्षा नही होती याने पहिनने मे भी तरह तरह की त्रुटि और असंयम होते है। इसी से व्यक्ति और समाज 'अ-दर्शनीय' हो रहे है, दर्शन के अयोग्य और 'सम्यग् दर्शन' से शून्य।

बहुत थोड़ा सा भी विचार करने से स्पष्ट देख पड़ता है कि सच्चे सात्विक धर्माऽनुकूल काम-शास्त्र की, काम सम्बन्धी अच्छे ज्ञान की, गृहस्थ और गृहिणी को कितनी भारी आवश्यकता है। संतान का उत्कर्ष, अतः समाज की उन्नति, सब इसी पर आश्रित है।

जैसे यह 'सन्तान की, 'प्रजनन' की, इच्छा जन्मसे कई वर्ष पीछे व्यक्त होती है, वैसे ही, साधारण रीति से, मरण के बहुत पहिले, शरीर के जरा से जीर्ण होने पर, लुप्त हो जाती है।

तीनों की मूल वासना—परमात्मा का काम-संकल्प—उससे तीनों की उत्पत्ति।

यह तीन कामना, एषणा, इच्छा, 'आहार' की, 'परिग्रह' की, (मिथः, परस्पर, स्त्री पुरुष के प्रसंग से, मिथोभाव से, मिथुनता से, दो दो के जोड़ा जोड़ा साथ से, परस्पर 'रति' से,

इस 'लोक' में अन्नमय-प्राणमय-कोषात्मक स्थूल शरीर के बने रहने का साधन है, वैसे उत्तम कर्मों से कमाया 'यशस्' मनोमय-विज्ञानमय कोषात्मक सूक्ष्म शरीर का 'आहार' होकर, 'परलोक' में उसकी स्थिति का साधन होता है। इसका विस्तार करने का यहां अवसर नहीं। दूसरे ग्रंथों में किया है।* निष्कर्ष यह है कि, स्थूल शरीर की दृष्टि से जो आहारेच्छा, धनेच्छा, रतीच्छा है, वह सूक्ष्म शरीर की दृष्टि से सम्मानेच्छा, ज्ञान-संग्रहेच्छा, (शास्त्रैषणा), ऐश्वर्येच्छा, अर्थात् इज्ज़त, इल्मो दौलत, हुकूमत (अधिकार, आज्ञा-शक्ति, ईश्वर-भाव) है।

इन तीन इच्छाओं की पूर्ति यदि उचित मात्रा में, उचित प्रकारों से, न्याय से, धर्म से, क़ायदे से, की जाय, तो संसार के सब उत्तमोत्तम सुख मनुष्य को मिलें, और उसके लिये पृथ्वी पर स्वर्ग आ जाय। यदि इनकी पूर्ति न की जाय, अथवा अति मात्रा में, अनुचित मात्रा में, दुष्ट प्रकारों से, अन्याय और अधर्म से की जाय, तो संसार के घोरतम दुःख मनुष्य को भोगना पड़ता है, और भूतल ही उसके लिये साक्षात् नरक हो जाता है।

अहंता, ममता, आत्मीयता—इच्छा की पहिली काष्ठा, आहार की एषणा—यह 'अहंता' ('अस्मिता', 'अहं-भाव', 'अहंकार') का मूल रूप है। दूसरी काष्ठा, परिग्रह की एषणा, ('स्वत्व', धन-दौलत, मिल्कीयत, 'जायदाद', 'प्रापर्टी' की)—यह 'ममता' का रूप है। तीसरी काष्ठा, पति पत्नी-द्वारा सन्तान की एषणा, 'आत्म-संतानन' की चाह—यह विशेष रूप से

---

* अंग्रेजी भाषा में लिखे 'दि सायंस आफ दि इमोशन्स', 'दि एसेन्शल युनिटी आफ रिलिजन्स', 'एन्शेन्ट वर्सस माडर्न सायन्टिफिक सोशलिज़्म', तथा 'कांटेम्पोरेरी इंडियन फिलासफी' में।

'काम' कहलाती है। संस्कृत मे 'तन्' धातु का अर्थ तानना, फैलाना, खींचना, बढ़ाना, विस्तार करना है। इसी से हिन्दी शब्द 'ताना (-बाना)' और ताँत, तथा संस्कृत शब्द 'तन्त्र', तन्तु, आदि बने हैं। 'आत्मनः', ('अत्तानो', 'आपणो'), आत्मा का, अपने शरीर का, दूसरे शरीरों की 'संतति', 'ताँता', शृंखला, उत्पन्न कर के, 'तानना' ('ताना'-बाना के ऐसा फैलाना), लम्बा करना, मानो अमर बनना है। वंश ('बाँस' में से जैसे पर्व से पर्व, पोर से पोर, निकलती चली आती है वैसे) जीता, बढ़ता, फैलता रहा, तो मानो 'मै' ही अनन्त काल तक जीता, बढ़ता, फूलता, फलता रहा। मेरे 'आत्मीय', मेरी 'आत्मीयता', मेरे पुत्र पौत्र प्रेष्य किंकर, बढ़ते रहे, तो मेरी आत्मा ही, 'मै' ही बढ़ता रहा। 'अहंता-ममता आत्मीयता'।

जीव की संसार-यात्रा के दो अर्ध-मार्ग—प्रवृत्ति और निवृत्ति।

मा न भूवम् हि, भूयासम , इति प्रेम आत्मनि-ईक्ष्यते। (पंचदशी)

मैं कभी नाश न पाऊँ, सदा विद्यमान रहूँ—ऐसा प्रेम आत्मा का अपने लिये सर्वत्र देख पड़ता है। 'अविद्या' के वश में आया जीव, इस वासना कामना को, आहार द्वारा अपने शरीर को पुष्ट कर के, परिग्रह-सम्पत्ति द्वारा अपने को बड़ा 'घर' बना के, संतति द्वारा (शरीर-परम्परा द्वारा) अपने को 'अनन्त' करके, 'अनेक-बाहु-उर-वक्त्र-नेत्र' कर के, और 'अनंत काल' तक अपने को स्थायी कर के, मिथ्या अमरता मान के, मिथ्या रूप से पूरा करना चाहता है।

[illegible] से कदाचित् से वैराग्य होने पर, 'विद्या', आत्म-विद्या, पाने पर, [illegible] इस मिथ्या वासना को छोड़ कर, निष्कामता से [illegible]

को मिटा कर, त्याग से परिग्रह को हटा कर, और तपस्या से आहार को घटा कर, अधो-रेतस् भाव को छोड़ कर, ऊर्ध्व-रेतस् भाव का ग्रहण कर, पुनर्वार ब्रह्म-चर्या कर के, ब्रह्म के, परमात्मा के, अपने, शाश्वत सत्य नित्य अजर अमर स्वरूप को पहिचान कर, सांसारिक भय से, मृत्यु के भय से, मुक्त होकर, सचमुच अमर होकर, इस प्राकृतिक वासना को तत्त्वतः पूरा करता है।

वही 'अस्मिता', अनित्य शरीर से बँध कर, एषणा-त्रय, बुभुक्षा-लोभ-काम, के रूप मे परिणत होती है। वही, नित्य आत्मा से सम्बद्ध होकर, जीव को एषणा से अतीत, परे, सच्चे, स्व-रूप मे स्थित कर देती है।

आत्मा का अविद्या-विद्या से, ब्रह्म का माया से, क्यो और कैसा सम्बन्ध है, वासना का, 'आ-शय' का एषणा का, काम-संकल्प का, क्या तात्त्विक स्वरूप और हेतु है—इसका विचार अन्यत्र किया गया है।[१]

इन तीन एषणाओं की विवर्त्तिनी, विपरीतिनी, 'मुमुक्षा' को 'मोक्षैषणा' के नाम से चौथी एषणा कहे तो उचित ही होगा।

शरीर-यात्रा मे, संसार-यात्रा मे, जीव को दो रास्तो पर चलना पड़ता है, (१) प्रवृत्ति मार्ग और (२) निवृत्ति मार्ग। (१) घर से बाहर जाना, दूर-दूर देशो मे भ्रमण करना तरह तरह के सुख-दुःख भोगना, जीव का संसार मे अधिकाधिक पड़ना, घुसना, लिप्त होना, सांसारिक सुख-दुःखो का अधिकाधिक अनुभव करना, (२) फिर थक कर, उपरत हो कर, घूम पड़ना और घर लौटना, संसार से मुंह फेरना, उसको छोड़ना।

---

१ 'दि सायस आफ पीस' नामक अंग्रेजी ग्रन्थ मे, तथा 'समन्वय' नामक हिन्दी ग्रन्थ के अंतिम अध्याय मे।

सर्वभूतभक्ति रूपी परम काम, (सर्वभूतसेवा, 'सर्वलोकहिते रतिः', 'भूतप्रियहितेहा')।

अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्। (याज्ञवल्क्य)

इन पुरुषार्थों के साधन का उपाय बताने वाले, 'शासन' करनेवाले, सिखानेवाले, 'शास्त्र', इन्हीं के नाम से प्रसिद्ध है—धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, और मोक्षशास्त्र (जिस के अन्तर्गत दर्शनशास्त्र, योगशास्त्र, और भक्तिशास्त्र है) *। इन सब के तत्त्वों को, सिद्धान्तों को, यथा-शक्ति, यथा-सम्भव, जानने से ज्ञान सुसम्पन्न होता है, और संसार-यात्रा का, अल्पतम दुःख और अधिकतम सुख से, निर्वाह हो सकता है।

आजकाल मिलनेवाला, धर्मशास्त्र का प्रधान सर्वाङ्गीण ग्रन्थ 'मनुस्मृति' माना जाता है, तथा अर्थशास्त्र का चाणक्यकृत 'अर्थशास्त्र', तथा कामशास्त्र का वात्स्यायनकृत 'कामसूत्र', तथा मोक्षशास्त्र का 'प्रस्थानत्रय ('उपनिषत्', 'भगवद्गीता', बादरायणकृत 'ब्रह्मसूत्र'), पतञ्जलिकृत 'योगसूत्र', नारद (अथवा शांडिल्य) कृत 'भक्तिसूत्र'। न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, और सांख्य के सूत्रों को भी ब्रह्मसूत्र और योगसूत्र का अङ्ग ही माना जा सकता है।

दोनों का ऐकान्तिक लक्ष्य—सुख। सुख का मूलरूप, तथा दो अवान्तररूप।

तत्त्वतः, अंततो गत्वा, पुरुष का 'अर्थ' एक ही है—सुख। अर्थ्यते, याच्यते, इष्यते, इति अर्थः। जो चाहा जाय, मांगा जाय, वह अर्थ। जीवमात्र सुख चाहते हैं, दुःख से सब भागते

* इन चार शास्त्रों का वर्णन, अध्याय १ मे किया गया है।

है। सुख की लिप्सा, दुःख की जिहासा, यही मनुष्य की सभी मानस और शारीर प्रवृत्तियों का एकमात्र हेतु है।

सर्वेऽपि जीवास्तु सुखे रमंते,
सर्वे च दुःखाद् भृश मुद्विजन्ते। (म० भा०)
सर्वं परवशं दुःखं सर्वम् आत्मवशं सुखम्। (मनु)

परवशता ही दुःख, आत्मवशता ही सुख है। आत्मा का राज्य, स्वराज्य, 'अस्मिता' की पूर्ति, यही सुख है, जैसा ऊपर कहा है, "मैं जो चाहूँ वही हो"। दूसरे का, पराये का, राज्य, पर-राज्य, दूसरे के मन का, मेरे मन के विरुद्ध, होना, यही दुःख है। काम-चेष्टा में, स्त्री-पुरुष के परस्पर परिष्वंग में, सब लज्जा रुकावट छोड़ कर, इस स्वच्छंदता की परा काष्ठा, एक दृष्टि से, देख पड़ती है, जो चाहते हैं सो करते हैं। इसी लिये मैथुन शक्ति के अभाव को, क्लैब्य वंध्यात्व को, साधारण स्त्री पुरुष अत्यन्त दुःख मान लेते हैं। इसी लिये उपनिषत् में भी कहा है "सर्वेषां आनन्दानां उपस्थः एक एकायनम्", सब आनन्दों का एकमात्र ठिकाना उपस्थ-इन्द्रिय है; उपस्थ शब्द, स्त्री के भी, पुरुष के भी, गुप्त अंग के लिये व्यापक शब्द है। एक दृष्टि से, योषा-पुमान् के परस्पर आलिंगन में सभी पाँचों ज्ञानेन्द्रियों का (बल्कि पाँचों कर्मेन्द्रियों का भी) एक साथ अत्यंत तीव्र आनन्दन होता है, इस लिये कामदेव का एक नाम 'पंचसायक' कहा जा सकता है, यद्यपि और हेतु भी प्रसिद्ध है, दूसरी दृष्टियों से, यथा,

अरविंदं अशोकं च चूतं च नवमल्लिका।
नीलं पद्मं च पंचैते पंचबाणस्य सायकाः॥
मोहन उन्मादनौ च शोषण. तापन. तथा।
आकर्षणं च कामस्य पंचबाणा. प्रकीर्तिता.॥

रतीच्छा की ऐसी अग्रता उग्रता होते हुए भी, गहिरी दृष्टि से देखने से, यही कहना पड़ेगा, कि आहारेच्छा ही घोरतम है. क्योंकि 'रति' के विना जीवन दुःखी है, तो आहार के विना प्राण ही नहीं रह सकता। उपनिषत् ने भी कहा है पुत्रैषणा और वित्तैषणा भी लोकैषणा ही है।

और भी। जिन आनन्दों का उपस्थ एकायन है, वे सब सांसारिक आनन्द हैं, अर्थात् आनन्दाभास हैं. उस परम और सत्य आनन्द की, शांति की. नकल हैं. छायामात्र है, जिसके लिये उपनिषत् मे कहा है,

यश्च अकामहत एष एव परम आनन्दः, एको द्रष्टा अद्वैतो भवति, एतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।

जब मेरे सिवा कोई दूसरा है ही नहीं. सब का सिरजने, पालने, संहारने वाला मै ही, तब मेरी हुकूमत, मेरे ईश्वरभाव, का क्या पूछना? वहाँ तो 'काम' बाकी बचा ही नहीं, कामना होना ही तो खंडित होना है, अपूरा अधूरा होना है, किसी दूसरी वस्तु की चाह, किसी चीज की कमी है। 'परिपूर्णस्य का स्पृहा'? परिपूर्ण को न काम है, न मोह है, न शोक है।

यस्य सर्वमूआत्मैव अभूत्, तत्र को मोह क शोक एकत्वमनुपश्यत।

भूमाएव सुखम्। (उपनिषत्)

आनन्दकी, सुख की, परा काष्ठा यह है कि सब को, सब मे, सब जगह, अपने को, आत्मा को, ही देखे, जाने, पहिचाने— कोई पराया है ही नहीं, सब 'मैं' ही हूँ सब कुछ 'मेरे' मे. 'मुझ मे, ही है, मै ही सब कुछ हूँ, 'मैं' सब से बड़ा हूँ, (महोभाव-भूमा)।

यच्च कामसुखं लोके, यच्च दिव्यं महत्सुखं।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥ (योगभाष्य)

भौम कामसुख, इस भू-लोक का, दिव्य कामसुख, परलोक स्वर्ग का; यह दोनों, मिथ्या छोटी जीवात्मा की हाड़ मांस में 'अस्मि' वाली तृष्णा के क्षय के, और सच्ची बड़ी परमात्मा की सब जगत् में 'अस्मि' वाली शांति के उदय के, अजर अमर अपार अनन्त सुख के अणु भाग के भी तुल्य नहीं हैं। लेकिन प्रवृत्ति मार्ग पर, संसारनाटक में, जीव के लिये, सुख के आभास, मिथ्या सुख, इन्द्रियों के विषयों के भोग के सुख का, जो उस सच्चे सुख की झूठी नकल, प्रतिरूप, प्रतिकृति, प्रतिबिम्ब है, अनुभव करना भी आवश्यक है। उसके पीछे, जीवात्मा परमात्मा के 'स्व भाव' के नियमों के अनुसार, नित्य-अनित्य का 'विवेक' जागने पर, और अनित्य नश्वर पदार्थों से ही बने हुए संसार से 'वैराग्य' उत्पन्न होने पर, दूसरा, सच्चा, पारमार्थिक सुख प्राप्त करना भी परम आवश्यक है।

प्रवृत्ति मार्ग का प्रधान पुरुषार्थ काम-सुख, जो धर्म से साधित अर्थ (धन-सम्पत्ति) से परिष्कृत हो।

इस लिये प्रवृत्ति मार्ग का प्रधान 'अर्थ' काम-सुख ही है। इसके साथ 'अर्थ' (सम्पत्ति) और 'धर्म', विशेष हेतु से लगा लिये गये हैं। उनकी चर्चा करने के पहिले, 'काम' शब्द के अर्थ बताना आवश्यक है। वात्स्यायन ने कामसूत्र (१ अधिकरण २ अध्याय, ११,१२ सू०) में इसका उल्लेख किया है। (१) पांच ज्ञानेन्द्रियों के पांच विषयों में जो अपनी प्रकृति के अनुकूल हों निकट, सुन्दर, पदार्थ हैं, उनके अनुभव की इच्छा—यह काम सामान्य है। अपनी अपनी प्रकृति के अनुकूल—इसलिये कहना पड़ता है कि प्रकृति के भेद से किसी को खट्टा अधिक अच्छा लगता है, किसी को तीता, किसी को मीठा, किसी को कड़

कसैला भी, किसी को संगीत प्रिय है, किसी को रूप रंग, किसी को सुगंध, किसी को स्पर्श।

कुरंग-मातग पतग-भृग-मीना· हताः पचभिर्एव पंच ।
नर· प्रमादी स कथ न हन्यते य सेवते पचभिरेव पंच ॥

हरिन को मधुर गीत, हाथी को सुख स्पर्श, फतिंगे को चमकती जोत, भौंरे को फूलो का सुगन्ध (तथा मधु रूपी रस भी), मछली को सुस्वादु कवल, अधिक प्रिय है। मनुष्य को पांचो इन्द्रियो के विषय प्यारे हे, 'पंच-शर' काम-देव का वह शिकार वनता है, तौ भी प्रत्येक मनुष्य को किसी एक इन्द्रिय का अधिक रस होता है, जिह्वा का रस तो प्रायः सभी को रहता है; इसी लिये "जिह्वा-उपस्थ-रताः","शिश्न-उदर-परायणाः" शब्द कलिकाल के मनुष्यो के लिये प्रसिद्ध हो रहे हैं। इस अर्थ मे 'काम' शब्द, इच्छा, वासना, तृष्णा, एषणा, आदि का, तथा 'अज्ञान', 'अविद्या', 'शक्ति', 'दैवी प्रकृति', 'माया', आदि का पर्याय ही है, सारे संसार का वीज है।

काम-सामान्य ।

कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेत प्रथमं यदासीत् ।
सतो वंधुमसति निरविंदन् हृदा प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥ (ऋग्वेद)

सोऽकामयत वहु स्यां, प्रजायेय ।
काममय एवायं पुरुष ॥ (उपनिषत्)

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् । (मनु)

सनातनो हि सकल्प काम इत्यभिधीयते ।
सकल्पाभिरुचि काम सनातनतमोऽभवत् ॥
जगत्पतिर् अनिर्देश्य सर्वग सर्वभावन ।
हृच्छय· सर्व-भूताना ज्येष्ठो रुद्राद् अपि प्रभुः ॥
(म० भा०, अनुशासन पर्व, अ० १६१)

काम सर्वमयः पुंसां स्व संकल्प-समुद्भवः।
कामात्सर्वं प्रवर्तंते लीयंते वृद्धिमागताः॥
(शिव पु०, धर्म सं०, अ० ८)

मनस् का, चित्त का, जीवत्व का, संसार का रेतस्, बीज, 'काम', परमात्मा के निष्-काम हृदय में सदा सब से आगे वर्तमान है। मनीषी कवियों ऋषियों ने अपने हृदय में, (हृदि अयम्, तस्मात् हृदयम्), हृदय गुहा में, हृदयस्थ परमात्मा में, सच्ची खोज कर के, सत् के सगे बंधु इस असत् को पाया है। परमात्मा के भीतर संकल्प हुआ, कामना हुई, कि मैं एक से अनेक हो जाऊं, बहुत हो जाऊँ, तब सृष्टि हुई। पुरुष काममय है, उसका रूप, उसकी शक्ति, उसकी प्रकृति काम ही है।

वासना वासुदेवस्य, वासितं सकलं जगत्।
चित्ते वसति यस्मात्, चित्तं वासयते तथा।
जीव एव हि वासुस्तु वासनेत्युच्यते ततः॥

चित्त में सदा बसती है, गंध जैसे हवा को वैसे चित्त को बासे रहती है, वासु अर्थात जीव का रूप ही है, इसलिये इसका नाम वासना है।

शरीरधारी जीव का सुख (और दुःख भी) इन्द्रियों के विषयों के द्वारा ही होता है। जिस जीव को इस सुख की कामना नहीं उसको संसार में रहने का प्रयोजन नहीं। वह प्रवृत्ति मार्ग को छोड़ कर निवृत्ति मार्ग पर पैर रखता है।

धर्म और अर्थ का प्रयोजन।

यह काम सुख पशुओं को भी होता है, अर्थ और धर्म से उनका प्रयोजन नहीं, मनुष्य को क्यों? इसका उत्तर यह है कि, (१) [illegible] पशुओं को भी किसी मात्रा में 'अर्थ' का

प्रयोजन रहता ही है, उनमे भी 'परिग्रह' देख पड़ता है, अपनी अपनी मांद, बिल, खोते, बसेरे के पेड़, निरामिषो के चरने के और सामिषो के शिकार के जङ्गल, अलग-अलग होते हैं, जिनके लिये आपस मे बड़ी बड़ी लड़ाइयां होती है। तथा, अव्यक्त रूप से उनमे आपस के समझौते, कायदे कानून, मर्यादा, अर्थात् 'धर्म' भी देख पड़ते है, यथा ऋतु-काल मे अपने-अपने नर-मादा और, जब तक छोटे अस्वच्छन्द रहे तब तक बच्चे, एक साथ अन्य ऐसे कुटुम्बों से अलग अलग रहते है, तथा एक दूसरे की 'रख' मे चरने या शिकार करने नहीं जाते—इत्यादि। (२) दूसरी बात यह है कि मनुष्य के जीवन मे, उसके इन्द्रिय-सुखो मे, संस्कार परिष्कार, पशुओ की अपेक्षा से, बहुत अधिक है। यहां तक कि जब तक उचित 'संस्कारो' से 'संस्कृत' न हो तब तक मनुष्य सच्चा 'आर्य' मनुष्य नहीं हो सकता। मनुष्य को, लकड़ी पत्ते मट्टी फूस के झोपड़े से लेकर चांदी सोना जवाहिर से जड़े संगमरमर के करोरो रुपये के महल रहने को, जंगली कंद मूल फल से लेकर अति महर्घ कृत्रिम षड्रस लेह्य पेय चोष्य खाद्य खाने को पत्ते से लेकर हजारो रुपये गज़ तक के शाल-दुशाले कमखाब पहिनने को, सुगंध फूल, और फूलो के सौ सौ रुपये तोले के इत्र, सूंघने को सुन्दर सु वर्ण सु-रूप पेड़ फूल भरे उद्यान, चित्र, प्रतिमा, रत्न के आभूषण देखने पहिनने को, इत्यादि, चाहिये। जीवन के ऐसे परिष्कार संस्कार से ही लक्ष्मी-देवता, श्री, सम्पत्ति, 'अर्थ', चरितार्थ होते है। निष्कर्ष यह कि विना 'अर्थ' के मनुष्योचित सुपरिष्कृत 'काम', अर्थात् विषयोपभोगजनित शारीरिक ऐन्द्रिय सुख, तथा मानस मैत्री स्नेह प्रीति के सहित कौटुम्बिक और सामाजिक शालीनता और शोभा का सुख, सम्पन्न नहीं हो

सकता। ऐसे ही, बिना समाज के संग्रथन, व्यूहन, व्यवस्थापन के, बिना परस्पर आचार व्यवहार की मर्यादा अर्थात् अधिकार-कर्तव्य के, बिना उनके मनवाने, पालन करवाने के, उपायों के, अर्थात् बिना 'धर्म' के, 'अर्थ' का संचय और स्थैर्य समाज में किसी के पास हो नहीं सकता। इस लिये 'अर्थ' और 'धर्म' की 'काम' के साथ साथ परम आवश्यकता है।

आहार निद्रा-भय मैथुनानि सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
(धर्मार्जितोऽर्थः खलु तद्विशेषः, ताभ्यां विहीनाः) पशुभिः समानाः ॥
(हितोपदेश)

आहार, निद्रा, भय, मैथुन—यह तो पशुओं में और मनुष्यों में समान ही हैं। मनुष्यों में, धर्म, और धर्म से अर्जित, रक्षित, भुक्त (व्यय किया, खर्च किया) अर्थ— ये ही पशुओं की अपेक्षा विशेष हैं। इन दो से विहीन मनुष्य पशुओं के समान हैं।

धर्मादर्थोऽर्थतः कामः, कामाद् धर्मफलोदयः।
इत्येवं निश्चयं शास्त्रे प्रवदन्ति विपश्चितः ॥ (पद्म पुराण)

धर्म से अर्थ, अर्थ से काम, काम से धर्म के फल अर्थात् सुख का उदय—यह निर्णय विद्वान् बुद्धिमान् लोगों ने शास्त्र में किया है। और काम से अधिक अर्थ पर, और अर्थ से बहुत अधिक धर्म पर, जोर इस लिये दिया है कि काम की ओर [illegible] की प्रवृत्ति अत्यधिक अपने आप है, उसको बढ़ाने की जरूरत नहीं है, प्रत्युत रोकने और सुपरिष्कृत करने की आवश्यकता है; तथा धर्म की ओर जीव की स्वाभाविक प्रवृत्ति [illegible] इस लिये उसके बढ़ाने की आवश्यकता है।

[illegible]
[illegible]
([illegible])

अकामस्य क्रिया काचित् दृश्यते नेह कर्हिचित् ।
यद्यद् हि कुरुते जतु तत्तत् कामस्य चेष्टितम् ॥
कामात्मता न प्रशस्ता, न चैवेहास्त्यकामता ।
काम्यो हि वेदाधिगम कर्मयोगश्च वैदिक ॥
तेषु सम्यग् वर्त्तमानो गच्छति अमरलोकताम् ।
यथासंकल्पिताश्चेह सर्वान् कामान् समश्नुते ॥ (मनु)
धर्माऽऽविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ (गीता)

मद्य मांस-मैथुन की इच्छा प्राकृतिक है। उसको बढ़ाने का प्रयोजन नहीं। रोकने के लिये, नियमो से मर्यादित करने के लिये, विवाह और यज्ञ आदि की विधि वृद्धो ने बनाई है। बिना काम के, कोई क्रिया, कोई जीव नहीं करता। जो कुछ भी, जो कोई भी, करता है, वह अन्तत: काम की ही चेष्टा है, सुख की लिप्सा से ही किया गया है। वेदो का पढ़ना, वैदिक कर्म करना, यह सब भी काम की प्रेरणा से ही है। पर अतिकाम, काम-मग्नता, यह प्रशंसनीय नहीं। उचित मात्रा, उचित प्रकार, से 'वैदिक' धर्म की, अर्थात् सज्-ज्ञान से, सद्बुद्धि से, 'वेद' से. निर्णीत, व्यवस्थापित 'धर्म' की, आज्ञा के अनुसार जो काम का सेवन करता है, वही सब काम-सुखो को पाता है। धर्म से अविरुद्ध, धर्म सम्मत, जो काम है, वही व्यापक अंतरात्मा को प्रिय है। क्यो कि "कामात् क्रोधोऽभिजायते", धर्म के विरुद्ध कामाचरण से चारो ओर आसपास क्रोध उपजता है।

काम-विशेप ।

यहाँ तक काम-सामान्य की चर्चा हुई। अब (२) काम-विशेप को देखना चाहिये। कामदेव का एक नाम पंचसायक है। सुख की इच्छा, पॉच ज्ञानेन्द्रियो के विषयो के उपभोग से.

उद्दीपित भी और पूरित भी होती है, इस लिये यह नाम पड़ा, ऐसा पहिले कहा। स्त्री और पुरुष, एक दूसरे के शरीर मे, इन पाँचों विषयों के सार, और उनके उपभोग से सांसारिक सुख की परा काष्ठा का तीव्रतम अनुभव, पाते है, इस लिये स्त्री-पुरुष के मिथुन, जोड़े, द्वन्द्व, का परस्पर काम, विशेष करके 'काम' का नाम पाता है। स्थूल-शरीर और सूक्ष्म-शरीर, चित्त और देह, दोनों के सभी विषयों मे (मूलप्रकृति-परमात्मा के, पार्वती परमेश्वर के, अनुकारी) स्त्री-पुरुष एक दूसरे के लिये संसार-सर्वस्व है।

आपयतो वै तौ अन्योऽन्यस्य कामान् सर्वान्। (छांदोग्य उप०)

जीव, एक ओर, अति लघु सादि सान्त मूठी भर हाड़ मांस के देह मे बँधा हुआ, तद्रूप हो रहा है, दूसरी ओर, अनादि अनन्त अति महान परमात्मा से बँधा हुआ, क्या परमात्मा ही, है। लघोर्लघीयान, अणोरणीयान्, महतो महीयान—दोनों है। ऊपर कहा कि आत्मबड़ाई ही सुख है, 'मुझसे अधिक, क्या मेरे समान भी, कोई दूसरा नहीं है। और क्या, मेरे सिवा दूसरा कोई है ही नहीं। मैं ही सब से बड़ा, बड़प्पन की परा काष्ठा हूँ मैं ही सब कुछ हूँ। बड़प्पन ही तो सुख है, छोटाई में सुख कहाँ!!

नाल्पे वै सुखमस्ति, भूमैव सुखम्।
न [illegible] इच्छति। (उप०)
[illegible]। (गीता)

वात्स्यायन ने इस प्रकार से, धर्म, अर्थ, काम का पर[illegible] किया है।

[illegible]

[illegible]

अर्थात् । काम च यौवने । स्थाविरे धर्मं च मोक्षं च । ' ब्रह्मचर्यम् एव तु आ-विद्याग्रहणात् ।

अलौकिकत्वाद् अदृष्टार्थत्वाद् अप्रवृत्तानां यज्ञादीनां शास्त्रात्प्रवर्त्तनम्, लौकिकत्वाद् दृष्टार्थत्वाच् च प्रवृत्तेभ्यश्च मांसभक्षणादिभ्य शास्त्रादेव निवारणं धर्म' । विद्या-भूमि-हिरण्य-पशु-धान्य-भाण्डोपस्कर-मित्रादीनाम् अर्जनम् , अर्जितस्य विवर्धनम् अर्थ । श्रोत्र त्वक् चक्षु-जिह्वा-घ्राणानाम् आत्मसयुक्तेन मनसा अधिष्ठितानां स्वेषु स्वेषु विषयेषु आनुकूल्यत. प्रवृत्ति काम । स्पर्शविशेषविषये तु अस्य आभिमानिकसुखानुविद्धा फलवती अर्थप्रतीति प्राधान्यात् काम ।

धर्म-अर्थ-काम तीनो को नमस्कार है। सच्चरित्र सावधान मनुष्य की आयु सौ वर्ष की होनी चाहिये, यदि इन तीनो पुरुषार्थों का सेवन, एक दूसरे से परस्पर बाँध कर, परस्पर विरोध के बिना, बलिक तीनो को परस्पर सहायक बना कर, मनुष्य करे, जैसे उसको. काल का, आयु का, विभाग करके, करना चाहिये· यथा, बाल्य मे विद्या ग्रहण (रूपी धर्म), यौवन (और प्रौढ़ि) मे काम (और अर्थ), वार्धक्य मे मोक्ष-धर्म, का। (तथा प्रौढ़ावस्था मे, प्रतिदिन का विभाग कर के, पूर्वाह्ण मे धर्म, अपराह्ण मे अर्थ, सायंकाल मे काम, का)। विद्या ग्रहण की अवस्था मे ब्रह्मचर्य ही करना चाहिये।

जिनका फल प्रत्यक्ष नहीं है, जैसे यज्ञ आदि कर्म, उनका शास्त्र की आज्ञा से प्रवर्त्तन. और ऐसे कर्मों का, जैसे मांस भक्षण आदि, जिनका फल प्रत्यक्ष है, निवर्त्तन. यह धर्म है। भूमि, सोना चाँदी पशु, धन-धान्य, वर्त्तन भाड़ा. लकड़ी लोहा का सामान, ओढ़ना बिछौना, अर्थात् गृहस्थी का सब सामान, तथा मित्र का अर्जन, और अर्जित का वर्धन, यह अर्थ है। पाँचो इन्द्रियो के विषयों मे प्रवृत्ति, यह काम-सामान्य है। विशेष

काम के अन्य अर्थपूर्ण नाम।

कंदर्प—काम के और भी नाम संस्कृत में हैं। बहुत अर्थपूर्ण हैं। 'सम्यक् कृता' 'अच्छी बनाई हुई', 'संस्कृत' भाषा ऐसी ही है। पर निरुक्त शास्त्र का प्रयोग, जिससे प्राचीन अर्थ-गर्भ शब्दों का निर्वचन अध्यात्मशास्त्र की सहायता से हो, प्रायः उठ सा गया है। एक नाम काम का 'कंदर्प' है। इसका दो प्रकार से निर्वचन हो सकता है। 'क दर्पयति', किसके इन्द्रिय निग्रह, आत्म-संयम, के दर्प को बचने देता है? किसी के नहीं, इस लिये कंदर्प।

> अहल्याया जारः सुरपतिर् अभूद् आत्मतनयां
> प्रजानाथो ऽयासीद् अभजत गुरोर् इन्दुर् अबलां।
> इति प्रायः को वा न पदम् अपदे ऽकार्यत मया,
> श्रमो मद्बाणानां क इव भुवनोन्माथविधिषु॥
>
> (प्रबोध चन्द्रोदय)

कामदेव कहता है, 'मैंने सुरपति इन्द्र को गौतम ऋषि की पत्नी अहल्या का जार बना दिया, चन्द्रमा को अपने गुरु बृहस्पति की पत्नी तारा से व्यभिचार करा दिया, स्वयं ब्रह्मा को

* इस 'हिस्टीरिया', आदि की चर्चा 'दि सायन्स आफ दि इमोशन्स' [illegible] में की है। पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने यूरोपीय भाषाओं में [illegible] (हिस्टीरिया [illegible], उन्मादादि) के [illegible] इस विषय का प्रतिपादन बहुत विस्तार से किया है—[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है, [illegible] [illegible] में [illegible] [illegible] [illegible] की है, [illegible] [illegible] किया [illegible]।

अपनी बेटी सरस्वती के पीछे दौड़वा दिया; मेरे बाणो को सारे संसार के उन्मथन, मनो-मथन, मे क्या श्रम है? मेरा एक नाम मन्मथ है ही।

व्यवहार दृष्टि से इन सब पौराणिक कथाओ का सीधा सीधा अक्षरार्थ भी बड़ा उपदेश-प्रद है, ये कहने-सुनने वाले को सदा सावधान करती रहती है कि संसार में सँभल कर चलो, दर्प मत करो, काम के वेग से डरते रहो, बड़े-बड़ो से बड़ी-बड़ी भूल हो गई है, और इसके कारण उनको बड़े बड़े दंड भी मिले है, इन्द्र के शरीर मे हज़ार व्रण (उपदंश, गर्मी, के रोग के ऐसे) हो गये; चन्द्रमा को क्षय रोग हो गया, ब्रह्मदेव के पहिले जो पाँच सिर थे उन मे से एक को रुद्र ने काट डाला, जिस से चार ही रह गये. फिर तुम क्या चीज़ हो! पर आध्यात्मिक आधिदैविक दृष्टि से ये सब रूपक भी है। यथा अहल्या का अर्थ है—बिना हल चली, बिना जोती, भूमि, गोतम का अर्थ बहुत पशु पालने वाला मनुष्य, इन्द्र का अर्थ विद्युत्, चन्द्र का अर्थ जल जब अहल्या के पति गोतम कहीं चले गये थे, अपनी पत्नी की फ़िक्र, भूमि की रक्षा, देख रेख, नहीं कर रहे थे, उस समय बिजली बादल के अनुचित (अतिमात्र) स्पर्श से खेती की भूमि पड़ती हो गई, फिर राम जी ऐसे महापुरुष के पाद-स्पर्श से, उस पर घूम फिर कर देखने से, (जैसा राजा और राज-पुरुषों का धर्म है, कि घूम फिर कर प्रजा का निरीक्षण और कष्ट-निवारण करते रहें), और उत्तम प्रबंध करने से, वह भूमि, जो पत्थर ऐसी, ऊसर ऐसी, हो गई थी, फिर से जाग उठी, उर्वरा हो गई, जोती बोई जाने लगी. उसके पुत्र शत-आनन्द हुए। राम जी के "कदमो की बरकत" से यह सब काम हुआ। "रमन्ते जना· यस्मिन् स राम·"।

स्त्री वीर्य, पुरुष-वीर्य, उस से वीर्यमद, काममद, ऐश्वर्यमद, मद्य, मदिरा, मे भी यही धातु है। मद्य के सेवन से भी 'मद' उत्पन्न होता है। मद्य-मांस-मैथुन आदि का, घोर भयङ्कर वाममार्ग के पंच 'म'-कार मे, इसी हेतु से साथ देख पड़ता है। तामस हर्ष के सभी साधन है। मद का अर्थ 'हर्ष', 'उद्धतता', तथा 'वीर्य' भी है। दोनो का आशय 'मद्-भाव', 'अहं-भाव', की वृद्धि है। 'कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया, 'मेरे सदृश दूसरा कौन है'। फारसी मे भी शेखीबाज आदमी की तस्वीर ऐसे ही लफ़्ज़ो से खींची है—"हम् चु मन् दीगरे नीस्त", जो संस्कृत के "कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया" का ठीक तर्जुमा है। अति वृद्धि से 'उन्माद' हो जाता है। 'शुक्र' नाम ब्रह्म का भी है, वीर्य का भी। ब्रह्म का अर्थ अति वृहत्, अनन्त, परमात्मा भी, वेद अर्थात् अनन्त ज्ञान भी, तथा बृंहणशील, वर्धन सन्तानन शक्ति रखने वाला, वीर्य भी। इन तीनो की प्राप्ति, वृद्धि, सञ्चय, करने वाली चर्या का नाम ब्रह्मचर्य है।

पाके रसस्तु द्विविध प्रोक्तो ह्यन्नरसात्मकः ।
रससारमयो भागः शुक्रं ब्रह्म सनातनम् ॥
स पर्यगाच् छुक्रम् अकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धं । (उप०)

ब्रह्मचर्य के गुण ।

अन्न के परिपाक से जो रस उत्पन्न होता है उसका सार सनातन ब्रह्म रूप, ब्रह्मशक्तिमय, शुक्र है। आयुर्वेद का कहना है कि आहार से क्रमश रस, रक्त, मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा, बन कर, सातवां परिणाम वीर्य होता है। आठवॉ परिपाक, वीर्य का परिणाम, तरस्, ओजस्, सहस्, महस्, तेजस्, वर्चस् आदि विविध प्रकार का पेशियो का, इन्द्रियो का,

हृदय का, मन का, अहंभाव का, बुद्धि का, बल होता है। ब्रह्मचर्य की, विद्यार्थिता की, अवस्था मे, शुक्र का, स्वप्नादि मे, स्खलन हो जाय तो,

> पुनर्मामैतु इन्द्रियं, पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च ।
> पुनरग्नयो धिष्ण्या यथास्थां कल्पन्तामिहैव ॥ (वेद)

इस मन्त्र का, स्नानादि करके, अर्थ की भावना के सहित, जप करने से सब दोष दूर हो जाते हैं, और फिर बल का संचय हो जाता है। इसी मंत्र को बृहदारण्यक उपनिषद् में और विस्तार से कहा है,

> तदभिमृशेद्, अनु मा मन्यत, यन् मेऽद्य रेतः पृथिवीम् अस्कान्त्सीत्, यद् ओषधीः अपि असरद्, यद् अपः, इदम् अहं तद् रेतः आददे, पुनर्माम् एतु इन्द्रियं, पुनस्तेजः, पुनर्भगः, पुनरग्निः, धिष्ण्याः यथास्थानं कल्पन्ताम्।

अर्थात् ऐसा ध्यान और जप करे कि, जो मेरा वीर्य गिर कर पृथिवी मे, ओषधियों मे, जल में, मिल गया, उसको मैं फिर अपने चित्त के बल से वापस लेता हूँ, मेरा इन्द्रिय-बल, मेरा तेजस, मेरा सौभाग्य, मेरे प्राण की गर्मी, और मेरे सब अवयवों मे रहने वाली शक्तियां, अपने अपने उचित स्थान पर वापस आ जायं। स्पष्ट है कि ऐसा ध्यान मन मे होने और रहने से वीर्य का [illegible] और संचय अपने शरीर मे होगा। 'इन्द्रियं' शब्द [illegible] से वीर्य का उपलक्षण है। क्यों कि, स्त्री-पुरुष के [illegible] कामिक [illegible] प्रेममय [illegible] से अन्यत्र, [illegible] सब प्रकार के बल का, प्राण का, 'भग' [illegible] [illegible] और देह के [illegible] [illegible] इन्द्रियों मे, [illegible] [illegible] है। आयुर्वेद में [illegible] किया है।

त्रिस्थूण शरीरं, आहार निद्रा ब्रह्मचर्यं इति तिस्र स्थूणा ।

(सुश्रुत, चरक)

'ओजस्' शब्द के दूसरे दूसरे अर्थ भी सुश्रुत, चरक, शार्ङ्गधर आदि ने कहे है; उनके विवरण का यहाँ प्रयोजन नही ।

क्षयरोग ।

यह प्रसिद्ध है कि अति भोग विलास से, बहुत ऐयाशी से, क्षय, तपे-दिक, 'कन्ज़म्शन', की बीमारी हो जाती है, अमीरों की बीमारी है, इसी से एक नाम इसका 'राज-यक्ष्मा' है। पर बहुत गरीबी से भी यह हो जाती है। वैद्यक मे बहुत प्रकार के क्षय, और उनके कारण, कहे है, पर विशेष दृष्टि से, दो प्रकार विशेष है, अनुलोम क्षय और प्रतिलोम क्षय। शरीर अथवा बुद्धि के अति व्यायाम, परिश्रम, कर्षण से, तीव्र मानस शोक, क्षोभ, चिन्ता से, स्वास्थ्य की साधारण सामग्री, शुद्ध और पर्याप्त अन्न, जल, वायु, वस्त्र प्रभृति के अभाव से, सर्दी गर्मी खा जाने से, प्रजागर से, मन्दाग्नि मन्द ज्वर आदि हो कर, यदि अनुलोम क्रम से धातु क्षीण होने लगे, पहिले रस, तब रक्त, तब मांस इत्यादि, अंत मे शुक्र, तो उसको अनुलोम क्षय कहते है। अति कामुकता, विषम कामुकता, या अन्य किसी कारण से, वीर्य के क्षय से आरम्भ हो कर रस के क्षय से जो अंत करता है, उसको प्रतिलोम क्षय कहते है ।

हस्तमैथुनादि दोष और क्षय रोग ।

हस्तमैथुन दोष विद्यार्थियों मे, पूर्व पश्चिम के सभी देशो मे, आज काल बहुत फैला जान पड़ता है । इसके अतिमात्र आचरण से भी विविध प्रकार के मानस शारीर रोग और क्षयरोग उत्पन्न होते है । पर यदि कभी कदाचित् कोई विद्यार्थी नासमझी से यह

है; यहां तक कि बिहार और पंजाब की गवर्मेंटों ने, और उनके शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टरों ने, सन् १९३४—'५—'६ में, तहकीकात कराई, और इस दुराचार के रोकने के लिये कुछ उपाय सोचा और आदेश जारी किया, पर आदेश के शब्द कुछ ऐसे गोल-गोल थे, कि विशेष कार्यसाधक

जीवन भर इस दाग को मिटाना उसके लिये असम्भव होगा, समाज में मुँह दिखाना कठिन होगा, विवश होकर वेश्या वृत्ति का ग्रहण करना होगा, या भिक्षा वृत्ति ग्रहण कर के तीर्थ स्थानादिकों की 'बैरागी' आदि मठियों के दुर्गन्ध सुगन्ध मे अपना तन और मन सुखा देना होगा, या 'मिरिच' (मारिशस) देश के ऐसे टापुओं में जाना होगा, जहां बहुतेरी अभागिनियों को जाना पड़ता रहा है—यह सब विचार कर के, अपराधिनी युवती के ऊपर, क्रोध के साथ साथ दया भी होती है, पर अन्त में यही मानना पड़ता है कि प्रत्यायन और दंडन न होने से तो अन्धाधुन्ध पाप बढ़ते ही जायेंगे, तथा प्रत्यायन और न्यायोचित निर्णय से, चाहे एक व्यक्ति का जीवन नष्ट या ध्वस्त ही हो जाय, पर समाज को लाभ होगा, अन्य काम के वेग को रोकने की प्रवृत्ति और होगी, समाज की हवा स्वच्छ होगी। यदि समाज में शुभ संस्कार परिष्कृत और अधिक व्याप्त हों, तो ऐसे दंडित व्यक्ति से फिर कोई घृणा भी न करे, और उसका जीवन भी परिशुद्ध और निष्कलङ्क हो जाय। मनु की आज्ञा है,

नहीं जान पड़े। 'यूथ्स् वेल्फेयर अस्सोसियेशन', अर्थात् 'युवा और बालकों की रक्षा के लिये समिति', भी पंजाब मे बनी। महात्मा गांधी जी ने भी, सन् १९३५ मे, लाहौर के सनातनधर्म कालेज के आचार्य (प्रिंसिपल) के पत्र के उत्तर मे, इस विषय पर, देश को उपदेश दिया। इन सब तहकीकातों से विदित हुआ कि स्थान स्थान पर स्वयं अध्यापकों ने ही अपने शिष्यों के साथ दुराचार किया। जिसको रक्षक होना चाहिये वही भक्षक हो गया। इस सब से इतना तो ज़रूर हुआ कि जनता का ध्यान इस ओर फिरा, और हवा बदलने की इच्छा और प्रयत्न शुरू हुए। माता, पिता, गुरु—इन तीन के नाम, वेद मे, मनुस्मृति मे, बहुधा साथ ही लिये जाते हैं। यदि ये ही अपनी संतान की, अपने शिष्य की, हत्या कर डालें, तो क्या उपाय है।

यस्याङ्के शिर आधाय जन स्वपिति निर्भय ।
स एव तत् शिर छिद्यात् तत्र कं परिदेवयेत् ॥ (म० भा०)

जिसकी गोद मे सिर रख कर सोवै, वही उस सिर को काट ले, तो किस पर भरोसा किया जाय, किस से परिदेवना, पुकार, की जाय? पर नहीं, इसका उपाय है, और किया जाना चाहिये, और किया जा सकता है, यदि गृहस्थ और राष्ट्रभृत्य एकमत और सन्नद्ध होकर यत्न करें। मुख्य उपाय यह है कि (१) समाज की सारी हवा, जो दुर्भावमय, अधर्म्य कामक्रोधादि की इच्छाओं और चेष्टाओं से विषाक्त हो रही है, वह सत्-शिक्षा, सद्-भाव, सत् साहित्य के प्रचार से, शोधी और बदली जाय जैसी नई पुश्त की शिक्षा वैसी भावी समाज की सभ्यता वा असभ्यता. (२) पाठशाला, मद्रसा. स्कूल, कालिज आदि को सच्चा 'गुरुकुल' बनाया जाय, विवाहित और सन्तान वाले ही

स्त्री पुरुष अध्यापक बनाये जायं; गुरु और गुरुपत्नी और उनके अपत्य और शिष्य साथ रहैं, साथ उठैं बैठैं, पढ़ैं पढ़ावैं, चलैं फिरैं। अपने और दूसरों के अपत्यों को साथ देख कर, सब के लिये, गुरुओं अध्यापकों अध्यापिकाओं के मन मे, शुद्ध वात्सल्य के भाव उत्पन्न होंगे, और सब की तुल्य रूप से देख-रेख रक्खेंगे और रक्षा करेंगे, दुष्ट कामुकता के भाव किसी के लिये उनके मन मे उदय होने न पावेंगे। इसके विरुद्ध, जवान, अनब्याहे, निस्सन्तान स्त्री, पुरुष यदि अध्यापक होंगे, तो उन मे दुष्ट भावों का उपजना बहुधा सहज होगा। अवान्तर उपाय यह है कि जिस अध्यापक के सम्बन्ध मे विशेष शंका और बदनामी उठे वह बर्तरफ़ कर दिया जाय; अधिक और साक्षात् प्रमाण आदि की प्रतीक्षा न की जाय, जैसे जाब्ते फ़ौजदारी मे नेकचलनी के लिये मुचलका जमानत की आज्ञा, बदनामी के ही सुबूत पर, दे दी जाती है। गृहस्थ जनता को, अपनी संतान की रक्षा के लिये, इस विषय मे जैसे अन्य विषयों मे, बल्कि उससे बहुत अधिक, सतत होशियार सावधान रहना चाहिये। आंख कान बन्द कर लेना, 'हम तो ऐसी बातें सुनना नहीं चाहते', ऐसी अनास्था अर्थात् इस विषय के विचार करने से घिनाना, मुंह फेर लेना-यह बड़े आदमियों मे बहुधा देख पड़ता है; पर, इस प्रकार से बड़े आदमी अधिक दुष्ट होते हैं उनके दुराचार समाज को अधिकाधिक भ्रष्ट और दुर्बल और निर्वीर्य करते हैं, जिसमें से देश और जनता ही है। इस लिये, ऐसे दुराचार के रोकने के सब उपायों पर, सज्जनों मे, परस्पर, शान्त और शुद्ध [illegible] बुद्धि से विचार होना ही चाहिये।

[illegible] 'आदिविज्ञान' [illegible]
[illegible] विस्तार से इन बातों की चर्चा की है।

एक और विषय की चर्चा इसी स्थान पर करना प्रसंग-प्राप्त है। आज काल, अवस्था के परिवर्त्तन से प्राचीन भारतीय शील, शक्ति, सज्ज्ञान, स्वयंप्रज्ञता, स्वावलम्ब, स्वातंत्र्य के ह्रास से; पाश्चात्य शक्तियों और विचारों के आक्रमण से, पुरानी सभी व्यवस्थाओं मर्यादाओं के अस्त-व्यस्त हो जाने से, दूषित ज्ञान, क्षुद्र विचार, क्षुद्र आचरण, परतन्त्रता, परावलम्ब, परप्रज्ञता, परानुकारिता, परानुसारिता की वृद्धि से, इस भारतवर्ष की जनता के जीवन के सभी पार्श्वों, पहलुओं, अंगों मे, उथल-पुथल, अधरोत्तर, समुद्र की लहरों के ऐसा, हो रहा है। समाज-निर्माण, मनुष्य मनुष्य के परस्पर अधिकार-कर्त्तव्य, वार्ता-वाणिज्य-रोज़गार, राजनीति-राष्ट्रप्रबन्ध, शिक्षा-रक्षा-भक्षा की व्यवस्था, स्त्री पुरुष के परस्पर कामिक व्यवहार के, विवाह-पद्धति के, भर्ता-भार्या, पिता-पुत्र भर्त्ता-भृत्य, दाय आदि, सभी के नियमों मे उलट-फेर हो रहा है। इसके अंतर्गत, बालक-बालिकाओं, कुमार-कुमारियों, किशोर-किशोरिओं, युवा-युवतियों, तरुण-तरुणियों का, एक साथ उठ बैठ कर, रह कर, स्कूल कालिजों मे पढ़ना पढ़ाना भी शुरू हो गया है। उसके स्वाभाविक गुण-दोषात्मक फल भी होने लगे हैं अविवाहित विद्यार्थिनियों को गर्भ रह जाना, और ऐसे गर्भ के पातन का यत्न करना, सुना जाने लगा है। "कामः स्वभाव-वामः"। विना अवसर के भी काम उत्पथ ले जाता है, अवसर प्राप्त होने पर, तीक्ष्ण प्रलोभन होने पर, क्या नहीं हो सकता। "कं नहि मदयति मदनः"। अति तपस्वी, अपने शरीर को सुखा डालने वाले, हवा पानी पत्ता पी खाकर रहने वाले, विश्वामित्र पराशर आदि ऋषियों से भी, स्त्रियों के कमलवत् सुललित मुखों को देख कर, मोह मे पड़ कर, चूक बहुतेरी होती रही है

साधारण स्त्री पुरुषों की, घी दूध दही उत्तम पुष्टिकर अन्न खाने वालों की, क्या कथा; यदि ऐसे लोग भी इन्द्रिय-निग्रह कर सकें, तो मानो विंध्य पर्वत पौड़ कर सागर को पार कर ले।

> विश्वामित्र-पराशर प्रभृतयः वाता-ऽम्बु-पर्णाऽशनाः,
> तेऽपि स्त्रीमुखपंकजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः।
> शाल्यन्नं दधिदुग्धगोघृतयुतं ये भुंजते मानवाः,
> तेषाम् इन्द्रियनिग्रहो यदि भवेत्, विंध्यस् तरेत् सागरं॥

मनु की आज्ञा तीव्र है,

> स्वभाव एव नारीणां नराणां इह दूषणम्।
> मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
> बलवान् इन्द्रियग्रामो विद्वांसम् अपि कर्षति॥

मानव प्रकृति का यह स्वभाव ही है कि, नर नारी, साहित्य में, एक दूसरे के चित्त को क्षुब्ध करते हैं, एक दूसरे को दूषित करते हैं; माता, बहिन, बेटी के साथ भी अकेले में न बैठे; इन्द्रियों की सेना बलवान् है; विद्वान् को भी कुमार्ग में खींच ले जाती है।[1]

---

[1] इस श्लोक पर, एक वृद्ध अंग्रेज ने आश्चर्य प्रकट किया, कि भारतवर्ष के स्त्री पुरुषों पर, यहाँ के धर्म-व्यवस्थापकों विधान-कारों को इतना अविश्वास था। उनसे कहना पड़ा कि, लड़ाई के लिये 'प्रौढ़ और पेरिस के स्त्री पुरुषों के चरित्र' में, तथा फ्रांस, इटली, इंग्लैंड, ग्रीस, आदि के इतिहास में, तथा एक मुग़ल बादशाह के सम्बन्ध में, [illegible] के दुराचरण के उदाहरण मिलते हैं, [illegible], [illegible] कानून में, ऐसे पापों के लिये विशेष दंड लिखा है [illegible] कि ऐसे पाप होते हैं, कभी कभी, [illegible] [illegible]

दूसरे स्मृतिकार ने कहा है,

> घृतकुम्भसमा नारी, तप्तांगारसमः पुमान्।
> तस्मान्नरं च नारीं च नैकत्र स्थापयेद् बुधः॥

अविवाहित स्त्री पुरुष को एकत्र रखना, मानो आग और ईंधन को साथ रखना है, ऐसी अवस्था मे 'ब्रह्मचर्य' और सच्चरित्र निबहना प्रायः असम्भव सा है, और प्रायः स्त्री ही की हानि और दुर्दशा होती है।

अब स्त्रियो की शिक्षा की ओर देश का झुकाव बहुत हो रहा है, और ठीक हो रहा है, पर उसके प्रकार पर गृहस्थो को बहुत गम्भीर विचार करना आवश्यक है। जैसा गम्भीर विचार बालकों की रक्षा के लिये करने की आवश्यकता है, जिसका ज़िक्र ऊपर किया गया, उससे भी अधिक इसपर ध्यान देना चाहिये *।

यह जो कहा, इसका आशय यह नहीं है कि स्त्रियो को शिक्षा न दी जाय, या स्त्रियाँ पर्दे मे रक्खी जायँ, कदापि नहीं, शिक्षा देना ही चाहिये, परदे की प्रथा हटाना ही चाहिये। कहने का मतलब केवल इतना ही है, कि स्त्री और पुरुष के प्राकृतिक मानस और शारीर भेद को, संसार मे, जीवनसंग्राम मे, उनके विभिन्न कर्त्तव्यों को, और साथ ही उनके सहधर्मित्व-सहधर्मिणीत्व को भी, ध्यान मे खूब रख कर, शिक्षा रक्षा आदि का प्रबन्ध, विवेक से, मर्यादा बाँध कर, सुव्यवस्थित किया जाय। महाराष्ट्र, गुर्जर द्राविड़, आंध्र आदि प्रान्तो और समाजों मे पर्दा की प्रथा नहीं है, पर स्त्रियो और पुरुषो के परस्पर दर्शन सम्भाषण आदि के विषय मे बहुत मर्यादा बाँधी हुई है।

---

* 'दी सायंस आफ सोशल आर्गेनिज़ेशन' मे, पृष्ठ ४४० से ५५१ तक, इस पर विस्तार से विमर्श करने का यत्न किया है।

पापिष्ठ बलात्कार, और एक ओर दर्प और क्रूरता और दूसरी ओर घोर भय और दीनता, नहीं है; जहाँ स्त्री-पुरुष को परस्पर काम है, वहाँ शारीर 'रति' भी और मानस 'प्रीति' भी, दोनो ही सम्मिलित रहती है, "कामस्य द्वे भार्ये, रतिश्च, प्रीतिश्च", तो भी साधारण बोल चाल मे, 'काम' शब्द से 'रति' की, 'सुरत' को, 'मिथुनता' की, ओर ही अधिक झुकाव माना जाता है। यहाँ एक बात और विचार करने की है, हिन्दी मे 'काम' शब्द का एक अन्य अर्थ प्रचलित है, यह 'काम' शब्द, संस्कृत के 'कर्म' शब्द का प्राकृत अपभ्रंश वा रूपान्तर है, और उसका अर्थ 'कर्म' ही है; इस लिये, यद्यपि प्रसंग से उपयुक्त अर्थ का बोध हो ही जाता है, तो भी अच्छा होता यदि कोई दूसरा निर्भ्रान्त असन्दिग्ध शब्द मैथुन्य-कामके लिये निश्चित कर लिया जा सकता, और उससे अन्य पद, संज्ञा, संज्ञा-विशेषण, क्रिया-विशेषण आदि, बनाये जा सकते, जैसे अंग्रेज़ी मे 'सेक्स-लव', 'सेक्सुअल', 'सेक्सुअली', 'सेक्सुऐलिटी', आदि। 'सेक्स' शब्द का आगम अंग्रेजी मे कहाँ से हुआ, इसका भी पता ठीक नही चलता, शब्द-कोशो मे, प्रायः लैटिन भाषा का धातु, 'सिकेरी', काटना, इसका मूल बताया जाता है, यह ठीक जँचता नहीं, अजब नहीं जो संस्कृत 'शक्', 'शक्ति', से ही इसकी उत्पत्ति हो; क्योंकि सृष्टि करने की पारमात्मिक शक्ति और काम एक ही पदार्थ है। पर, हां, जैसे परमात्मा और जीवात्मा मे, तात्त्विक ऐक्य होते हुए भी, प्रातिभासिक भेद है, वैसे ही पारमात्मिक सांकल्पिक सूक्ष्म काम मे और जैवात्मिक शारीर स्थूल काम मे भी भेद है।

'सेक्स' शब्द का संस्कृत मे ठीक अनुवाद स्यात् 'लिङ्ग' शब्द हो, दोनो शब्दो के, अपनी अपनी भाषा मे, प्रयोग की

उसको 'लिङ्ग' नहीं कहते, 'योनि' ही कहते है। सर्जन शक्ति की दृष्टि से, यदि 'सेक्स' शब्द का आगम 'शक्', 'शक्ति', रचना कर 'सकना', से हो, तो 'सेक्स' के लिये 'लिङ्ग' शब्द ठीक होता है, पर उक्त अन्य विचारो से यह भ्रम-कारक होगा। ऐसी ही आपत्ति, 'शक्ति' शब्द के सम्बन्ध मे है, यद्यपि 'शक्ति-उपासना' का वाममार्गीय रूप घोर 'कामोपासना' ही है। इस लिये 'काम' और 'स्मर' शब्दो से ही काम लेना अच्छा होगा; उसमें भी, 'काम', 'कामीय', 'कामिक', 'कामिकता', 'कामुक', 'कामुकता' आदि से अधिक विशेष कर इस लिये कि 'काम शास्त्र' शब्द ऋषि-सम्मत है। धर्म-अर्थ-काम का त्रिवर्ग है।

'काम' के दो तीन संस्कृत पर्यायों का उल्लेख किया गया। अमरकोष आदि मे ये नाम दिये हैं,

मदनो, मन्मथो, मार, प्रद्युम्नो, मीनकेतन ।
कन्दर्पो, दर्पको, ऽनङ्ग, काम, पञ्चशर, स्मर. ॥
शंबरारिः, मनसिज, कुसुमेषुः, अनन्यज ।
पुष्पधन्वा, रतिपति, मकरध्वज, आत्मभू ॥
ब्रह्मसू, विश्वकेतुश्च, वसन्तसख इत्यपि ।
लक्ष्मीसुत., शिवद्वेषी, विश्वक्सेनात्मजश्च स ॥

प्रत्येक नाम का विशेष अर्थ है, आत्मभू, अनन्यज, ब्रह्मसू:, लक्ष्मीसुतः, शंकरद्वेषी, स्मर आदि, आध्यात्मिक अर्थों से भरे हैं, सब के लिखने का यहाँ अवसर नहीं। प्रसक्त प्रयोजन के लिये 'स्मर' शब्द अच्छा जान पड़ता है, इसकी व्युत्पत्ति, भानु-दीक्षित ने, अमरकोष की टीका मे, "स्मरयति, उत्कंठयति", लिखी है। ठीक है पर यों भी अर्थ लगा सकते हैं—ब्रह्म की, परमात्मा की, 'स्मृति' मे, ज्ञान, ध्यान, संकल्प, अवधारण मे, समस्त संसार, सर्वथा सर्वदा-सर्वत्र, भूत भविष्य-वर्त्तमान, ७

क्रमो का लङ्घन किये हुए, उनके पार, एक रूप से स्थित रहती है।

परमार्थ तात्विक दृष्टि से, परमात्मा के काम-संकल्प स्मर का यह स्वरूप है।

संसारार्थ व्यावहारिक दृष्टि से, संतान की उत्पत्ति करने वाला, इच्छारूप काम-संकल्पात्मक भाव, 'कान्त-कान्ता-स्मरणेन उद्दीप्यते', कामित स्त्री वा पुरुष के स्मरण से, मानस ध्यान से, जागता है, इस लिये 'स्मर' कहाता है।

ध्यायतो विषयान् (पुंस सगस्तेषूपजायते।
संगात्) संजायते 'काम', (कामात् क्रोधोऽभिजायते) ॥ (गीता)

केचित्कर्म वदन्त्येनं, स्वभावमितरे जनाः।
एके काल, परे दैवं, पुंस "काम" उताऽपरे ॥
(भागवत, स्कं० ४, अ० ९)

ज्ञान मायां प्रधान च प्रकृति शक्तिमप्यजां।
अविद्याम् इतरे प्राहुर्वेदतत्त्वार्थचिंतका ॥
(देवी भागवत, स्कं० ८, अ० ३२)

धर्ममूलोऽर्थ इत्युक्त, कामोऽर्थफलमुच्यते।
सकल्पमूलास्ते सर्वे, संकल्पो विषयात्मक ॥
(महाभारत, शान्ति, अ० १२३)*

विषयो का ध्यान स्मरण करने से उनकी ओर इच्छात्मक, कामनारूप, काम पैदा होता है, सनातन संकल्प ही का नामान्तर रूपान्तर 'काम' है. जगत् का पति, अनिर्देश्य, सर्वग, सर्वव्यापी, सर्वत्रगामी, सर्वभावन, सब हृदयो मे सोने जागने वाला, रुद्र अर्थात् क्रोध का जनक भी और जेठा भाई भी,

---

* पूर्व पृष्ठ १९३-१९४ में इस विषय पर अपर श्लोक भी दिये हैं।

'काम' है, इसी को कोई स्वभाव कहते हैं, कोई दैव, कोई कर्म, काल, ज्ञान, अज्ञान, माया, प्रधान, प्रकृति, शक्ति, अजा, अविद्या, सब इसी 'काम' के आकारों-प्रकारों के नाम हैं; मानव जाति के लिये, धर्म का फल अर्थ, अर्थ का फल 'काम' है; सबका मूल 'संकल्प' है, संकल्पन 'विषयों' का होना है।

'काम' की, 'स्मर' की, ऐसी महिमा " है, यदि आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाय। यदि केवल अधिभूत भाव से देखा जाय, तो, इसके विपरीत, वैसी ही असीम इसकी क्षुद्रता, पशुता, है। यदि अविरोध भाव से, ज्ञान-विवेक-विचार से, अध्यात्म अधिभूत का समन्वय करके, इसका आराधन किया जाय, तो,

धर्माऽविरुद्धः कामोऽस्मि भूतानां भरतर्षभ। (गीता)

जंजाल है'—यह अन्त मे सभी को स्वभावतः कम बेश मालूम हो ही जाता है, वेदान्त के पारगत को भी, और अनपढ़ को भी, 'संसरण' का, जगत् के विस्तार का, प्राणियो के वंशानुवंश सन्तान का, भोग विलास का, धर्म और अर्थ का, मूल हेतु काम ही है, सामान्यार्थ 'अविद्या', 'इच्छा', 'वासना', 'माया-शक्ति', के रूप मे भी, तथा विशेषार्थ, स्त्री-पुमान् की परस्पर मिथुनता, सग, साथ, सुरत, व्यवाय, की इच्छा के अर्थ, और अधिक तीक्ष्ण रूप, मे भी। पहिले (पृष्ठ १९७ पर) कह आये है, कि वैदिक कर्मकाण्ड का भी प्रयोजक हेतु काम ही है, तथा इसके दोष भी स्पष्ट है, अति काम से अति सन्तान वृद्धि, तथा काम की सेना, क्रोध, लोभ, मोह, भय, मद, मत्सर आदि, की वृद्धि, और परस्पर वड़े वड़े युद्ध और संहार।

ऐसे ही, स्त्री-पुं-काम सम्बन्धी शिक्षा, अल्पवयस्को, कम उमरो, को देने न देने मे भी उभयतो दोष है। वयस्थो, युवा, युवतियो, विवाहोन्मुखो, विवाहितो, के लिये तो ऋषियो ने काम-शास्त्र बना दिया है ही। छोटे लड़के व लड़कियो के सम्बन्ध मे संशय होता है। एक ओर यह आपत्ति है कि, इस विषय का सर्वथा ज्ञान न होने से, बच्चे, बच्ची, कुमार, कुमारी, युवा, युवती, बड़ी बड़ी भूल-चूक मे पड़ जाते है, क्रूर पापिष्ठो के शिकार बन जाते है, और सारी उमर शरीर मे रोग, चित्त मे विकार, हृदय मे धंसा छिपा शल्य, भोगते है, अथवा नितान्त दुःशील, धृष्ट, वेहया, कामुक हो जाते है दूसरी ओर यह कठिनाई है कि, शिक्षा देने की नीयत से ही, अजान (अज्ञान) भोले, मासूम, कम उमरो से इस विषय की चर्चा की जाती है, तो उनके मन मे क्षोभ उत्पन्न होता है; बालको की अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार, और शिक्षा के प्रकार के अनुसार,

'काम' है; इसी को कोई स्वभाव कहते हैं, कोई दैव, कोई कर्म, काल, ज्ञान, अज्ञान, माया, प्रधान, प्रकृति, शक्ति, अजा, अविद्या, सब इसी 'काम' के आकारो-प्रकारो के नाम है; मानव जाति के लिये, धर्म का फल अर्थ, अर्थ का फल 'काम' है, सबका मूल 'संकल्प' है; संकल्पन 'विषयों' का होता है।

'काम' की, 'स्मर' की, ऐसी महिमा * है, यदि आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाय। यदि केवल अधिभूत भाव से देखा बर्त्ता जाय, तो, इसके विपरीत, वैसी ही असीम इसकी क्षुद्रता, पशुता, है। यदि अधिदैव भाव से, ज्ञान-विवेक-विचार से, अध्यात्म-अधिभूत का समन्वय करके, इसका आराधन किया जाय, तो,

धर्मोऽनपेतः कामोऽस्मि भूतानां भरतवर्षभ। (गीता)

ऐसे धर्म-सम्मत काम की ही उचित शिक्षा का प्रचार करना आवश्यक है, क्योंकि वह, धार्मिक गार्हस्थ्य द्वारा, उत्तमोत्तम सांसारिक ऐहिक और आमुष्मिक दोनो सुखो का साधक है, तथा धर्म-रहित धर्म विरुद्ध काम वैसा ही दोनों सुखों का बाधक और नरक का प्रापक है। छोटे बड़े शिष्यो के वयस् की अपेक्षा से, प्रकार मे भेद होना भी आवश्यक है। यह प्रकार क्या है, इस पर बहुत विचार अनुभवी वृद्धो को करना चाहिये।

ऊपर लिखा कि काम सम्बन्धी चर्चा, बिना देश काल-पात्र के विवेक के, करने मे बहुत दोष है। 'उभयतः पाशारज्जुः'; 'खाय तो पछताय, न खाय तो पछताय'। यह कथा समस्त 'संसार'-पदार्थ ही को है। 'दुनिया झूठी है', 'माया का

---

* महिमा शब्द (तथा अणिमा, लघिमा, गरिमा आदि) संस्कृत मे पुंलिंग हैं, पर हिन्दी मे स्त्रीलिंग ही मानने की चाल चल गई है।

जजाल है'—यह अन्त मे सभी को स्वभावत· कम वेश मालूम हो ही जाता है, वेदान्त के पारगत को भी. और अनपढ़ को भी. 'संसरण' का, जगत् के विस्तार का, प्राणियो के वशानुवंश सन्तान का, भोग विलास का, धर्म और अर्थ का. मूल हेतु काम ही है. सामान्यार्थ 'अविद्या'. 'इच्छा', 'वासना', 'माया-शक्ति'. के रूप मे भी, तथा विशेषार्थ, स्त्री-पुमान् की परस्पर मिथुनता, संग, साथ, सुरत, व्यवाय, की इच्छा के अर्थ, और अधिक तीक्ष्ण रूप, मे भी। पहिले (पृष्ट १९७ पर) कह आये है, कि वैदिक कर्मकाण्ड का भो प्रयोजक हेतु काम ही है, तथा इसके दोप भी स्पष्ट है· अति काम से अति सन्तान वृद्धि, तथा काम की सेना, क्रोध लोभ, मोह, भय. मद, मत्सर आदि, की वृद्धि, और परस्पर वड़े वड़े युद्ध और संहार।

ऐसे ही, स्त्री-पुं-काम सम्बन्धी शिक्षा, अल्पवयस्कों. कम उमरो, को देने न देने मे भी उभयतो दोष है। वयस्थो. युवा. युवतियो, विवाहोन्मुखो, विवाहितो. के लिये तो ऋषियो ने काम-शास्त्र वना दिया है ही। छोटे लड़के व लड़कियो के सम्बन्ध मे संशय होता है। एक ओर यह आपत्ति है कि, इस विषय का सर्वथा ज्ञान न होने से, वच्चे, वच्ची. कुमार, कुमारी, युवा, युवती, वड़ी वड़ी भूल-चूक मे पड़ जाते है, क्रूर पापिष्ठो के शिकार वन जाते है. और सारी उमर शरीर मे रोग चित्त मे विकार, हृदय मे धंसा छिपा शल्य, भोगते हैं अथवा नितान्त दुःशील. धृष्ट, वेहया, कामुक हो जाते है, दूसरी ओर यह कठिनाई है कि, शिक्षा देने की नीयत से ही. अजान (अज्ञान) भोले, मासूम. कम उमरों से इस विषय की चर्चा की जाती है, तो उनके मन मे क्षोभ उत्पन्न होता है· वालकों की अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार. और शिक्षा के प्रकार के अनुसार,

कभी किसी को भय बढ़ता है, कभी किसी को कुतूहल बढ़ता है, अधिक जानने की, और अपरोक्ष अनुभव कर के जानने की, इच्छा उत्पन्न होती है; और इस रीति से भी वे अनाचार मे पड़ जाते हैं।

यूरोप अमेरिका मे इस पर बहुत क्षुण्ण-क्षोद हो रहा है, कि अल्पवयस्कों को इस विषय पर कुछ भी शिक्षा देना, या न देना, यदि देना तो किस प्रकार से, किस हद तक। ससार की द्वंद्वमयता के कारण, गुण-दोष, पुण्य-पाप, उजेला-अंधेरा, सब जगह परस्पर लगे, क्या एक दूसरे के भीतर पैवस्त, हैं; वही वस्तु, वही क्रिया, एक अवस्था मे लाभदायक, दूसरी मे हानि-कारक, होती है; कोई ऐसा प्रकार नहीं जो सर्वथा शुद्ध केवल गुणमय हो, अथवा निरा दोषमय; देश काल-पात्र-अवस्था-सम्पत्काल आपत्काल आदि देख कर, जिस प्रकार मे गुण अधिक, दोष कम, जान पड़े, वही पकड़ना चाहिये।

पात्र-कर्म-विशेषेण, देश-कालौ अवेक्ष्य च।
स एव धर्मः, सोऽधर्मः, धर्मो हि आवस्थिक· स्मृत.॥
अन्यो धर्मः समस्थस्य, विषमस्थस्य चाऽपरः।
नहि कश्चिद् उपायोऽस्ति गुणवान् एव केवलं।
न च दोषमयो वाऽपि, तस्माद् ग्राह्यो गुणाधिकः॥
(म० भा०, शांति)

भारतवर्ष की अवस्था को भी देखना चाहिये। होली पर, दो तीन दिन के लिये, सब मर्यादा छोड़ कर, अश्लील शब्द और गीत गली गली पुकारे और गाये जाते हैं। छोटे छोटे बच्चे तक सुनते और गाते हैं। माँ, बहिन, बेटी की गालियाँ, और जननेन्द्रिय सम्बन्धी अभद्र शब्द, अनपढ़ लोगों के मुह से, और कभी कभी पढ़े लिखे लोगों के भी मुह से, गलियों मे, सड़कों

पर, गावो और शहरो मे, बच्चों, जवानो, प्रौढ़ो, बूढों के मुह से, अक्सर सुन पड़ते हैं, चिड़ियो की, पशुओ की, कुत्तो वानरो की मैथुन क्रिया, गावो मे, शहरो मे, बच्चे जवान स्त्री पुरुष सभी को बहुधा देख पड़ती है. काशी ऐसे बड़े तीर्थ स्थान मे, मकानो और बागो की दीवारो पर, गज गज़ भर लम्बे चौड़े हरफो मे, 'नामर्दी की दवा' के इश्तिहार नज़र आते हैं, बच्चो को कुतूहल स्वाभाविक होता है, प्रश्न करते हैं, 'नया बच्चा कहाँ से आया ?', 'ब्याह क्यो होता है ? 'बड़ी बहिन, ब्याह होने पर, दूसरे घर क्यो चली गई ?', 'बड़े भाई का ब्याह होकर नई स्त्री इस घर मे आकर क्यो रहने लगी, 'यह लोग अलग कोठरी मे क्यो सोते हैं ?. इत्यादि. उनके वृद्ध गुरुजन, विशेष कर माता पिता, जिनके और सन्तान के बीच परा-काष्ठा का प्रेम और विश्वास होना चाहिये, (—और माता और उसकी सन्तान के बीच मे प्रायः होता भी है, जिसने नौ महीने तक बच्चे को अपने गर्भ के भीतर रक्खा है उससे क्या दुराव बराव हो सकता है, कौन बात छिपाई जा सकती है या छिपानी चाहिये ?—), जिन्हीं को इनका उत्तर, शिक्षा के रूप मे, उत्तम रीति से. देना चाहिये, वे स्वयं शर्माते हैं, उचित उत्तर जानते नहीं, देते नहीं, बहाने कर देते हैं, भुलावा देने का, बहला देने का यत्न करते हैं. बच्चे समझ जाते हैं कि टुटका दिया, दूसरे सयानो (सज्ञानो) से पूछते हैं. जो बहुधा अनु-चित उत्तर देते हैं, कुचाल सिखा देते हैं. उनका चारित्र्य भ्रष्ट कर देते हैं. हिन्दी मे 'कोकशास्त्र' आदि के नाम से ग्रन्थ आम तौर से छप और बिक रहे हैं. जो बहुतायत से खरीदे और पढ़े जाते हैं, और जिनमे रति-क्रिया का ही वर्णन अधिक रहता है, धर्म्य-काम-विषयक सत्कुलीन सर्वाङ्गीण शिक्षा नहीं साहित्य

मे भी स्त्रियों का 'नखसिख' वर्णन और अनावृत लेख बहुत होता रहा है; 'साइनेमा' मे नग्नप्राय स्त्रियों पुरुषों का प्रदर्शन, पश्चिमी देशों के अनुकरण से, बहुत होने लगा है; पचास साठ बरस पहिले, यूरोपीय विद्वान्, और अंग्रेज़ी पढ़े भारतीय, मध्यकालीन संस्कृत और हिन्दी काव्यों मे ऐसे 'नख सिख' वर्णन को बड़ी घृणा से देखते थे, पर, यूरोप अमेरिका मे तो अब बिलकुल हवा बदली है, यहाँ तक कि कुछ वर्षों से, 'न्यूडिज़म' अर्थात् 'नग्नता' का एक नया पन्थ सा चला है, जिसके अनुयायी स्त्री और पुरुष, मादरज़ाद अर्थात् नवजात बच्चे के ऐसे सर्वथा वस्त्र रहित, एक दूसरे के साथ उठते बैठते नहाते हँसते बोलते खेलते दौड़ते है, 'प्रूडरी', अति लज्जा, की आत्यंतिक कोटि से जो हटे, तो पशुवत् नग्नता की नितान्त निलपता बेशर्मी की दूसरी आत्यन्तिक कोटि से जा सटे; भारत मे भी, हरद्वार, मथुरा, आदि तीर्थ स्थानों मे, स्त्रियाँ (पुरुष नहीं) सब वस्त्र उतार कर गंगा यमुना मे नहाती देख पड़ती हैं; समाचारपत्रो मे, एक ओर कामवर्धक, नग्नप्राय स्त्री पुरुष के चित्र, और वृष्य, वाजीकरण, औषधो के इश्तिहार, दूसरी ओर गुप्त रोगों की चिकित्सा के विज्ञापन, बहुत छपते रहते हैं, जिन औषधों के सेवन से दुराचार और रोग प्रायः बढ़ते ही जाते हैं, अनगिनत अल्पवयस्कों का जीवन नष्ट-भ्रष्ट होता है, क्रूर लोभी विज्ञापकों विक्रेताओं की जेबें भरती हैं। साथ ही, अजीर्ण, मंदाग्नि, ज़ोफ़-मेदा, की दवाओं के इश्तिहार बहुत रहते हैं; यूरोप अमेरिका के दैनिक साताहिक मासिक पत्रों मे भी, इन्हीं दो से, उपस्थ और उदर से, सम्बन्ध रखने वाली दवाओं के, तरह तरह से, नाम और रूप बदल बदल कर, बहुतेरे इश्तिहार (ऐडवर्टिज़मेंट) रहते हैं।

निष्कर्ष यह कि, इन विज्ञापनों से भी पुनर्वार यही सिद्ध होता है कि, मनुष्यों की प्रायः नव्वे फी सदी बीमारियाँ, जिह्वा और उपस्थ के दुरुपयोग से ही होती हैं, और इनका दुरुपयोग बहुत हो रहा है।

यह दशा भारतवर्ष की है।

पश्चिम के देशों की हालत का नमूना दिखाने के लिये, अमेरिका के 'करेंट हिस्टरी' नामक मासिक पत्र के, सन् १९३७ ई० के सितम्बर महीने के अङ्क में छपे हुए, डाक्टर टोलनाइ के लेख से कुछ अंश का उद्धरण यहाँ पर किया जाता है।

"यूनाइटेड स्टेट्स आफ़ अमेरिका में, (जिसकी आबादी अब करीब बारह करोर के है), प्राय: सौ में दस व्यक्तियों (स्त्रियों, पुरुषों) को 'सिफिलिस' ('उपदंश', 'गर्मी') और बीस को 'गोनारिया' (सोजाक) का मर्ज है, यानी कुल आबादी में से प्राय: तीन करोर से अधिक ऐसे रोगी हैं। पाँच लाख नये रोगी हर साल होते हैं, अकेले 'न्यू-यार्क' महानगर में (जिसकी आबादी करीब सत्तर लाख है) हर हफ्ते में एक हजार। पागलखानों में पन्द्रह फी सदी 'सिफिलिस'-जनित 'पारेसिस' (एक प्रकार के पक्षाघात, लकवा, फालिज) से पीड़ित हैं। अन्धों में पन्द्रह फी सदी, और दुर्बल-नेत्रों दूषित-नेत्रों में चालीस फी सदी, का कारण भी 'सिफिलिस' है। जन्मान्ध बच्चों में साठ फी सदी की अन्धता का कारण 'गोनारिया' है। प्रायः दो लाख हर साल 'सिफिलिस से मर जाते हैं। एक सामाजिक कार्यकर्त्ता ने अट्ठासी कुटुम्ब जाँचे, तो केवल आठ कुलों में 'सिफिलिस' नहीं पाया। कितने ही पुरुष नामर्द और कितनी ही स्त्रियां वन्ध्या, इन रोगों के कारण हो जाती हैं। युनाइटेड् स्टेट्स की गवर्मेंट का दस करोर 'डालर', अर्थात्

तीन करोर रुपया (१ डालर = ३ रुपया) सालाना ऐसे रोगियों के इलाज पर खर्च होता है; इसके अलावा साढ़े सात करोर रुपया, इन रोगों से अपाहज हो गये रोगियों को ज़िन्दा रखने वाली शालाओं और संस्थाओं पर, तथा पचीस करोर रुपया सालाना इन मरजों मे गिरिफ़्तार हुए मज़दूर, काम न करने के दिनों की मज़दूरी के रूप मे, खो देते है। जो डाक्टर इन मरजों का खास इलाज करते है, वे प्रायः घृणा की निगाह से समाज मे देखे जाते है, (इस हेतु से कि घृणा का रूप लाकर रूप लाने वाला सबको यह जताना चाहता है कि मै इन सब गन्दी बातों से बिलकुल पाक व साफ़ हूँ)। ऐसे डाक्टर अक्सर सचमुच ठग भी होते है, एक वर्ष भर दवा करने के लिये एक मरीज़ से प्रायः पाँच सौ से साढ़े सात सौ रुपया लेते है; जो अपने को 'स्पेशलिस्ट', विशेषज्ञ, सिद्धहस्त, कहते है, वे तो अमीरों का ही इलाज करते है, और पन्द्रह सौ से दो हज़ार तक रुपया माँगते है। करीब डेढ़ अरब, यानी डेढ़ सौ करोर, रुपये की 'पेटेन्ट' दवा, जिनमें अधिकांश इन्ही रोगों की होती है, हर साल बिक जाती है। बहुत से डाक्टर अपने दवाखानों मे मुफ़्त सलाह देने की लालच पहिले देते है, पीछे, जब रोगी उनके चंगुल मे फँस गया तब, सैकड़ों रुपये ऐंठते है। साठ हज़ार 'प्राइवेट', निजी, दवाखाने इस प्रकार के हैं; और इनमे प्रायः चार लाख रोगी प्रति वर्ष फँस कर अपना धन भी और रहा सहा स्वास्थ्य भी गँवाते है। डाक्टरों और नकली चिकित्सकों का गुट सा बना हुआ है। इलाज के लिये बहुत सूद पर क़र्ज़ दिला कर भी रोगी ठगे जाते हैं। माता-पिता के इन रोगों से रुग्ण होने से पचीस हज़ार बच्चे प्रति वर्ष गर्भ में ही मर जाते हैं; सौ पीछे दो बच्चों को जन्म से ही ये रोग रहते है,

न्यू यार्क के स्कूलो मे प्रति वर्ष प्रायः छः सौ लड़के इन रोगो से पीड़ित होने के कारण, संक्रमण (छूत) के भय से, स्कूलो से अलग कर दिये जाते है। वेश्याओ द्वारा ये रोग बहुत फैलते है, यह कहना सम्भव नहीं कि न्यू यार्क नगर मे (जिसकी आबादी, जैसा पहिले लिखा, करीब सत्तर लाख है) कितनी पण्य स्त्री है, (एक लाख से अधिक का अनुमान ग्रन्थकार अन्वेषको ने किया है. लन्दन, पैरिस, बर्लिन, वियेना, शिकागो, टोकियो, आदि महानगरो और 'राजधानियो' की सब की ऐसी ही कथा है), सन् १९३४ मे साढ़े तीन हज़ार ('कसब' से, शरीर बेंचने से, जीविका करने वाली) 'कसबी' स्त्रियो पर, उनके पेशे सम्बन्धी कानूनो के खिलाफ काम करने के लिये, मुकदमे चलाये गये, इन मे से अस्सी फी सदी को संक्रामक गुप्त रोग थे, किसी किसी ने एक एक दिन मे बीस बीस पुरुषो के साथ संगम किया था। 'चकला' ('चक्र', 'भैरवी चक्र', 'कसबखाना', अंग्रेज़ी मे 'ब्राथेल') चलाने वालो का प्रायः खास खास डाक्टरो से साझा-समझौता रहता है। बहुत महँगा होने से इलाज पूरा पूरा बहुतेरे रोगी नही करा पाते। या डाक्टर बनने वाले झूठे ठगो के हाथ मे पड़ कर अधिक क्लेश भोगते है। ऐसे रोगो के सम्बन्ध मे शर्म करना और छिपाना चुराना स्वाभाविक है, इसी से छुके छिपे डाक्टरो या मिथ्या डाक्टरो के हाथो मे बहुधा रोगी पड़ जाते है। (आरम्भ जैसे भी हुआ हो, पर अब यह दशा है कि) इन रोगो का संक्रमण, सौ पीछे पचीस तो वेश्याओं, पण्यस्त्रियों, कसबियों, के साथ संगम से होता है पचास फी सदी विवाहो के द्वारा होता है, जिनमे, अविवाहित अवस्था मे दुराचार के कारण रुग्ण हुई स्त्री ने नीरोग पुरुष से, या ऐसे ही रुग्ण पुरुष ने नीरोग स्त्री से, विवाह

किया है; और बाकी पच्चीस फ़ी सदी, विवाहितावस्था मे पर-दारगमन परपतिगमन से होता है।"

उस शुद्ध सच्चरित्र निर्दोष स्त्री, वा पुरुष, के चित्त को कैसा भारी आघात पहुँचेगा, जिसने सरल सप्रेम सविश्वास हृदय से विवाह किया, और फिर जाना कि ऐसी घोर क्रूर वञ्चना उसकी की गई; कैसी मानभंग की, दैन्य की, क्रोध की तरंगें उसके हृदय मे उठेंगी, और उसके सारे जीवन को विकारमय कर देंगी। जिस समाज मे ऐसा दुराचरण, वञ्चन, और तज्जनक व तज्जनित चित्तविकरण, और्व अग्नि के ऐसा, बढ़ता फैलता जायगा, वह समाज क्यों न नरक मे गिरैगा। हावेलाक एलिस ने, अपने विशाल ग्रन्थ मे, एक स्थल पर लिखा है कि. एक ऐसी वञ्चित स्त्री को इतना क्रोध पुरुष जाति मात्र पर हुआ, उसने सभी पुरुषों को ऐसा शठ धूर्त्त समझ लिया, कि छब्बीस पुरुषों को लुभा बहँका कर उनके शरीर मे गुह्य रोग का संक्रमण कर दिया। ऐसी ही वञ्चित पुरुषों की कथाएँ हैं। पाप की परम्परा, पाप का वंश, बढ़ता ही जाता है; उसकी प्रतिक्रिया का उपाय एक मात्र यही है कि पुण्य की परम्परा, पुण्य का वंश, बढ़ाया जाय, और वंचितों, पीड़ितों, के चित्त की दहकती आग का शमन, कर्म की गति, प्रारब्ध का दोष, क्षमा का असीम चित्तशोधक पापक्षालक प्रभाव, समझा कर, किया जाय।

'आसुरी सम्पत्, शिष्टता, सभ्यता' की तस्वीर जो ऊपर 'करॅट हिस्टरी' के लेख मे मिलती है, उससे अधिक घोर चित्रण, गीता मे भी नहीं है। यह दशा युनाइटेड् स्टेट्स आफ़ अमेरिका की है, जो अपने को शिष्टता सभ्यता की चोटी पर चढ़ा हुआ, ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी से भी आगे बढ़ा हुआ, मानता है। और

बाह्य सामग्री, कल कारखाने, धन दौलत, ऐश इश्रत, वायुयान, जलयान, स्थलयान, वाष्पयान, तैलयान, विद्युद्यान, तडिद् यन्त्र, शतभौम (सौ-मंजिले) भवन, आदि की दृष्टि से है भी। 'जननेन्द्रिय' के इस दुरुपयोग के साथ 'रसनेन्द्रिय' की करतूत को भी याद रखना चाहिये, अकेले ब्रिटेन की, प्रायः साढ़े चार करोर की, आबादी मे, प्रायः साढ़े तीन सौ करोर रुपये की 'शराब' प्रति वर्ष उठ जाती है, 'कबाब' की भी इसी अनुपात से मात्रा है, करोरो पशु-पक्षियो की, मनुष्यो के आहारार्थ, प्रतिदिन हिंसा होती है, कुम्भकर्ण के रूपक से, वाल्मीकि जी ने, लङ्का की बस्ती का दैनंदिन मद्य मांस का भोजन पान दिखाया है; आजकाल के पाश्चात्य नगरो की चर्या के आगे वह पसँगे मे धूल है, ऐसे पापमय राजस आहार से, क्रूर काम-क्रोध भाव बढ़ कर, मनुष्यो का परस्पर संहार महायुद्धो मे होना अनिवार्य ही है। (जज लिंड्से आदि) अन्य लेखको ने लिखा है कि युनाइटेड् स्टेट्स आफ् अमेरिका मे प्रायः बीस लाख गर्भपात प्रति वर्ष कराये जाते हैं। यूरोप के सभी देशो की कमबेश ऐसी ही दशा है। एक जर्मन लेखक (ऐवान ब्लाक) ने लिखा है कि जर्मनी मे (जिसकी आबादी, तीस वर्ष पहिले, ग्रन्थ लिखने के समय, प्रायः छः करोर थी), प्रति वर्ष प्रायः बीस लाख बच्चे 'कानीन' अर्थात् अविवाहिता 'कन्याओं' से, पैदा होते है। जर्मनी मे 'मुटर-शुट्ज-बुंड्ज', अर्थात् ऐसी अविवाहिता माताओ के और उनके बच्चो के पालने के लिये संस्थाएँ कायम हुई है। ब्रिटेन मे भी 'आर्फन होम्स', यतीमखाने, बने है, जहां विवाहबाह्य बच्चों को लोग छिपा कर छोड़ जाते है। एक दृष्टि से पुण्य कार्य है, उचित है; दूसरी दृष्टि से, दुराचार व्यभिचार के पाप

को बढ़ाता है, क्योंकि उसके दुष्फल से जो दण्डरूप क्लेश होता, उसके भय को क्रूर दुराचारी व्यक्तियों के हृदय से मिटाता है, और सारे समाज पर, अथवा यो कहिये कि उसके दयालु सदाचारी अंश पर, जारज संतान के भरण पोषण के भार को फैलाता है, तथा, यतः अविवाहित, दुर्भावसे भावित, स्त्री पुरुष से उत्पन्न सन्तान भी बहुधा दुष्प्रकृतिक होती है, ऐसे सन्तान की सख्या को, और दूषितप्रकृति की मात्रा को, समाज मे बढ़ाता है, जैसे भारत मे दान की महिमा गाते गाते, सारा देश भिखमंगो से भर गया, और बहुत आवश्यक हो गया कि सन्तोष करने की, दान न माँगने की, और सुपात्र परिश्रमी सुकार्यकर्त्ता को ही दान कहिये, हक या मुआविज़ा या उज्रत कहिये, भृति वा अर्घ कहिये, देने की, महिमा सदा गाई और सुनाई जाय।

यह बात देखने की है, कि रूस (रशिया) देश मे आज काल गर्भपात करा देने का, स्त्रियों को, क़ानून से अधिकार दे दिया गया है; क्योंकि वहाँ का मत यह है कि इस विषय मे स्त्रियाँ अपने शरीर पर ईश्वर है; जर्मनी मे आजकाल यही काम [illegible]नून से जुर्म बनाया गया है, और इसके लिये कड़ा दण्ड [illegible] है, क्योंकि वहाँ की नीति यह है कि सेना को बहुत [illegible] करने का प्रयोजन है, और उसके लिये अधिकाधिक संख्या मे मनुष्यों की आकांक्षा है, अमेरिका, ब्रिटेन, आदि देशों मे, ऊपर से तो यह काम निषिद्ध है, पर, 'महाजन (सर्वसाधारण, 'पब्लिक') का आशय देख कर, इसके विरुद्ध क़ानूनी कार्रवाई प्रायः शिथिल हो गई है। दृष्टि-भेद से व्यवहार मे भेद होता है। भारतवर्ष मे, राजमहलों, रनवासों, नवाबी हरमों, तथा भक्तिपंथों के मन्दिरों और समागम-

स्थानो मे, दुराचार व्यभिचार और रोगसंचार बहुत सुनने मे आता है । एक ओर जानी हुई कलावन्त नर्त्तकी और वारागना, 'तायफा', के विरुद्ध आन्दोलन किया जाता है, म्युनिसिपल बोर्डो मे नियम बनने का यत्न होता है कि ये शहर से बाहर कर दी जांय, दूसरी ओर छिपा व्यभिचार और कला विद्याशून्य पण्यस्त्रियो का रोजगार गली-गली मे बढ़ता सुन पड़ता है। वेश्यागामी पुरुषो के दंड की फ़िक्र नही होती।

भारतवर्ष मे, सन् १९३४ की गवमेंटी रिपोर्ट के अनुसार, समग्र अस्पतालो मे चिकित्सित समस्त आतुरो की सम्पूर्ण संख्या प्रायः अस्सी लाख हुई, और उसमे प्रायः आठ लाख रोगी गुप्त रोगो से व्याधित थे, अर्थात् दशमांश । निश्चयेन इस से बहुत अधिक ऐसे आतुरो ने, अस्पताल न जाकर, घर पर ही दवा करा ली होगी, तौ भी इन की सकल संख्या प्रायः तीस लाख से अधिक न होगी, अर्थात् संख्या मे भी, और अनुपात मे भी, अमेरिका के दशमांश से अधिक न होगी।

भारत मे उन्माद के रोगियो की भी संख्या यूरोप अमेरिका के मुकाबिले, प्रतिशत अनुपात मे दशमांश से कम ही है । और भी, यूरोप अमेरिका मे ये गुप्त रोग जैसे उग्र, विकट, भीषण, प्राणघातक रूप मे देख पड़ते है, वैसे भारत मे नही पर अब इनकी भयंकरता यहां भी बढ़ती जाती है और दुराचार व्यभिचार भी बढ़ते ही सुन पड़ते है । कुछ वैद्यो डाक्टरो का कहना है, कि 'सिफिलिस', 'उपदंश', भारत मे पहिले नही था, पुर्त्तगालियो, फरांसीसियो, के साथ यूरोप से आया, पहिले 'फिरंग' रोग के नाम से मशहूर था क्योकि फ्रांस देश के वासी फरासीसी लोग 'फ्रेंच', 'फ्रांक' कहलाते थे। पर इस मे सन्देह है; इन्द्र को, अहल्या के साथ प्रथम ही व्यभिचार के कारण,

को बढ़ाता है, क्योंकि उसके दुष्फल से जो दण्डरूप क्लेश होता, उसके भय को क्रूर दुराचारी व्यक्तियों के हृदय से मिटाता है, और सारे समाज पर, अथवा यों कहिये कि उसके दयालु सदाचारी अंश पर, जारज संतान के भरण पोषण के भार को फैलाता है, तथा, यतः अविवाहित, दुर्भावसे भावित, स्त्री पुरुष से उत्पन्न सन्तान भी बहुधा दुष्प्रकृतिक होती है, ऐसे सन्तान की सख्या को, और दूषितप्रकृति की मात्रा को, समाज मे बढ़ाता है, जैसे भारत मे दान की महिमा गाते गाते, सारा देश भिखमंगो से भर गया, और बहुत आवश्यक हो गया कि सन्तोष करने की, दान न मॉगने की, और सुपात्र परिश्रमी सुकार्यकर्त्ता को ही दान कहिये, हक या मुआविज़ा या उज्रत कहिये, भृति वा अर्घ कहिये, देने की, महिमा सदा गाई और सुनाई जाय।

यह बात देखने की है, कि रूस (रशिया) देश मे आज काल गर्भपात करा देने का, स्त्रियों को, क़ानून से अधिकार दे दिया गया है; क्योंकि वहाँ का मत यह है कि इस विषय मे स्त्रियाँ अपने शरीर पर ईश्वर है, जर्मनी मे आजकाल यही काम क़ानून से जुर्म बनाया गया है, और इसके लिये कड़ा दण्ड रक्खा है, क्योंकि वहॉ की नीति यह है कि सेना को बहुत बलवती करने का प्रयोजन है, और उसके लिये अधिकाधिक संख्या मे मनुष्यो की आकांक्षा है; अमेरिका, ब्रिटेन, आदि देशो मे, ऊपर से तो यह काम निषिद्ध है, पर, 'महाजन' (सर्वसाधारण, 'पब्लिक') का आशय देख कर, इसके विरुद्ध क़ानूनी कार्रवाई प्रायः शिथिल हो गई है। दृष्टि-भेद से व्यवहार मे भेद होता है। भारतवर्ष मे, राजमहलों, रनवासों, नवाबी हरमों, तथा भक्तिपंथों के मन्दिरों और समागम-

स्थानो मे, दुराचार व्यभिचार और रोगसंचार बहुत सुनने मे आता है। एक ओर जानी हुई कलावन्त नर्त्तकी और वारांगना, 'तायफा', के विरुद्ध आन्दोलन किया जाता है, म्युनिसिपल बोर्डों मे नियम बनने का यत्न होता है कि ये शहर से बाहर कर दी जांय, दूसरी ओर छिपा व्यभिचार और कला विद्याशून्य पण्यस्त्रियो का रोजगार गली-गली मे बढता सुन पड़ता है। वेश्यागामी पुरुषों के दंड की फिक्र नहीं होती।

भारतवर्ष मे, सन् १९३४ की गवर्मेंटी रिपोर्ट के अनुसार, समग्र अस्पतालो मे चिकित्सित समस्त आतुरो की सम्पूर्ण संख्या प्राय· अस्सी लाख हुई, और उसमे प्राय· आठ लाख रोगी गुप्त रोगो से व्याधित थे, अर्थात् दशमांश। निश्चयेन इस से बहुत अधिक ऐसे आतुरो ने, अस्पताल न जाकर, घर पर ही दवा करा ली होगी, तो भी इन की सकल संख्या प्राय तीस लाख से अधिक न होगी, अर्थात् सख्या मे भी, और अनुपात मे भी, अमेरिका के दशमांश से अधिक न होगी।

भारत मे उन्माद के रोगियो की भी संख्या यूरोप अमेरिका के मुकाबिले, प्रतिशत अनुपात मे दशमांश से कम ही है। और भी, यूरोप अमेरिका मे ये गुप्त रोग जैसे उग्र, विकट, भीषण, प्राणघातक रूप मे देख पड़ते हैं, वैसे भारत मे नहीं पर अब इनकी भयंकरता यहाँ भी बढती जाती है, और दुराचार व्यभिचार भी बढ़ते ही सुन पड़ते हैं। कुछ वैद्यो डाक्टरो का कहना है, कि 'सिफिलिस', 'उपदश', भारत मे पहिले नहीं था, पुर्त्तगालियो, फरासीसियों के साथ यूरोप से आया, पहिले 'फिरंग' रोग के नाम से मशहूर था, क्योकि फ्रांस देश के वासी फरासीसी लोग 'फ्रेंच', 'फ्रांक' कहलाते थे। पर इस मे सन्देह है, इन्द्र को, अहल्या के साथ प्रथम ही व्यभिचार के कारण,

विना 'छूत' से संक्रमण के, सहस्र व्रण हो गये; यह पौराणिक कथा ऊपर पहिले कह आये हैं; उस कथा का शेष यह भी पुराणों मे लिखा है, कि 'अहल्या' को जब अपनी घोर वञ्चना का हाल, और अपने पति गौतम का क्रोध, देख पड़ा, तो उसको वेहोशी की बीमारी ('सिनकोपी', 'टेटेनस') हो गई, और वह बहुत वर्षो तक निस्संज्ञ पाषाणवत् पड़ी रही; (ऐसी बीमारियो का हाल पाश्चात्य डाक्टरो ने भी लिखा है;) राम जी के पैरो के शुद्ध ओजस् ('मैग्नेटिज़्म') से होश मे आई। तथा, इन्द्र के (इन्द्र शब्द 'राजा' के लिये भी शब्द-कोष मे कहा है) अण्डकोष सड़ कर गिर गये; तब देव-वैद्य अश्विनीकुमार ने मेष के वृषण कतर कर इन्द्र को लगा दिये, तब से इन्द्र का नाम 'मेष-वृषण' भी हो गया; अर्थात् जो चिकित्सा का प्रकार, अब पाश्चात्य डाक्टरों ने, वानरो, तथा बकरों, मेढो, साण्डों, के वृषणों के द्वारा आरम्भ की है, उसकी विस्पष्ट सूचना इस पौराणिक कथा मे की है। इस कथा का आधिदैविक अर्थ स्यात् मेषराशि और, 'वर्षति इति वृषणः', वर्षा से कुछ सम्बन्ध रखता हो। प्रसंगवश, इस स्थान पर यह भी लिख देना चाहिये कि दस पन्द्रह वर्ष तो यह चिकित्सा खूब चली; जीते पशुओं के, विशेष कर वानरों के, अंडकोश निकाल कर, उनके टुकड़े काट कर, रुग्ण वा दुर्बल मनुष्यों की जाँघ मे या पेट के नीचे के भाग मे, चमड़ा चीर कर, उन टुकड़ों को जमा कर, फिर चमड़े को ऊपर से सी देते हैं, स्त्रियों के लिये मादा पशुओं के रजःकोष ('ओवरी') के टुकड़ों को। पर अब उस मे बड़े दोष नज़र आने लगे हैं; कुछ समय तक उत्तेजन के पीछे पहिले से भी अधिक अवसाद और रोग हो जाता है; स्यात् चिकित्सा के बाद यदि सन्तति

हो तो उसमे वैसे पशु की प्रकृति भी अधिक देख पड़ेगी, इस लिये धीरे धीरे उसका अनुष्ठान घटने लगा है। यही दशा प्रायः सभी उग्र 'पौष्टिक' कहलाने वाली अस्वाभाविक औषधो और शुक्रपान रजःपान आदि चिकित्सा के प्रकारो की है।

यत्तदग्रेऽमृतमिव परिणामे विषोपमम्। (गीता)

पाश्चात्य डाक्टरो का कहना है, जैसे डाक्टर टोलनाइ का पूर्वोद्धृत लेख ही मे, कि यदि समाज और शासकवर्ग एक मन हो कर यत्न करें, तो इन गुप्त रोगो की संक्रामकता रोक दी जा सकती है, और चिकित्सा भी बहुत सहज मे और सस्ते मे हो सकती है। पर आश्चर्य यह है कि कोई पाश्चात्य, वा अब पौरस्त्य भी, सज्जन महाशय यह नहीं कहते, कि सब एक-दिल होकर यह यत्न करें कि वह दुराचार व्यभिचार ही उठ जाय, नहीं तो कम ही हो जाय, जिसके कारण ये रोग फैले और फैल रहे हैं। प्रायः इन लोगो ने मान रक्खा है कि, 'दुराचार' व्यभिचार को कम करना असम्भव है, तथा यह भी मान लिया है कि, रोग न उत्पन्न होने पावें तो, ये कर्म 'दुराचार'-पदवाच्य ही न रहें, निर्दोष हो जांय, या तो सदाचार की कोटि मे ही आ जाँय, नहीं तो स्वाभाविक आचरण मात्र कहलावें, जैसे प्यास लगने पर पानी पी लेना, भूख लगने पर खा लेना, मच्छड़ काटने पर खुजला लेना, वैसे, शहवत होने पर, किसी पुरुष और किसी भी स्त्री का संगम कर लेना।

यह दृष्टि उनके लिये सटीक है जिन्हो ने निश्चय कर लिया है कि, मनुष्य और जगत् केवल आधिभौतिक, 'मेटीरियल', 'फिज़िकल' है, तथा मनस्-अहंकार-बुद्धि रूप चित्त, 'माइंड', की उत्पत्ति, 'मैटर', 'मात्रा', जड़ से होती है, जो इस निश्चय से सन्तुष्ट है; जैसा गीता मे आसुरी प्रकृति वालों के वर्णन मे कहा है,

अपरस्परसम्भूतं, किमन्यत्, कामहैतुकम्।

पर बहुतेरों का, इसके विरुद्ध, यह निश्चय है कि, मनुष्य और जगत् 'आध्यात्मिक', 'स्पिरिचुअल', और 'आधिदैविक', 'स्युपर-फ़िज़िकल', भी है; 'मैटर', 'मात्रा', 'दृश्य', 'जड़' पदार्थ सब, 'आत्मा', 'चेतन', 'चित्' 'स्पिरिट', का क्रीड़नक, खिलौना, क्रीड़ाभूमि, विहारस्थल, विनोदस्थान, लीला का उपकरण मात्र है; 'मैटर', मात्रं, मात्रा शब्द की व्युत्पत्ति ही यह है कि माति, खंडशः क्रमशः प्रकाशयति, परमात्मनः शक्तिं, इति मात्रा, मीयते अनुमीयते, प्रमीयते, आविष्क्रियते आत्मशक्तिः अनेन, इति मात्रं; जिसके द्वारा ब्रह्म की शक्ति की, दैवीप्रकृति की, परिमिति, नाप, प्रादुर्भाव हो, जो अनंत अखंड एकरस पदार्थ को, अपनी सांतता खंडता बहुप्रकारता अनेकता से नाप जोख कर क्रमशः खंडशः प्रकट करने का अनन्त मिथ्या यत्न सदा करता रहे, वह 'मात्र', इस मात्रा का आधार, इसकी सत्ता-असत्ता का, इसके आविर्भाव-तिरोभाव का, आधाता विधाता, इसकी सृष्टि-स्थिति-लय का हेतु, चेतन है; न यह कि चेतन का हेतु 'मात्रा', जड़, है; चित् के चित्त बन कर, ब्रह्म के ब्रह्मा बन कर, ध्यान, व्युत्थान, जागरण करने से, यह 'जड़', 'देह', उत्पन्न होता है; उसके निद्रण, शयन, निरोधन करने से यह विलीन होता है। और अब पश्चिम के कितने ही बड़े से बड़े नामवर सायंटिस्ट वैज्ञानिक भी यह मानने लगे हैं, कि 'मैटर'—मात्रा—जड़ के ऊपर प्रभु, हाकिम, अधिष्ठाता 'माइंड', 'इंटेलिजेन्स', 'स्पिरिट', मानस, बुद्धि, आत्मा है*। जिनका ऐसा मत है, उनका, अनुबन्ध-रूप,

* सन् १९३४ ई० में, फ्रांसिस मेसन ने 'दि ग्रेट डिज़ाइन' नाम की पुस्तक प्रकाश की, जिसमें विभिन्न वैज्ञानिक शास्त्रों के प्रख्यात यशस्वी वैज्ञानिकों के लेख छपे हैं, जो सब के सब, यह बात मुक्तकंठ कहते हैं।

यह भी मत है, कि ऐसे रोगो का मूल मानस विकार है, और चाहे कितना भी शारीर चिकित्साओ और उपायो से इन रोगों का प्रत्यक्ष प्रादुर्भाव रोका भी जाय, पर सर्वथा न रुकेगा, और दुराचार व्यभिचार का घोर दुष्फल किसी न किसी रूप मे, समाज को भोगना ही पड़ेगा। पर खेद और घोर चिन्ता और भय का विषय है, कि पूर्वोक्त 'मेटी-रियलिस्ट' 'देहवाद' का प्रभाव भारतवर्ष मे बढ़ता जाता है, जिसका परिणाम, चार्वाकीय उच्छृंखलता और समाजोद्ध्वंस होता है।

यदि यह मान भी ले कि, अब ये रोग किसी स्त्री या पुरुष को, बिना दूसरे की साक्षात् या पारम्परिक छूत के, नही होते, तो भी यह प्रश्न रही जाता है कि आदि मे आरम्भ कैसे हुआ। पुराणो मे आख्यायिका कही है, ब्रह्मा ने देखा कि प्राणी इतने पैदा होते है, और मरते नहीं, कि पृथ्वीतल इन से ठस जायगा क्या खायँगे, कैसे हाथ पैर फैला चला सकैंगे, ध्यान करके मृत्यु देव को उत्पन्न किया, आज्ञा की कि इन प्राणियो को मारो, मृत्यु देव घोर हिंसा के पाप के भय से, तथा अपयश के त्रास से, कांपने लगे, बोले कि यह कार्य मुझसे न हो सकेगा, ब्रह्मा को इतना क्रोध हुआ कि ऑखों से ऑसू गिरने लगे, एक एक बूँद मे एक एक रोग का विष ('टाक्सिन') कहिये कीटाणु ('माइक्रोब', 'बैसिलस') कहिये, बीज ('सीड','जर्म') कहिये, उत्पन्न हो गया ब्रह्मा ने अपने को सम्हाल कर, चित्त को शान्त कर, मृत्यु को पुनः आज्ञा दी, "इन रोग-बीजो की सहायता से जो कार्य तुम्हारे सुपुर्द किया गया है, उसको करो, बदनामी इन की होगी, पाप भी तुम को नही लगैगा, यदि अब भी आना-कानी करोगे तो तुमको भारी दण्ड दूंगा", मृत्यु को मानना पड़ा। ऐसे ही उत्कट क्षोभ, तीव्र संवेग के सन्द

अवसरों पर, ब्रह्मदेव के शरीर से स्वेद निकला, 'यक्षाणि' और ('फ़ैगोसाइट') 'रक्षांसि' ('वेसिलस') बन गये, वाल गिर गया, 'अहयः', विविध प्रकार के 'सर्पक' हिंसक जीव, सूक्ष्माकार व स्थूलाकार, अणु रूप वा अजगर रूप, हो गये। जिन मनुष्यो के चित्त मे राजस तामस भाव और देह मे 'रक्षांसि' अधिक, वे 'राक्षस'।

इन सब रूपको के द्वारा, पुराणो ने यह बताया है, कि वैयक्तिक और सामूहिक चित्त मे जब घोर विकार पैदा होता है, तो शरीर मे उसके प्रतिरूप रोग-बीज, कीटाणु, विष, उत्पन्न होते है। योग-वासिष्ठ मे कर्कटी की कथा मे विसूचिका रोग के, सूची (सूई) के नोके के ऐसे, कीटाणु की उत्पत्ति की कहानी कही है; एवं, मार्कण्डेय पुराण मे 'दुःसह-यक्ष्मा', यानी क्षय रोग के कीट, की। पुरुष और प्रकृति का, 'माइण्ड' और 'मैटर' का, स्थूल रूप मे अथवा सूक्ष्म रूप से, सर्वदा अविच्छेद्य सम्बन्ध है; एक के बिना दूसरा रह नहीं सकता; एक की अवस्था बदलने से दूसरे की अवस्था भी बदलती है; आयुर्वेद का सिद्धान्त ही है, आधि से व्याधि और व्याधि से आधि होती है; मानसी व्यथा को आधि, शारीर रोग को व्याधि कहते हैं; अन्ततः मूल कारण, जब सारे दृश्य जगत् का, बुद्धि' तत्त्व महत्तत्त्व, ब्रह्मा, 'यूनिवर्सल माइण्ड', 'एनिमा मंडी', 'अक्लि कुल', 'रूहि-कुल', है, तो सुतरां नितरां, अवश्यमेव, शारीर रोगों का भी कारण अन्ततः मानस विकार ही होगा। कामीय दुराचार व्यभिचार बलात्कार आदि मे, विविध प्रकार के घोर विकार, दोनों प्राणियों के चित्तों मे पैदा होते हैं, दर्प के, क्रौर्य के, द्रोह के, हिंसा के, चौर्य के, ईर्ष्या के, महा साध्वस त्रास के, घोर दैन्य और दुःख के; इत्यादि। इन मानस विकारों से ही साक्षात्

शरीर विकार उत्पन्न हो सकते हैं, और निश्चयेन होते हैं। तीव्र क्रोध को दबा देने से, दो तीन घण्टे के भीतर सारा शरीर बिल्कुल पीला हो गया, पाण्डुरोग, यर्कान, 'जाडिस' से रुग्ण हो गया— ऐसा पाश्चात्य डाक्टरों ने, अपना देखा, लिखा है यकृत् का कार्य तत्काल बिगड़ गया, 'टाक्सिन्स' पैदा हो गये 'सीक्रीशन्स', उत्तम रसों, के ठिकाने, 'एक्सक्रीशन्स', दुष्ट रस किट्ट, शरीर में बनने लगे इत्यादि। अहल्या और इन्द्र की कथा की भी यही सूचना है, कि बिना संक्रमण के, प्रथम बार हो, दुराचार से महारोग उत्पन्न हो गया। अथ च, माता पिता को मानस वृत्तियों का, और उनके शरीरों के दबे छिपे रोगों का, जो दवा के बल चाहे उभरने से रोक भी दिये गये हों, संतति के चित्त और शरीर पर प्रभाव अवश्य पड़ता ही है। आगे कहा जायगा कि कैसे दोषों से कैसी सन्तति होती है।

'अविद्या', 'माया', 'जो नहीं है उसको सच मान लेना', मूर्खता, बेवकूफी, भूल, प्रवृत्ति मार्ग में चलते हुए जीवात्मा की 'प्रकृति' ही है, बहिर्मुख मनुष्य का स्वभाव ही है; उस अविद्या का मुख्य रूप तो यह है, कि अपरिमित अनादि अनन्त निष्क्रिय परमात्मा, अपने को, परिमित सादि सान्त सक्रिय मूठी भर हाड़ मांस का शरीर, मान लेता है, इस महा भ्रम के अवान्तर रूप अनन्त हैं, उन सब में भ्रान्ति का एक भाव यह अनुस्यूत है, कि आदमी समझता है कि अपने कर्मों से पैदा हुए क्लेशों का उपाय, प्रतिरोधन, निवारण, मार्जन, मैं नये कर्मों से ऐसा कर लूँगा, कि उन क्लेशों की सर्वथा निवृत्ति उच्छित्ति हो जायगी, और नये क्लेश न उत्पन्न होंगे, मैं सुख ही सुख लूटता रहूँगा। भारी धोखा है। परमात्मा की प्रकृति में 'अविद्या' की प्रतियोगिनी, रोग की दवा, 'विद्या' भी लगी है, इस कारण से

सारे संसार मे यह नियम अटल है, कि विना दाम दिये आराम नहीं, प्रत्येक सुख का मूल्य एक उसी प्रकार का दुःख; मुफ़्त मे कोई चीज़ नहीं, तीव्र सुख चाहो तो तीव्र दुःख के लिये तयार रहो, सत्कुलीन सदाचारीण मीठे सुखं से सन्तोप हो, तो हल्के ही दुःख भी पाओगे; यदि, 'चोरी का गुड़ मीठा', 'स्टोलन ज्वायज़ आर स्वीट', दुराचार व्यभिचार का तीक्ष्ण सुख चाहोगे, तो वैसा ही तीक्ष्ण दुःख भी, कभी न कभी, भोगना ही पड़ेगा।

श्रांतः समासजन् स्कन्धे शिरसा भारम् उद्वहन्।
न शर्म लभते, तद्वत् कर्मभि. कर्ममार्जनम् ॥
सुखस्यानंतरं दुःखं दु.खस्यानन्तरं सुखम्।
चक्रवत् परिवर्त्तेते सुखदु खे निरन्तरम् ॥ (भागवत)
यत्तदग्रेऽमृतमिव परिणामे विपोपमम्।
यत्तदग्रे विपमिव परिणामे ऽमृतोपमम् ॥ (गीता)

बोझ को सिर पर ढोते थका आदमी कन्धे पर रखता है, पर आराम तो नहीं पाता, नये कामो की होशियारी चतुराई से पुराने कामो के दुष्फलो का वञ्चन, वचा जाना, होने का नहीं, दुःख के भोग से ही दुष्कर्म कटते मिटते हैं। सुख के वाद दुःख, दुःख के वाद सुख; रथ के पहिये ऐसा यह चक्र सदा चलता रहता है; इसी का नाम संसार-चक्र है; आगे जो वात ज़हर सी कड़वी जान पड़ती है, पीछे फल उसका अमृत सा मीठा होता है; जो पहिले मीठी वह पीछे कड़वी हो जाती है। सुख तो हो, दुःख तो न हो—ऐसा कोई उपाय नहीं। ज्यों ज्यों सुख वढ़ता है, त्यों त्यों दुःख भी। यूरोप अमेरिका का उद्धत, उत्सिक्त, उद्दाम, महा समृद्धिमान्, महा शौर्यवान्, महा क्रौर्यवान्, अति उत्कृष्ट भी, और अति निकृष्ट भी, जीवन, रावण की लंका के

जीवन के सदृश प्रत्यक्ष उदाहरण है।

ग्रंथ के छपने मे विलम्ब के हेतु।

(कुछ निज सम्बंधी, कुछ शास्त्र विषयक, निवेदन)

इस ग्रंथ का पहिला फर्मा (पृ० १–१६), सौर २५–२–१९९३, वि० (८–६–१९३६ ई०) को छपा, और पन्द्रहवां (पृ० २२५–२४०), सौर १७–९–१९९४ वि० (१–१–१९३८) को। उन दिनो, भारत की केंद्रीय व्यवस्थापक सभा ('सेंट्रल लेजिस्लेटिव असेम्ब्ली') का सदस्य, संयुक्त प्रांत के सात नगरों की जनता की ओर से, निर्विरोध 'निर्वाचित' ('वृत') हो जाने के कारण, नई दिल्ली और शिमला मे, ('श्यामला' देवी के प्राचीन मन्दिर के कारण यह नाम बन गया है), प्रतिवर्ष प्रायः पांच महीने मुझे बिताने पड़ते थे, तथा, बचे सात महीनों मे भी सभा-सम्बन्धी कार्य, और अन्य अनिवार्य कार्य भी, रहता था, ऐसे हेतुओं से, 'पुरुषार्थ' के छपने का काम बहुत मंद गति से चलता रहा। सन् १९३८ ई० के अंत मे, उस सभा की सदस्यता के त्याग का पत्र, गवर्मेंट को, मै ने भेज दिया। हिन्दुओं मे, अन्तर्वर्ण, अर्थात् भिन्न 'वर्णों' का परस्पर, विवाह, वैध (जायज़, 'ला-फुल') हो जाय, दूषित और धर्म विरुद्ध न माना जाय, 'वर्ण' का अर्थ 'पेशा', 'जीविका-कर्म', 'वृत्ति', समझा जाय, और जाति का अर्थ 'जन्म'; विवाह के पीछे, पत्नी का 'वर्ण' वही माना जाय जो पति का हो (जैसे गोत्र), जिस से 'असवर्ण'-विवाह का लांछन, कलंक, लगा कर, ऐसे पति-पत्नी को 'जात-बाहर' न किया जाय, समान-शील-व्यसनता और समान-वृत्तिता ही असली सच्ची 'स-वर्णता' समझी जाय, जो ही मनु और ऋषियों की स्मृतियों का आशय है, और हिन्दू-समाज और हिन्दू धर्म, दिन दिन, अधिकाधिक हीन क्षीण न किया जाय—इसके लिये, व्यवस्थापक सभा से एक विधान (कानून, 'ऐक्ट') बनवाने का मैने बहुत प्रयत्न किया। आर्ष प्रमाणों का संग्रह किया,

ऐतिहासिक उदाहरण एकत्र किये, महात्मा गांधी, पंडित मोतीलाल नेहरू देशबन्धु चितरंजन दास प्रभृति जैसे, तपस्वी, विद्वान्, आत्मत्यागी, देश भक्त, वर्त्तमान काल मे भारतीय महा-जन-ता के सर्वादृत नेताओं के कुटुम्बो मे, जो ऐसे विवाह हुए और हो रहे हैं, उनका दृष्टान्त दिया दैनिक अंग्रेज़ी और हिन्दी पत्रो मे, इस विषय का ज्ञान फैलाने के लिये और जन-मत को इस ओर झुकाने के लिये, बहुत से लेख छपवाये, पर तौ भी, जिस कांग्रेस-दल ('पार्टी') का मै सदस्य था, उसके ही बहुतेरे सदस्यो ने इस ओर उपेक्षा की, और कुछ ने स्पष्ट वैमत्य बतलाया, जैसे 'सनातन-धर्म' की पुकार करने वाले दलो ने, यद्यपि अन्य दलों के कुछ सदस्यों ने, और देश की बहुतेरी संस्थाओ ने, और मान्य गण्य सज्जनों ने, मेरे विचार और अनुष्ठान का अनुमोदन किया। इस कारण से मेरा सब प्रयास, व्यवस्थापक सभा मे, व्यर्थ और निष्फल हो गया, और मेरा प्रस्ताव, गवर्मेंट की ओर से (प्रायः राजनीतिक हेतुओं से) विरोध होने के कारण, गिर गया। पर, देश मे, दो वर्ष तक, इस विषय पर बहुत चर्चा हुई, और लिखे-पढे, विचारशील, नये समय की नयी अवस्था के पहिचानने वाले, लोगों पर इसका असर हुआ, यहाँ तक कि बहुत से संस्कृत-पाठी युवा विद्यार्थियों, और कुछ प्रौढ और वृद्ध पंडितों, पर भी, इस बुद्धि-संमर्द और क्षुण्ण-क्षोद का प्रभाव पडा, और वे "(जीविका-) कर्मणा वर्णः" के सिद्धान्त के कम-बेश पक्षपाती हो गये; इतना लाभ हुआ, और इसी आशय का एक विधान, केवल आर्य-समाजी हिंदुओं के लिये, व्यवस्थपक सभा मे बन भी गया।

त्याग-पत्र का हेतु

इस प्रकार से, अपने परिश्रम की अकृतार्थता वा स्वल्प कृतार्थता के अलावा, व्यवस्थापक सभा मे कोई अन्य ठोस काम भी, प्रजा के स्थायी सच्चे हित का, होते हुए, मैं ने नहीं देखा। गवर्मेंटी सदस्यों मे हठ और वितंडा, और प्रजा-चुन सदस्यो मे विवाद और जल्प, और दोनो मे उन्ही उन्ही बातों, तर्कों, प्रतितर्कों, का पुनः पुनः पिष्टपेषण, और समय का बहुत अपव्यय

देगा। और भी, न तो प्रजा-वृत सदस्यों मे दूर-दर्शिनी, शिष्ट-सग्राहिणी, दुष्ट-निग्राहिणी, समाज के सब अंगो के समन्वित कल्याण का ध्यान रखती, बुद्धि से, कोई सर्वांगीण विधान बनाने की प्रवृत्ति ही देखी, न उनको, यदि चाहते तो भी, कोई भी विधान, भला या बुरा, 'वाइस-राय' (उप-सम्राट्, स्थानीय सम्राट्) की स्वीकृति के बिना, बना डालने की शक्ति ही गवर्मेंट ने दे रक्खी थी, अन्तिम अधिकार, हा य नही का, सब 'वाइस-राय' के ही हाथ मे था और है, 'प्रजा-वृत व्यवस्थापक सभा'—यह केवल ढोंग और अर्थ-शून्य नाम मात्र है। हा, शासन-सम्बन्धी विविध विषयो पर, सभा मे, गवर्मेंटी सदस्यों से, प्रश्न करने का अधिकार प्रजा-निर्वाचित सदस्यो को मिला है और इस के सुप्रयोग से, तथा वाद-विवादो के प्रवाह मे भी, शासकों के अनाचारों का उद्घाटन, और दु शासन की पोल का प्रकाशन, जनता के समक्ष हो सकता है, और कुछ न कुछ होता रहा है, जिससे भारत की जनता को, शासन-प्रकार ('फार्म आफ गवर्मेंट') के बदलने और 'स्व-राज' की प्राप्ति के यत्न मे, जाग्रत्, सजग, सावधान, दृढ, रक्खा गया है, स्यात् गवर्मेंटी अफसरो के हृदयो मे भी, कभी कभी, कुछ त्रपा लज्जा (शर्म) कुछ क्षणो के लिये जाग उठती हो।

स्व-राज योजना का अभाव

परन्तु, सच्चे 'स्व-राज्य' की कोई सर्वांगीण योजना वा रूप-रेखा, कांग्रेस के वा अन्य किसी दल के, नेताओं ने, भारत जनता के सामने, आज तक, कभी नही रक्खा। यदि रखते तो उस से समग्र जनता को विस्पष्ट ज्ञान होता, कि 'स्व-राज्य' यह वस्तु है, उस का यह अर्थ है, इस मे समाज की ऐसी ऐसी सु-व्यवस्था करने मे, प्रत्येक मनुष्य को पेट भर खाना, पीठ भर कपड़ा, सिर पर छानी छप्पर, उचित गार्हस्थ्य-जीवन, उचित कलत्र-पुत्र-सुख, उचित काम-दाम-आराम, तथा अपनी रुचि और बुद्धि के अनुसार 'ईश्वर' नाम के वा अन्य किसी नाम से किसी पदार्थ का यथेष्ट भजन करने का अवसर, बिना दूसरे के भोजन भजन मे विघ्न किये, नि

जायगा, और उनके शरीर की तथा चित्त की स्वार्थी भी और परार्थी भी भूख-प्यास उचित परिमित मात्रा मे तृप्त हो सकेगी। ऐसी योजना देश के सामने रखने के लिये, आज बाईस वर्ष (१९२१ ई०) से मैं निरन्तर दैनिक साप्ताहिक मासिक पत्रों मे, तथा पुस्तक पुस्तिकाओं मे, रटता रहा हूँ, तथा महात्मा गांधी आदि नेताओं से ज़बानी भी और पत्र-द्वारा भी कहता रहा हूँ, और केंद्रीय व्यवस्थापक सभा मे भी सूचना करता रहा। ऐसी योजना से सारी जनता को बहुत उपयोगी, उत्तम शासन और समाज-व्यवस्थापन सम्बन्धी शिक्षा मिलती, उन की विमर्श-बुद्धि जगती, परस्पर विचार-विनिमय करते; 'स्व' का सच्चा अर्थ (अधम 'स्व' नहीं, उत्तम 'स्व') स्व-अवलम्बन स्व-शासन स्व राजन का सामर्थ्य पाते, हिन्दू-मुस्लिम का कलह मिटता; मेल, सहायन, 'एका', बढ़ता; जिस एका के लिये सभी नेता नायक चिल्लाते पुकारते रहे, पर जिसका गुर, (रहस्य, राज़) किसी ने भी ठीक ठीक नहीं पहिचाना, न बताया, न काम मे ला सके—वह गुर सब को प्रकट और विदित हो जाता; 'स्व-राज', 'स्व-तंत्रता', 'पूर्ण-स्वतंत्रता' आदि शब्द, निरे क्षोभ-वर्धक, उपद्रव कारक, विविध, विभिन्न, विरुद्ध, भ्रमाऽवह, 'नारे' (आरव, 'आरो', पुकार, आक्रन्द), प्रत्येक व्यक्ति वा दल वा जात वा सम्प्रदाय के मनमाने अर्थों के आधार, न रह जाते, गवर्मेंट के रूप को बदलने का प्रयत्न सफल होता; क्योंकि, सम्भवतः वर्तमान गवर्मेंट को भी, तथा अन्य देशों की गवर्मेंटों को भी, यह सूझ जाता कि, हाँ, यह योजना युक्तियुक्त बुद्धिसंगत है, और आवश्यकीय बहुसम्मत घटाव बढ़ाव के बाद, मान्य अनुमोद्य है; और गवर्मेंट अपना रूप बदलने को स्वयं राज़ी हो जाती, जिस से 'ब्रिटिश-इंडियन-कामन्-वेल्थ या संघ-राज्य' की स्थापना हो जाती, और वह संघ, क्रमशः, अन्य राष्ट्रों के भी शामिल होते जाने से, विश्व-संघ का रूप धारण कर लेता। और भी, तत्काल, ऐसी योजना, जनता के लिये, अन्धकार मे दीपक का काम करती; सच्चा, बुद्धि-ग्राह्य, बुद्धि-संतोषक, लक्ष्य दिखाकर, मूल

भटक शंका के प्रत्येक स्थान पर पथ-प्रदर्शन करती, (क्योंकि बिना लक्ष्य को, विना साध्य को, निश्चित और स्थिर किये, उचित साधन का, उचित मार्ग का, निर्णय कैसे हो सकता है ?), जोश के साथ होश को, उत्साह के साथ ज्ञान को, तपस् के साथ विद्या को बढ़ा कर, पैरों और पंखों को सत्-लक्ष्य की ओर, सन्-मार्ग से नयन' करने के लिये दूरदर्शी नयन', नेत्र नेता, नायक, आँख, भी दे कर, उस जोश और उत्साह को दृढ़, बद्धमूल, चिर-स्थायी, कर देती, वर्तमान गवर्मेंट पर, अपना रूप बदलने के लिये, सघटित, उचित, शांत, न्याय्य, अदृष्य, और सफल दबाव डालने की शक्ति देती, उत्साह की ज्वाला को ज्ञान का तेज देती रहती। इस के बिना, जनता का जोश, पुन पुन, असहयोग के लिये, विविध प्रकार के सत्याग्रह के लिये, उभड़ कर, गवर्मेंट की ओर से प्रयोग की गई दमन की कार्रवाइयो से, पुन पुनः, शीघ्र ही, दब गया; आतशबाज़ी की फुलझरी ज्वालाओं और कणो के ऐसा कुछ क्षणो के लिये चमक कर राख हो गया, और गवर्मेंट को यह कहने का मौका (अवसर) मिलता रहा कि हिन्दू-मुसलमानों में, छूत-अछूत में, तथा अन्य राजनीतिक और साम्प्रदायिक दलों मे, ऐकमत्य नही, प्रत्युत बहुत वैमत्य है, इस लिये कांग्रेस की बात सुनी नही जा सकती। साधारण मनुष्यों की प्रकृति है, दूसरों पर दोष डालना, अपना दोष नहीं देखना। भारत मे, सब दल एक दूसरे को तथा गवर्मेंट को, और गवर्मेंट-वाले इन सब को, ही, कलक लगाते है, अपने भारी अवगुण कोई भी नहीं पहिचानते। यूरोप मे भी, राष्ट्रों के बीच, यही हाल है। इसी से मानव संसार कलहमय युद्धमय हो रहा है।

राजन्, सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यसि,
आत्मनो बिल्वमात्राणि पश्यन् अपि न पश्यसि।

इन बातों मे कामाध्यात्म का सम्बन्ध

अस्तु, यह सब, भारतीय 'इति-ह-आस', क्या 'इति-ह-अस्ति' और 'इति-ह-भवत्', की बात, यहाँ इस 'कामाध्यात्म' के प्रसग मे इस

लिखा, कि मानव समाज की सर्वांगीण सुव्यवस्था के बिना, चारो मे से कोई पुरुषार्थ, न काम ही, न धर्म, अर्थ, मोक्ष ही, सिद्ध हो सकता है, '(जीविका-) कर्मणा वर्ण.' और 'वयसा आश्रम' के सिद्धान्त पर, समाज की वर्णाश्रम-धर्माऽत्मक सुव्यवस्था करना ही राजा का परम धर्म है, क्योंकि सब धर्म इसी के अतर्गत हैं।

वर्णाना आश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता, (मनु)।
सर्वे धर्मा राज-धर्मे प्रविष्टा., (म० भा० शा०)

तथा, ऐसी ही सुव्यवस्था से, न महज़ (केवल) भारतवासियों का, वल्कि (अपि तु) सारी दुनिया के सब मुल्कों (देशो) के, सब सल्तनतों (राज्यों, राष्ट्रों) के, सब आदमियो का भला हो सकता है; और इस वक़्त (समय) जो शदीद जग (दारुण युद्ध) हर तरफ (सब दिशाओ मे) जारी (प्रवर्त्तमान) है, उसकी जगह, सब मुल्कों और क़ौमो (जातियों) मे मेल मुहब्बत (स्नेह प्रेम) बढ सकता है।

ऐसे विचारों की ओर, केंद्रीय व्यवस्थापक सभा मे, मै ने किसी की रुचि नहीं देखी; "दीर्घं पश्यत, मा ह्रस्वं" की प्राचीन बुद्धि की अवहेला कर के, ह्रस्वदर्शिता अल्पदर्शिता की ही ओर रुचि देखी; छोटी छोटी तात्कालिक बातों मे ही प्रजा-वृत सदस्य लोग प्रायः मन अटकाते थे, और उन्ही पर बहस मुबाहिसा करने मे अधिकांश शक्ति और समय का व्यय कर देते थे, व्यापक और स्थायी लोकहित की बातों पर विचार प्राय नहीं के बराबर करते थे; और गवर्मेंटी सदस्यों का तो इष्ट और यत्न ही रहता था, कि अन्य सदस्यों का मन ऐसी छोटी बातों मे ही फँसा रहे, सर्वांगीण प्रजाहित की व्यापक और गंभीर बातों की ओर न जाय, इस से, मेरा मन उधर से निराश और उदास हुआ, और मै ने त्याग-पत्र भेज दिया

इस ग्रन्थ की प्रगति में अन्य बाधक, स्व-राज के स्थान में कलि-राज

इस के बाद, 'पुरुषार्थ' ग्रंथ का कार्य चलना चाहता था। पर, देश और परदेश की दशा देखते हुए, अंतरात्मा की प्रेरणा से, कुछ अन्य ग्रं

... लिखना छपवाना, अधिक आवश्यक और अविलम्ब्य (त्वराकांक्षी, ...रूरी, 'अर्जेंट', जान पड़ा। हिन्दू-मुस्लिम का विरोध, छूत-अछूत का ...द, 'नीचजात-ऊँचजात' का वैमनस्य, 'जात-जात का द्वेष, राष्ट्रों का ...र युद्ध, रक्तपात, प्राणहरण, द्रव्यध्वंसन, प्रजानाशन का उद्योग, काम-...ध लोभ-मोह-मद-मत्सर का ताण्डव, कलि के निर्मर्याद साम्राज्य ...ा विस्तार, बढ़ता ही जाता था, जिसका मूल कारण, सात्त्विक तात्त्विक ...ारधर्म को भुला कर, धर्माभासों और मूढग्राहों में साधारण जनता का ...ाण अटकाना ही जान पड़ता है, जिन धर्माभासों, मूढग्राहों, परस्पर ...द्वेष बुद्धियों को, सभी प्रचलित धर्मों में, तथा सभी राष्ट्रों में, स्वार्थी, ...कपटी, दम्भी, लोभान्ध, मदान्ध, आसुरी-सम्पत्-सम्पन्न, अज्ञानमय धर्मा-...धिकारियों और राष्ट्रनायकों ने एक ओर, उत्पन्न किया, सिखाया, फैलाया, और दूसरी ओर, अविवेकी, विश्वासी, श्रद्धान्ध जनता ने दाँतों से पकड़ लिया और अपनाया। ऐसे महारोग की चिकित्सा का महौषध, सदा से, एक ही रहा है—भूले हुए सद्धर्म के सार का पुन पुन प्रचार। मानव जाति के इतिहास में, जब जब सद्धर्म की ग्लानि हुई, असद् धर्माभासों और मूढग्राहों के रूप में ढके हुए अधर्म का अभ्युत्थान हुआ, तब तब जगदात्मा की तेजो-अंश-रूप विभूतियों ने पृथ्वी पर जन्म लिया; भग-वान् मनु के कहे हुए धर्म का, देश-काल अवस्था के अनुरूप, स्वयं अनु-स्मरण आचरण किया, तथा पूर्णत वा अंशत. उपदेश किया। इन विभू-तियों में प्रसिद्धतम, जगद्विख्यात, नितान्त आदृत पूजित व्यक्ति, ये हैं—भारत में राम और वाल्मीकि, कृष्ण और व्यास, गौतम बुद्ध, महावीर जिन, ईरान (आर्यायण, आर्याना, 'पारस', 'पर्शिया', 'पार्थिया') में जर्दुश्त ('जरदुष्ट्र' ?, जैसे 'श्वेताश्वतर' ऋषि), यहूदिस्तान (पिलि-स्तीन आदि प्रदेश) में मूसा ('मोजेज'), फिलिस्तीन में ईसा, अरबि-स्तान में मुहम्मद चीन में लाओ-त्से और कङ्-फु-त्से, जापान में 'शि तू' (? 'हिं-दू') धर्म के अज्ञातनामा प्रवर्तक, और भारत में, पुन.,

शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, कबीर, तुलसीदास, गुरुनानक और गुरु गोविन्दसिंह ।

अन्य ग्रन्थों का सकलन

इस लिये, इन सब महापुरुषो की, तथा वेदो और उपनिषदों के ऋषियो की, और सूफियो की, सार सार, एकार्थ, समानार्थ, प्रधान प्रधान सूक्तियो का संग्रह करके, 'सब धर्मों की तात्त्विक एकता' ('दि एसेन्शल यूनिटी आफ आल रिलिजन्स') नाम की, अंग्रेज़ी भाषा मे लिखी, पुस्तक का, (जिसको, पहिले, छोटे आकार मे छपवा चुका था), पूरे एक वर्ष के परिश्रम से, बहुत परिवर्धित, त्रिगुणीकृत, नया संस्करण सन् १९३९ ई० मे छपवाया। १-९-१९३९ ई० को द्वितीय विश्व युद्ध का, यूरोप मे, आरम्भ हुआ; उसकी विकराल ज्वाला को चतुर्दिक् फैलती देख कर, 'विश्वयुद्ध और उसकी एक-मात्र महौषध—विश्वधर्म पर प्रतिष्ठित विश्वव्यवस्था' (अंग्रेज़ी मे, 'दि वर्ल्ड वार एण्ड इट्स ओनली क्यूर—वर्ल्ड आर्डर एण्ड वर्ल्ड रिलिजन') नाम की पुस्तक सन् १९४१ ई० मे लिखा और छपवाया। सन् १९३१ मे आरंभ हुए और सन् १९३७ से घोरतर रूप धारण किये हुए और अब तक प्रवर्त्तमान जापान-चीन युद्ध को, और द्वितीय विश्वयुद्ध की तयारी में व्यग्र यूरोपीय राष्ट्रों को, देख कर, इन्ही दो ग्रंथों के कुछ आशयों को लेते हुए, किन्तु 'हिन्दू'-नाम धारियो के अन्तर्जातीय कलह को विशेष रूप मे ध्यान मे रखते हुए, संस्कृत साहित्य के विशेषज्ञ कई पंडित मित्रों के अनुरोध से, संस्कृत श्लोको मे, '(जीविका-)कर्मणा वर्णः' के सिद्धान्त का आर्ष प्रमाणो से समर्थन करते हुए, सन् १९४० ई० मे, 'मानव धर्म-सार' नाम का, २५०० श्लोकों का ग्रन्थ लिखा और छपवाया, किन्तु मुझे संस्कृत भाषा का ज्ञान कम, और उस मे लिखने का अभ्यास बिल्कुल ही नहीं था, इस कारण, ग्रंथ मे व्याकरण आदि की अशुद्धियाँ अधिक हैं। इन के सिवा, 'आत्म-शास्त्र' (अंग्रेज़ी मे 'दि सायंस आफ दि सेल्फ')

नाम का ग्रंथ, सन् १९३८ मे, तथा 'योग-सूत्र-भाष्य-कोष' (संस्कृत शब्द और अंग्रेज़ी मे अर्थ का, 'योग-कांकार्डेंस-डिक्शनरी' नाम का, सूत्र और भाष्य के प्रत्येक शब्द का, अकारादि क्रम से, अर्थ-सहित कोष भी सन् १९३८ मे, तथा 'दर्शन का प्रयोजन' नाम का हिन्दी ग्रन्थ, सन् १९४० मे, छपवाया। इन ग्रंथों की पाडुलिपियाँ बहुत वर्षों पहिले से लिखी पड़ी थीं, अब चित्त मे आया कि विलम्ब न करना, यथाशक्ति परिष्कार परिवर्धन करके छपवा ही देना। इन्ही पाँच वर्षों मे, प्रथमोक्त तीन ग्रंथो के विषयो और आशयो के, बहुत से छोटे मोटे लेख, विशेष विशेष अवसरो पर, दैनिक साप्ताहिक मासिक हिन्दी और अंग्रेज़ी पत्रो के लिये, लिखे।

कागज़ का 'निवाक'

सन् १९४१ में, जून से अगस्त तक, तीन महीने, एक कठिन रोग से, शय्या पर पड़ा भी रह गया, जिस से, शारीर और मानस शक्तियाँ, शेष आयु के लिये, दुर्बल हो ही गईं। इस सब के पीछे, जब 'पुरुषार्थ' की ओर फिर ध्यान दिया, और, उसको पूरा करने के लिये, बिखरे हुए विचारों को बुद्धि मे पुनः एकत्रित करने लगा, तो, 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि', प्रवर्त्तमान दारुण विश्वयुद्ध के निमित्त, ब्रिटिश गवर्मेंट की अतिशय खींच के कारण, अन्य सभी जीवन सामग्रियो के साथ साथ, कागज़ का भी एक ओर भारी निवाक (दुर्भिक्ष, प्रयाम) हो गया, और, दूसरी ओर, सोना चांदी ताम्बा आदि धातुओ के सिक्के और वस्तुओ के ब्रिटेन को चले जाने, और कागजी नोटों के दिन दिन अधिकाधिक संख्या मे छापे जाने से, धर्माभासो की तरह 'रुपया-आभासो' की चारो ओर बहुतायत हो गई, जिसमे प्रत्येक वस्तु का तथा कागज़ का दाम, दिन दूना रात चौगूना व [illegible] गूना हो गया। किसी किसी प्रकार से, नई दिल्ली के 'सस्ता साहित्य मंडल' के उत्साह से, यह कार्य, मौनी अमावास्या, सौर २२ माघ, १९९९ वि० (४-२-१९४२ ई०) मे एक आरंभ किया जा रहा है। 'काल: क्रीडति, गच्छति आयु:', [illegible] गया है, ७५ वा वर्ष मौनी अमावास्या को आरम्भ हुआ [illegible]

मानस-विकार-जनित आधि और शारीर-विकार-जनित व्याधि

दो दृष्टियाँ, वहिर्मुख और अन्तर्मुख

प्रकृत मे यह विचारणीय है कि, पच्छिम के डाक्टर लोग 'इधर प्रायः सौ वर्ष से, (१८५० ई० के पीछे), मनुष्य के आधि भौतिक (शारीरिक, जिस्मानी, 'फिज़िकल') अंग (अंश, पक्ष, पहलू, 'आस्पेक्ट') पर ही अधिकाधिक ध्यान जमाते रहे हैं; आध्यात्मिक (मानसिक, चैत्तिक, अंतःकरण-रूप, रूहानी,

---

की सभी शक्तियाँ घट गई हैं, स्मृति अस्थिर हो गई है, उत्कट मदाग्नि सदा घेरे रहती है, रोगो ने शरीर मे घर बना लिया है, ऐसे हेतुओं मे, पुनरुक्ति अनुक्ति आदि विविध दोष, पहिले भी आये तो अब आगे के ग्रन्थ मे तो अधिक आवेंगे ही, सो उन को, पाठक सज्जन, दया कर के, क्षमा करेंगे, और स्वयं यथारुचि यथामति शोध लेंगे। यदि अंतर्यामी की मर्ज़ी हुई तो ग्रन्थ सम्पूर्ण समाप्त होगा, अन्यथा, मुझ से बहुत अधिक योग्य सज्जन, इस ग्रन्थ के विषय का प्रतिपादन, जनता के हित के लिये, करेंगे, और कर रहे ही हैं।

इधर, चार पाँच वर्ष मे, जो हिन्दी और संस्कृत मे छोटे लेख और ग्रन्थ मुझे लिखने पड़े, उन से मुझे यह अनुभव और निश्चय हुआ, कि वाक्यों और श्लोकों को सुवोध्य बनाने के लिये जो चिह्न (, 'कामा' ; 'सेमी कोलन'; — 'डैश'; ' ' " " 'कोट्स'; - हैफेन आदि प्रयोग किये जाते हैं, उन का प्रयोग हिंदी और संस्कृत मे भी होना आवश्यक है, तथा संस्कृत मे संधि का विच्छेद कर देना और समासो के पदों को 'हैफ़ेन' मे विभक्त कर देना भी बहुत उपयोगी और उचित है; इस हेतु इस शैली का, इस ग्रन्थ मे भी, पृ० २४१ मे, यथा संभव अनुसरण किया गया है।

'मैंटल', 'स्पिरिचुअल') अंग की अधिकाधिक उपेक्षा करते गये है। इस अति वहिर्मुख प्रवृत्ति के कारण ऐतिहासिक है; थोडे मे यह कि, जैसे भारत मे, धर्माधिकारी कठ-पंडित और कठ-मुल्ला, वैसे ही यूरोप मे, कठ-पादरी, धर्म-मज़हव-'रिलिजन' को रोज़गार वना कर, साधारण जनता को मूर्ख कठपुतली वना कर, मिथ्या धर्माभासो और मूढ़ग्राहो मे फँसाकर, अपनी कामीय लोभीय मदीय क्रोधीय मत्सरीय वासनाओ का घोर तर्पण परि-पूरण करने लगे, १६ वीं शती ई० के आरम्भ मे, मार्टिन लूथर प्रभृति कुछ बुद्धिमान् दीर्घदर्शी मृदुवेदी सहृदय तथा निर्भय निस्स्वार्थ विद्वानो ने खुला विरोध आरंभ किया, (जैसे भारत मे, १४–१५–१६ वीं शती ई० मे, कबीर नानक प्रभृति संतो ने), जनता का अधिकाधिक अंश उनके साथ होता गया, पादरियो मे, राजाओ मे, 'महाजन'-जनता के दलो मे, वड़े वड़े युद्ध हुए, अंत मे, नये पक्ष की, धर्म के सुधार के लिये, प्राय. विजय हुई, पुराने पक्षवालों की संस्थाओ का सर्वथा उच्छेद तो नहीं हुआ, पर उनके दुराचार कम हो गये, उन्हो ने स्वयं अपनी दुष्ट वासनाओ का नियन्त्रण शुरू किया, उनके अनुयायियो की भी ऑखें खुल गईं, बुद्धि जागी, अंध-श्रद्धा कम हुई; और चारो ओर, महाजन मे, स्थूले-न्द्रियो के प्रत्यक्ष प्रमाण पर प्रतिष्ठित विज्ञान (वहिर्मुख 'सायंस') की ओर रुचि अधिकाधिक वढ़ी। किंतु, देवी-मूल-प्रकृति देवी, संसार के सभी विभागो मे, मनुष्य के चित्त मे भी, सदा दोलाधिरूढ, झलुए पर सवार, रहती है एक पेंग इधर तो एक पेंग उधर, "प्रकृतिः उभय-कोटि-स्पर्शिनी, पुरुषः मध्यस्थ.", एक आत्यन्तिक कोटि ('एक्सट्रीम') से दूसरी, और दूसरी से फिर एक की ओर, झूलती ही रहती है पुरुष, आत्मा, दोनो कोटियो को हुए, अपने भीतर रखते हुए प्रकृति देवी को, दोनो कोटि

खींच कर, मध्य मे रखने का यत्न निरंतर करता रहता है; किसी एक कोटि के पार कूद कर, दूसरी कोटि से टूट कर, सर्वथा विनष्ट हो जाने नहीं देता। सुख और दुःख, राग और त्याग, दोनो को, विद्याऽविद्याऽत्मक मूल काम-संकल्प की एक रस्सी के दोनो छोरों पर, हटे हुए भी, सटे हुए भी, बांधे रहता है।

इन के फल

इस पारमात्मिक नियम के अनुसार, अति बहिर्मुख प्रवृत्ति से, और विकास-वादी ('इवोल्युशन-वादी') वैज्ञानिकों के प्राणि-संघर्ष-विषयक कच्चे अधूरे सिद्धांतो के अनुसरण से, यूरोप अमेरिका के महाजन मे, तथा उन के अधीन वा अधीन-प्राय पूर्वीय दक्षिणीय देशों की जनता मे भी, इन्द्रिय-लौल्य, जिह्वा-उपस्थ-परायणता, राग-द्वेष-विकार, की अत्यन्त वृद्धि हुई; बड़े युद्ध होने लगे; जिस शरीर के सुख के लिये यह सब महा आयास प्रयास किया गया, सांसारिक जीवन के भोग विलास की, सब प्रकार की, अति समृद्ध सामग्री, दुर्बलों को दबा कर, चूस कर, एकत्र की गई, वही आनन्द नष्ट होने लगा; और धर्माभासों के अत्यन्त प्रचार से जो दुष्फल हुआ, उस से भी दारुण तर दुष्फल, सर्व-धर्म-विरोधी, धर्म-मात्र विरोधी, सार-धर्म-तिरस्कारी अत्यन्त बहिर्मुख विज्ञान के प्रसार से हुआ; क्योंकि विज्ञान के अद्भुत आविष्कार, परस्पर पोषण-तोषण उत्तंसन-विकाशन के स्थान मे, परस्पर शोषण-मोषण उद्ध्वंसन-विनाशन के लिये प्रयुक्त होने लगे।

यह घोर अनर्थ देख कर, अब पुनः, वर्तमान २० वीं शती ई० के आरम्भ से, स्वयं बड़े-बड़े, यशस्वी, अग्रगण्य, वैज्ञानिकों की प्रवृत्ति, सभी पाश्चात्य सभ्यंमन्य देशों मे, पुनः आध्यात्मिकता, अन्तर्मुखता, चित्त के शास्त्र, और व्यापक तात्त्विक

मार्मिक सार-धर्म वा धर्म-सार की ओर, दो मार्गों से, फिरी है। इस का सङ्केत. पृ० २३६ पर, एक टिप्पणी मे कर दिया गया है। ये वृद्ध. बहुश्रुत, बहुदर्शी, बहु अनुभवी, विचारशील वैज्ञानिक, पहिचानने और कहने लगे हैं, कि मात्रा ('मैटर') का निर्माता कल्पयिता भी, उस मे प्रविष्ट भी, उस से अपृथक् भी, उस से विविक्त विवेचनीय भी, परमात्मा आत्मा ('स्पिरिट', रूह, रूहुल्-रूह. आत्मनां आत्मा, जीवात्मनां परमात्मा) भी, कोई वस्तु है, और वे शरीर के ऊपर आत्मा-बुद्धि मनस् की प्रभुता को भी मानने लगे हैं।

अन्तर्मुखता की ओर वैज्ञानिकों का पुनः पल्टना

(१) वैज्ञानिकों की पलटी हुई चित्तनदी की पहिली धारा, प्रथम विश्वयुद्ध (१९१४–१९१८ ई०) के बाद अधिक पुष्ट हुई; अब प्रवर्त्तमान द्वितीय विश्व-युद्ध की, दस-पन्द्रह वर्ष स, पुनः तयारियों को देखकर, और उस को रोकने का प्रयत्न करने पर भी, उसके आरंभ हो ही जाने से, यह प्रवृत्ति अधिक बढ रही है. जिस का सत्फल. यदि जगदात्मा की मर्जी हुई तो, इस विश्वयुद्ध की शांति के बाद कुछ होगा, कामीय वासनाओं का नियन्त्रण नियमन करने का उपाय, सब से पहिले खोजा और पाया जायगा. और विश्वव्यापिनी मानव-समाज की विश्वव्यापिनी व्यवस्था ('वर्ल्ड फेडरेशन, वर्ल्ड आर्डर') की जायगी। जिह्वा और उपस्थ संबंधी वासनाओं का सब से पहिले; इस लिये, कि प्रायः सब ही प्रकार की वासना, मनुष्यों मे परस्पर वैर बढ़ाने वाली, उद्धत दर्प, मद, मत्सर, क्रोध की विविध विकृतियाँ, इसी की अति वृद्धि से उत्पन्न होती हैं।

कामे जिते जितं सर्वं, जितं सर्वं जिते रसे।

उपस्थीय काम का रस जीत ले. जिह्वा का रस जीत ले, उन पर

क़ाबू कर ले, उनको अपने वश मे लावै, उनके वश मे न रहै— तो सब कुछ जीत लिया।

स्वार्थी परार्थी वासनाओं का 'नियमन' ही, सर्वथा उच्छेद नहीं

'वासनाओ' का 'नियमन'—यह शब्द याद रहै, काम, क्रोध, लोभ, मोह (भय), मद, मत्सर आदि स्वाभाविक वासनाओं का सर्वथा मूलोच्छेद तो, उनकी प्रतिद्वंद्विनी, उपरति-विरति, शम शांति, तितिक्षा-त्याग, धैर्य, करुणा, मैत्री आदि वासनाओं के भी उच्छेद, अथवा प्रस्वाप, के साथ ही, (प्रस्वाप, क्योंकि आत्यन्तिक विनाश और अभाव तो, अव्यय अविनाशी परमात्मा के स्वभाव मे अंतर्गत द्वंद्व का, कभी हो ही नही सकता), प्रलयावस्था मे ही हो सकता है; जाग्रद् अवस्था मे, सत् शिक्षा और सद्-धर्म-कानून के ज़रिये (द्वारा), नियमन, नियन्त्रण, सीमितकरण, समयों (शर्तों) से परिच्छेदन अवच्छेदन, ही, संभव, उचित, आवश्यक है।

बिना निदान जाने चिकित्सा का दुष्फल

स्वार्थ और परार्थ दोनो प्रकार की वासनाओं को क़ाबू मे लाना; अंदाज़ से ही, परिमित मात्रा मे ही, उनका आस्वादन करना, उनके ऊपर सद्बुद्धि का अधिकार स्थिर करना—यही सब सदाचार का मूल है। इसको न पहिचान कर, इस के [illegible], पच्छिम मे, कच्चे वैज्ञानिक यह यत्न करते रहे हैं, कि [illegible] उपस्थ-सम्बन्धी, इंद्रिय-लौल्य-प्रेरिणी, अधम-स्व-वर्धिनी, अशुभ स्वार्थी वासनाएं यथेष्ट तृप्त की जायं, पर दुष्फल न हों; चटनी-अंचार चख लेने, मांस-मत्स्य खा लेने, शर्बत-शराब पी लेने, के ऐसा, दुराचार-व्यभिचार यथेष्ट होता रहै, पर अविवाहिताओं को गर्भ न रह जाय, उपदंश (आतशक, 'गर्मी') मूत्रकृच्छ्र (सूज़ाक), आदि रौद्र रोगों का संक्रमण न होने

पावै, गर्भ यदि रह जाय तो उसका पातन सरलता से हो जाय, यदि नाजायज़, अधर्म्य, विवाह-बाह्य बच्चा हो ही जाय और स्त्री वा पुरुष उसकी हत्या न करके, उसे छिपाकर, रात मे गिर्जा-घर के द्वार पर, या सड़क पर, या अनाथालय के पास, छोड़ आवै, तो उसका पालन पोषण किया जाय— इत्यादि। पर इसका फल यही हुआ है कि, ऐसे दुराचारो, व्यभिचारो, बलात्कारो, कन्या-दूषणो, बालक-दूषणो, स्त्री पुरुषो के नर-मादा पशुओं के संग मैथुन की वृद्धि ही होती गई, दुष्फल भी नहीं रुक सके, उग्र संक्रामक रोग अधिकाधिक फैलते ही गये, वस्ती, अर्थात् मनुष्य-संख्या, की अत्यंत वृद्धि हुई, सामाजिक तिरस्कार बहिष्कार के भय और लज्जा से, तथा परस्पर ईर्ष्या मत्सर क्रोध आदि से, आत्मघात तथा नवजात शिशुओं की हत्याएं बहुत बढ़ी, और अंततः, अति काम के साथ अति लोभ और अति मान के मिल जाने से, विश्वव्यापी रौद्र युद्ध पुन. पुनः हो रहा है। पाश्चात्य डाक्टरों ने स्वयं लिखा है कि यूरोप अमेरिका मे स्यात् ही कोई स्त्री वा पुरुष इस युग मे होगा जिसका शरीर, वा कुल, वा वंशपरम्परा, इन संक्रामक रोगों की छूत से सर्वथा मुक्त और शुद्ध हो। पर इन से कोई भारतवासी, शुद्धंमन्यता और अहंकार का रस चखने के लिये, यह न समझ बैठे कि भारत जनता मे ऐसे पाप नही है. भारत की, तथा अन्य पूर्वीय देशो की भी, स्यात् कुछ कम, यही हालत जान पड़ती है विशेष कर, वित्तवालो और उच्चंमन्य जातियो मे, पर ठीक पता नहीं चलता, क्योकि पच्छिम मे तो इन विषयो पर वैज्ञानिको ने स्पष्ट लिखना छापना, कुछ काल से, आरंभ कर रक्खा है और उन देशो की गवर्मेंटो ने भी 'कमीशन' 'कमेटी' आदि, समय समय पर, बनाई है, कि इन विषय

मैंट को यह विचार हुआ कि इस घोर व्यवसाय को रोकने के लिये, नया कानून बना कर, पुलिस को विशेष अधिकार दिया जाय। दस्तूर के मुताबिक़, इस के बारे मे, भारत के सब प्रान्तों के कुछ-कुछ आदमियों से राय पूछी गई।

जनता का भृत्य या जनता का स्वामी ?

मुझ से भी पूछा। पाश्चात्य देशों मे भी, जो इस प्रकार के व्यवसाय, 'सेक्स स्लेव ट्राफ़िक' के नाम से, होते हैं, उन का, मै ने, उत्तर मे हवाला दिया; यह बतलाया कि यद्यपि पाश्चात्य देशों मे भी, जनता (महाजन, 'पब्लिक', प्रजा) मे भी और 'जनता-भृत्य' ('महाजन-भृत्य', 'पब्लिक-सर्वेंट', 'सार्वजनिक-भृत्य', राज-भृत्य, राष्ट्र-भृत्य) मे भी, नेक नीयती की कमी है, परन्तु भारत मे तो बहुत ही कमी है, और इस के सिवा यह महा आपत्ति है, कि यहाँ, 'पब्लिक-सर्वेंट' अपने को 'जनता का भृत्य' (ख़ादिम) नहीं, प्रत्युत 'पब्लिक-मास्टर', 'जनता का स्वामी' (हाकिम) समझता है। पश्चिम मे, प्रत्येक राष्ट्र के भीतर, दोनों का, 'पब्लिक-सर्वेंट' और 'पब्लिक का', लक्ष्य प्रायः एक होता है, अर्थात् सार्वजनिक सुख-समृद्धि, उसके विरुद्ध, यहाँ भारत मे दोनों के लक्ष्य, परस्पर विपरीत हो रहे हैं, अर्थात् राष्ट्र-भृत्यों का समुदाय तो, एक-दलवत् संग्रथित, अपने दल का भला चाहता है, नित्य-नित्य अपनी शक्तियों और अधिकारों मे वृद्धि करता रहता है, प्रजा को अधिकाधिक दबाये रखना चाहता, और रखता, है, और प्रजा, हज़ारो 'जात', 'पंथ', 'धर्म', 'फ़िर्क़ों' मे विभक्त होकर, अपना-अपना पृथक्-पृथक् क्षुद्र अल्पकालिक स्वार्थ ही साधना चाहती है, जिस का फल यह है कि, कानूनो द्वारा पुलिस को जो भी अधिकार इख़्तियार दिया जाता है, उस का दुरुपयोग ही होता है, काम के सगे भाइयों का, लोभ क्रोध आदि का, उत्प्रेरक होता है, उत्कोच (रिश्वत, घूस) और प्रजा-पीडन की भी, तथा दुष्ट कर्मों और व्यवसायों की भी, वृद्धि ही होती है; अन्त मे, मै ने यह सूचना की, कि वर्तमान दण्ड-विधान (ताज़ीरात-ए-हिन्द, 'इंडियन-पीनल-कोड') मे जो अपराध (जुर्म, 'क्राइम')

गिनाये है, और उन की सज़ा के लिये जो अधिकार राष्ट्र-भृत्यो को दिये गये हैं, उन्ही का यदि नेकनीयती से उपयोग प्रयोग किया जाय, तो भैरवी-चक्र का यह रोजगार सहज मे (सरलता से) वंद कर दिया जा सकता है, इस के लिये नये कानून और विशेष अधिकारों की कोई आवश्यकता नही है। जहाँ तक मुझे मालूम है, कोई नया विधान तो नही वना, पर इस विशेष घोर व्यवसाय की कुछ रोक होने के भी लक्षण देख नही पडे।

राजभृत्यों की वृद्धि और दुष्टता, प्रजा का ह्रास

पुलिस के, मजिस्ट्रेटो के, सभी विभागो (सीगो) के सभी गवर्मेंटी नौकरो के, अधिकार इख्तियार बढाते रहना, प्रजा के हकों को घटाते रहना—यही लक्ष्य, अधिकतर देशो के शासक दलों (गवर्मेंटो) का चिरकाल से हो रहा है, भारत मे तो अत्यत ही, कलियुग का यह एक प्रधान लक्षण है, कारण भी है, कार्य भी है, अन्योऽन्य अनुग्रह करते हुए अनर्थो की परम्परा यो ही बढती जाती है, एक दिन, अपने असह्य बोझ से आप टूट पडती है, नष्ट होती है, तब, पुन, 'सत्य' के 'युग' (जमाना, 'पीरियड,' 'इपोक,' 'एज') को अवसर मिलता है, शासक और शासित मे परस्पर स्नेह, प्रीति, विश्वास, सहाऽयन, समर्थन, प्रकृति स्वभाव-गुण कर्म के अनुसार सब मनुष्यो का समाज मे व्यवस्थापन, होता है। आज काल जो विष भरी हवा सारे संसार मे बह रही है, उस के कारणा-कार्यों मे एक मुख्य यह है, कि 'धर्माऽनपेत काम', और 'कामशास्त्र के आध्यात्मिक तत्त्वों' का तथा सत्काम और दुष्ट-काम के रूपों, लक्षणों, परिणामो, सुफल-दुष्फलो का, यथातथ्य ज्ञान ध्यान नही है, और यदि है तो भी विद्यामद, ऐश्वर्यमद, धनमद से मत्तो मे, शासन के अधिकारो और बलो को पाये हुओ मे, अत अधिकार और बल का दुष्ट पापिष्ट प्रयोग करने का अधिकाऽधिक अवसर पाते हुओ मे, धर्म्य काम से विरति, अधर्म्य काम मे आसक्ति, अधिकाधिक देख पड रही है। "चोरी का गुड मीठा,"

("स्टोलन् वाटर्स् आर् स्वीट्"), इस लिये, अधिकारी जन, स्वयं चोरी के गुड के आस्वादन के लालची होकर, अपराधियों (मुजिमों) के साथ सहानुभूति भीतर से, और दंड देने मे दया का दिखाव ऊपर से, करने लगे है, पच्छिम के देशों मे इस की शिकायत, बीच बीच, समाचार पत्रों मे देख पडती है। भारत वर्ष का भी एक ताजा नमूना देखिये।

काशी के दैनिक पत्र 'आज' के सौर ९ फाल्गुन, १९९८, वि० (ता० २१ फरवरी, १९४२) के अंक मे, नीचे लिखे आशय की सम्पादकीय टिप्पणी छपी है—

एक अत्यन्त खेदजनक मामिला

"काशी के एक खेदजनक मामिले की ओर हम स्थानीय अधिकारियों का, विशेष कर ज़िला मजिस्ट्रेट का, ध्यान दिलाना चाहते हैं। गोपी नामक चार वर्ष के बालक पर एक सत्रह वर्ष के युवक द्वारा अस्वाभाविक अत्याचार, (अगस्त, १९४१ ई०, मे) किया गया। विचारक मजिस्ट्रेट की राय म अपराध सिद्ध हो गया। सिविल सर्जन की राय में लडके को उस अपराध के कारण अत्यन्त कष्ट भोगना पडा है। अपराधी के घर के लोगों की आर्थिक अवस्था मजिस्ट्रेट की राय में अच्छी है। लड़के की मा के कथनानुसार, जब उस ने अपराधी के बाप और चाचा को उस के अपराध से सूचित किया, तो उन्हों ने उसे ही मार डालने की धमकी दी। इतनी बातें विचारक मजिस्ट्रेट अलाउद्दीन साहब के फ़ैसले से ही मालूम होती है। इतने पर भी आप ने अपराधी को प्रथम अपराधी और कमसिन (अल्प-वयस्क) समझ कर केवल दो वर्ष सदाचार से रहने का मुचलका, वह भी केवल दो सौ रुपये का, ले कर छोड़ दिया। लड़के की माँ को, जो बहुत ही गरीब है, और श्री राजकृष्ण बाबू उसकी सहायता न करते तो अदालत तक पहुँच भी न सकती, कुछ भी हर्जाना नहीं दिलाया। क्या यह न्याय है? क्या प्रथम अपराधी के सम्बन्ध का कानून ऐसे ही दुराचारियों के लिये बनाया गया है? बेंत लगाने की धारा

का उपयोग यदि ऐसे मामिले मे न किया जाय तो वह है किस काम के लिये ? हाल मे ही हाई कोर्ट ने एक लडकी की हत्या करने के अपराध मे एक स्त्री की सजा, केवल उसे स्त्री समझ कर कम सजा देने के कारण एक जज की निन्दा कर के, तीन साल से बढा कर दस साल कर दी है। मतलब यह कि ऐसे मामिलो में स्त्री, कम उम्र, प्रथम अपराध, आदि बातो का विचार करना उचित नही है। हम अधिकारियो का ध्यान इन बातो की ओर दिला कर साग्रह अनुरोध करते हैं कि वे इस मामले को, सजा बढाने के लिये हाई कोर्ट तक ले जाने का कष्ट स्वीकार करे।'

बाद मे श्री राजकृष्ण ने दर्यापत करने पर मालूम हुआ कि, निहायत गरीब मजदूरिन के चार वर्ष के नादान बच्चे गोपी (कसरवानी बनिया) पर, २४ अगस्त १९४१ ई० को, कासी नाम के सत्रह वर्ष के (सोनार) युवा ने यह अतिक्रूर दारुण अपराध किया, हाल मालुम होने पर श्री राजकृष्ण ने पुलिस में रिपोर्ट २९ अगस्त को की, पुलिस ने जब मुजरिम की तलाश की तब वह फरार हो गया, गोपी कुछ दिन, अस्पताल मे रहा, रोज रोज की रोटी कमाने की फिक्र के सबब से, नौकरी छोड़ कर मा अस्पताल मे बच्चे की फिक्र नहीं कर सकती थी, राजकृष्ण जी की प्रार्थना पर दूसरे डाक्टर देखते रहे, गोपी के गुदा-स्थान मे भारी जख्म हो गया, सड गया, मल-विसर्ग मे बहुत कष्ट होता था, सारे खून मे उसका जहर फैला, आँखे करीब करीब अंधी हो गई। भागे हुए मुल्जिम कासी का माल मता जब अदालत के हुक्म से कुर्क हुआ तब वह खुद हाज़िर हो गया। इन कारणो से, तथा अन्य कारणो से, देरिया, कुछ पुलिस थाने मे, कुछ कचहरी मे, होती रही, उनकी वजह से जुर्म की तारीख से करीब चार महीने बाद, मुकद्दमा अदालत मे पेश हुआ, १२ फर्वरी १९४२ को मजिस्ट्रेट ने फैसला किया, जिसकी कैफि-यत 'आज' पत्र से लेकर ऊपर लिखी गई। श्री राजकृष्ण ने, जिला

मजिस्ट्रेट से, ज़ाबिते से दर्ख़ास्त भी किया, कि सज़ा बढाने के लिये मुकद्दमा हाईकोर्ट मे भेजा जाय ; पर इसी बीच, मुज्रिम काशी ने सिशन जज के यहाँ मुचल्के के ख़िलाफ अपील की, और जज ने (शायद फ़ैसले मे कोई कानूनी नुक्स पा कर) मजिस्ट्रेट की तजवीज़ और फ़ैसले को रद्द कर दिया । नतीजा यह हुआ कि काशी बिल्कुल छूट गया, गोया उसने यह महापाप किया ही न हो ।

और नमूने देखिये । इस मामिले के कुछ पहिले, बनारस मे ही, एक तीस वर्ष के जवान (क्षत्रिय) ने, एक तीन वर्ष की नादान मासूम दूध मुही बच्ची पर बलात्कार (जिना बिल् जब्र) किया, घोर व्रण, किसी किसी तरह, टांका वग़ैरा दे कर, डाक्टरो ने अच्छा किया, जान बच गई, मगर इस राक्षस मुज्रिम को सिर्फ पांच बर्स की कैद हुई, जब शायद दायमुल्-हब्स (हमेशा के लिये 'काला पानी') की सज़ा होनी चाहती थी ।

इन दोनो मामिलों के कुछ ही दिनो बाद, एक साठ बर्स के (ब्राह्मण) नर-पशु ने, एक नौ-दस वर्ष की बालिका पर बलात्कार किया, और केवल तीन वर्ष कारावास का दंड पाया, इस मामिले को, रिश्वत वग़ैरा दे ले कर, दबा देने की भी कोशिश की गई; पर बात ज़ाहिर हो गई, और पुलिस का एक आदमी थोडे दिनो के लिये मुअत्तल भी हुआ, जो गैर मामूली बात है ।

देश की वर्त्तमान दशा मे, सिवा इस के क्या किया जा सकता है, कि मनु का वाक्य याद करके, जगदात्मा अंतरात्मा के आगे सिर झुका कर प्रार्थना की जाय, कि श्री राजकृष्ण के ऐसे मनुष्य, अपराध-पीडितों की सहायता करने वाले, और घोर अपराधियों को दंड दिलाने का यत्न कर के समाज के आचार की शोधन की चिंता करने वाले, अधिक संख्या मे उत्पन्न हों, और शासकों को, नीच और दूषित बुद्धि के स्थान मे, विवेकिनी बुद्धि मिले; और समग्र जनता का ध्यान ऐसी घटनाओं की

ओर, और उन को रोकने के कर्त्तव्य धर्म की ओर, पुन पुन दिलाया जाय, और अधिकारियो की कर्त्तव्य-विमुखता का उद्घाटन किया जाय, और इस कर्त्तव्य के लिये, नगर नगर मे, सर्वजनीन हृदय वाले सज्जन, समितियां बनावें।

> अदंड्यान् दंडयन् राजा, दंड्यांश् च एव-अपि-अदंडयन्,
> अयशो महद्आप्नोति, नरकं चाऽधिगच्छति, (मनु),
> (पापानि पापिना, यस्मात्, अस्य राज्ये तु, भूरिश
> विवर्धन्ते, विनश्यन्ति शिष्टा, राष्ट्रं च नश्यति।)

जो राजा दंडनीय को दंड न दे, और अ दंडनीय को दंड दे, वह अपने को और अपने सारे राज्य को नरक मे गिराता है, क्यों कि पापी उस के राज्य मे बढते हैं, सदाचारी घटते हैं और थोडे ही दिनों मे, सारी समाज-व्यवस्था बिगड जाने से राज्य नष्ट भ्रष्ट होता जाता है।

भारत मे राजकर्मचारियों तथा साधारण प्रजाजनो की दशा

कुछ अपना निजी अनुभव यहाँ लिख देना अनुचित न होगा। सन् १८९० से १८९९ ई० तक, मैं ब्रिटिश-भारत गवर्नमेंट या संयुक्त प्रान्त मे नौकर रहा, इस के बाद मैं ने इस्तीफा दे दिया, १८९९ से १९१४ तक सेंट्रल हिन्दू कालिज, बनारस का अवैतनिक मंत्री (सेक्रेटरी) रहा, उस संस्था के और उस की शाखा प्रशाखा, लड़कों के स्कूल, लड़कियो के स्कूल रणवीर संस्कृत पाठशाला, छात्रावास (बोर्डिंग हाउस) आदि के आरम्भण, वर्धन, पोषण आदि मे, और इस कार्य के लिये 'ब्रिटिश' भारत और 'भारतीय' भारत (देशी रियासतों) मे, पुण्य श्लोक श्री एनी बिसेंट के, तथा अन्य बन्धुओं और मित्रो के, साथ परिभ्रमण और परिभ्रमण करता रहा, इस के पश्चात्, १९१५ से काशी विश्वविद्यालय का, और १९२१ से श्री शिवप्रसाद गुप्त जी के दान से आरम्भ किये और महात्मा गांधी के हाथ से खोले हुए काशी विद्यापीठ का, कुछ वर्षों तक सेवक, सहायक, और बाद से तटस्थ शुभ-चिंतक आज तक, रहा हूं। १९२[illegible]

से १९२५ तक, काशी के म्युनिसिपल बोर्ड का 'चेयरमैन' रहा, और लड़के लड़कियों के म्युनिसिपल स्कूलों को देखता सुनता रहा। डिपटी मजिस्ट्रेट की हैसियत से, ताजीरात-हिंद (भारतीय दंड-विधान, 'इंडियन पीनल् कोड्') में लिखित बहुत प्रकार के अपराधों की तहकीक़ात, मुझ को, डेपुटी मजिस्ट्रेट की हैसियत से करनी पड़ी। इस लिये मुझे मालूम है कि सर्कारी नौकरों में भी, तथा प्रजा जनों में भी, शासकों और शासितों दोनों में, एवं अध्यापकों और अध्यापितों दोनों में, जमाना भी शुक्राना भी रिश्वत लेना देना, तथा बलात्कार से भी, डरा धमका के भी, प्रलोभन आश्वासन विश्वासन कर, फुसला कर, धोखा दे कर, प्रेम प्रीति दिखा बढ़ा कर के भी, उपस्थ-सम्बन्धी अनाचार दुराचार और घोर अपराध भी होते रहते हैं। इन में से अधिकांश, विविध हेतुओं से, 'छोपो, तोपो, गोपो,' हो जाते हैं, और, भीतर भीतर, समाज के चित्तों और शरीरों में जहर फैलाते रहते हैं, अल्पांश, अदालतों में, ('अदल', न्याय, का स्थान, 'न्यायालय' का नाम तो है, न्याय का काम कम) कचहरियों में, पहुचते हैं, और अख़बारों में चर्चा पाते हैं; उस अल्पांश में से भी कुछ ही मामिलों में अपराध सिद्ध होता है, और 'न्यायपति' 'न्यायाधीश', 'मुजव्विज', 'हाकिम' 'मजिस्ट्रेट', 'जज' की निजी प्रकृति और रुचि और आचार-विचार के अनुसार अपराधी दंड पाता है। यह, भारत देश, भारतीय समाज, की, इस युग (ज़माने) में, दुर् अवस्था अ-व्यवस्था है।

पाश्चात्य देशों की दशा

यूरोप अमेरिका की, उपस्थेंद्रिय-सम्बंधी जीवनांश ('सेक्सुअल लाइफ़') की दशा का हाल पहिले कुछ लिखा जा चुका है। जैसे अपने निजी अनुभव की चर्चा ऊपर किया, वैसे एक मित्र के निजी अनुभव को जो उन को वहाँ हुआ, (मैं भारत से बाहर नहीं घूम सका हूँ), यहाँ लिख देता हूँ। "अमित्रं विदुषां अनाविलं, सुहृदां च स्वहृदां च पश्यतां"

(नैषध) कुछ अपनी आंख, अपने हृदय से, कुछ अन्य आप्त मित्रों की आंख और हृदय से, देख कर दुनिया का हाल जाना जाता है। ये मित्र, भारत के गिने चुने, 'हाइस्टों' के ऊंचे पहुंचे हुए उन 'एडवोकेटों' में एक हैं जिन की सालाना आमदनी तीन चार लाख रुपये तक की कही जाती है, उमर भी इन की मुझ से आठ दस वर्ष ही कम है, नाम कहने का काम नहीं। पिता और ज्येष्ठ पुत्र साथ ही विलायत यात्रा को गये, फ्रान्स देश की राजधानी महा नगरी "पेरिस" में तथा ब्रिटेन देश की राजधानी महत्तर नगरी 'लंदन' में थियेटर सिनेमा का तमाशा देख कर रात में बाहर निकले, कुल-स्त्री के ऐसे अच्छे साफ कपड़े पहिने एक एक ने एक ओर से पिता की एक बांह, दूसरी ओर से पुत्र की दूसरी बांह, धीरे से खींच कर कान में फुसफुसी किया, "मेरे साथ चलिये, रात रहिये", जान छुड़ा कर भागे। कुल-वधू के वेश में वेश्याएं विचरती हैं, पर्दे की प्रथा न होने से, 'कुल-स्त्रियों' में भी व्यभिचार बेपर्द होता है, भारत में, पर्दे की आड़ में होता है। वात्स्यायन काम-सूत्र में राजाओं के और उन के रनिवासों अवरोधों के व्यभिचारों का वर्णन किया है। पंजाबी श्री क० ए० गोबा की दो पुस्तकें, दस पंद्रह वर्ष हुए छपीं, 'अंकल सैम (शैम)' और 'दि पैथा-लोजी आफ प्रिंसेज' नाम की। 'अंकल सैम', यु० स्टे० अमेरिका-निवासी का, हास्य और स्नेह मिश्रित उप-नाम हो रहा है, जैसे ब्रिटेन-निवासी का, 'टामी ऐट्किंस', और फ्रान्स-निवासी का, 'जैक् बान-हाम', 'शैम' का अर्थ है, 'दाम्भिक'। मिस् मेयो नाम की एक यु० स्टे० अमेरिकन स्त्री ने 'मदर इंडिया' नाम की एक पुस्तिका इन दो पुस्तकों के पहिले छापा था, केवल-दोषज्ञ-पण्डिता, दोष-ग्राहिणी दूषित-चित्ता लेखिका बन कर भारत जनता की बुराइयों ही दिखाते हुए (यह भी कहा जाता है कि भारत जनता की स्वराज्य के लिये अयोग्यता दिखाने को, किन्हीं दूसरों की प्रेरणा सहायता से, 'प्रचारार्थ' 'प्रोपेगैंडा' के लिये), उस ने यह पुस्तक छापा। उस के उत्तर में 'अंकल शैम' पुस्तक छपी, इस में यु० स्टे० अ० की

जनता का दोषोद्घाटन वैसा ही किया गया है। दूसरी पुस्तक मे भारत के राजा महाराजों नवाबों के दुराचारों, भ्रष्टाचारों, घोर अत्याचारों, प्रजापीडनों का रूप अंशतः दिखाया है। प्रायः पचास वर्ष हुए होंगे, एक 'महाराजा' ने 'दि डायरी आफ ए महाराजा' नाम की पुस्तक अंग्रेजी मे स्वयं लिख कर, किसी पश्चात्ताप के वश, छापी थी, उसमे स्पष्ट लिखा था कि, 'घोर से घोर भी ऐसा कोई महापातक नहीं जो हम महाराजों ने न किया हो वा न करते हों'। इंदोर, अलवर, नाभा आदि के राजा महाराजा, इधर बीस पचीस वर्ष के भीतर, गद्दियों से उतारे गये, उन के निकाले जाने के कारण सब को मालुम है, खुले हुए हैं; नाभा के राजा का, और उस समय के पटियाला के महाराजा का, परस्पर घोर संघर्ष हुआ था, पटियाला पर ब्रिटिश गवर्नमेंट ने प्रकट कोप किन्हीं कारणों से नहीं किया; पर एक प्रजा स्नेही सज्जन ने, अंग्रेज़ी मे, एक बडा ग्रन्थ का ग्रन्थ, सबूत सहित, चित्र सहित, छाप दिया, इत्यादि। सब देश सब काल मे यही हाल रहा; कभी कम, कभी ज्यादा। कहाँ तक कहा लिखा जाय; जैसा ऊपर कहा गया, जहाँ कहीं भी ऊपर की अच्छी चमकती शोभना त्वचा छीली जाय, वहीं भीतर बीभत्स रक्त, मांस, वसा निकल पडती है। पर हाँ, त्वचा का सौंदर्य लावण्य भी एक वस्तु है ही, उस को भी नहीं भूल सकते। यदि दोष है, तो गुण भी हैं; 'खाय तो पछताय, न खाय तो पछताय', तो 'कम खाय और गम खाय, तब देश मे माना जाय।'

अपराधों के दंडों की चार मुख्य राशियां—'चातुर्दण्ड्यम्'

दंड के विषय मे भगवान् मनु की आज्ञा, उसी सर्व-व्यापक सर्व-संग्राहक सर्व-नियामक सर्व-समन्वायक सर्व-उपदेशक सर्व-मर्यादक अध्यात्मशास्त्र के अनुसार, जिस के सिद्धान्तों पर कर्मणा चातुर्वर्ण्य और वयसा चातुराश्रम्य प्रतिष्ठित हैं, दंडों के भी, सत्त्व-रजस्-तमो-अत्यय गुणों के अनुरूप, चार मुख्य प्रकारों की सूचना की है, (अति तामस) अधम पशु-प्रकृति और दानव घोर साहसों अपराधों के लिये, विविध प्रकार

के शरीर दड, छेदन, भेदन, कर्त्तन, ताडन आदि, लोभी (तामस) प्रकृति और अपराधो के लिये, धन दड (जुर्माने) उद्धत (राजस) के भी, कुछ प्रकार के उक्त दोनो, तथा कारावास मे बन्धन, सपरिश्रम, ('रिगरस् इम्प्रिजन्मेंट', 'कैदि-बा-मशक्कत'), दासता आदि, (कुछ सात्विक) मृदु स्वभाव के लिये, जिन से, ऐसे ही किसी विशेष कारण से, अचानक भूल से, सहसा क्रोध सहसा काम से, जनित अपराध हो गया हो, जो पश्चात्ताप और प्रत्यायन करता हो, अपने किये पर शर्माता लजाता हो, और प्रायश्चित्त करने को तयार हो, उस के लिये तीन, पाच, सात, पद्रह, इकीस दिन का उपवास, चान्द्रायण, कृच्छ्र सातपन आदि, (जो भी, याद रहे, सरल नही है, शरीर को और चित्त को बहुत सताप पहुचाते हैं, तथा भविष्य के लिये सदाचार मे निष्ठित और शुद्ध भी बनाते है), सूचित, विहित, उचित है ।

'तृतीया प्रकृति'

ऊपर कहा कि प्रेम प्रीति दिखा बढा कर, आश्वासन विश्वासन प्रलोभन दे कर, भी अनाचार होते है , स्त्री-पुरुष के बीच भी, पुरुष-पुरुष और स्त्री-स्त्री के बीच भी । यदि स्त्री-पुरुष दोनो वय प्राप्त वयस्थ है, अविवाहित है, और परस्पर, जान बूझ कर, प्रीति से आगे चलकर 'रति' 'सुरत' भी किये है, तो प्राय किसी भी देश मे, भारत मे भी, 'कानून' से, उन मे से किसी का दड नही होता, सामाजिक बहिष्कार 'जात बाहर' आदि की कथा न्यारी , वह तो जहा जैसी आचार-सम्बन्धी हवा बही हो, फैली हो, वैसा होता है । पुरुष-पुरुष मैथुन, या पशु के साथ (वि-योनि) स्त्री या पुरुष के मैथुन, का दड, कानूनन , अक्सर देशो मे अब तक विहित है । परतु, पुरुष-पुरुष मे, यदि प्रेमपूर्वक, घनिष्ट सख्य और स्नेह के साथ, न केवल बहिरग (स्पर्श मात्र या हस्त-मैथुन आदि) अपि तु (अ-योनि) अतरग मैथुन भी हो (गुदा, मुख, आदि से) तब पश्चिम मे तो यही हवा अधिकाधिक बह रही है कि शान्त दानि

की ओर से, तथा समाज की ओर से, इस की उपेक्षा ही की जाय, दंड न किया जाय। वैज्ञानिक दृष्टि से यह जाचा गया, और माना जा रहा है, कि ऐसी एक 'होमो-सेक्सुल' 'इंटर्मीडियेट सेक्स' प्रकृति ही होती है; और जब दैवी महाप्रकृति ने उन का भी रूप धारण किया है, तो उन को भी अपने स्वभाव के अनुकूल जीवन-निर्वाह करने देना चाहिये; इस शर्त से कि किन्हीं दूसरो को, जो साधारण प्रकृति के हों, हठेन इस 'अप्राकृतिक' प्रकार (ऐब-नार्मल, असाधारण-प्रकृति) की ओर खींचा न जाय। पाश्चात्य देशों मे, 'ट्रैम्प्स', 'होबोज़', 'ऐपाश्', स्थिर गृह-रहित व्रात्यों (नटों कंजरों) के ऐसे भ्रमने वालो मे भी, तथा शिष्ट सभ्य का रुप रखनेवालों मे भी, तथा, मङ्स' 'नन्स' 'स्टुडेन्ट्स' मे भी, तथा फौजी सिपाहियों से भी, ऐसे असाधारण प्रकृति वाले जीव कुछ होते हैं। वेश-धारियों, वैरागी-उदासियों, 'साधु-मंडलियों', विद्यार्थियों, शिष्ट सभ्य सयाने जानों मे, भारत मे भी ऐसे होते हैं। पूर्व पश्चिम दोनों में, इन वर्गों मे, केवल असाधारण-प्रकृति वाले थोड़े, तो पापिष्ठ प्रकृति वाले बहुतेरे होते हैं। काम-सूत्र के एक अधिकरण मे 'तृतीया प्रकृति' की चर्चा की है, तथा 'औपरिष्टक' (मुख) मैथुन और गुदा-मैथुन की, संस्कृत मे, पुरुषवत् स्त्री को 'पोटा', और स्त्रीवत पुरुष को भ्रुकुंस' कहते हैं। ऐसे शब्दों का भाष्य, नये पाश्चात्य विज्ञान के द्वारा ही अब लिखा जा सकता है; इन सब विषयों पर प्राचीन काल मे, संस्कृत मे, विस्तीर्ण ग्रन्थ थे; इस की सूचना वात्स्यायन के उपलब्ध काम-सूत्र मे किया है; पर अब वे गुप्त लुप्त हो रहे हैं।

जिन मित्र सज्जन के, पेरिस और लंदन की अभागिनी रूपाजीवाओं के व्यवहार के, अनुभव का हाल ऊपर लिखा, उन से, दूसरी मुलाकात मे, यह भी सुना; मुरादाबाद के पास नवाब रामपुर की राजधानी रामपुर नगर मे वे किसी काम से गये, एक ऊँचे अफसर के यहां टिके, एक मुकद्दमे की पेशी और कार्रवाई देखी; 'माल' की 'चोरी' का मामिला

था, मालूम हुआ कि 'माल' का मानी—एक पुरुष का रक्खा हुआ, 'विवाहिता-स्त्री' के ऐसा, एक 'माशूक', और 'चोरी' का अर्थ यह कि उस को कोई दूसरा आदमी बहका कर 'निकाल' ले गया था, रामपुर रियासत मे, यह 'रखना' जुर्म नही था, बहका कर निकाल भगाना जुर्म था, जैसे अंग्रेजी भारत मे विवाहिता स्त्री को। यह घटना प्राय बीस पच्चीस वर्ष पहिले की है। इस के बाद, रामपुर मे दण्डविधान कुछ बदला गया या नहीं, यह दर्यापत और मालूम करने का अवसर मुझे नहीं हुआ। 'सिपाही युद्ध १८५७-८ ई० के बाद, अवध में कर्नल करी कमिश्नर रहे; फौजदारी मुकदमों का फैसला भी करते रहे, अंग्रेजी गवर्नमेंट के बनाये इण्डियन पीनल कोड' के अनुसार इस दण्ड-विधान पर एक शरह भी उन्हों ने छपवाई, उस मे ऐसे अपराधों की बहुतायत की चर्चा की है, नवाबी मे, यह कर्म, अपराध नहीं समझे जाते थे। 'पीनल कोड' मे इस को 'अन्-नेचुरल्-आफेन्स', 'जुर्म खिलाफ वजा फित्री', 'अप्राकृतिक अपराध', कहा है। एक 'माशूक' के लिये, दो 'आशिकों' मे, लाठी छुरे चलने और कतल तक हो जाने के मामिले, अंग्रेजी अमलदारी की फौजदारी अदालतों मे, कभी कभी आते ही रहते हैं, मुझे, मैनपुरी जिले मे, १८९४-५ ई० मे कुछ ऐसों की तहकीकात मजिस्ट्रेट की हैसियत से कर के, सिशन जज की कचहरी मे भेजना पड़ा था। 'बाइबल' (यहूदी 'तौरेत') मे लिखा है कि, बहुत प्राचीन समय मे 'सोडोम' नाम का नगर, इस कुकर्म की बहुतायत के कारण, दैवी कोप से ध्वस्त होगया, सब जीव पाषाण हो गये; अर्थात् [illegible] या [illegible] पक्षाघात से मर गये, जैसे पुराण की कथा मे गौतम के शाप से उन की पत्नी 'अहल्या व्यभिचारिणी 'पत्थर' हो गई। अंग्रेजी के शब्द 'सोडोमी' व [illegible] यही बाइबल की कथा है। इस्लामी किताबों में [illegible] के उन के 'चरित्र' मे 'गुलाम' 'गिलमा' मिलते हैं (जैसे हिंदुओं के अप्सरा) इत्यादि। इन सब से विदित होता है कि सभी देशों कालों मे (सर्व-

मान युग मे ठीक ही 'अप्राकृतिक' कहलाती) 'तृतीया प्रकृति' कम बेश होती रही है। वानरों मे प्रत्यक्ष देख पडती है।

भारत के अध पात का एक प्रधान कारण

अपने ही किये जिन महापातकों के हेतु से भारत-जनता, भारत-धर्म, भारत-देश, का ऐसा अध.पात हुआ, और अधिकाधिक होता जा रहा है, उन मे यह दारुण व्यवसाय, अबला-यातना का, तथा अन्य प्रकारों से भी बहुतेरा अपमान और पीडन, स्त्रियों का, एक प्रधान महापातक है, जिस के कारण यह देश नितान्त पराधीन, परायों की जूतियों के तले, पडा हुआ है; छटपटाता है, पर कुछ भी कर नहीं सकता, अत्यन्त विवश है; क्योंकि अपना आचरण, अपना 'स्व'-भाव, नहीं शोधता, प्रत्येक मनुष्य, प्रत्येक दल, प्रत्येक जात, प्रत्येक पन्थ, दूसरों को ही बुरा कहता है, सब दु.खों के लिये दोप देता है, और अपने को सर्वथा भला और गुणमय मानता बखानता है।

राजन्, सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यसि ;
आत्मनो बिल्वमात्राणि पश्यन् अपि न पश्यसि ।
यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता. ;
यत्र-एतास्तु न पूज्यन्ते, सर्वास्तत्राऽफलाः क्रियाः ।
शोचन्ति जामयो यत्र, विनश्यति-आशु तत्कुलं ;
यत्र-एतास्तु न शोचति, वर्धते तद्धि सर्वदा ।
जामयो यानि गेहानि शपंति-अ-प्रतिपूजिता. ;
तानि कृत्या-हतानि-इव विनश्यंति समन्तत. ।
तस्माद्एता: सदा पूज्याः, भूषणाऽच्छादनाऽशनै. ,
भूतिकामैर् नरैर् नित्यं, सत्कारेषु उत्सवेषु च ।
सतुष्टो भार्यया भर्ता, भर्त्रा भार्या तथा-एव च ,
यस्मिन् एव कुले नित्यं, कल्याणं तत्र वै ध्रुवं ।

सर्सों से छोटे छिद्र दूसरों के देखते हो; बेल से बडे छिद्र

अपने नहीं देखते हो। जिस कुल, परिवार, वंश, समाज में, स्त्रियों का अनादर अपमान किया जाय, स्त्रियों को पीड़ा दी जाय, जिस को वे रोती विलपती सिसकती स्त्रियाँ शापें, वह कृत्या (कोसना, 'कर्स', मानस-अस्त्र) से विद्युत् बिजली से मारे हुए के ऐसा, सद्य नष्ट हो जाता है।

घोर हानिकारक थोथे नारे

बिना 'स्व'-कीय 'स्व'-भाव शुद्ध किये 'स्व-राज' 'स्व-राज' का थोथा शोर करना, अर्थशून्य व्यर्थ अपार्थ अनर्थ 'नारे (घोष, आक्रन्द, पुकार) लगाना चिल्लाना, नितान्त मूर्खता है और अधिक पराधीनता और दुःखों का हेतु है। जब 'स्व-राज्य' के 'स्व' का ठीक अर्थ जनता जान लेगी कि क्षुद्र-'स्व-' अर्थ-(स्वार्थ-) कामी नहीं, राजस-तामस-कामाऽत्मक अधम-'स्व'-वाले नहीं, पर-अर्थ-कामी सर्वजनीन-हित-कामी, सात्त्विक-कामाऽत्मक निस्स्वार्थी परार्थी उत्तम-'स्व'-वाले, लोक हितैषी, विद्वान्, अनुभवी, परिपक्व वयस् और बुद्धि के, समाज के सब अंगों के अच्छे और जरूरी पेशों के यथोचित पोषण की नीयत रखते हुए, और सच्चे वर्णाश्रम धर्म के द्वारा समग्र समाज की उत्तम सु-व्यवस्था करने का उपाय भली भाँति सोचे विचारे और जाने हुए मनुष्यों का राज्य ही सच्चा 'स्व'-राज्य है, क्योंकि इस सर्वजनीन हित के साधने का उपाय सत्य-वर्ण-आश्रम-धर्म-रूपिणी समाज-व्यवस्था ही है, जब ऐसा होगा, तब ही जनता का 'स्व-राज्य' शब्द का घोषण करना सार्थ होगा, और कृतार्थ भी होगा, अन्यथा नहीं। विवेक-पूर्वक, अल्प-स्व-अर्थी स्वार्थी 'काम' का नियमन, सीमित-करण—यह, इस सत्-मार्ग का पहिला पद (कदम) है। यदि सब लोग अपने दोष और पराये गुण अधिक देखें अथवा कम से कम अपने भी और दूसरों के भी गुण भी और दोष भी देखें, तो सब कलह शांत हो जाय, सत्ययुग का राज्य हो जाय, कलियुग भाग जाय। अपने तो गुण ही, दूसरों के दोष ही, सब लोग देख रहे हैं, इसी से कलह का उद्रेक और कलि का साम्राज्य हो रहा है। अंग्रेज, जर्मन को जर्मन

ब्रिटेन आदि पाश्चात्य देशों की दशा

सन् १९४२ मे, ब्रिटेन के स्वास्थ्य-विभाग के एक बहुत ऊँचे अधिकारी ने, जनता को सावधान करने के लिये, अपने विभाग के कार्य की कठिनता के उल्लेख की आड़ मे, यह चेतावनी दी कि ब्रिटेन मे, और विशेषतः लंदन महानगर में, एक नया संकट बढ़ गया है; अविवाहिता युवतियों मे 'वेनीरियल डिजीज', गुह्येन्द्रिय-सम्बन्धी रोग, की बहुत वृद्धि हो गई है, क्योंकि वे, युद्ध मे ब्रिटेन की सहायता करने के लिये अमेरिका से आये हुए सैनिकों के साथ, निःशंक होकर 'अतिथि सत्कार' के भाव से, उनका मन प्रसन्न रखने के लिये, स्वच्छंद विचरती हैं और सिनेमा गृहों मे तथा अन्य मन-बहलाव के स्थानो मे घूमती फिरती हैं। अमेरिका से आये हुए सैनिकों पर, ध्वनि से, दोष मढा गया; पर ब्रिटेन की स्त्रियों के चित्त की दशा का भी प्रदर्शन उसी

अंग्रेज को, जापानी, चीनी को; चीनी, जापानी को; रूसी, जर्मन को; जर्मन, रूसी को; अंग्रेज़, रूसी को; रूसी, अंग्रेज़ को, हिन्दू, मुसल्मान को, मुसल्मान, हिन्दू को; हर एक, दूसरे ही को बुरा समझता है और पुकारता ललकारता है, जगत् मे शांति, अहिंसा, और सत्य का राज्य, सत्ययुग, कैसे हो ? यदि, मारा-मारी करने के एवज़, सब लोग मिल कर शान्तमनों से सलाह करें, अपने-अपने काम-क्रोध को दबावें, अपने दोष को भी देखें, दूसरे के गुण को भी देखें, एक दूसरे की ज़रूरतों को समझें, और उन को मुनासिब हद तक पूरा करने मे मदद दें, तो ये सब झगड़े आसानी से निपट जायँ। वही पुरानी बात, "आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पंडितः"; पर बनता नहीं; प्रत्येक देश में, काम, क्रोध, लोभ, गर्व, ईर्ष्या की आँधी मे ही शासक समूह और उन का अनुयायी अधिकांश मनुष्य-समुदाय उड़ता रहता है।

ध्वनि से होता है। स्वयं ब्रिटेन के सैनिक, जो युद्धकाल मे, अपने देश मे तथा अन्य देशो मे ऐसी ही कर्तूत करते रहे हैं, उसका भी इन्ही प्रकारो का वर्णन, स्वयं अंग्रेजी ग्रन्थो मे मिलता है; तथा भारतीय और अन्य-देशीय सैनिको का भी युद्धकाल मे सदा से यही हाल रहा है: 'वीर्यमद' का तांडव, हत्या, स्त्रियो पर बलात्कार, लूट, ध्वंसन, सभी प्रकारों से, साथ ही साथ, होता है। योगभाष्य मे, "वितर्क-बाधने प्रतिपक्ष-भावनं" (सूत्र २-३३) पर, वितर्कों का रूप लिखा है—'वैरी को मार डालूंगा, इस कार्य के लिये झूठ भी बोलूंगा, इस का धन दौलत सब लूट लूंगा, इस की स्त्रियों से व्यवाय (मैथुन) करूंगा, इसके माल-मता का मालिक बन जाऊँगा'। शहरो और ग्रामो मे पद पद पर देख सुन पड़ता है कि अभद्र मनुष्य आपस मे क्रोध से लड़ते हैं, तो मार पीट के साथ साथ एक दूसरे को मा बहिन बेटी की और अ-योनि-मैथुन की गाली भी देते जाते हैं, तथा ऐसी स्त्रियां भी जब लड़ती हैं, तब एक दूसरे को अश्लील शब्दो मे तरह तरह के व्यभिचार के और वि-योनि मैथुन के दोष भी लगाती जाती हैं। 'उपस्थीय' काम के विकारो का, उन से उत्पन्न अति विचित्र, अति अप्राकृतिक, अस्वाभाविक क्रियाओ का, घोर अपराधो, पापो, रोगो का, हत्याओ, विट-वृत्तियो, वेश्या-वृत्तियो, पुरुष-पुरुष मैथुनो, स्त्री-स्त्री मैथुनो, मनुष्य पशु मैथुनो का[1], राजाओं,

---

१ ऊपर पृ० २५५ पर चेतावनी दी जा चुकी है, याद रहे कि इन सब धर्म विरुद्ध दुष्कर्मों की, अ-योनि-मैथुन (मुख मे या गुदा स्थान मे), वि-योनि-मैथुन (नर-मादा पशुओ के साथ) सम-उपस्थ-मैथुन (अंग्रेज़ी मे 'होमो-सेक्सुएलिटी', अर्थात् स्त्री-स्त्री के, पुरुष-पुरुष के, मैथुन), आदि की चर्चा काम-शास्त्र मे की है, और स्मृतियों मे इन के लिये, अपराधो के

अनुरूप, छोटे-बड़े प्रायश्चित और दंड भी विहित हैं। जो लोग इसकी ओर थोडा भी ध्यान देंगे, उनको तुरत पता लग जायगा कि ऐसे अनाचार कितने फैले हुए हैं; और बहुतेरे सयानों प्रौढों को मालूम भी है ही, यद्यपि जल्दी इसकी चर्चा सब के सामने नहीं करते; जो स्वयं भले हैं, वे शर्मा-शर्मी से, 'लोक-लाज' से; जो स्वयं दुष्ट हैं, वे तो छिपाकर अपना पाप चलाते रहते हैं, और मन मे भले आदमियों का क्रूर अपहास भी करते हैं, और पकड़े जाने के भय से भीत भी रहते हैं। भारतीय तथा अन्य देशीय सेनाओ के अफ़सर और डाक्टर अच्छी तरह से जानते हैं कि सिपाहियों मे, जो अपने कलत्र पुत्र आदि से, वा सब प्रकार की स्त्रियों से, स्वकीया, परकीया, वा वेश्याओं से, अलग पड़ गये हैं, इस प्रकार के अयोनि वियोनि मैथुन बहुत होते हैं। यही हाल, बड़े-बड़े यंत्रालयों कारखानों कर्मान्तों का है, जहाँ पुरुष ही पुरुष, वा स्त्री ही स्त्री, एकत्र होती हैं। यही हाल, अयोनि मैथुन का, स्कूलों कालिजों का और वहाँ के अध्यापकों का है; इसकी चर्चा, पहिले, पृ० २०८–२१६ पर, कुछ की जा चुकी है। यह सब दोष पूरब के भी पच्छिम के भी सभी देशों मे, घोर घोरतर रूप से सदा रहे हैं, और बढ़ते जाते हैं। मानव-सभ्यता, 'सभा' व्यवस्था, सामाजिक वा सामूहिक जीवन, प्रकट जीवन, ('सिविलिज़ेशन', 'सोशल-स्ट्रक्चर', 'वे आफ कलेक्टिव आर सोशल लाइफ', 'पब्लिक लाइफ़'), का रूप और प्रकार ज्यों ज्यों बदलता है, त्यों-त्यों उसके प्रभाव से, उसके साथ-साथ, वैयक्तिक और कौटुम्बिक जीवन और 'अप्रकट-जीवन' ('प्राइवेट लाइफ') का रूप और प्रकार अवश्य ही बदलता रहता है।

गुरु कुलों की प्रथा, और विद्यार्थी जीवन मे ब्रह्मचर्य की महिमा, और आश्रम-व्यवस्था जिस काल और देश मे व्याप्त थी, उस मे इस प्रकार के अनाचार-दुराचार का संभव कम था। आज काल, बालक-बालिकाओं, युवा-युवतियों, के सह-अध्ययन की चाल, जो बढ़ते वेग मे चल रही है, उस मे अविवाहित मैथुन, गर्भाधान, गर्भपातन, रोग-भोग, आत्म-हनन,

रानियो, मंत्रियो, उच्चाधिकारियो, के व्यभिचारों का; उन के कामीय दोषों के कारण चक्रको पेटको (गुट्ट, 'कोटरी') के बनने का. जिन की चर्चा प्रायः साधारण 'भद्र' इतिहास लिखने वाले, या तो अज्ञान-वश, या अश्लीलता के अपयश के भय से, अपने लिखे इतिहासो मे नहीं करते. पर जिन के कारण, देश देश के इतिहास की गति मे बडे बडे परिवर्त्तन हो गये है, और हो रहे हैं, और

सहोढ (गर्भेण-सह) विवहन, (अन्य से गर्भ रह जाने पर, छिपा कर, दूसरे से विवाह कर करा कर) पति-वञ्चन. आदि, सामाजिक और वैयक्तिक जीवन को आधि-व्याधि-मय नितान्त भ्रष्ट कर रहे है, और सामूहिक घोर चित्त-विकार उत्पन्न कर के तीव्र कलहो महायुद्धो के कारण हो रहे है।

देश-देश मे, शासकों ने, सेनाओं के साथ, कभी वेश्याएँ रखने की, कभी व्याहुता स्त्रियाँ रखने की, तरह-तरह की आजमाइशें की, पर एक दुष्फल कुछ रुका, तो दूसरे दुष्फल, अधिक तीक्ष्ण, उत्पन्न हो गये।

ऊपर, 'अप्राकृतिक', 'अस्वाभाविक', ('ऐब-नार्मल') आदि शब्द लिखे गये हैं। व्यापक 'सार्विक' 'सामूहिक' दृष्टि से तो महा-प्रकृति, पारमात्मिक मूल और दैवी प्रकृति, के बाहर कुछ हो ही नहीं सकता, पर देश-काल से अवच्छिन्न, परिमित, आपेक्षिक, ('रेलेटिव') खण्ड-ग्राहिणी व्यावहारिक दृष्टि मे, 'प्राकृतिक', 'स्वाभाविक' ('नार्मल') का अर्थ इतना ही है, कि उस देश और काल मे, वह जीवन प्रकार, वह रहन-सहन, आचार-विचार, बोल-चाल, दुआ-सलाम, स्त्री-पुरुष के परस्पर व्यवहार की मेंड-मर्यादा, अधिकतर समाज मे प्रचलित और मान्य है।

'उपस्थ' शब्द पुरुष के लिंग, शिश्न, मेढ्र, मेहन, शेफ, का भी वाचक है, तथा स्त्री के लिंग, योनि, भग, मदन मंदिर, का भी, योनि भी दोनो का, पर रूढि यही है, कि 'लिंग पुरुष चिह्न के लिये, 'योनि' स्त्री-लक्षण के लिये कहा जाता है।

जिन का ठीक ठीक हाल जाने विना, इतिहास की गति के पलटे समझ मे नहीं आते, इन सब का गवेषण और वर्णन, इस विषय के पाश्चात्य गवेषकों ने वडे परिश्रम से किया है, और बड़े बड़े वृहत्काय, पांच पांच, सात सात, दस दस, जिल्दो के आकर-ग्रन्थो मे किया है। ऐसा करने के कारण, शुरू मे, ऐसे लेखकों को वहुत कठिनाइयां और दुर्दशाएं भी झेलनी पड़ीं, और कचहरियों से दंड भी सहना पड़ा, पर अंत मे, जनता ने, तव पीछे 'जज्जों' प्राड्विवाकों ने भी, पहिचाना, कि इन को दंड नहीं, आदर देना चाहिये; मनुष्य-जीवन के प्रधान अंग के शास्त्र की नीवी उन्हों ने पुनः डाली है, भारतवर्ष के लुप्तप्राय प्राचीन विशाल कामशास्त्रीय वाङ्मय का (जिस के कुछ ही वृहत्काय ग्रन्थों का नाम वात्स्यायन के उपलभ्यमान अतिस्वल्प 'कामसूत्र' के आरम्भ मे लिया गया है) पुनः नये रूप मे उज्जीवन किया है, ज्ञान विज्ञान वढाया है, अँधेरे मे प्रकाश किया है।

अब इस विषय पर, पश्चिम मे, हज़ारों छोटे और मोटे ग्रन्थ निकल चुके है और निकलते जाते हैं, और प्रायः सभी राष्ट्रों मे, एक एक, दो दो, वा अधिक, प्रतिष्ठित मासिक पत्र भी छपते रहते हैं; जैसे अन्य शास्त्रों के। पर मनुष्य-प्रकृति की द्वंद्वमयता के हेतु, नये ज्ञान विज्ञान का घोर दुरुपयोग भी वढ़ता जाता है। इन पाश्चात्य ग्रन्थों मे, जो अति काम वा विषम काम से प्रेरित पापों का वर्णन मिलता है, उसको पढ कर, हृदय दहल जाता है; यह पृथ्वी नहीं, साक्षात् नरक है, यही जान पड़ने लगता है; ऊपर का कोमल चमड़ा ज़रा सा छीलो, तो नीचे मल ही मल देख पड़ता है; स्त्री और पुरुष, परस्पर, जितना सताते हैं, उस से अधिक यातना यमराज की दंडधानी मे भी नहीं हो सकती है; आपात-रमणीय, देखने मात्र को ऊपर से चिकना, स्निग्ध, भीतर

नितांत मलमय, चित्त भी, शरीर भी, धारण करना नही अच्छा, छोड़ देना ही अच्छा, ऐसे वैराग्य के उत्कट भाव, मृदु-वेदी सुकुमार चित्त के जीव के भीतर उत्पन्न होते हैं। परंतु,

महामाया-प्रभावेण, ससार-स्थिति कारिणा,

महामाया की पूर्वार्धरूप अविद्या देवी के प्रताप से, अथ च परार्धरूप विद्या देवी की आज्ञा से,

अनासक्तः फले नित्य, कृत्य कर्म समाचर,
(परेषा सेवनार्थाय, ऋणोद्धाराय चात्मन), (गी०)

फल की इच्छा आशा मे मन अँटकाये बिना, कर्त्तव्य कर्म करो, दूसरो की सेवा सहायता कर के अपने देव-ऋषि-पितृ-ऋणो को चुकाने के लिये तथा दूसरों पर अपराध और दुष्कर्म कर के इस जन्म और पूर्वजन्म मे काढे-ओढे ऋणो का, दूसरों के लिये दुःख उठा कर, मानो दड भोग कर, निर्यातन निर्मोचन करो तथा वेदांत के इस सिद्धांत को याद कर के, कि सृष्टि मे पुण्य और पाप की मात्राएं, अंततो गत्वा, कांटा-तौल तुल्य है, पुनः कार्य मे लगना पड़ता है। अन्न से खाद, और खाद से अन्न, पैदा होते ही रहते है। संसार-'चक्र' का अर्थ ही यही है।

यु० स्टे० अमेरिका मे इस समय (१९४३ ई० मे) प्राय ७० वर्ष वयस् के वृद्ध, शारीरशास्त्र, प्राणिशास्त्र, सचेतनशास्त्र ('बायालोजी' 'फिज़ियालोजी') के एक अग्रगण्य विज्ञाता, और नये नये आविष्कार करने वाले उपज्ञाता, श्री अलेक्सिस केरेल नाम के विद्वान् विद्यमान है। आपने 'नोबेल' पुरस्कार, तथा अन्य राष्ट्रों से भी [illegible] की उपाधियां पाया हैं। सन् १९३५ मे इन का एक ग्रन्थ, 'मैन—दि अन्नोन' ('पुरुष—अज्ञात') छपा। बहुतेरे पाश्चात्य उत्कृष्ट विद्वानो के सिद्धान्तो का हवाला देती हुई, तीन सौ पृष्ठ की इस पुस्तक की पुकार और चेता-

चनी यही है, कि आधुनिक सभ्यंतम मनुष्य अन्य बहुत विषयों को जानता है, पर 'अपने' को ही ठीक ठीक नहीं जानता, 'आपणं' ('आत्मानं') को आप 'अज्ञात' है, और 'माडर्न सिविलज़ेशन' ('नूतन पाश्चात्य शालीनता सभ्यता'), अधि-आत्म से अति विरक्ति और अधि-भूत मे अति आसक्ति अनुरक्ति के हेतु, सारहीन, निस्सत्व, पोली, विनाशोन्मुख हो कर, अन्धकूप मे गिरने जा रही है; तथा इस आसन्न विपत्ति से बचने का एकमात्र उपाय यही है कि, अधि-भूत की अति रुचि का नियमन, नियंत्रण, मर्यादन (सर्वथा उत्सादन नहीं) किया जाय; और अधि-आत्म की प्रसुप्त उच्छिन्नप्राय रुचि पुनः जगाई जाय। सो उन का, तथा सब देशों के सभी विचारशील, विवेकी, दूरदर्शी, शांतिप्रिय, अध्यात्म और अधिभूत का यथोचित समन्वय चाहने वाले सज्जनो का, यह भय सत्य हो ही गया; और १-९-१९३९ को यूरोप मे, प्रजाविनाशी विश्व-युद्ध शुरू हो ही गया। साढ़े तीन वर्ष हो गये, एक ओर प्रजा की यमयातना, दूसरी ओर युद्ध की तीव्रता और उग्रता, बढ़ती ही जा रही है; कोई लक्षण समाप्ति के नहीं देख पड़ते। अपने भीतरी कलहों से छिन्न-भिन्न जीर्ण-शीर्ण इस अभागे भारतवर्ष मे भी अन्धस्वार्थ, अन्धकलह, परा काष्ठा का दम्भ, दैन्य, छल-कपट, मिथ्यावादिता, दग़ाबाज़ी, परस्पर नितान्त अविश्वास, शंका, भय, चापलूसी, चर्ब-ज़बानी, चाटुकारिता, का राज्य हो रहा है। पर, जैसे वृद्ध शरीर में, अनुभव से पक्व बुद्धि और प्राण की अवशिष्ट सूक्ष्म ज्योति भी, जरा देवी की सखी सहचरी व्याधियों की मंडली के साथ साथ, अन्त तक कुछ न कुछ बनी रहती है, वैसे ही आत्म-विद्या, अध्यात्म-विद्या, योग-विद्या की कुछ थोड़ी सुसूक्ष्म स्वल्प प्रभा आभा अब भी जहां तहां भारत में बच रही है। ऐसे

भारतवर्ष मे, पंद्रह बीस वर्ष से, यह भविष्य वाणी फैल रही है कि, घोर कष्टों के अनन्तर, संवत् २००० की समाप्ति (अप्रैल १९४४ ई०) के बाद, अस्सी वर्ष का एक बहुत छोटा सत्ययुग के ऐसा अवातर युग होगा। अस्तु, अनादि अनन्त काल और आकाश मे जो कुछ हुआ, हो रहा है, होगा, वह सब ही "कामस्य विक्रीडितं", 'अकामस्य, सर्वकामस्य, महाकामस्य, निष्कामस्य, मूलकामाधिपते, सर्वकामातीतस्य, देश-काल-क्रिया-रहितस्य अक्रियस्य, सर्वक्रियस्य, अविद्या-विद्या-मयस्य, सर्व-द्वंद्व-गर्भस्य, सर्व-द्वंद्वा-ऽतीतस्य, लीला-कैवल्य-धारिणः, भगवतो जगदात्मनः परमात्मनः 'कामस्य लीलायितम्'।

महाभारत मे पांडव-कौरवीय प्रजानाशक घोर 'महा-युद्ध' ('ग्रेट वार') के कारणो मे (यमराज को अणीमांडव्य के शाप और पृथ्वी पर विदुर के रूप मे जन्म के) रूपक से भी, और स्पष्ट शब्दो मे भी, दो मुख्य कारण कहे हैं।

> आपूर्यत मही कृत्स्ना प्राणिभिर्बहुभि नृप,
> असुरा जज्ञिरे राज्ञा क्षेत्रेषु, (बहव. तथा),

कुछ वर्षों तक राजा धर्मात्मा हुए, प्रजा को सुख मिला; मैथुनीय काम की और मनुष्य संख्या की अति वृद्धि हुई, परस्पर संघर्ष जीवन संग्राम, घोर कलह, का बीज, अंखुए निकाल कर बाहर आया और बढ़ने लगा। दूसरी ओर, धर्मात्मा राजाओ के घरो मे असुरो दैत्य-राक्षस-जीवो, ने जन्म लिया, अति वीर्य-मद, लोभ, क्रोध, मत्सर आदि के 'गुलाम', और प्रजा के 'राजा', संसार मे दुःख भर गया, महाभारत युद्ध हुआ। मात्स्य-न्याय चला जैसे मछलियो, एक एक बेर मे लाखो अंडे देती हैं, फिर एक दूसरे को खा जाती हैं, वह हाल मनुष्यो का हुआ। वही हाल, आज समग्र मानव-जगत् का हो रहा है।

काहे दुख संसार छयौ रे, काहे दुख संसार छयौ ?
काम क्रोध मद लोभ मोह भय मत्सर कौ जब राज चल्यौ,

तब ही जग मे दुःख छयौ ।

प्रेम प्रीति मुसक्यान विनोद रु हंसिबो स्वप्न भयौ,
हाहाकार, परस्पर नाशन, चहुं दिसि आइ भर्यौ ।

ऊपर कहा कि प्रवर्त्तमान विश्व-युद्ध अधिकाधिक फैलता और जगत्-प्रमाथी होता गया है; यहां तक कि अब जल, स्थल, अनिल मे सर्वत्र व्याप्त हो गया है, कोई महा द्वीप या लघु द्वीप इस से बचा नही है, साक्षात् रक्तपात और मांस-कर्दम से, वा परम्परया, रण की सामग्री एकत्र करने के हेतु किये गये शोषण मोषण से। पुराणो के देवासुर संग्रामो को भी इस ने मात कर दिया, चारो ओर रुधिर की नदियां बह रही हैं, कोटियों मनुष्यों की शक्ति का, युद्ध के उपकरण, स्थल-यान, जल-यान, अन्तर्जल चरयान, वायु-यान, गोला, बारूद, 'बम', 'टंक', सौ सौ फुट तक लम्बी और बारह बारह हजार मन तक भारी तोपों, का, एक ओर बनाने मे; और दूसरी ओर बिगाड़ने, तोड़ने, फोड़ने, समुद्र और नदियों मे डुबाने मे; घोर अपव्यय हो रहा है; बड़ी बड़ी नगरियां, राजधानियां, बम-वर्षा अग्नि-वर्षा से ध्वस्त कर के, उजाड़ी और खंडहल और राख के ढेर बनाई जा रही है; जहां जहां पेट्रोल, तेल बारूद वा 'गेस' के विशाल संचयों (गोदामो, 'गो-डाउन', ख़ज़ाना, गंज) मे आग लग जाती है, वहां वहां हज़ारों गज़ ऊंची आग की लपटें और कोस कोस ऊंचे धूएं के बादल उठते है, और बिजली की तड़क और गरज को अति क्षुद्र बना देने वाले धड़ाके विस्फोट होते हैं; दस दस, पंद्रह पंद्रह, बीस बीस, और तीस तीस करोर रुपयों

की, वा इस से भी अधिक, लागत के[1] मुसाफिरी और जंगी जहाज़, जल के भीतर से 'टार्पीडो' अस्त्र की मार से, और वायुमंडल के भीतर से 'बम' अस्त्र के प्रहार से, आध आध घंटे मे, हजारो मुसाफिरो, सिपाहियो, खलासियो, अपार अन्नादि सामग्रियो समेत डुबा दिये जाते है, लाखो मनुष्य, (न केवल युद्ध के पेशेवाले फौजी, बल्कि दूसरे पेशेवाले आदमी, अपने पेशे छुड़वा कर, मजबूरन् (अगत्या, बेबसी, विवशता से) सेना मे भरती किये जाते है, और दो तीन महीने मे आरम्भिक फौजी 'कवायद' सिखा कर युद्ध मे झोंके जा रहे हैं। ये तो मृत्यु के मुख मे सशस्त्र बन कर जाते ही हैं इन के अलावा, गांवो और शहरो मे बाकी बचे, नि:शस्त्र दूसरे पेशे करते हुए पुरुष, घर गिरस्ती का काम करती हुई स्त्रियाँ, स्कूलो मे पढते खेलते लड़की लड़के भी, इन शहरो और गावो पर की गई बमवर्षा, अग्निवर्षा, गोलीवर्षा, से हताहत हो रहे हैं जान खो रहे हैं, वा आमरण, सारी बाकी उम्र के लिये, अंधे, लंगडे, लूले, बहिरे हस्तहीन, पादहीन, नासिकाहीन, बनाये जा रहे हैं। इस प्रकार से इस घोर कलि के ताडव मे, पचासो कोटि मनुष्यो

---

१ जापानी जल-सेना के एक अफसर, किनोआकी-मात्सुओ ने, जापान मे, अपनी भाषा मे, १९२० ई० मे, एक ग्रन्थ छपाया, उसका अनुवाद, अंग्रेजी मे, "हाउ जापान प्लान्स टु विन्" नाम से, एक जापान-विद्रोही कोरिया-देशी पुरुष किल्सू-हान ने, यु० स्टे० अमेरिका मे १९४२ मे छपा था, उसके पृ० ४२ पर छपा है कि ४५००० (पैंतालीस हजार) टन (बारह लाख मन) के जंगी जहाज का मूल्य सौ मिलियन (दस करोड़) डालर (बीस मिलियन पौंड, या तीस करोड़ रुपया), और पैंतीस हजार टन के युद्ध-पोत का सात करोड़ रुपया होता है।

की प्राणशक्ति का, साक्षात् वा परम्परया, दारुण दुर्व्यय दुष्प्रयोग हो रहा है; परम्परया भी, क्योंकि खेती-बारी पशु-पालन वाणिज्य आदि के व्यापारों मे, मनुष्य जीवन की आवश्यकीय वा निकामीय वस्तुओं के उत्पादक कार्यों मे, जो लगे हैं, उन के उत्पादित द्रव्यों का भी, अन्न-वस्त्र, फल-मेवा, गुड़-चीनी, घी-तेल, लकड़ी-कोयले, धातुओं के वर्त्तनो का, खनिज-पदार्थों का, ऊन चमड़े का, औषध का, सभी का, गवर्मेंटों की आज्ञा-शक्ति से, युद्ध के वड़वानल मे होम-हवन, सभी देशो मे हो रहा है। इस हेतु से साधारण जनता को, एक ओर, आवश्यकीय वस्तुओं का घोर अभाव, नीवाक, प्रयाम, दुष्काल, अकाल, हो रहा है, दूसरी ओर, शासक शक्तियां, गवर्नमेंटें, सोना चांदी ताम्बा आदि धातुओं के सिक्कों को, उनके व्यवसाय व्यापार मे सहायक होने के स्वाभाविक कार्य से हटा कर, बाज़ार से खींच कर, युद्ध-सम्बंधी युद्ध-सहायक कार्यों मे लगा रही हैं; तीसरी ओर, इन सिक्कों के स्थान पर 'करेंसी नोटों' के कागज़ी घोड़े, अपने छापाखानों मे यथेष्ट छाप छाप कर चौतरफ़ा दौड़ा रही हैं; चौथी ओर, सब प्रकार के कर, 'टिक्स', दिन दूने रात चौगुने करती जा रही है। पांचवीं ओर, गवर्नमेंट तो, इस शंका और भय ('सेन्स आफ़ इंसिक्यूरिटी') से कि भविष्य मे युद्धोपयोगी किसी वस्तु की कमी न हो जाय, सब प्रकार के अन्न वस्त्र-खनिज-तेल आदि द्रव्यों के लाखों करोरों मनो के विशाल संचय ('होर्डिंग्') , अपने ही निर्णीत दामो पर खरीद खरीद कर, स्थान स्थान पर, जमा कर रही है, (और आटा वा अन्य खाद्य पदार्थों को, वर्षा आदि मे खराब हो जाने पर, 'मुफ़ मोल' बेच देती है) ; पर, उसी शंका और भय से भीत साधारण प्रजाजनों और दूकानदारों को, अपना निजी ही अन्न आदि का

संचय कर के अपने घरो दूकानो मे रख लेने ('होर्डिङ्') के लिये, तथा रेजगी-पैसे का रोजगार ('मनी-चेंजर्स विज़िनेस') करने वालो को भी, छोटे छोटे संचयो के लिये भी नये नये विधान बनाकर कठिन कठिन कारावास और जुर्माने के दंड दे रही है, और 'राशनिङ्' (प्रत्येक मनुष्य प्रतिदिन के लिये इतने ही नियत निर्धारित हिसाब से, अन्न वस्त्र तेल आदि को एक बेर मे खरीद सके, 'प्रयाम'), तथा 'प्राइस-कंट्रोल' (मूल्य-नियमन) तथा 'ट्रांस्पोर्ट-कंट्रोल' (एक स्थान से दूसरे स्थान को, अपने ही कुटुम्ब के उपयोग के वास्ते भी, वा तिजारती क्रय-विक्रय खरीद-फरोख्त के वासिते भी, लाने ले जाने के नियमन-नियंत्रण वा सर्वथा निषेध) के, नित्य बदलते नियम, प्रजा के चित्त मे तीव्र उद्वेग, परीशानी, और किं-कर्त्तव्य-विमूढ़ता पैदा करने वाले, निकालती रहती है[1]। ऐसी अवस्था मे, प्रजा

---

[1] याद रहे कि इन सब प्रकारो की कार्रवाइया, प्रजा के शोषण पीडन की, और राजाओं, नवाबों, शासको के स्वार्थ-साधन और स्वेच्छा-पूरण की, जब से इतिहास का पता चलता है तब से, पूरब के भी पच्छिम के भी देशों मे सदा होती रही हैं, कभी कम, कभी ज्यादा, पर उन के नाम और रूप बदलते रहे है। प्रजा जनो, शासितो, मे भी, परस्पर शोषण मोषण का, विविध रूपों मे यह सदा होता रहा है, कभी थोडा, कभी बहुत। यदि पिछले जमानों के मुकाबिले (अपेक्षा से) अब कुछ भेद हैं तो शायद (स्यात्) इतना ही कि अब 'कायदे-कानून से जायज', 'ला-फुल-नेस', 'विधि-अनुमत' की ऊपरी दम्भात्मक शिष्टता (तहजीब) अधिक दिखाई जाती है। पहिले तो राजा नवाब बादशाह महाराजा लोग, पूरब मे, और 'राबर् बैरन्स' (लुटेरे 'शासक') आदि पच्छिम मे, खुले अधखुले रूप से दस्यु-पोषक होते थे, पूरब मे अब भी है,'नागा-

के कष्ट का क्या कहना है? देश का साधारण दैनंदिन जीवन नितरां उलट-पलट गया है, अस्तव्यस्त और त्रासमय हो रहा है। सशस्त्रों को एक प्रकार का घोर कष्ट, तो निःशस्त्रों को दूसरे प्रकार का घोरतर कष्ट, पृथ्वीमात्र मे भर रहा है; यह सब, सभी राष्ट्रों के शासकों के भी, और सामान्य प्रजा के भी, काम-क्रोध-लोभ-मोह-(भय)-मद-मत्सर के अति-आस्वादन से जनित महापातकों और कुनीतियों का फल है। जो अति तीव्र सुख की लालच करते हैं, उन को अति तीव्रतर दुःख भोगना पड़ता है।

ओं', 'उदासियों' 'बैरागियों', विविध-वेश-धारियों के झुंड के झुंड, सेना के ऐसे, राजाश्रय पा कर, स्वयं जीवन निर्वाह कर, राजाओं का कोप बढ़ाते थे, और हैं। पश्चिम मे, कोटिपतियों के 'फाडके' 'कार्नरिङ्', 'स्पेकु-लेटिङ्' के रोज़गार का भी मर्म वही है जो 'होर्डिङ्' का। 'ईति' के छ' प्रकार, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, चूहों, टिड्डियों पतंगों चिटियों के झुंड, के साथ, 'प्रत्यासन्न' अति पास रहते या यात्रा करते हुए छठ 'राजा' भी (जैसे 'दौरा' करते हुए 'हाकिम' लोग) गिने गये हैं। भर्तृहरि ने भी "विने नृपालाद् भय", नरों के जो 'पालक' वे ही भय-दायक 'घालक', जो 'रक्षक' वे ही 'भक्षक'! और भी पुराना श्लोक है,

नरपतिहितकर्ता द्वेष्यतां याति लोके;
जनपदहितकर्ता त्यज्यते पार्थिवेन,

जो (प्रजा-द्रोही) राजा के मन की करता है, उस से प्रजा द्वेष करती है; जो प्रजा का भला चाहता है, उस को राजा अपना दुश्मन समझता है। जब काम-क्रोध-लोभ का नियमन, सच्चे धर्म से नहीं किया जाता, तब ऐसे ही उपद्रव उत्पन्न होते हैं; वर्तमान विश्व-युद्ध के कारण ऐसे ही हैं।

> यत् तद् अग्रे अमृत इव, परिणामे विषोपम ,
> यत् तद् अग्रे विष इव, परिणामे-ऽमृतोपम ।
> धर्माऽनपेत कामोऽस्मि सेवेत् काम अनुद्धतः ।
>
> (गीता, म० भा०)

जो आगे ज़हर जान पड़ता है, वह पीछे आबि-हयात होता है, जो पहिले अमृत मालूम होता है, वह पीछे विष हो जाता है।

इस लिये, यदि दु:ख मे कमी चाहो, तो कम सुख मे संतोष करो, जितना काम-सुख, धर्म के, कानून के, अनुकूल हो, उतना ही भोगो, बहुत उद्धत हो कर, मद-माते (मद-मत्त, बद-मस्त) हो कर, अति हर्षित होकर, दुराचार व्यभिचार बलात्कार द्वारा 'कंदर्प' के दर्प की गुलामी मत करो।

कोटियो नही, अरबो नही, अब खरबो रुपयो से सम्मित, कोटियों कोटि मनुष्यो की प्राणशक्ति और जीतोड़ परिश्रम का जो दारुण अपव्यय, सामरिक और वैनाशिक कार्यों मे हो रहा है, उसके कारण, ब्रिटेन और यू स्टे अमेरिका ऐसे महा धनाढ्य, रावण और कुबेर की भी समृद्धि को तिरस्कार करने वाले देशो की भी साधारण जनता को, तथा लखपतियो, करोर-पतियो, बड़े भूमिपतियो (जमींदारो) को भी, दिन दिन बढ़ती तंगी, खाने पहिरने के 'नीवाक' 'प्रयाम' से उठानी पड़ रही है[1], पच्छिम के अखबारो में छपी सूचनाओं से ऐसा अनुमान होता है, नितात पादाक्रान्त, पराधीन, परमुखावलोकी, परस्पर कलहाय-मान आभ्यंतर भेदो से छिन्न-भिन्न अभागे भारतवासियो की,

---

[1] 'न अस्ति, न अस्ति, हन्त वा, देय वा, अन्नादि, इति वाक्य यदा सर्वत्र श्रूयते, तदा 'नीवाक' ('स्केर्सिटी', 'फेमिन'), 'अन्नादि-वितरणस्य सकोचन, प्रकृष्ट यमन 'प्रयाम' ('रैशन')।

वेग से प्रतिदिन वर्धमान सभी आवश्यकीय द्रव्यों की नितांत तंगी की कहानी क्या कही जाय? सब युध्यमान राष्ट्रों के शासकों को 'विजय' (विक्टरी) ही चाहिये, शांति और प्रजा का सुख, किसी को भी नहीं! अहो माया-विडम्बना!

पश्चिम के ही विद्वानो ने गणना की है, कि यदि इस सब अपवीत दुर्वीत पौरुष शक्ति और महा परिश्रम की, (जिस में, फ़ौजी सामग्री बनाने वाले कारख़ानों के काम मे विवश जोती हुई पचासों लाख स्त्रियों का प्राण-परिश्रम भी शामिल है, तुलना, रुपयों मे की जाय, तो सब युध्यमान राष्ट्रों का ख़र्च जोड़ कर, प्रत्येक दिन का अपव्यय, सौ करोर रुपयों के बराबर होता है[१]। पृथ्वी-तल पर, इस समय, प्रायः साठ (६०) पृथक्-पृथक्, 'स्वतन्त्र' कहलाने वाले, तथा स्वतंत्रों के अधीन, राष्ट्र हैं। उन मे से इकतीस (३१) एक पक्ष मे हैं, और चार (४) दूसरे पक्ष मे हैं; प्रथम पक्ष मे इस समय (१९४३ के आरंभ में) प्रधान राष्ट्र चार (४) है, ब्रिटेन, युनाइटेड स्टेट्स् आफ़ अमेरिका, रूस, चीन; बचे सत्ताईस (२७), इन चार के सहायक, वा उपनिवेश, वा अधीन (जैसे भारत) हैं, वा शत्रु-विजित (जैसे फ्रांस, हालंड, बेल्जियम, नारवे, ग्रीस आदि महा-राष्ट्र वा मध्यम श्रेणी के राष्ट्र) हो गये हैं। इन के प्रति-पक्ष में प्रधान राष्ट्र तीन (३) हैं, जर्मनी, इटली, जापान; तथा इन के सहायक छोटे राष्ट्र कई हैं। यह सब प्राण और

१ यह लिखते-लिखते, यू. स्टे. अमेरिका की राजधानी वाशिंगटन नगर में, ता० २० मार्च १९४३ ई० को सर्कारी ख़बर छापी गई है, कि अकेले यू. स्टे अमेरिका का प्रतिदिन का ख़र्च, युद्ध की सामग्री की तैयारी पर (? व युद्ध पर) क़रीब २८ करोर डालर, अर्थात्, प्रायः ८४ (चौरासी) करोर रुपये के तुल्य, हो रहा है।

शक्ति रूपी धन, यदि सत्-प्रज्ञान, सद्-विज्ञान, सद्-धर्म, सद्-बुद्धि, सद्भाव, सदाचार के अनुसार, मानव जीवन के उपयोगी पदार्थों के बनाने मे, मनुष्य के उचित और धर्म्य सुख की साधने वाली, आवश्यकीय, निकामीय, विलासीय वस्तुओ के उत्पादन मे लगाया जाय, तो समस्त पृथ्वीतल हरा भरा रमणीयतम उद्यान, बाग, हो जाय, सुन्दर घरो से भर जाय; चारो ओर प्रसन्न-मुख, प्रियवादी, हंसते, खेलते, परस्पर प्रीतिमय सौजन्यमय स्त्री पुरुष बालक देख पड़ें: किम्बहुना, पृथ्वी पर स्वर्ग उतर आवै।

यह सब वर्त्तमान इतिहास, 'कामाऽध्यात्म' के सम्बन्ध मे क्यो कहा? इस हेतु से कि (जैसे पृ० १९३, २२१, प्रभृति पर सूचित किया है) परमात्मा के अंतर्गत मूल-प्रकृति दैवी-प्रकृति रूपिणी अविद्या-अस्मिता का रूपान्तर नामान्तर परिणाम जो काम-संकल्प है, उसी का कार्य समग्र विश्व है। इसी काम के धर्म्य और सात्त्विक रूप से चारो ओर सुख, प्रीति सहायता उपकारिता फैलती है.

धर्माऽविरुद्ध कामोऽस्मि भूताना, (प्रीतिवर्धन)। (गी०)

इसी के अधर्म्य और राजस-तामस-भावो से, कामान्धता, क्रोधान्धता, लोभान्धता, मोहान्धता, (भयान्धता, मिथ्या-स्नेहान्धता, किंकर्तव्य-विमूढता) मदान्धता, मत्सरान्धता, वा इन्ही मुख्य प्रकारों के तथा अवान्तर बहुतेरे प्रकारो विकारो के उन्माद, चारो ओर बढते हैं, और कलि का साम्राज्य पृथिवी मात्र को ग्रस लेता है, जैसा आज काल प्रत्यक्ष देख पड़ रहा है।

पृ० २२१ पर गीता का जो श्लोक उठाया है, उस मे 'जायते' के तीन प्रयोग, तीन भिन्न उपसर्गो के साथ, किये हैं, किसी विषय का ध्यान संकल्पन स्मरण करने से उस मे संग 'उप-जायते' उपजता है: संग से काम 'सं-जायते' समन्तात्, उस विषय के

'चारो ओर', मन के 'आगे' रक्खे हुए सम्-अग्र विषय से, 'सं'-जाता है; काम से क्रोध 'अभि-जायते' जाता है, काम के 'अभितः' आसपास, जो कुछ या कोई उसका बाधक जान पड़ता है, उस पर, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, आदि उत्पन्न हो जाते हैं। सारा संसार योग के दो सूत्रों की व्याख्या है—"अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष अभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः, अविद्या क्षेत्रं उत्तरेषां" (२, ३४)। पारमात्मिक काम-संकल्प के ही एक अर्ध भाग का दूसरा नाम, 'अविद्या' है, दूसरे अर्ध का नाम 'विद्या' है; 'महा-माया' मे दोनो अन्तर्गत हैं; मानव काम का पर्याय, राग है; और क्रोध का, द्वेष है; अन्य सभी सैकड़ों भाव, विभाव, अनुभाव, स्थायी भाव, व्यभिचारी भाव, इन्ही दो मूल भावों के अवान्तर भेद और शाखा, प्रशाखा, पल्लव, वृन्त, पुष्प, फल रूप कार्य हैं, अविद्या मूल, और 'अस्मिता' स्कंध, है। इन का वर्णन, पूर्वगत 'रस-मीमांसा' नामक अध्याय मे कुछ किया गया है। समस्त मानव इतिहास, (विद्या-मिश्रित) अविद्या-अस्मिता में उपजे हुए, इन्हीं दो राग-द्वेष के स्वार्थी-परार्थी अनन्त प्रकार, आकार, विकार, संस्कारों की कथा है, नाटक, रूपक, लीला, है।

इन हेतुओं से काम के आध्यात्मिक तत्त्व का जानना, मानव जीवन के कल्याण-साधन के लिये, आवश्यक है। यदि बाल्य और यौवन मे इन सब का ठीक-ठीक समझना कठिन, किंवा असंभव, है, तो वयस्थों[1], प्रौढ़ों, और वृद्धों को तो अवश्य जानना चाहिये, कि वे अपनी सन्तान को, अगली पुश्त को, समय समय पर, उचित शिक्षा देते रहें, और विविध प्रकारों के अधःपात से बचावें।

[1]—'वयस्थ' शब्द का संस्कृत मे वही अर्थ है जो अंग्रेजी में 'मेजर', 'अटेनट टु दि एज आफ़ मैजोरिटी' का; वयःप्राप्त', व्यवहार-क्षम', 'व्यवहारं प्राप्तः', आदि का भी अर्थ यही होता है।

"गई सो गई, अब राखु रही को"

एवं, जो युवा युवती स्वयं भूत-भवद्-भविष्य, पीछे-सामने-आगे, बीते-होते-आते, गुज़श्तः-मौजूदः-आइन्दः, पुरात्व-तदात्व-आयति, को कुछ समझने सोचने विचारने की उमर को पहुँच चुके हैं, उन को चाहिये कि निःसंकोच हो कर, अपने हितैषी विद्वान् विशेषज्ञ अनुभवियों से साक्षात् पूछ कर, वा ऐसों के लिखे उत्तम ग्रंथों को पढ़ कर, उपकारी ज्ञान पाकर, अपनी और अपनी भावी संतति की रक्षा करें, दुराचार से बचें बचावें, और धर्म्य और समान-शील विवाह कर के, पवित्र गार्हस्थ्य जीवन बितावें ('वि-इत', 'बीत' 'व्यय' करें)। यदि, दुर्भाग्य से, भूल हो ही जाय, तो उन्हीं वृद्ध विद्वान् अनुभवियों तथा अच्छे सच्चे वैज्ञानिक चिकित्सिकों के बताए हुए, भूल के दुष्फलों के प्रतीकार के, उपायों को काम में लावें पुनः वैसी भूल में न पड़ने का, पातक प्रलोभनों से सदा लड़ते रहने का, दृढ निश्चय करें, चित्त को बुराई से भलाई की ओर, अधः से ऊर्ध्व की ओर, पलटें, स्वभाव को बदलें, दुष्ट से शिष्ट बनें, 'सवेरे का भटका शाम को घर लौटा, तो भूला नहीं कहाया।'

अपि चेत् सुदुराचारः भजते मां अनन्यभाक्,
साधुर् एव स मन्तव्यः, सम्यग् व्यवसितो हि सः, (गी०)।

बहुत पतित दुराचारी भी यदि सच्चा पश्चात्ताप, पछतावा, करे ('अहं-पद-वाच्य परमात्मा पुरुषोत्तम का) 'अन्-अन्य' होकर ('अन्य' सब को निषेध कर, मन से छोड़ कर) भजे, ('मैं', परमात्मा से 'अन्य' भिन्न, कोई उपासनीय इष्ट नहीं, अथ च कोई 'अन्य' भिन्न पदार्थ ही नहीं, जो कुछ है वह परमात्मा ही है, 'मैं' ही हूँ, ऐसी भावना सदा हृदय में धरे),

तो उसको 'साधु' ही, भला सत्पुरुष ही, जानना मानना चाहिये; क्यों कि अब उसने सम्यक्, समीचीन, अच्छा, पुण्यात्मक, सदाचार रहने का, व्यवसाय, दृढ़ निश्चय, कर लिया है; सब जीवों मे 'अपने' को, 'आत्मा' को, देख कर, पहिचान कर, सब के साथ उचित ही 'आत्मवद्' व्यवहार करने का निश्चय कर लिया है।

यदि कभी कदाचित् स्वस्थ तन्दुरुस्त पुष्ट शरीर वाले प्राणवान् बलवान् मनुष्य को, किसी ऐसी भूल से, गुप्त रोग लग जाय, और अच्छे सच्चे वैद्य हकीम डाक्टर से सच्चा हाल कह कर औषध ले, तो निस्सन्देह जल्द ही अच्छा हो सकता है। मेरे पास कभी कभी ऐसे युवा, परामर्श के लिये, आते रहे हैं; कुछ तो केवल परहेज़ की, वर्जनीय वस्तुओं और क्रियाओं के वर्जन की, और शुद्ध आहार की, सलाह पर चलने से ही रफ़ा दफ़ा अच्छे हो गये। कुछ, मेरे जाने हुए अच्छे वैद्यों डाक्टरों के नाम मुझ से जान कर, उन के पास जा कर, दवा ले कर, अच्छे हो गये; थोड़े से ऐसे भी हुए जिन्हों ने परामर्श मे, शर्मा-शर्मी से, बहुत देर कर दी, मर्ज़ को बढ़ा लिया, दुःख भोगते ही रहे, अल्पायु हुए, और यहां ही प्रकृति देवी का ऋण चुका कर परलोक को चले गये। आयुर्वेदिक औषध प्रायः विशेष उपयोगी होते हैं, और प्रायः बहुत महर्घ, महंगे, भी नहीं होते।

"कपटी लोकन तें बचिये"

'सच्चे वैद्य डाक्टर हकीम' इस लिये कहा कि, एक ओर बुभुक्षा देवी, दूसरी ओर उनकी बहिन गर्धा-तृष्णा-लालच देवी, के फेर मे पड़ कर, शरणार्थियों को भी, कुटिल मार्गों

से धोखा दे कर, धन कमाने के लोभ से, कुछ चिकित्सक, सभी देशों मे, भुलावा देते हैं, और रोग बढ़ा तक देते है, कि यह दीन होकर सदा हमारे अधीन बना रहे, दवा करता रहे, धन देता रहे। ऐसे कपटी चिकित्सको की गुटबंदियो और चालबाज़ियो की पोल, समय समय पर, यु. स्टे अमेरिका के पत्र (जैसे 'रीडर्स डाइजेस्ट') खोलते रहते है, पर जनता पुनः पुनः उस चेतावनी को भूलती और उनके फेर मे पड़ती रहती है। इस लिये, यदि रोग से बचना है तो, भुलाने और भुलाने वाले लोभी कपटी वैद्यो हकीमो डाक्टरों का रूप धरे ठगो से, जो रोगी को अपनी स्थायी दूकान या जमीदारी ही बना लेना चाहते हैं, रोगी को पहिले बचना चाहिये। मेरी जानकारी मे ऐसे कई 'अमीर', 'नवाब', 'राजा', 'लखपति' युवा और मध्यवयस्क पुरुष भी रहे है, जिनके यहां नित्य कोई न कोई चिकित्सक बैठे ही रहते थे, और उनकी नाड़ी देखते और थर्मामीटर लगाये ही रहते थे, या पश्चिम के नये तरीकों से उनके शरीर के निस्स्यन्दो की, कफ, मूत्र, विष्टा, रुधिर आदि की, परीक्षा करते कराते ही रहते थे। दूसरों को भय और आशा, चुटकी और बढावा, साथ ही साथ दे दिला कर अपना स्वार्थ साधने वालो के उदाहरण केवल उन्ही लोगो मे नहीं जो चिकित्सा से जीविका करते है, अपि-तु सभी तरह के रोज-गारियो मे देख पड़ते हैं, ज्योतिषियो मे, तन्त्र मंत्र झाड फूंक वालो मे, धर्मशास्त्रियो वकीलो, दूकानदारो, राजमंत्रियो, शासनाऽधिकारियो, बंक वालो, कम्पनियो, विज्ञापन (ऐड्-वर्टिज़्मेंट) छपाने वालो, सभो मे ही मिलते है , स्वयं पर-मात्मा की प्रकृति के नियम मे द्वन्द्व-मयी 'रुबुअर-पारीसी' द्वेध-नीति, सुख दुःख दोनो के मिश्रण की, काम कर रही है ;

साधारण मनुष्य के लिये यह विवेक करना, कि कौन रोज़गारी अधिक कपटी है और कौन उचित मात्रा मे ही स्वार्थी है, बहुत कठिन होता है; पर यथाशक्ति यथासंभव ऐसा विवेक करने का प्रयत्न करते रहना, अपने उचित स्वार्थ की पूर्त्ति के लिये, आवश्यक है।

रोग-शेष से सावधान रहो

यह कहना कठिन है, किसी भी उग्र रोग के विषय मे, विशेष कर उपस्थीय दुश्चरित्र से जात रोग के, कि ज़ाहिरा बिल्कुल अच्छा हो जाने पर भी, शरीर मे कोई भी विकार का 'शेष' नहीं रह जाता, और बाद की संतति पर कोई असर नहीं डालता। मसल मशहूर है कि जवानी की चोट बुढ़ापे मे ठंढी हवा लगने पर फिर दर्द करने लगती है। पहिले कह आये है, और सब को प्रत्यक्ष ही है, कि संतान का, नये जीव नये प्राण का, 'स्मर' ('स्मरण' से, संकल्प-ध्यान-संग से, जाग जाता, सं-जायमान) काम ही मूल है; इस लिये, इस के गुण का भी, दोष का भी, प्रभाव बहुत दूरगामी और चिरस्थायी होता है; पुराणों और आयुर्वेद और धर्म के ग्रन्थों के कर्म-विपाक-संबन्धी अंशों मे विदित होता है, कि इन रोग-शेषों के कारण, पुश्त दर पुश्त, परम्परा-परम्परा-शृङ्खला मे, चर्म, नख, दन्त, आदि के विविध रोग देख पड़ते हैं; 'बाइबल' मे भी कहा है कि 'पिता पितामहों के पापों का दंड, पुत्र पौत्रों पर पड़ता है'; उसका आशय, इन्हीं मे ऐसी रोग की परम्पराओं से, प्रत्यक्ष प्रकट हो जाता है। इस हेतु, जैसा रोग वैसा ही उसका प्रतिरोधी भेषज होना उचित है; 'दुःस्मरण', दूषित ध्यान, अधःपातक राजस तामस भावों की भावना, की चिकित्सा, 'सु-स्मरण', पूत पवित्र और पावन

सात्त्विक ऊर्ध्वनायक भावो का धारणा-ध्यान-समाधान, मानस प्रायश्-चित्त, चित्त की तपस्या; इस चिकित्सा और सत्संग से साधित मानस-शुद्धि, मानस-स्वस्थता, लोक-हितैषिता, मन स्थैर्य, और तदनुकूल आहार-विहारादि शारीर चर्या, दूषित अस्वस्थ देह को भी बहुत कुछ सुधार सकती है, और सुधारती ही है। पहिले कह आये (पृ० २०२,२१४) कि बड़े बड़े ऋषियो से, देवी देवों से, भूल हो जाती है, पर उसको पहिचान कर, पश्चात्ताप-प्रख्यापन-प्रायश्चित्त से, और पहिले से भी कठिनतर तपस्या करने से, उस भूल का मार्जन कर डालते हैं, और इससे उनका महत्त्व और गौरव बढ़ता ही है, घटता नही। यह भी विचारने की बात है कि, भूल कर के सुधरना, सच्चा सुधरना है, सयाना (सज्ञान) होना है, कभी भूल न करना, यह तो बच्चो का अयाना-पन (अज्ञानता, अनजान-पन) है। महाभारत मे अणीमांडव्य ऋषि और यमराज की कथा के रूपक से यह कहा है, कि पाँच वर्ष तक के बच्चे का कोई कर्म न पुण्य ही है न पाप ही, और ऐसे कर्म के लिये दंड देने को, यमराज को भी, मना किया गया है। 'खाय तो पछताय, न खाय तो पछताय'—तो खाय के पछताय, ज्ञानी ज्ञानवान् हो जाय, और दिन दिन कम कम खाय, अन्त मे सर्वथा निरीह निःस्वार्थ हो कर, शरीर को भी और ससार को भी छोड़ कर, परम धाम को चला जाय : "स शांति आप्नोति, न काम-कामी," "ध्यानात् शांतिर् अनन्तर'. (गी०)।

बुद्धि-पूर्वक बुराई मे पैर मत रक्खो

भूलने वाले के मन मे, दुष्फल के कडुए अनुभव के कारण, पश्चात्ताप के साथ नम्रता और विनय उत्पन्न होते हैं, तथा अन्य

भूलने भटकने वालों के लिये अनु-कम्पा, सहाय-बुद्धि, सद् उप-देश-शक्ति, संचित होती है ; एवं भूल भी सच्चरित्र और ज्ञान का साधन हो जाती है ; यदि प्रकृत्या चित्त कुछ कोमल हो। यदि कठोर हो, तो फिर फिर ठोकर खाकर, "अनेक-जन्म-संसिद्धः ततो याति परां गतिं", अन्त मे चेतैगा। अविद्या मे से डूबते उतराते, गोते खाते खाते, एक दिन निकल कर ही तो विद्या की दृढ़ भूमि पर पैर धरेगा। "सैकड़ो टांकी खाकर, ढोंके से महा-देव बनते हैं"। इस लिये, एक बार वा अनेक बार भी भूल कर के, किसी को भी, कभी भी, सर्वथा हताश नहीं होना चाहिये ; भूल के बाद, पुनः पुनः दृढ़ निश्चय बांधना चाहिये कि फिर ऐसा न होने पावे। याद रहै कि इन वाक्यों का उद्देश्य, उन्हीं लोगों को सान्त्वन, ढाढस, देने का है, कि जो अविद्या की विक्षेप-शक्ति से प्रेरित होकर अबुद्धि-पूर्वक कुराह मे पड़ गये हैं ; इनका आशय यह कदापि नहीं है, कि बुद्धि-पूर्वक भी, कोई, इस 'आगे अमृत पीछे विष' का आस्वादन करे।

निश्चिन्त बेफिक्र मत हो जाओ

दृढ़ निश्चय कर के भी सर्वथा निश्चिन्त नहीं होना ; प्रलोभनो से सजग और डरते ही रहना ; "विरक्तम्मन्यानां भवति विनिपातः प्रतिपदं"; इस अभिमान के फेर मे जो पड़ जाते हैं कि हम तो पक्के अटल विरक्त हो गये, वे पद पद पर चूकते, लड़खड़ाते, गढ़ों मे गिरते रहते हैं। पहिले (पृ० २८७,२९४) कहा, कि ऋषियों, मुनियों, देवी देवों, प्रजापति ब्रह्मा तक, पर काम ने हमला किया, और सत्पथ से उनको हिला डुला चला कर कुमार्ग पर फेंक ही दिया। पुराणो के एक अन्य रूपक मे कहा है कि शिव पर भी काम ने चढ़ाई किया ; और शिव

भी केवल अपनी शान्तता शिवता से ही उसको परास्त न कर सके ; तब उन्हो ने काम के सगे छोटे भाई क्रोध को ("कामात् क्रोधो अभि-जायते") अपनी तरफ फोड़ लिया, और उससे सहायता ले कर, दुनियावी भावो की ओर से तीव्र क्रोधात्मक वैराग्य की अग्नि से प्रज्वलित तृतीय चक्षु, प्रज्ञान चक्षु, को खोल कर, उसकी ज्वाला से काम को जलाया ; "वितर्क-बाधने प्रतिपक्ष-भावनं" (योग-सूत्र), परन्तु इस पर भी काम निःशेष नही मरा, बीज रूप बना ही रहा, अनङ्ग हो गया ; शिव को उमा-पार्वती (उ-मा, मा-या, संसार-निषेधिनी विद्या, और पार्वती, पर्व-मयी, शरीर की नीवी, मेरु-दंडिका, नाडी-त्रय-मयी त्रिगुण-मयी अविद्या) के साथ धर्म्य विवाह मे बांध ही दिया।

जब निवृत्ति-मार्गियो का यह हाल है, तब प्रवृत्ति मार्गी मनुष्य यदि सचेत, हर वक्त होशदार होशियार, न रहै, तो साधु-वेश-धारी बारीक प्रलोभनो के फंदे मे फंस जाता है, हल्की सीढ़ी से, ('इतना जरा सा चख लेने मे बदहज़मी अजीर्ण का क्या डर हो सकता है'), नीचे नीचे अधिका-धिक गहरी खड़ी श्रेढियो (श्रेढी, श्रेणी, निःश्रेणी, नसेनी, स्तर, अंग्रेजी 'सीरीज', 'स्टेयर्स', फारसी 'सतर', सतह) पर खिस-कता उतरता ही जाता है, और, अन्त मे, भीषणतम नरक मे मुह के बल गिरता है। साधारणतः, प्रवृत्ति-मार्गी की अन्तः-करणिक मानसिक प्राकृतिक प्रवृत्ति यही होती है, कि "लाभात् लोभ प्रवर्धते".

न जातु काम कामाना उपभोगेन शाम्यति,
हविषा कृष्णवर्त्मा एव भूय एव अभिवर्धते, (मनु)।

लाभ से लोभ और बढ़ता है; घी से आग ज्यादः तेज़ बलती है; उपभोग से काम अधिक ज़ोर पकड़ता है; जितना मिले उतना ही थोड़ा[1]।

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं, हिरण्यं, पशवः, स्त्रियः,
तत् सर्वं न-अलं एकस्य; इति मत्वा शमं व्रजेत्, (म० भा०)।

पृथिवी भर मे जो कुछ अन्न-धन, गो-धन, सोना, चाँदी, हीरा, मोती, और सुन्दर स्त्रियाँ हैं; वह सब ही यदि एक मनुष्य को मिल जायँ तो भी उसको संतोष नहीं हो सकता है; इसको खूब अच्छी तरह मन मे बैठा कर समुझदार आदमी को चाहिये कि शांत हो जाय, अत्यंत लोभ लालच तृष्णा, हिर्स तमन्ना, 'ग्रीड', गर्धा, को छोड़ दे। हाँ, 'अति' करने से, अति भोजन आदि से, पाचन आदि की शक्तियाँ थक जाती हैं, अरुचि ग्लानि हो जाती है, कुछ काल के लिये वैराग्य भी होने लगता है; परंतु यदि पूर्वाऽपरदर्शिनी विवेकिनी बुद्धि, पंडा, नहीं जागी है, और उस वैराग्य का पालन पोषण उपोद्वलन नहीं करती है, तो पुनः पुनः हिर्स ही ज़ोर पकड़ेगी; इसी लिये तो पाचकों और पौष्टिकों के इतने अधिक विज्ञापन और इतनी अधिक बिक्री, ठग लोग कर ही लेते हैं।

निश्चिन्त न रहने के लिए, मनु की यहाँ तक आज्ञा है कि,

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा, न विविक्ताऽसनो भवेत्;
बलीयान् इन्द्रिय-ग्रामः, विद्वांसं अपि कर्षति; (मनु०)।

माता, बहिन, बेटी के साथ, पुत्र, भाई, पिता भी, अकेले न बैठें; इन्द्रियों का समूह बड़ा बलवान् है; विद्वान्, गुण-दोष

[1] अंग्रेज़ी में कहावतें हैं, "दि मोर वी हैव, दि मोर वी वांट," "दि ऐपिटाइट्स ग्रो बाइ व्हाट दे फीड अपान", इत्यादि।

को पहिचानने वाले जानकार, की भी आँखों पर पर्दा डाल देता है, और उसको धक्का दे कर, खींच कर, घसीट कर उत्पथ चला देता है, पापिष्ठ कुचाल मे डाल देता है। साधारण लोग, मनु जी के इस आदेश पर अचरज (आश्चर्य) करते है, पर जिन्हो ने भारत के इतिहास-पुराणो को, और पश्चिमीय राष्ट्रों और जातियो के इतिहासो को, ध्यान से पढ़ा है; तथा पूर्व पश्चिम की अदालतो मे पेश हुए, दंड-विधान की धाराओ ('सेक्शन्स') के, मुकद्दमो का पता रखते हैं, जिन धाराओ मे इस प्रकार के ('इन्सेस्ट' के) अपराधो की सजा बताई है; तथा अपने आंख कान बद न कर के, अपने चारो ओर साधारण गृहो मे, छोटे तथा यौवनोन्मुख लड़के लड़कियो मे, नासमझी और अज्ञान से, कैसे शोचनीय घोर अनाचार हो जाते हैं—उनका हाल जानते और विचारते हैं, वे मनुष्य, मनु जी की इस दूरदर्शी सूक्ष्मदर्शी उपदेश का महत्त्व गुरुत्व समझेंगे। हजारो विधवा स्त्रियां, वा अनब्याही युवतियां, प्रायः 'ऊँच जातो' की, अपने घर वालो के ही दुष्कर्म से गर्भवती हो कर, उन्ही हृदयहीन, क्रूर, नृशंस पुरुष-वृकों पुरुष-व्याघ्रो के पंजो से, क्षतविक्षत हो कर, घर के बाहर निकाल दी जाती है, और, या तो कूए नदी मे कूदकर डूब मरती है, जहर खा लेती है, फांसी लगा लेती है, या रोती सिसकती हुई, 'रंगरूट' ('रेक्रूट') कुली भरती करने वालो के हाथ अपने को बेच कर 'मिरिच' ('मारिशस') या 'फीजी' टापू आदि को चली जाती है।

राङ्कपात मत करो

इन हेतुओ से यह आवश्यक है कि जो लोक अपनी सन्तति और अपने समाज का शरीर और बौद्ध उत्कर्ष चाहते है, वे

सदा साऽवधान और 'धर्म-भीरु', अधर्म से डरते, रहें, समय समय पर, यथोचित, अपने को, अपने कुटुम्बियों को, और सह-वासियों को, चेतावनी देते रहें; विशेष कर यह उपदेश कि, किसी से भूल हो जाय, तो उसके मार्जन शोधन का उचित उपाय करें; हल्की भूल का हल्का मार्जन 'प्रायश्चित्त' (चित्त शोधने वाले व्रत, उपवास, जप आदि) से, भारी रोगजनक भूलों का अच्छे वैद्य डाक्टरों की शरण ले कर; और पुनः वैसी भूल से बहुत परहेज़ करें; और इस घोरतर भूल मे न पड़ें कि ऐसी गलतियों का सरलता से शोधन हो सकता है। अक्सर देखा जाता है कि चोर सज़ा से बच गया तो फिर चोरी करता है। मंदाग्नि (ज़ोफ़-मेदा) का मरीज़, 'पाचक' खा कर, कुछ अन्न पचा कर, परहेज़ नही सीखता, बल्कि थोड़ी भी भूख जागने पर, 'रोचक' दवा खा कर, फिर बद-परहेज़ी करता है; अति-अशन, अधि-अशन, विषम-अशन करता है; (अति-अशन, उचित मात्रा से अति अधिक खाना ; अधि-अशन, पहिले का खाया पचा नहीं, और भूख नहीं लगी, तो भी जिह्वालौल्य से पुनः खा लेना; विषम-अशन, जो पदार्थ 'सम' नहीं हैं, वि-षम हैं, बे-मेल हैं, जिनका एक साथ खाना आयुर्वेद मे मना है, उनको एक साथ खा लेना); और अधिक बीमार पड़ता है। व्यभिचारी, ज़िनाकार, वेश्यागामी, विषमाचारी मनुष्य, मरज़ की बला मे मुब्तला हो कर इलाज करता है, अच्छा हो जाता है; फिर पौष्टिक, वाजीकरण ('एफ्रोडिसियाक्'), औषध खाता है, 'मेषवृषण' बनता है; फिर वैसे ही दुष्कृत करता है; खुद ज्यादा बीमार पड़ता है, और चारों तरफ़ 'बबा' (संचारी संक्रामक रोग, 'महामारी', जैसे हैज़ा, प्लेग, इन्फ्लुएंज़ा, 'शीतला' या मसूरिका, विसूचिका, आदि, ऐसे

उपस्थीय आतशक, सूज़ाक, कुष्ठ आदि) फैला कर मर जाता है[1]।

वैज्ञानिकों की अंतर्मुखता की दूसरी धारा

ऐसे हेतुओं से पश्चिम देश के उच्च कोटि के वैज्ञानिकों की चित्त-नदी, जो अधि-भूत से उलट कर, (सर्वथा नहीं, प्रत्युत उसकी अत्यन्तता, एक्स्ट्रीमिज्म', से ही), अधि-आत्म की तरफ घूमी है, उस घुमाव की एक धारा की सूचना, प्रसंग-

---

१ पृ० २२७–२३०, २५५–२५६, और २५६ के फुट-नोट में इसके घोर उदाहरण दिये हैं। पृ० २३४ पर 'मेष-वृषण' शब्द के अर्थ की सूचना की गई है, उसी रूपक के दूसरे अर्थ की सूचना पृ० २०३–४ पर की है, 'तन्त्र-वार्त्तिक' नाम के प्रसिद्ध मीमांसा-शास्त्र के ग्रन्थ के रचयिता कुमारिल भट्ट ने एक और अर्थ लगाया है, कि इन्द्र के हजार व्रण जो हजार आँखें हो गईं, वे इन्द्र अर्थात् राजा की सभा के हजार अर्थात् बहु-संख्यक सभासदों की सूचक हैं। पृ० २३४ पर, जिस 'सर्जिकल-आपरेशन', शल्य-शालाक्य-कर्म, की चर्चा की है, अर्थात् जीवद् तथा वानर-वानरी के (मेष मेषी, बर्बर बर्बरी, उक्षा-गौ आदि के भी) वीर्यकोष-रजकोष ('टेस्टिकल'-'ओवरी') के टुकड़े काटकर, मानव पुरुष स्त्री की जाँघ, या उसके पास, उदर के निचले भाग पेड़ू में, ऊपरी चर्म काटकर, उसके भीतर सी देना—इस चिकित्सा का आविष्कार, और प्रचार, यूरोप में, वर्तमान २० वीं शती ई० के आरम्भ में, वोरोनाफ नामक जर्मन वैज्ञानिक चिकित्सक ने किया, किन्तु, जैसा पहिले लिख चुके इस प्रकार की चिकित्सा की महिमा अब लुप्तप्राय हो रही है। ऐसे ही, अन्य बहुतेरे नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों में, पहिले गुण ही गुण सूझते हैं, पीछे भारी दोष देख पड़ते हैं।

प्राप्त विविध विचारों की लपेट मे, पृ० २५३ पर आरम्भ कर के, यहाँ तक की गई।

(२) अब दूसरी धारा की सूचना कर देना चाहिये। १९वीं शती ई० के अंत और २०वीं के आदि में, यूरोप मे, विशेष कर जर्मनी आस्ट्रिया मे, कुछ वैज्ञानिक चिकित्सकों ने, विशेष प्रकार के 'नर्वस् डिसीज़ेज़' के निदान का पता लगाने के लिये, शरीर की विकृतियों की परीक्षा कम कर के, चित्त की विकृतियों की जाँच, विविध उपायों से, शुरू किया। 'नर्वस् डिसीज़' मे 'न्यूरोसिस' 'साइकोसिस', 'साइको-न्यूरोसिस', 'न्यूरो-साइकोसिस' आदि शामिल किये जाते हैं; अभी तक इन शब्दों के ठीक अर्थ और प्रयोग के प्रकार निश्चित नहीं हो पाये हैं, पर इतना साधारण रूप से निश्चित है कि इन सब मे, एक ओर मानस विकार, और दूसरी ओर, ज्ञान-इच्छा-क्रिया का धारक और वाहक जो नाड़ी-व्यूह है उसका विकार, परस्पर सम्बद्ध रहते हैं। यदि नाडी व्यूह का विकार अधिक है, तो रोग को 'न्यूरोसिस' वा 'न्यूरो-साइकोसिस' नाम देते हैं; यदि मानस विकार प्रबल है, तो 'साइकोसिस' वा 'साइको-न्यूरोसिस।'

चित्त के विकारों की सूक्ष्मेक्षिका करने वाले इन (यूरोप में) आदिम परीक्षकों ने, कुछ अतित्वरा ('उज़्लत') से, यह मान लिया कि, सभी मानस रोगों की जड़ मे, उपस्थीय कामीय वासनाओं का किसी न किसी प्रकार का व्याघात वा अवरोध, मूल कारण के रूप मे, रहता है; धीरे-धीरे, इस अति-व्याप्ति का संशोधन, पीछे के गवेषकों ने किया।

दोनों धाराओं के प्रस्थान मे भेद है; मार्गों और उपायों में भी फ़र्क़ है; कुछ अभ्युपगमों (माने हुए सिद्धान्तों, 'हाइपाथे-

सिस', 'थियोरी', 'अकीदः') मे भी वैदृश्य वैमत्य जान पड़ता है। परन्तु लक्ष्य के, मक़सद के, एक ही, अर्थात् रोग का निर्मूलन और स्वस्थता का अनुकूलन, होने से, ज्यो ज्यो दोनो धारा आगे बढ़ती है, और अपनी-अपनी भूल-भटक का शोधन करती हैं, त्यो-त्यो एक दूसरे के पास आ रही हैं; और आशा होती है कि एक दिन, सर्व-विद्या-प्रतिष्ठा परमात्म-निष्ठा विस्मृत-प्राया ब्रह्मविद्या की सरस्वती की सच्ची झलक पा कर, एक दूसरे से मिल कर, जगत्कल्याणकारिणी गंगा-यमुना-सरस्वती के संगम से वर्धित त्रि-वेणी, महा नदी हो जायँगी।

"सर्वं सर्वेण सम्बद्धं", "पंडिता समदर्शिनः",
समान नियमं, हि एकं विधिं, जगति, सर्वदा,
सर्वत्र, आवर्त्तमानं, ये पश्यति, एते हि पंडिता,

प्रकृति के सभी विभाग परस्पर सम्बद्ध हैं, अतः, सभी मे, संसार चक्र के सब देशो और कालो मे, जो विद्वान्, एक ही द्वंद्वात्मक महानियम महाविधि को आवर्त्तमान प्रवर्त्तमान चक्कर खाते, देखते पहिचानते हैं, वे ही समदर्शी पंडित हैं।

इसके निदर्शन (नमूना, उदाहरण) के लिये, विचार-जगत् के एक और प्रवाह-द्विक की चर्चा यहाँ पुनः की जाती है।

व्यक्तिवाद से 'समष्टि'-(समाज) वाद की ओर

राग द्वेष-काम-क्रोध के भी जेठे भाई 'लोभ' नाम के रोग की, (जिसके उद्रेक और प्रकोप को 'इंडिविजुअलिस्ट कैपिटलिज्म', 'पूंजीवाद', 'धनीशाही' कहते हैं, उसकी) चिकित्सा के लिये, 'सोशलिज्म', 'समाजवाद', रूपी औषध की परीक्षा तरह तरह से, अनुपानों और प्रकारों मे रद्दोबदल कर के, पिछले सौ वर्षों मे (अर्थात्, स्थूल गणना से, १९ वीं शती ई० के

मध्य से) पाश्चात्य देशों मे होती रही है; इस बीच मे, तीव्र रोग और वीर्यवद् औषध के परस्पर भयंकर संघर्ष सम्मर्द से, विश्व-युद्ध-रूपी जगद्विप्लवकारी घोर ज्वर दूसरी बार मानव-संसार पर चढ़ रहा है, इसका निदान, विशेष काम-क्रोध-लोभ आदि सब का पितामह, एषणात्रय-आत्मक काम-सामान्य है—यह पूर्व ग्रन्थ मे बहुधा कहा गया है; अब, इस सब घोर संघर्ष संग्राम के फल के रूप मे इस निष्कर्ष निश्च्योत (निचोड़) के लक्षण दिखाई पड़ते हैं कि, सोवियट रूस में, मध्यमावृत्ति-अनुसारिणी, ज्ञानी-शस्त्री-धनी-श्रमी-चतुर्वर्ण (वर्ग-व्यूह)-समन्वायिनी, (वि-अक्ति) 'व्यक्ति'-(सम्-अक्ति)'समक्ति'-सम्मेलनी'[1], सर्व-वाद-सम्वादिनी, चतुर्विध-जीविका-कर्माऽत्मक-चातुर्वर्ण्यता की नीति और रीति की ओर, उस औषध का रुख अधिकाधिक बढ़ता जाता है, तथा, ऐसे नवीन, प्र-णवी भूत, पुनरुज्जीवित, रूस देश और सोवियेट समाज की आव-

---

१. 'वि' उपसर्ग से, जिसका एक अर्थ 'विशेष' है, और 'अञ्, अनक्ति, धातु से, जिसका अर्थ 'अंजन' करना, 'आँजना', 'रंगना' है, वि-अक्ति, व्यक्ति, बना है; इसका मूल अर्थ है, अ-व्यक्त परमात्मा का एक विशेष व्यंजन, व्यक्तीकरण, आविष्करण, अब व्यक्ति शब्द, एक मनुष्य, 'इंडिविजुअल', पुरुष वा स्त्री, के अर्थ मे बहुत प्रयुक्त होने लगा है। इसके प्रतियोगी, प्रतिद्वन्द्वी, 'समाज' वाचक ('सोशल्' के अर्थ के सूचक) शब्द की भी आवश्यकता है; जैसे वि-ग्रह का सं-ग्रह, वि-भिन्न का सं-भिन्न, वि-हत का सं-हत, वि-पत्ति का संपत्ति है, वैसे ही वि-अक्ति का द्वंद्वी सम्-अक्ति बना लेने से, बहुविध प्रयोग द्वारा, नये (प्रायः पश्चिम से उधर आये हुए) भावों के प्रकट करने मे सुविधा होगी। 'समाज' शब्द, सं साथ, अज्, अजति, चलना, से बना है।

रणात्मक आचार्यता को मुँह से न मानते, पर मन से तो मानते ही, सभी अन्य देशो पर, उस आचार्यता के प्रभाव की छाप अधिकाधिक छपती जाती है।

अधि-भूत से अधि-आत्म उत्तर

प्र कृत मे (अर्थात् इस प्र-करण मे, इस प्रसंग मे) यह दर्शनीय और विचारणीय है कि, रोगियो की परीक्षा और चिकित्सा के सम्बन्ध मे, पच्छिम के डाक्टर लोग, इधर प्रायः सौ वर्ष से (सन् १८५० ई के पीछे, साधारणतः), मनुष्य के आधिभौतिक शारीरिक (जिस्मानी, 'फिजिकल') अग (अंश, पक्ष, पहलू, 'आस्पेक्ट') पर ही अधिकाधिक ध्यान जमाते आये थे, आध्यात्मिक, मानसिक, चैत्तिक, आन्तःकरणिक (रूहानी, 'मेंटल', 'स्पिरिचुअल') अंग की अधिकाधिक उपेक्षा करते रहे। पर अब पुन चालीस पचास वर्ष से, विशेष कर जब से फ्राइड् नाम के चिकित्सा-शास्त्री ('मेडिकल्-सायंटिस्ट') ने, सन् १९०० ई के आसपास, 'साइको-ऐनालिसिस्' नाम के, पच्छिम मे नूतन समझे जाने वाले, शास्त्र का प्रवर्त्तन किया, तब से, रोगो मे मानस क्षोभो और विकारो का कितना भारी प्रभाव, अधिकार, और निदानत्व होता है, इस ओर पाश्चात्य वैज्ञानिक चिकित्सकों का ध्यान दिन दिन बढ़ता जाता है। ग्रीक भाषा 'साइकी' शब्द का अर्थ, जीवात्मा, चित्त अन्त करण, रूह, 'सोल', होता है, और 'ऐना-लाइ-आइज्' का, ढीला करना, सुलझाना, जैसे ग्रन्थि (गाठ) का। 'साइको-ऐना-लिसिस' शब्द का अर्थ, तन्नामक शास्त्र के प्रयोजन और साधनीय कार्य का बोधक है—चित्त की अन्तर्लीन प्रसुप्तवत् अव्यक्त दुर्ज्ञेय अवस्थाओं का, गांठों का, गूढ गुप्त हृदय-ग्रन्थियों और काम-

जटाओं का, चित्त-वृत्ति-संकरों भाव-संकरों का, छिपे छिपाये मनस्तत्वों चित्ताऽवयवों का, अन्वेषण, प्रत्यभिज्ञान, और विश्लथन, विश्लेषण, विवेचन, विघटन, पृथक्करण, और उन दुर्वी दुर्वाई ग्रन्थियों की उत्पत्ति के गुप्त कारणों का निश्चयन, निर्णयन।

फ्राइड की कृति की त्रुटि

'सैको-ऐनालिसिस' के विषय मे, प्राचीन संस्कृत दर्शन शास्त्र की दृष्टि से लिखने का प्रयत्न दूसरे ग्रन्थ मे मैं ने किया है[1]। फ्राइड और उनके अनुयायियों के बड़े परिश्रम का, और विविध रोगों के निदानो और गूढ़ मानस वृत्तियों के विविध प्रकारों से अन्वेषण गवेषण और सूक्ष्म अध्ययन का, निर्विवाद प्राय सारभूत निष्कर्ष इतना ही है, कि सब या अधिकांश मानस रोगों का नहीं, तो भी जिन ऐसे रोगों के कारण सुनिज्ञेय नहीं है, जिनका कोई अन्य प्रत्यक्ष और स्पष्ट कारण नहीं जान पड़ता, उनमे से बड़ी संख्या का, वा अधिकांश का, निदान कारण, किसी न किसी प्रकार की कामीय वासना, मैथुनीय तृष्णा, स्त्रीच्छा, का किसी न किसी प्रकार का व्याघात, प्रतिबन्ध, निरोध होता है। फ्राइड को, तथा उनके शिष्यों को, आरम्भ मे, यह विश्वास हो गया कि 'सैकोसिस' 'न्यूरोसिस' 'साइको-न्यूरोसिस' आदि रोग, (अपस्मार-उन्माद आदि के बहुविध मानस विकार, ज्ञान-क्रिया-वाहिनी नाडियों के विकारों से कार्यतया वा कारणतया संबद्ध), सभी, केवल कामीय तृष्णाओं की अ-पूर्त्ति व्या-हानि से होते हैं। धीरे धीरे उन्हों ने पहिचाना, कि क्रोधीय वासनाओं के व्याघात से भी तीव्र रोग

[1] "दर्शन का प्रयोजन" के अध्याय ३ मे।

उत्पन्न हो जाते हैं; और क्रोध, स्त्री पुरुष-मैथुन्य काम के ही भङ्ग से नहीं होता, किसी प्रकार के काम के, इच्छा के, अर्थ-काम, धन-काम, आदर-संमान-काम, स्वच्छन्द-भ्रमण-विचरण-आदि-काम, वा अन्य किसी भी प्रकार से स्व-शक्ति-प्रदर्शन-प्रवर्त्तन के काम के, (मोक्ष-इच्छा के भी), भंग से भी पैदा होता है, तीव्र भय से भी ऐसे रोग हो जाते हैं, यह निश्चय डाक्टरों को तब हुआ जब उन्हों ने प्रथम विश्व-युद्ध (१९१४-'८ ई०) के अस्पतालों में काम किया. पर याद रहे कि, भय भी क्रोध के प्रकारों की एक राशि में पड़ता है, और प्राणैषणा, प्राण-काम, पर आपत्ति आने से उपजता है[1], यह तो, फ्राइड ने अपनी अन्तिम पुस्तकों मे, संकोच करते, सकुचाते, उकस-पुकस करते, कबूला भी है पर यह कह कर अपनी टेक की रक्षा करने का यत्न भी किया है, कि 'काम' शब्द से मतलब उनका केवल मैथुन्य काम से नहीं, अपितु सब प्रकार के काम से है, (जो विस्तृत अर्थ शास्त्र-सम्मत है), पर उनके, तथा उनके शिष्यों के, आदिम लेखों और ग्रन्थों से, उनके इस नये दावे (प्रतिश्रव) की पुष्टि नहीं होती, और उन लेखों ग्रन्थों से पाठक जगत् के चित्त पर यही अंकन ('इम्प्रेशन', असर) हुआ और होता है, कि उनका आशय प्राथमिक लेखों में मैथुन्य काम का ही था।

---

१ पूर्वगत 'रस-मीमांसा' अध्याय के पृ० १५०, १६३, आदि पर, इस विषय का विवरण किया है, 'दि सायन्स आफ़ दि इमोशन्स' मे विस्तार से, थोड़े मे यह कि, जब दुःख देने वाले शत्रु पर 'क्रोध' होता है, पर साथ ही उसकी अधिक बलवत्ता और अपनी अशक्तता का ज्ञान होता है, तब 'क्रोध' का रूपान्तर 'भय' हो जाता है।

फ़ाइड, यहूदी, और हिटलर

सब को यह मालूम है कि सन् १९३३ ई. से, जब से जर्मनी मे हिटलर को पूर्ण अधिकार हुआ और हिटलर-शाही का आरम्भ हुआ, तब से यहूदी ('ज्यू') जाति के लोगों पर भारी आपत्ति विपत्ति आई ; हिटलर ने यह घोषणा कर दी कि जर्मनी पर, इधर चालीस पचास वर्ष के भीतर, जो भी मुसीबतें आई, वह सब यहूदी जाति के रोज़गारियों के चक्कों पेटकों (चालबाज़ियों, अमलासाज़ियों, 'इन्ट्रीग्ज़', 'क्लीकस', 'कोटरीज़') के कारण आईं, इन रोज़गारियों ने, सभी मुख्य धनाढ्य देशों मे, यथा ब्रिटेन, फ़्रांस, जर्मनी, रूस, ज़ेको-स्लोवाकिया, यु. स्टे. अमेरिका आदि मे, युद्ध की सामग्री बनाने वाले बड़े-बड़े कारखाने जारी किये, और सभी देशों के हाथ तुल्य रूप से बेचा, तथा ऐश-आराम, भोग-विलास, मद्य-मांस, शराब-कबाब, अश्लील सिनेमा-थियेटर, अश्लील कोक-शास्त्रीय ग्रन्थों के प्रचार से, काम-शास्त्र संबंधी दुष्ट-भाव और असज्-ज्ञान को जनता मे फैलाया, जिससे उनमे दुराचार व्यभिचार बहुत बढ़ा, और मानव-संसार की आध्यात्मिक हवा काम-क्रोध-लोभ-मत्सर-कलह से भर गई। तथा भीतर-भीतर राष्ट्र-नायकों को और जनता को, झूठे 'प्रॉपेगॅंडा', झूठे प्रचारों, से भड़काया ; जिससे पहिला विश्वयुद्ध भी हुआ, जिसमे जर्मनी मारा पड़ा। यदि 'यहूदी जाति' न कह कर, 'भिन्न जातियों और देशों के थोड़े से धनकुबेरों का एक अन्ताराष्ट्रिय गुट्ट' कहा होता, तो यह घोषणा अक्षरशः सत्य होती ; वकील लोग, आपस मे, मेल रखते हैं, मगर मुवक्किलों को भड़का कर लड़वा देते हैं, और कचहरी मे मुक़दमा दायर करा कर, उनको चूसते हैं। जब हिटलर ने अपने अधि-

कार की पहुँच के भीतर, यहूदियों का उत्पीड़न और विनाशन आरम्भ किया, तब फ्राइड, जो जात्या यहूदी था, और आस्ट्रिया-वासी जर्मन था, अपने देश से भाग कर ब्रिटेन में आ बसा, ऐसे ही और भी बहुतेरे बड़े नामी प्रोफेसर ऐनस्टैन आदि, यु० स्टे० अमेरिका आदि देशों में छितरा गये, जहाँ हिटलर की पहुँच न थी, और साधारण वा दरिद्र कोटि के बहुतेरे यहूदी, रूस देश के सोवियेट राष्ट्र की अल्प-अंग-भूत यहूदी-रिपब्लिक में जा बसे, या 'लीग आफ् नेन्शंस' की अनुमति से ब्रिटेन के द्वारा बसाई हुई, (और अरबों से लड़ाई जाती हुई) फिलिस्तीन-जरूसलेम की यहूदी-रिपब्लिक को भाग गये।

सन् १९४० ई० में, लंदन नगर में फ्राइड का शरीर छूटा। पर अंत तक उन्हों ने यह नहीं पहिचाना कि मानस एषणा, वासना, कामना, सब, तीन राशियों के भीतर पड़ती हैं, और प्रत्येक के साथ राग और द्वेष की मुख्य और अवांतर वृत्तियाँ बँधी हैं, जिनकी चर्चा, इस "कामाऽध्यात्म" नामक अध्याय के आरंभ में (पृ० १७५–१८६ पर) की गई है, और जिनमें से किसी के भी उत्कट हो कर खंडित होने से मानस और शारीर रोग उत्पन्न होते हैं।

फ्राइड के विचार का तथ्य अंश

जैसा ऊपर कहा, फ्राइड के विचार में तथ्य अंश इतना ही है, अर्थात् (सब नहीं,) कुछ मानस और शारीर रोग, विविध प्रकार के छोटे बड़े उन्माद, दुःस्वप्न, भूताहट, और इस प्रकार की (चक्के, ईंट, पत्थर के टुकड़े, मल-मूत्र, आदि फेंकने की) चेष्टाएँ जो बहुधा भूत-प्रेत-पिशाचादि की बाधा के कारण समझी जाती हैं, और जो बाल्य और यौवन की वयःसन्धि के

काल मे, किशोर-अवस्था ('ऐडोलेसेन्स') मे, लड़कियां (को विशेष कर) तथा लड़कों को सताती हैं—यह सब मैथुनीय काम-वासना के व्याघात से, उत्पन्न होती हैं; तथा, इस किशोरावस्था मे अंकुरित होती हुई ऐसी वासनाओं को स्वयं न समझ सकने से, और भयभीत और भ्रान्त होने से, ऐसी असाधारण चेष्टा उत्पन्न होती हैं, तथा, सयानो (स-ज्ञानों, प्रौढ़ों, 'ऐडल्ट्स') की दर्प-पूर्ण कामीय चेष्टाओं को देख कर, बालक-बालिकाओं वा किशोर-किशोरियों के हृदय मे साध्वस (हदस), उद्वेग, कम्प, होने से उत्पन्न होती है।

इस विषय का समग्र तथ्य

सम्पूर्ण तथ्य का जो अंश फ़ाइड के ध्यान मे नहीं आया, वह यह है कि, न केवल उपस्थीय काम के, अपितु, जीव के भीतर बैठे सर्व-वासना-मय सर्व-इच्छा-मय मूल-काम-सामान्य के किसी भी उद्रिक्त प्रचंड विकार के, विशेष काम-क्रोध-लोभ-(मोह)-भय-मद-मत्सर आदि के उद्वेग से, ऐसी विकृतियां और अस्वाभाविक चेष्टाएँ होने लगती हैं जो साधारण जन की समझ मे नहीं आतीं, और उनको हैरान परीशान, चिंताग्रस्त, खिन्न और किंकर्त्तव्य-विमूढ़ कर देती हैं। जिन विचारशील सज्जनों को स्वयं अपने यौवनारम्भ मे ऐसे विकारों का अनुभव हो चुका है, और जो उनको सर्वथा भूले नहीं हैं, वे इन चेष्टाओं के हेतु को समझते हैं, और विकृतों को पुनः स्वस्थ करने मे सहायता दे सकते हैं। प्रायः सभी चिकित्सक लोग ऐसे विकारों का कामीय वासनाओं से सम्बन्ध जानते हैं; और स्थूल रीति से तो साधारण जन भी इसको पहिचानते हैं; अपठित ग्राम-स्त्रियाँ, इस सम्बन्ध को, प्रायः अव्यक्त बुद्धि

('प्रातिभ' बुद्धि, 'इनट्युइशन') से ही जानती है, यौवनोन्मुख किशोर किशोरियों की असाधारण नवीन चेष्टाओं को देख कर झट समझ जाती है, और (अनावृत ग्रामीण शब्दों मे) कहती है कि अब ये वैवाहिक (मैथुन) क्रिया के योग्य है और उसको चाहते है। "प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवद् आचरेद्", जब बेटा सोलह वर्ष का हो जाय, तब उसके साथ बराबरी के मित्र के ऐसा व्यवहार करना चाहिये, इस प्रसिद्ध श्लोक का भी संकेत यही है कि, स्थूल रीति से सभी जनता जानती है कि सोलह वर्ष के बाद किशोर को युवा समझना चाहिये।

यदि सम्पूर्ण तथ्य को संस्कृत शब्दों मे एकत्र कहना हो तो कुछ मध्यकालीन और अर्वाचीन कवियों के तथा प्राचीन ऋषियों के वाक्यों का संकलन करना चाहिये , यथा,

कृशः काणः खञ्ज श्रवण-विकल पुच्छ-रहित
व्रणी पूय-क्लिन्न कृमि-कुल शतैर् आवृत-तनु
क्षुधा क्षामो जीर्णः पिठरक-कपाला ऽर्पित-गल',
शुनी अन्वेति श्वा, हत अपि निहति-एव मदन (भर्तृहरि)।

सूखा भूखा बूढा लंगड़ा लूला, बिना कान, बिना पूंछ, घायल, सड़ा, कीड़ों से भरा, हांडी के टुकड़े को गले मे पहिने हुआ भी कुत्ता कुत्ती के पीछे दौड़ता है, उन्-मत्त पागल करने वाला 'मदन', मरे को भी मारता है।

स्त्री-मुद्रां मप-केतनस्य परमा, सर्वाऽर्थ-सम्पत्-करी,
ये मूढा प्रविहाय यान्ति कुधिय , स्वर्गाऽदि-लाभ इच्छया,
ते तेन-एव निहत्य निर्दयतर, नग्नीकृता , मुंडिता
केचित् पञ्चशिखीकृताम् च, जटिला कापालिकाश्
चाऽपरे (भर्तृहरि)।

काल मे, किशोर-अवस्था ('ऐडोलेसेन्स') मे, लड़कियां (को विशेष कर) तथा लड़कों को सताती हैं—यह सब मैथुनीय काम-वासना के व्याघात से, उत्पन्न होती हैं; तथा, इस किशोरावस्था मे अंकुरित होती हुई ऐसी वासनाओं को स्वयं न समझ सकने से, और भयभीत और भ्रान्त होने से, ऐसी असाधारण चेष्टा उत्पन्न होती हैं; तथा, सयानों (सज्ञानों, प्रौढ़ों, 'ऐडल्ट्स') की दर्प-पूर्ण कामीय चेष्टाओं को देख कर, बालक-बालिकाओं वा किशोर-किशोरियों के हृदय मे साध्वस (दहस), उद्वेग, कम्प, होने से उत्पन्न होती है।

इस विषय का समग्र तथ्य

सम्पूर्ण तथ्य का जो अंश फ़्राइड के ध्यान मे नहीं आया, वह यह है कि, न केवल उपस्थीय काम के, अपितु, जीव के भीतर बैठे सर्व-वासना-मय सर्व-इच्छा-मय मूल-काम-सामान्य के किसी भी उद्रिक्त प्रचंड विकार के, विशेष काम-क्रोध-लोभ-(मोह)-भय-मद-मत्सर आदि के उद्वेग से, ऐसी विकृतियाँ और अस्वाभाविक चेष्टाएँ होने लगती हैं जो साधारण जन के समझ मे नहीं आतीं, और उनको हैरान परीशान, चिंताग्रस्त, खिन्न और किंकर्तव्य-विमूढ़ कर देती हैं। जिन विचारशील सज्जनों को स्वयं अपने यौवनारम्भ मे ऐसे विकारों का अनुभव हो चुका है, और जो उनको सर्वथा भूले नहीं हैं, वे इन चेष्टाओं के हेतु को समझते हैं, और विकृतों को पुनः स्वस्थ करने मे सहायता दे सकते हैं। प्रायः सभी चिकित्सक लोग ऐसे विकारों का कामीय वासनाओं से सम्बन्ध जानते हैं; और स्थूल रीति से तो साधारण जन भी इसको पहिचानते हैं; अपठित ग्राम-स्त्रियाँ, इस सम्बन्ध को, प्रायः अत्यन्त युक्ति

('प्रातिभ' बुद्धि, 'इनट्युइशन') से ही जानती है; यौवनोन्मुख किशोर किशोरियो की असाधारण नवीन चेष्टाओं को देख कर झट समझ जाती है, और (अनावृत ग्रामीण शब्दो मे) कहती हैं कि अब ये वैवाहिक (मैथुन) क्रिया के योग्य है और उसको चाहते है। "प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवद् आचरेद्", जब बेटा सोलह वर्ष का हो जाय, तब उसके साथ बराबरी के मित्र के ऐसा व्यवहार करना चाहिये, इस प्रसिद्ध श्लोक का भी सकेत यही है कि, स्थूल रीति से सभी जनता जानती है कि सोलह वर्ष के बाद किशोर को युवा समझना चाहिये।

यदि सम्पूर्ण तथ्य को संस्कृत शब्दो मे एकत्र कहना हो तो कुछ मध्यकालीन और अर्वाचीन कवियो के तथा प्राचीन ऋषियो के वाक्यो का संकलन करना चाहिये, यथा,

कृश काण खञ्ज श्रवण-विकल पुच्छ-रहित
व्रणी पूय-क्लिन्न कृमि-कुल शतैर् आवृत-तनु
क्षुधा-क्षामो जीर्ण पिठरक-कपाला ऽर्पित-गल,
शुनीं अन्वेति श्वा, हत अपि निहति-एव मदन (भर्तृहरि)।

सूखा भूखा बूढा लंगड़ा लूला, बिना कान, बिना पूँछ, घायल, सड़ा, कीड़ों से भरा, हाँडी के टुकड़े को गले में पहिने हुआ भी कुत्ता, कुत्ती के पीछे दौड़ता है, उन्-मत्त पागल करने वाला 'मदन', मरे को भी मारता है।

स्त्री-मुद्रां झष-केतनस्य परमा, सर्वाऽर्थ-सम्पत्-करी,
ये मूढा प्रविहाय यान्ति कुधिय, स्वर्गाऽदि-लाभ-इच्छया
ते तेन-एव निहत्य निर्दयतर, नग्नीकृता, मुण्डिता
केचित् पञ्चशिखीकृताश् च, जटिला कापालिकाश्
चाऽपरे (भर्तृहरि)।

काल मे, किशोर-अवस्था ('ऐडोलेसेन्स') मे, लड़कियों (को विशेष कर) तथा लड़कों को सताती हैं—यह सब मैथुनीय काम-वासना के व्याघात से, उत्पन्न होती हैं; तथा, इस किशोरावस्था मे अंकुरित होती हुई ऐसी वासनाओं को स्वयं न समझ सकने से, और भयभीत और भ्रान्त होने से, ऐसी असाधारण चेष्टा उत्पन्न होती है; तथा, सयानो (स-ज्ञानो, प्रौढ़ों, 'ऐडल्ट्स') की दर्प-पूर्ण कामीय चेष्टाओं को देख कर बालक-बालिकाओं या किशोर-किशोरियों के हृदय मे साध्वस (दहस), उद्वेग, कम्प, होने से उत्पन्न होती है।

इस विषय का समग्र तथ्य

सम्पूर्ण तथ्य का जो अंश फ्राइड के ध्यान मे नहीं आया, वह यह है कि, न केवल उपस्थीय काम के, अपितु, जीव के भीतर बैठे सर्व-वासना-मय सर्व-इच्छा-मय मूल-काम-सामान्य के किसी भी उद्रिक्त प्रचंड विकार के, विशेष काम-क्रोध-लोभ (मोह)-भय-मद-मत्सर आदि के उद्वेग से, ऐसी विकृतियाँ और अस्वाभाविक चेष्टाएँ होने लगती हैं जो साधारण जन की समझ मे नहीं आतीं, और उनको हैरान परीशान, चिंताग्रस्त, खिन्न और किंकर्तव्य-विमूढ़ कर देती हैं। जिन विचारशील सज्जनो को स्वयं अपने यौवनारम्भ मे ऐसे विकारों का अनुभव हो चुका है, और जो उनको सर्वथा भूले नहीं हैं, वे इन चेष्टाओं के हेतु को समझते हैं, और विकृतों को पुनः स्वस्थ करने मे सहायता दे सकते हैं। प्रायः सभी चिकित्सक लोग ऐसे विकारों का कामीय वासनाओं से सम्बन्ध जानते हैं; और स्थूल रीति से तो साधारण जन भी इसको पहिचानते हैं; अपठित ग्राम-स्त्रियाँ, इस सम्बन्ध को, प्रायः अव्यक्त बुद्धि

('प्रातिभ' बुद्धि, 'इनट्युइशन') से ही जानती है, यौवनोन्मुख किशोर किशोरियों की असाधारण नवीन चेष्टाओं को देख कर झट समझ जाती है, और (अनावृत ग्रामीण शब्दों में) कहती है कि अब ये वैवाहिक (मैथुन) क्रिया के योग्य हैं और उसको चाहते हैं। "प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवद् आचरेद्"; जब बेटा सोलह वर्ष का हो जाय, तब उसके साथ बराबरी के मित्र के ऐसा व्यवहार करना चाहिये, इस प्रसिद्ध श्लोक का भी संकेत यही है कि, स्थूल रीति से सभी जनता जानती है कि सोलह वर्ष के बाद किशोर को युवा समझना चाहिये।

यदि सम्पूर्ण तथ्य को संस्कृत शब्दों में एकत्र कहना हो तो कुछ मध्यकालीन और अर्वाचीन कवियों के तथा प्राचीन ऋषियों के वाक्यों का संकलन करना चाहिये ; यथा,

कृश काण खञ्ज श्रवण-विकल पुच्छ-रहित
व्रणी पूय-विलन्न कृमि-कुल शतैर् आवृत-तनु
क्षुधा-क्षामो जीर्णं पिठरक-कपाला-ऽर्पित-गल ,
शुनी अन्वेति श्वा, हत अपि निहन्ति-एव मदन (भर्तृहरि)।

सूखा भूखा बूढ़ा लंगड़ा लूला, बिना कान, बिना पूँछ, घायल, सड़ा, कीड़ों से भरा, हाँडी के टुकड़े को गले में पहिने हुआ भी कुत्ता, कुत्ती के पीछे दौड़ता है, उन्-मत्त पागल करने वाला 'मदन', मरे को भी मारता है।

स्त्री-मुद्रा झष-केतनस्य परमां, सर्वार्थ-सम्पत् करी,
ये मूढा प्रविहाय यान्ति कुधिय , स्वर्गादि-लाभ-इच्छया
ते तेन-एव निहत्य निर्दयतर, नग्नीकृता , मुण्डिता
केचित् पञ्चशिखीकृताश् च, जटिला कापालिकाश्
चाऽपरे (भर्तृहरि)।

स्त्री के लिये पुरुष, पुरुष के लिये स्त्री, संसार-सर्वस्व भी है, सब सुख सम्पत्ति का सार भी; इस को त्याग कर स्वर्ग आदि के लोभ से जो स्त्री वा पुरुष असमय विरक्त होना चाहते हैं, उन पर कामदेव की मार पड़ती है, और तरह तरह से विरूप कुरूप बना दिये जाते हैं; कोई, भिक्षु भिक्षुणी नग्न फिरते हैं, कोई मुंडे हो जाते हैं, कोई पांच शिखा कर लेते हैं, कोई जटा बढ़ा लेते हैं और भस्म लपेटते हैं; कोई 'अघोरी' हो जाते हैं, नर-कपाल खप्पड़ हाथ में लिये फिरते हैं, विष्ठा तक खा लेते हैं; कोई इन्द्रिय-च्छेदन कर डालते हैं, कोई कनफटे 'अलख'-जगाने वाले हो जाते हैं: तरह तरह के 'वैरागी', 'फ़क़ीर', कथड़ी गुदड़ी 'सूफ़' कम्बल ओढनेवाले 'सूफ़ी' आदि, विविध पंथों के विविध वेशधारी हो जाते हैं; कोई जंगल बयाबान मे चले जाते हैं और अकेले पड़े रहने का और कंद मूल फल पर गुज़र करने का जतन करते हैं, कोई शहरों गांवों मे भीग मांगते फिरते हैं; इत्यादि।

> कामस्तदग्रे समवर्त्तताऽधि, मनसो रेतः प्रथमं यद् आसीत,
> सतो बंधुं असति निरविन्दन्, हृदा प्रतीप्य, कवयो मनीषिणः,
> (वेद)

इसका अर्थ, पृ० १९३-४ पर लिखा गया है।

> मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः, (उपनिषत्),
> (बन्धाय कामाऽविष्टं हि, निष्कामं मुक्तये तथा)।

बन्ध और मोक्ष का कारण मन ही है; काम में भागा, बंध का; काम से छूटा, मोक्ष का। हिन्दी कहावत है, "शहर का मारा जंगल; जंगल का मारा शहर"; अर्थात्, अविद्या के बाद विद्या, विद्या के बाद अविद्या; सृष्टि के बाद प्रलय, प्रलय

के बाद सृष्टि, जागने से थका सोवै, सोने से थका जागे; "एका भार्या, सुन्दरी वा दरी वा" (भर्तृहरि), मनुष्य को एक भार्या चाहिये, या तो सुन्दरी हो, या फिर पर्वत की कंदरा दरी ही हो। गीता मे 'काम' शब्द तेतीस वेर आया है।

सच्ची वर्णाश्रम-व्यवस्था से सर्व-समन्वय

पृ० १९३ के आगे, कई पृष्ठो मे, काम-सामान्य और काम-विशेष की चर्चा की जा चुकी है, तथा इच्छा के दो त्रिकों, लोक-वित्त-दार-(सुत)-एषणा और आहार-धन-रति इच्छा की भी, जिन्ही के सम्बन्ध मे काम क्रोधादि के बहुविध द्वन्द्वमय चित्तविकारों की उत्पत्ति होती है। प्रसंग-वश, 'साइको-एनालिसिस' के वर्णन के साथ, यहां, दूसरे शब्दो मे, यह आशय दुहरा दिया गया, क्योंकि, आज काल, जहां जहां आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा और विज्ञान आदि का सम्पर्क है, वहा यहां फ्राइड (और उनके अनुयायी और संशोधक युंग, एड्लर, आदि) के 'साइको-एनेलिसिस'-वाद की, और मार्क्स (और उनके अनुयायी और संशोधक, एंगेल्स, लेनिन, ट्राट्स्की, स्टैलिन आदि) के 'कम्युनिज्म-सोशलिज्म'-वाद की, चर्चा, और उन मे श्रद्धा, किंवा अन्ध-श्रद्धा, अपरीक्ष्य-विश्वासिता, भेड़ी-धसान मेषी-प्रपातवत् गतानुगतिकता, बहुत देख पड़ती है। यहां इतना और कह देना चाहिये कि, जैसे लेनिन स्टैलिन आदि को, व्यवहारिक (अमली 'प्रैक्टिकल') अनुभव के बाद, मार्क्स के मत (नय, अभ्युपगम, 'थियरी', सिद्धान्त) में शोधन परिवर्तन (तर्मीम, 'करेक्शन') करना पड़ा है वैसे ही युंग, एड्लर आदि को फ्राइड के विचार का परिष्कार करना पड़ा है, और इन दोनों प्रतिसंस्करणों से दोनों ही के विचार और व्यवहार वैदिक दर्शन के आध्यात्मिक सिद्धान्तों के

(यद्यपि अभी तक 'अ प्रति-अभि-ज्ञात', बिना 'पहिचाने', रूप से), अधिकाधिक आ रहे हैं, और आशा होती है कि दोनों, निकट भविष्य में, उन्हीं वैदिक सिद्धान्तों के व्यावहारिक-प्रयोग ('प्रैक्टिकल् ऐप्लिकेशन')-रूपी वर्ण-आश्रम-धर्मा-ऽत्मक समाज-व्यवस्था में, संग्रथित, समन्वित, परिणत हो जायंगे।[1]

---

[1] सन् १९३४ ई० के अन्त में, मैं ने, "एन्शेंट वर्सस माडर्न सायंटिफ़िक् सोशलिज़्म" नाम, अंग्रेज़ी में लिखा ग्रन्थ छपवाया; इस में यह दिखाने का यत्न किया कि आज काल, चालीस पचास वर्ष से वा सौ वर्ष से, पच्छिम के देशों में, जो पूंजीवाद और तत्सहायभूत साम्राज्यवाद, शस्त्रवाद, आदि चल रहे हैं, उनका, और उनके प्रतियोगी समाजवाद-साम्यवाद का, किन अंशों में सादृश्य है और किन अंशों में वैदृश्य, तथा इस नवीन समाजवाद का और भारतीय प्राचीन समाजवाद का कितना सादृश्य वैदृश्य है। ऐसे ही, "थियोसोफ़िस्ट" नाम के मासिक पत्र में (जो आड्यार, मद्रास, से निकलता है), सन् १९३७ के अंकों में, तथा "दर्शन का प्रयोजन" नाम के हिन्दी ग्रन्थ में, सन् १९४० ई० के अन्त में, 'साइको-ऐनालिसिस' की समीक्षा परीक्षा की; इसी समीक्षा का उपबृंहण कर के, "एन्शेंट साइको-सिंथेसिस वर्सस माडर्न साइको-ऐनालिसिस" (अर्थात् 'प्राचीन चित्त-संघटन, संश्लेषण, संधानीकरण, व्यूहन, सम्बन्धन, सम्पूरण, संग्रथन, एकीकरण, और नवीन चित्त-विघटन, विश्लेषण, विश्लथन, अनेकी-करण, का परस्पर सम्प्रधारण, मुकाबिला, संमापन, सतोलन, स-परि-अप-ईक्षा') नाम के ग्रन्थ का आरंभ किया; आशय यह दिखाना था, कि नवीन वाद एकपाक्षिक अर्ध-सत्य है, और प्राचीन, सर्वांगीण, सर्वसंग्राहक, सम्पूर्ण सत्य है; पर वह ग्रन्थ अपूर्ण पड़ा है; अंतरात्मा की इच्छा हुई, और आयु शेष बुद्धि-शेष पर्याप्त हुआ, तो पूरा होगा।

साधारण रीति से, "आधयो मानसीव्यथाः" और 'व्याधयो दैहिकीव्यथाः', ऐसा व्यवहार हो रहा है, आयुर्वेद का निर्विवाद सिद्धांत है कि 'आधि से व्याधि, और व्याधि से आधि'; एक दृष्टि से, समग्र आयुर्वेद को, तथा सांख्य योग-वेदान्त को, इसी सूत्र का भाष्य कह सकते हैं, योगोक्त विधियों से चित्त का प्रसादन, परिमार्जन, विशोधन, परिष्करण, स्वस्थापन, आधि-शमन, आयुर्वेदोक्त दिन-रात्रि-ऋतु-चर्या से, शौचाऽचार से, विशेष रोगों के लिये विशेष औषध उपचार आदि से, शरीर-शोधन, व्याधि-शमन, आधि-व्याधि के शमन से सत्त्व (प्राण और बुद्धि) की शुद्धि, परमात्म-स्मृति का लाभ, सब हृदय-ग्रन्थियों का वि-प्र-मोक्ष (विशिष्ट प्रकृष्ट मोचन), परम-शांति-रूप स्थित-प्रज्ञता-रूप निरतिशय-आनंद की प्राप्ति (छांदोग्य उप०)।

आधि-व्याधि के सम्बन्ध के वैज्ञानिक उदाहरण

व्याधियों के उत्पादन में आधियों के प्रभुत्व को पाश्चात्य वैज्ञानिक कितना मानने लगे हैं, इसके उदाहरण के अर्थ, "दि रीडर्स डाइजेस्ट" (न्यू-यार्क, यु स्टे ध) के अक्तूबर, १९४२ ई० के अंक से कुछ संक्षिप्त उद्धरण यहां लिखे जाते हैं। इनसे सिद्ध होता है कि न केवल मस्तिष्क और नाडी-('नर्व') व्यूह की आधि-व्याधियां, अपि तु सब प्रकार के शारीर रोग, तीव्र मानस क्षोभ से पैदा हो सकते हैं। ठीक ही है, वात पित्त-कफ, रजस्-सत्त्व-तमस्, (क्रिया-ज्ञान-इच्छा), सभी सदा साथ रहते हैं, नितान्त पृथक् नहीं किये जा सकते हैं, हां, एक समय में एक अधिक व्यक्त और बलवान्, दूसरे दो कम, ऐसा घटाव बढ़ाव ही उनमें होता रहता है, अतः एक के विकार का असर भी दूसरे पर पड़ता ही है, "दोषोत्पात् तु तद्वद्‌ तद्वद्" , विशेष मुख्य

लक्षण की प्रबलता से, वैशेष्य से, वातिक, पैतिक, श्लैष्मिक, ऐसे विशेष नाम से रोग कहे जाते हैं; अन्यथा, सभी रोगों में, तीनो के विकार कम बेश देख पड़ते हैं।

"पन्द्रह सौ रोगियो की परीक्षा, न्यू-यार्क महानगर के एक अस्पताल मे की गई; आधे से ज्यादः के रोग का कारण मानस क्षोभ साबित (सिद्ध) हुआ। नौकरी छूट जाने से, आर्थिक चिंता से, दूसरे के पेट के दर्द का हाल सुनने से, मचली और पेट का दर्द शुरू हो गये, दो सौ पांच रोगियों के पेट मे निनाने मानस क्षोभों से, अधिक चिंता, रोज़गार मे नुक़सान, पति पत्नी के गृह-कलह आदि से, हो गये; तीव्र क्रोध के ऊपरी दमन और भीतरी जलन से तत्काल 'हाइ ब्लड प्रेशर' (रुधिर वाहिनी सिराओं मे विकार)हो गया; 'डायाबीटिस' (बहुमूत्र के विविध प्रकार, 'इक्षु-मेह' आदि), यक्ष्मा, दन्तरोग, हृदय के रूप और गति के विकार, आदि, विविध रोग, विविध क्षोभों के कारण, विशेष कर गत विश्व-युद्ध मे अप्रकाशित भय के तीक्ष्ण वेग से और घर वापस जाने की घोर उत्कंठा से, उत्पन्न हुए। इन अन्वेषणों का यहां तक प्रभाव पड़ा है कि, प्रगतिशील चिकित्सक अब यह कहने लगे हैं—'किस प्रकार का रोग है, यह जानना कम आवश्यक है; किस प्रकार का रोगी है, यह जानना अधिक आवश्यक है।"[1] भारत के, तथा पश्चिम के, चिकित्सकों को यह

1. "Mental conditions can upset normal physical functions, weaken our resistance to infection, e.. actually cause physical change in vital organs,... nausea, stomach pains,... stomach cancer,....stomach ulcer,... mucous colitis,.. high blood pressure,.. tuberculosis, . diabetes, . arthritis, tooth decay,...

विदित है कि कभी कभी 'जानडिस' (पांडुरोग, कामला, यर्कान, जिसमे यकृत् की विकृति से पित्त सारे शरीर मे फैल जाता है, और शरीर हल्दी ऐसा पीला हो जाता है), उग्र क्रोध के ऊपरी निरोध और भीतरी विरोध से, एक वा दो घंटे से भी कम मे हो जाता है।

काम-विषयक शिक्षा *

बिना सत्य ज्ञान के, दुःख से मोक्ष नहीं

प्रकृत प्रकरण का आरम्भ पृ २१६ पर, "काम विषयक शिक्षा के प्रकार और प्रचार के सम्बन्ध मे कुछ विचार", इस

---

heart trouble (are caused because) most of us bury distressing problems in a secret crypt of our minds (This is what the psycho-analyst calls 'repression') "It is more important to know what sort of patient has a disease, than what sort of disease a patient has", (*Reader's Digest* for Oct 1942, pp 49-51, New York U S A)

पुनः कुछ निजी निवेदन

"श्रेयांसि बहु-विघ्नानि" अच्छे काम मे बहुत विघ्न होते हैं, १४ जून १९४२, शाम को मैं कुर्सी से उठने लगा, तो मूर्च्छित हो गया, सामने रक्खी दूसरी कुर्सी पर गिरा, नाक से प्रायः दो सेर खून, अठारह घंटे मे, निकल गया, ऐसा डाक्टरों ने अनुमान किया, कठिनता से खून बन्द हुआ। प्रायः पन्द्रह दिन में जब फिर शरीर मे कुछ प्राण-संचार हुआ, तब बिखरे छितरे असंबद्ध विचारो को एकत्र कर के, चारपाई मे ही बैठे बैठे कर, ग्रन्थ के कार्य का पुनः आरम्भ किया। ऐसी अवस्था मे कैसा कार्य और कैसा हो सकेगा, यह अन्तरात्मा को ही विदित है! पर 'जब तक सांस

शीर्षक से हुआ है। तात्कालिक साक्षात् उद्देश्य इस प्रकरण का वह जान पड़ेगा जिसकी चर्चा पृ० २२२-६ पर की गई है। किंतु व्यापक और गुरुतर उद्देश्य, इस समस्त 'कामाऽध्यात्म' नामक अध्याय का, यह है, कि काम-शास्त्र के आध्यात्मिक तत्वों का ज्ञान जनता मे फैले; विशेष कर गृहस्थों मे, जिनके ऊपर नई पुश्त की रक्षा शिक्षा भिक्षा (वा भक्षा) की ज़िम्मादारी है। कि वे समय समय पर, अपने बच्चों की बुद्धि, वयस्, स्वभाव, अवस्था आदि के अनुसार, उनको भूलों और दुराचारों से बचाने के लिये, उचित हित उपदेश करें। इस लिये, इन आध्यात्मिक तत्वों के ज्ञान के अन्तर्गत, तथा उनसे सम्बद्ध, बहुत सी बातों और विचारों का संग्रह यहां तक कर दिया गया। पक्ष प्रतिपक्ष दोनों पर विचार कर के, इस युग (ज़माने) के लिये निष्कर्ष यही है, जैसा पृ० २०८ पर गीता के श्लोक मे कहा गया, कि सत्य ज्ञान के प्रचार से ही 'हवा' पवित्र होती है, जनता का हृदय शुद्ध होता है, सारे समाज का भाव और विचार सात्विक होता है, और, तदनुसार, आचार भी शुद्ध और सात्विक होता है; ऐसे समाज की नई पुश्त की उचित रक्षा शिक्षा भिक्षा, अनायासेन, आप से आप, होती रहती है।

इसका प्रमाण, भारत के प्राचीन इति-ह-आस में मिलता है। कचहरियों मे रोज़ देख पड़ता है कि एक ही मामिले में,

---

(श्राम) तबतक आम (आना)'; "कर्मणि एवाऽधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन"। पाठक सज्जन सब दोषों को क्षमा करेंगे; यदि कोई अंश इस ग्रन्थ का उन्हें उपयोगी उपादेय जान पड़े, तो उसका ग्रहण और प्रचार करें; जो दोषयुक्त अनुपयुक्त हेय जान पड़ें, उसका त्याग और वर्जन अवश्य करें; यह प्रार्थना है।

दोनो पक्ष की ओर से, आंख देखे गवाह परस्पर नितान्त विरोधी साक्षी देते हैं, तब अति दूर भूत काल मे, 'इदं इत्थं एव', ऐसा ही हुआ, 'इति-ह-आस', यह निश्चय से कहना कठिन है, तौ भी न्यायालय मे न्यायाधीश प्राड्विवाक् निर्णय करता ही है, और उसका निर्णय अक्सर ठीक भी होता ही है। यह देखते हुए, उपलभ्यमान स्मृति, इतिहास, पुराण आदि ग्रन्थो के सहारे से, तथा उन स्मृतियो के आदेशो पर आश्रित जो समयाऽचार आजकाल भी 'हिन्दू'-समाज मे चल रहा है, चाहे अस्त व्यस्त रूप ही मे, उसके सहारे से, यह अवश्य कह सकते हैं कि प्राचीन काल मे, भारत मे, अब से बहुत अधिक सात्विक भाव फैला था, और उसके अनुसार नई पुश्त को शिक्षा मिलती रही।

ब्रह्मचर्य के विषय मे प्राचीनकाल की शिक्षा

आश्रमों में, विशेष कर ब्रह्मचारी विद्यार्थी आश्रम के धर्मों के वर्णन मे, ब्रह्म-चर्य शब्द प्रतिपद आता है, अवश्य ही इसका अर्थ विद्यार्थियो को समझाया जाता था. वेद और उपनिषद् के वाक्य, पृ० २०६ पर लिखे गये हैं मनु मे भी आता है,

> एकः शयीत सर्वत्र, न रेतः स्कन्दयेत् क्वचित्,
> कामाद् हि स्कन्दयन् रेतः, हिनस्ति व्रतं आत्मनः,
> स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रं, अकामतः,
> स्नात्वा, अर्कं अर्चयित्वा, त्रिः 'पुनर् मा' इति ऋचं जपेत्, (म०)।

एक बिछौने मे, कड़ी चौकी या भूमि पर, ब्रह्मचारी अकेले ही सोवे, दूसरे के साथ नहीं, जान बूझ कर कहीं कभी वीर्य

न गिरावै ; यदि बुद्धिपूर्वक गिरावैगा, तो उसके ब्रह्मचर्य व्रत की हिंसा होगी, वह भ्रष्ट हो जायगा, विद्यार्थी को यथेष्ट विद्या नहीं आवैगी ; परन्तु, यदि सपने मे, निद्रा मे, आप से आप, बिना जान बूझ कर इच्छा किये और हस्तमैथुन आदि की चेष्टा किये, वीर्य गिर जाय, तो नहा कर, सूर्य को नमस्कार कर, 'पुनर्मां' इस ऋचा को तीन बेर जपे; ऋचा के अर्थ की भावना करता हुआ, "तज्जपः तदर्थभावनं," (योगसूत्र); बिना 'अर्थ' की भावना का जप, 'वि-अर्थ' व्यर्थ है; सात्त्विक भावना-रूप भावनाऽत्मक जप से चित्त शुद्ध होता है। यह सब बात, माता, पिता, वा आचार्य, वत्सल और दयालु भाव से, स्नेहमय शब्दों मे, पुत्र को, शिष्य को, समझा देते थे, और इस सम्बन्ध मे उसको जो शंका और प्रश्न उठते थे, उनका उसी रीति से समाधान कर देते थे। शुक्र, रेतः, वीर्य क्या वस्तु है, क्यों और कैसे गिरता है, गिरने से क्या हानि है; रक्षा से क्या लाभ है और क्यों, जिस लाभ के लिए उसकी रक्षा, उसका शरीर में संचय, करना उचित है ; यह सब बातें बतलाना ही पड़ता होगा ; और इस रीति से, ज्यों ज्यों विद्यार्थी, किशोराऽवस्था से यौवन की ओर बढ़ता जाता था, त्यों त्यों उसको कामशास्त्र की साधारण और अधिक आवश्यक बातों का ज्ञान अनायास बढ़ता जाता था। सारे समाज मे ब्रह्मचर्य के महिमा का ज्ञान फैला रहने से, ब्रह्म-चारी की रक्षा स्वतःप्राप्त होगी। पृ० १८१-२ पर और भी श्लोक उद्धृत किये हैं ; उनको भी इस स्थान पर पुनः देख लेना चाहिये।

यदि कुछ किन्हीं, नेक नीयती से भी, अच्छे आशय से भी, सद् उद्देश्य से भी, अंतरात्मा की प्रेरणा से ही, ऐसे उपदेश दें और तो भी नई पुश्त के चित्त मे दोष ही उत्पन्न हो, तो कहना

और सुनने वाले के भाग्य ही का दोष जानना मानना चाहिये, और क्या कहा जाय?

मातृजङ्घा हि वत्सस्य स्तम्भीभवति दोहने, (रघुवंश) ।

गाय दूहने के समय, बछवे को बांधने के लिये, उसकी माता गाय का ही पैर स्तम्भ का, खम्भे का, काम देता है।

अल्पवयस्कों को, ऐसे प्रश्नों के उत्तर में, जिनकी चर्चा पृ० २२५ पर की है, क्या बतलाया जाय, इस विषय पर, पुनः इस अध्याय के 'परिशिष्ट' में, कुछ लिखने का यत्न किया जायगा।

ब्रह्मचर्य के गुण

पृ० २०७ पर, इसी शीर्षक का अधिकरण ('सेक्शन', 'टापिक'), शरीर के तीन स्थूणों खंभों की, तथा ओजस् की, चर्चा से समाप्त किया गया। अव-रोह मार्ग से, (अव-रोहण, सर्जन, स-चरण, प्र-वर्त्तन से), अनन्त ब्रह्म परमात्मा का ही प्रति-बिम्ब, व्यक्तीकृत, वि-परीत उलटा किया, स्थूल रूप, 'शुक्र (ब्रह्म सनातन)' है। आ-रोह-क्रम से, (प्रति-सचरण,

पृ० १७७५,२, इस 'कामाऽध्यात्म' अध्याय के आरम्भ में बतलाया है कि पहिले लिखे एक छोटे निबन्ध का यह उपबृंहण है। उस निबन्ध का प्रायः पञ्चम अंश इसके पृष्ठ २०५ तक में समाप्त हुआ, उस पृष्ठ पर, 'ब्रह्मचर्य के गुण', इस शीर्षक से, एक अधिकरण आरम्भ हुआ, तब प्रसङ्ग, प्रसङ्गान्तर, अन्य सूक्ष्म बातों की चर्चा की गई, उन सब बातों की परिक्रमा कर, घूम फिर कर, विचार पुनः 'ब्रह्मचर्य के गुण' की ओर आ गया, स्मरण के सौकर्य के लिये, इस अधिकरण का शीर्षक पुनः यहाँ दिया जाता है। शक्ति और उत्साह के अभाव से इस भी उपबृंहण बहुत कम ही हो सका।

प्र-लयन, नि-वर्त्तन, प्रति-सर्जन से), 'शुक्र'-शक्ति को उलटा फेरने से, नीचे उतारने के बदले ऊपर चढाने से, बहिर्मुख के स्थान पर अंत- र्मुख करने से, जीव, पुनः सूक्ष्म सूक्ष्मतर भावो का अनुभव करता हुआ, अव्यक्त परब्रह्म परमात्मा के भाव को प्राप्त करता है। योग- विधियों के अभ्यास से निरोध करके, यदि वीर्य-धातु आत्मलीन किया जाय, तो सिद्धियों मे परिणत होता है, ऐसी योग ग्रन्थों की सूचना है, वह शक्ति बाहरी कार्यों मे व्यय न होकर, भीतर फिरती है, शरीर और मस्तिष्क के सुप्तप्राय चक्रो, पीठों, कन्दों का, दिव्य इंद्रियो का, उद्बोधन संचालन करती है; स्थूल संतान के स्थान पर सूक्ष्म शरीर का ('जिस्मि- लतीफ' का) निर्माण करती है, जिससे 'खे-चर' सिद्धि होती है; 'खं', चित्ताकाश मे, विचरण की शक्ति, मानस शक्ति, कल्पना शक्ति, जिसके द्वारा सब प्रकार के काव्य साहित्य और विविध शास्त्रों के ग्रन्थों का निर्माण होता है, इसी 'खे-चर' शक्ति का एक साधारण रूप है। प्राणि-सृष्टि में जितना ही नीचे जाइये, उतनी ही उदर-शिश्न-परायणता अधिक देख पड़ती है, दिन रात, आहरण (आहार) और प्रजनन, इन्हीं दो कार्यों में जन्तुओ की शक्ति लगी रहती है, बुद्धि का विकास नहीं होता; मनुष्य योनि मे आकर, जितनी ही भोजन-सन्तानन-कार्यों की रोक होती है, उतनी ही बौद्ध कार्यों की वृद्धि। ब्रह्म-आनन्द का विवर्त्त काम-आनन्द है; "स ऐक्षत बहु स्याम्" "तत् सृष्ट्वा तद् एव अनुप्राऽविशत्", "तद् यथा प्रियया भार्यया संपरिष्वक्तः न बाह्य किंचन वेद नाऽभ्यन्तरं", इत्यादि वाक्यों से उपनिषदों ने, जीवात्मा-परमात्मा के सम्मेलन का भी, और स्त्री-पुरुष के समाश्लेषण का भी, वर्णन किया है, पर यह न भूलना चाहिये कि जीव और ब्रह्म का ऐक्य उत्-तम है, मोक्ष है, शुद्ध अमृत है, एक रस निश्चल निष्क्रिय अमत्र्य है; स्त्री-पुरुष-संगम अधम्-तम अधम है, अंशतः विनाश्य अमृताऽभास है, बहु-रस-दुःख-पूर्ण चंचल क्रियामय आगमापायि क्षणिक जनन-मरणमय है। कामशास्त्र मे मैथुन को अष्टांग कहा है,

स्मरण, कीर्त्तन, केलि, प्रेक्षण, गुह्यभाषण,
सकल्पो,ऽध्यवसायश्च, क्रियानिष्पत्तिर् एव च,

इसके विपरीत, योग भी अष्टांग है, "यम-नियम-आसन-प्राणायाम प्रत्याहार धारणा-ध्यान-समाधय।" इस विषय का विस्तार, मैं ने "मानव-धर्म-सार" नाम के अपने संस्कृत-पद्य-ग्रन्थ मे किया है।

बहुकाम के दोष

स्त्री-वीर्य (जिसका नाम रजस् है, पर जो रजस्वला के बहिर्दृश्यमान 'रुधिर' से भिन्न है, और जिसको अंग्रेजी मे 'ओवम्' कहते है), और पुरुषवीर्य, आहारादि का सार और अहंता-ममता काम का विशेष आधार है। इनका शरीर मे अधिक संचय, और सद्बुद्धि की मात्रा कम, होने से, ऐश्वर्यमद का प्रधान आविष्कार यह होता है कि पुरुष बहुत स्त्रियों को ब्याह लेते है, अथवा घर मे डाल लेते है। तथा स्त्रियाँ, जिन देशों मे ऐसी प्रथा है, बहुत पुरुषों को ब्याहती या रखेल कर लेती है, अथवा गुप्त जार बना लेती है[1]। पूर्व और पश्चिम देशो के प्राचीन-अर्वाचीन पुराण-इतिहास मे, जो राजा-महाराजा-साम्राजों, शहनशाह-पादशाह-सुलतानों, किंग-कैसर-एम्परर्रो की कथा मिलती है, उनसे मालूम होता है कि एक एक 'अवरोध' ('हरम') मे कई कई हजार स्त्रियाँ तक समय समय पर भरते भरते जमा हो जाती थी। कृष्ण की सोलह हजार एक सौ आठ पत्नियाँ प्रसिद्ध है। उन के बहुत पुराने पूर्वज राजा रजि की एवं ऐसा लिखी है। यह सब पौराणिक अत्युक्ति हो सकती है, पर सर्वथा नहीं। ईरान के इतिहास मे सैकड़ों और हज़ारों स्त्रियों के हरम मिलते है। रोम के किसी किसी सम्राट् के भी सैकड़ों के थे।

---

[1] वात्स्यायन ने ऐसे कुछ देशों की चर्चा की है। वेस्टरमार्क की 'हिस्टरी ऑफ ह्यूमन मैरेज', तीन बड़ी जिल्दों मे (पुनर्लिखित पंचम संस्करण, १९२१ ई०), विवाह के प्रकारों पर अध्याय [illegible]।

ईसा से हज़ार वर्ष पूर्व, यहूदियों के सबसे प्रतापी प्रसिद्ध बुद्धिमान् विद्वान् ('दि वाइज़'), किन्तु इस विषय मे अन्य राजाओं के ऐसे दुर्बुद्धि, हज़रत सुलेमान की सात सौ बीवियाँ लिखी है। ईसवी पंद्रहवीं शताब्दि मे दक्षिण के विजयनगर के साम्राज्य मे, एक राजा के अवरोध मे बारह हजार स्त्रियो का रहना लिखा है। सोलहवी शताब्दी मे, अति धनसंपत्, अति भोगविलास, अति मांस-मद्या-ऽहार, अति गर्व के कारण, यह साम्राज्य, सुराज्य प्रबन्ध की बुद्धि और नीति मे, तथा शूरता से प्रजारक्षा की शक्ति मे, शिथिल हो गया, इसकी समृद्धि, यूरोप के अभ्यागतों के वर्णन से, युधिष्ठिर की मयनिर्मित सभा और कृष्ण की सुधर्मा सभा की, महाभारत-हरिवंश आदि मे लिखित, समृद्धि से भी अधिक आश्चर्यकारी जान पडती है, कई पड़ोसी मुसल्मान राजाओं के मिल कर आक्रमण करने से ऐसा विध्वस्त हो गया, कि कुछ वर्षों पीछे उस की स्मृति भी भारतवर्ष मे भूल-सी गई थी। अब इतिहास गवेषकों ने अपनी खोज के बल उस स्मृति को ताज़ा किया है। मुश्किल से ढाई सौ वर्ष मे यह साम्राज्य जन्मा, बढ़ा, तपा, और, अति काम के कारण ही, समूल नष्ट हो गया। हम्पी नामक स्थान मे, इस के विशाल खंडहल मिले हैं।

यह सोलहवीं शती ई० की बात है। ई० सन् १८५७ के सिपाही संग्राम के पीछे, अवध के नवाब वाजिद अली शाह के साथ, कलकत्ते के पास मटियाबुर्ज को, सात सौ बेगमें गईं, ऐसा किंवदन्ती पचास साठ वर्ष पहिले थी। ई० सन् १९०६ में मुझे काशी 'सेंट्रल हिंदू कालिज' के लिये दान माँगने को, हैदराबाद (दक्खिन) जाने का अवसर हुआ। वहाँ दो-मंजिले मकानों का एक बड़ा भारी घेरा किले के ऐसा, शहर के भीतर देख पड़ा; लोगों ने कहा कि इस में भूतपूर्व निज़ाम के बयालीस सौ 'महल' थे। लखनऊ में पुराने बाशिन्दों से यही कहा जाता है, कि वाजिद अली शाह के 'महलों' का एक घर, और उस की बावलियों में 'चीरहरण लीला' की जाती थी, इत्यादि

परिणाम जो हुआ प्रसिद्ध है। कुछ वर्ष हुए, काशी के 'आज' अखबार मे, कुँवर मदन सिंह नाम के एक देशभक्त उच्चवंशीय राजपुत्र ने, राज-पुताने की एक रियासत के दुराचारों का हाल कई लेखों मे छपवाया, और वहाँ के राजा के 'अवरोध' की दशा का भी वर्णन किया।

'अवरोध' शब्द 'रुध्' धातु से बना है, जिस का अर्थ 'रूधना', घेर कर रोकना, जैसे कारावास। अवरोधों मे क्या विपत्तियाँ राजा पर पड़ती है, तथा राजा के कुल पर, और उस प्रजा पर जिसके दुर्भाग्य और दुष्कर्म से उसको ऐसे राजा मिलते हैं—यह व्यास वाल्मीकि महर्षि ऐसे इतिहासकारों ने दिखाया है, इन्हों ने, कार्य-कारण सबंध को देखनेवाली सूक्ष्म आध्यात्मिक दृष्टि से, वैयक्तिक तथा सामूहिक मानव-जीवन को, राग-द्वेष, काम-क्रोध, और इन के अवान्तर भावों की ही अनन्त माया-क्रीडा का प्रवाह पहिचाना और कहा है। कृष्ण के पुत्र साम्ब को कैसे अपनी विमाताओं के साथ व्यभिचार करने से कुष्ठ रोग हो गया, और कैसे तपस्या से अच्छा हुआ, यह कथा भविष्य पुराण मे कही है। तथा कृष्ण के पृथ्वी छोड़ने के बाद उन के अवरोध की क्या दुर्दशा हुई, यह भी प्रसिद्ध है। प्रत्येक अवरोध की प्रायः ऐसी ही दशा होती रही है। आस पास के तत्कालीन लोग जानते हैं, पर इतिहासकार प्रायः नहीं लिखते। क्षत्रियों मे कितनी ही स्त्रियाँ राजा के मरने पर, या राष्ट्र-विप्लव पर, एव साथ 'सती' स्वय होती थीं, या जबर्दस्ती आग मे डाल दी जाती थी। ऐसी घोर क्रूरताओं का फल सारे समाज का पतन है। इतिहासकारों को ऐसे कार्य-कारण, विशेष रूप से दिखाना चाहिये। अन्यथा, इस विषय मे अज्ञान और स्मृति-भ्रंश होने से, बुद्धि-नाश और व्यभिचार, देश मे, समाज मे बढ़ता है और अन्त मे समाज को डुबाता है। काम-शास्त्र के ग्रन्थकारों को भी ये बातें ध्यान मे रख कर ही ग्रन्थ लिखना चाहिये, कि उन के ग्रन्थ, समाज के अधः-पात मे सहायक न हों।

वात्स्यायन ने काम-सूत्र मे ऐसे अन्तःपुरों के व्यभिचारों की कुछ चर्चा की है। पर उनके वर्णन की अपेक्षा वास्तविक अवस्था बहुत अधिक भयङ्कर और बीभत्स रही, और है। इस विषय की विशेष पुस्तकों से उन का हाल जाना जा सकता है।[1]

कामीय ईर्ष्या से, न जाने कितनी स्त्रियों, कितने पुरुषों, की हत्या, राजमहलों मे की गई है, ज़हर से, फाँसी से, छुरे तलवार से, बन्दूक पिस्तौल से, ज़िन्दा गाड देने और दीवार मे चुनवा देने से, अन्तःपुर की खिड़कियो के नीचे मगरों से भरे तालावों मे फेंक देने से, इत्यादि। कितने ही राजवंश, ऐसे ही कारणो से बदल गये है, असली हकदार मार डाले गये, व्यभिचार के जने, जार-ज, पुरुष, उनके स्थान पर गद्दी पर बैठा दिये गये, इतिहासों की सूक्ष्मेक्षिका से ऐसी बातों का पता चलता है। एक राजा, अवध-प्रांत के, जिनको मरे प्रायः तीस वर्ष हुए होंगे, कहा करते थे कि 'बारी' (खिदमतगार) का लड़का राजा, और राजा का लड़का बारी होता है। दैनिक समाचार पत्रो मे, मैथुनीय ईर्ष्या के कारण की गई हत्याओं के मुक़द्दमो की चर्चा अक्सर होती रहती है।

इन सब बातों को यहाँ लिखने का तात्पर्य यह है कि, कामशास्त्र के अध्येता को चेतावनी की कमी न हो, कि आहारेच्छा, परिग्रहेच्छा, और कामेच्छा के सुप्रयोग मे सर्वस सुख, और दुरुपयोग मे दुःख सर्वस्व मनुष्य को मिलता है। दुष्ट-काम के कारण रावण का महावंश नष्ट हुआ और सोने की लंका जली, अत्याहार, अति लोभ, अति बलमद गर्वमद, अति ईर्ष्या से, भीम-दुर्योधन की, अर्जुन कर्ण की, परस्पर प्रतिस्पर्द्धा से महाभारत का युद्ध हुआ। अति परिग्रह-लोभ से, अति धन-मद से

---

[1] श्री कन्हैयालाल गौबा की 'दि [illegible] आफ इण्डियन [illegible]' [illegible] का हाल, और [illegible] में [illegible], [illegible] कुछ लिखा है।

तथा समाजव्यापी इन्द्रिय-लौल्य, भोग-लोलुपता, विषय-मग्नता से, कलह बढ कर, १९१४–१८ ई० मे, महायूरोप का महा-समर हुआ, जो महाभारत के युद्ध से दस गुना दारुण, रोग सचारक, प्रजा-विनाशक सम्पत्ति-क्षय-कारक हुआ, और अब पुनः, उससे भी अधिक घोर विश्व-युद्ध हो रहा है। महाभारतीय सग्राम मे अठारह अक्षौहिणी अर्थात् कोई चालीस लाख आदमी कटे, और यूरोपीय मे (युनाइटेड स्टेट्स अमेरिका के विशेषज्ञो की गणना से) एक करोड तीस लाख मरे, और इनके पाच गुने छ गुने भूख और बीमारियो से। सब देशो के चिकित्सकों मे प्रसिद्ध है कि, नब्बे फ़ी सदी रोग, जिह्वा और उपस्थ के अतिलौल्य मे और दुरुपयोग मे होते है, और दस फ़ी सदी बाहरी कारणो से।*

उचित काम-सेवन की उपयुक्तता।

यहां यह भी कह देना चाहिये कि, प्रवृत्ति मार्ग पर, तीनो इच्छाओं की, उचित मात्रा मे, उचित रीति से, तृप्ति करना भी आवश्यक है। असमय अत्यन्त निरोध से भी दोष उठते है, जैसे अत्यन्त व्युत्थान से। पर इतना ज़रूर है कि, अति निरोध मे जनित आपत्ति प्राय व्यक्ति ही पर पडती है, और अति व्युत्थान मे उत्पन्न, बहुतो पर, इस लिये

---

* १९१४–१८ के विश्वयुद्ध मे, सदा चार वर्षो मे, यूरोप मे एक कोटि तीस लक्ष कटे, १९१८ के अन्त और १९१९ के आदि मे, सदा चार महीनो मे, भारत मे, गवर्मेंटी गणना से, साठ लाख, और कतिपय मत से करोड़, आदमी, 'वार-फीवर', 'इन्फ्लुएंजा' 'न्यूमोनिक प्लेग' से मर गये, मुख्य कारण यह था कि भारत मे, जीवन की आवश्यकीय वस्तु, अन्न वस्त्र आदि सब, यूरोपीय युद्ध के लिये ब्रिटिश गवर्मेंट ने खींच ली, और यहाँ भूख और हाल के निवारण के लिये नहीं रखा।

अति व्युत्थान से अति निरोध कम बुरा जान पड़ता है। अमर्याद अति निरोध से विविध बीमारियाँ उत्पन्न हो जाती हैं; यथा,

शुक्राश्मरी च महता जायते शुक्रधारणात्, इत्यादि, (वाग्भट),

वीर्य की 'पथरी', शुक्रमेह, क्लीबता, अतिस्थूलता, आदि।

हाँ, यदि सच्चा वैराग्य हो कर मन मे ही काम-वासना न उठे, वा बहुत कम उठे, तब रोग का भय नही है। प्रतिपद, जीवन के सभी व्यवहारों मे, याद रखने की बात है कि,

आश्रयेन मध्यमा वृत्ति, अति सर्वत्र वर्जयेत्,

बीच का रास्ता पकड़ो, अति से सर्वथा, सर्वदा, सर्वत्र, दूर रहो। सबको सारी उमर में, हित और मित भोजन की, प्रत्येक इन्द्रिय के अपने विषयरूपी आहार की, ज़रूरत है। वैसे ही, युवा और प्रौढ़ अवस्था में स्त्री-पुरुष को हित, मित, धार्मिक, वैवाहिक, रति-प्रीति रूपी परस्पर आप्यायन तर्पण की भी आवश्यकता है। ऐसे आहार के बिना चित्त में और शरीर में कृशता, दुर्बलता, आधि-व्याधि, उत्पन्न होती है। उचित ब्रह्मचर्य पूरा करने के बाद, विवाह और गार्हस्थ्य, साधारण स्त्री पुरुष को करना ही चाहिये। यह उत्सर्ग है, नियम है। हाँ, अपवाद, कभी कदाचित् सभी उत्सर्गों के होते हैं। लाख, दो लाख, या दस लाख मे एक स्त्री या पुरुष ऐसा होगा, जो नैष्ठिक आत्यन्तिक आमरण शुद्ध ब्रह्मचर्य के योग्य, अपनी प्रकृति से, हो। ऐसे विशिष्ट व्यक्तियों को सच्चे ऋद्धि और योगसिद्धियों का सम्भव होता है। ऐसे ही कारणों से मनु ने कहा है कि पूरा ब्रह्मचर्य छत्तीस वर्ष का होता है, जिस मे ब्रह्म का पूर्ण अनुभव और संचय, समग्र वेद का, ज्ञान-सर्वस्व का, पूर्ण धारण, जाय, जो इस को साध सकै वही उत्तम, सच्चा, तपस्या और विद्या सम्पन्न, ब्राह्मण होगा, पर यह बहुत कम लोगों के लिये सम्भव है। इस लिये अक्सर लोगों को, '[illegible]', अठारह वर्ष में ही, तथा बहुतों को, '[illegible]', नौ वर्ष में ही, अथवा, सर्वसंग्राहक शास्त्रों में, 'प्र

णांतिकमेव वा', जो विद्या जिस को विशेष रूप से अभीष्ट हो उस का ग्रहण हो जाने तक ही, ब्रह्मचर्य निबाहना चाहिये।

काम-जनित उन्मादादि।

कामवासना के दुष्प्रयोग से परम्परया बहुतों को हानि पहुँचती है, भयंकर संचारी संक्रामक रोग, उपदंश,[1] फिरंग रोग (गर्मी), आदि, शारीर व्याधियाँ समाज में फैलती है, संतति निर्बुद्धि, दुर्बुद्धि, पागल, पशुवत्, होती है, और मानस व्याधियाँ, उन्माद आदि, भी, प्रायः काम दोष से होती हैं, जिन से चारो ओर दुःख का प्रसर्पण विसर्जन होता है, और नयी पुश्तें अधिकाधिक भ्रष्ट, आसुर-प्रकृतिक, पशु-प्रकृतिक, होती जाती हैं।

अध्यात्मशास्त्र में षट्रिपु, अन्तरारि, के नाम से, प्रायः छः चित्त-विकार कहे हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह (भय), मद, मत्सर। अन्य पाँच को, एक दृष्टि से काम ही की सेना कहा जा सकता है। काम-सामान्य की सन्तति ये निश्चयेन हैं।

> संगात् संजायते कामः, कामात् क्रोधोऽभिजायते,
> क्रोधाद् भवति संमोहः, संमोहात् स्मृतिविभ्रमः,
> स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात्प्रणश्यति, (गीता)।

संग से काम, काम के विघात से क्रोध, क्रोध से आँख पर पर्दा, मोह, उस के कारण (क्रोध के वश हो कर, हिंसा या वध करने से क्या अनिष्ट फल होता है, इस) स्मृति का विभ्रम, उस से बुद्धि-भ्रंश, उस

---

१ उपदंश के विषय में वैद्यों में कुछ मतभेद है, कोई कहते हैं कि यह आतशक, गर्मी, फिरंग रोग ही है, दूसरों की राय है कि फिरंग-रोग यूरोपियनों के ही साथ भारत में आया, उपदंश, जिसकी चर्चा पुराने ग्रन्थों में है, वह दूसरा ही रोग है।

से सर्वस्व-नाश—यह अनुचित अति काम के फलों की अनर्थ-परम्परा है। पर काम विशेष से भी क्रोधादिक की, विशेष रीति से उत्पत्ति होती है। कचहरियों मे देखो तो मामिले मुकद्दमे, या तो परिग्रह-जायदाद के हेतु, या काम-विशेष के हेतु, देख पडते है। अस्पतालों मे काम विशेष से उत्पन्न रोगों से पीड़ित बहुतेरे रोगी मिलते है। 'ल्युनाटिक-असैलम', 'मेण्टल हास्पिटल', 'उन्माद-चिकित्सालयों' में, प्रायः काम विशेष से उत्पन्न उन्माद के रोगी होते है।

पश्चिम के उन्माद-गवेषकों ने उन्माद के प्रकारों की कई मुख्य जातियाँ, राशियाँ, बनाई हैं। प्राचीन अध्यात्म दृष्टि से छः प्रधान जातियाँ होनी चाहियें, उक्त छः क्षोभो की 'अति' से। पाश्चात्य गवेषक इन के पास पहुँचे हैं, पर अभी ठीक-ठीक इन तक नहीं आ गये हैं, न उन्हों ने अब तक इस की खोज की है कि क्यों इतनी ही राशियाँ मुख्य माननी चाहियें। इस पर विस्तार अन्यत्र किया गया है[1]। यहाँ थोड़े मे इन छः राशियों को सूचना देना उचित है (१) कामोन्माद (पश्चिम के डाक्टर इसे 'एरोटो-मेनिया' कहते है), (२) क्रोधोन्माद ('होमिसाइडल-मेनिया'; यदि 'माइडो-मेनिया' नाम रखते तो अच्छा होता), (३) लोभोन्माद ('क्लेप्टो-मेनिया'), (४) मोहोन्माद, वा भयोन्माद, (इस के लिये अंग्रेज़ी मे अभी कोई शब्द तजवीज़ नहीं हुआ है, 'फोबो-मेनिया' अच्छा होगा), (५) मदोन्माद ('मेगालो-मेनिया'), (६) मत्सरोन्माद, (इसके लिये भी कोई अंग्रेज़ी शब्द ठीक नहीं हुआ है, 'ज़ेलो-मेनिया' प्रायः अच्छा होगा)। अन्य सब प्रकार, इन्हीं छः के अवान्तर भेद समझे जा सकते है। 'मेनिः', 'मेनय.', शब्द, संस्कृत चित्तविकार और उत्कट इच्छा के अर्थ मे, ऐतरेय ब्राह्मण मे आया है।

---

१ 'दि साइन्स ऑफ दि इमोशन्स' तथा 'दि साइंस ऑफ सोशल ऑर्गनिज़ेशन' मे, तथा 'साइकोऐनालिसिस' विषयक मेरे लेखों मे।

पाश्चात्य उन्माद-शास्त्रियो का विचार है कि प्राय सभी उन्मादो की जड मे मैथुन्य काम-विकार ही है । यह ठीक नहीं । ऐसे काम से असम्बद्ध अति लोभ, भय, क्रोध, मद आदि भी कितनो का मूल-कारण होते है। पर अधिकाश उन्माद का हेतु मैथुनीय काम-विकार है, चाहे काम की अति मात्रा, चाहे व्याहति, चाहे काम-सम्बन्धी साध्वस, ईर्ष्या, असन्तोष, भय, क्रोध आदि ।[1]

> ससारसुखसर्वस्वे, योषा पु-रागसम्भवे,
> खडिता दुर्भगा याति विविधा वै विरक्तताम ।

काम-प्रेम राग के विषय मे जिन स्त्री-पुरुषो की आकाक्षा खडित हो जाती है, उन को तरह तरह के मानस विकार, शका, ग्लानि, उद्वेग, असूया, निराशा, विराग, उन्माद, मूर्छा, देहशोष, कामज्वर, मरण तक होते है, इनकी चर्चा पृ० ३०९-३१० पर की गई है । पौराणिक रूपक मे, काम-क्रोध-अहकार के देवता भव-हर-रुद्र के गण, प्रमथ भूत-यक्ष -पिशाच आदि, उन्मत्त-प्राय प्राणी होते है, इन्ही गणों के पृथ्वी पर प्रति-रूपक, विविध-पन्थो के विविध-वेशधारी 'विरक्तो' को समझना चाहिये । इस विषय पर, इधर तीस चालीस वर्ष मे, जर्मन जातीय आचार्य, मृअर, फ्राइड, तथा उन के शिष्य प्रशिष्य, युग, ऐड्लर, आदि ने, बहुत गवेषणा करके बहुत ग्रन्थ लिखे, इन मे, स्वप्नो के वर्णन से, मनुष्य के मन के भीतर दबे छिपे, निरुद्ध, अव्यक्ती-भूत, काम-विकारों की 'हृदय-ग्रन्थियो', काम-जटाओ', का पता लगाने का, एक नया उपशास्त्र, 'सैको-ऐनालिसिस' के नाम से, खड़ा कर दिया है । भर्तृहरि के उक्त श्लोक की विस्तृत व्याख्या ही इस

[1] ग्रीक भाषा के 'मेनिया' शब्द का अर्थ 'उन्माद' है, तथा 'ईरोस' का 'काम', '[illegible]' का [illegible] 'फोबास' का भय, 'मेगास' का बडा, [illegible], (अपने को बडा जानना अहंकार, अभिमान) 'ईरोस का प्रतिरूप' लैटिन भाषा के '[illegible]' का [illegible] करना ।

उप-शास्त्र को, एक दृष्टि से, मान सकते है। यह उप-शास्त्र बहुत उपयोगी है। अभी इस के सिद्धान्त पश्चिम मे स्थिर नहीं हो पाये है, बहुत विवाद-ग्रस्त हैं। पर पूर्वीय वेदान्त-शास्त्र, योग-शास्त्र, साहित्य-शास्त्र की सहायता से यदि ये स्थिर कर लिये जायें, तो काम-शास्त्र मे, सामान्य रीति से, इन की मूल बातों का समावेश करना लाभदायक होगा। इस विषय पर, पृ ३००-३०५ पर लिख आये हैं।

कामशास्त्र; तीन अंग।

जब मानव जीवन के अर्ध भाग, प्रवृत्ति मार्ग, का प्रधान पुरुषार्थ काम है, और उसके पाने की राह, ऐसी सुख-दुःख, आशा-भय, सम्पत्ति आपत्ति, मानस-शारीर आधि-व्याधि, से पुष्पित-कंटकित है; तो यथा-सम्भव फूलों के विकासन के भी और काँटों के निष्कासन के भी उपाय सीखना, मनुष्य को परम आवश्यक है। इन दोनों उपायों के सिखलाने वाले शास्त्र का ही नाम कामशास्त्र होना उचित है।

> शास्ति यत्साधनोपायं पुरुषार्थस्य निर्मलम्,
> तथाएव बाधनाऽपायं, तच्छास्त्रमृउति कथ्यते।

किसी पुरुषार्थ, धर्म, अर्थ, काम, या मोक्ष, के साधन के उत्तम निर्मल निर्दोष उपायों को, तथा बाधन के अपायों, रोकने, दूर करने, वर्जने प्रकारों को, बतावै, सिखावै, शासन करै—यही शास्त्र की शास्त्रता है। जो ऐसा करै वही ठीक-ठीक शास्त्र कहला सकता है।

इस लक्षण को ध्यान मे रख कर कामशास्त्र का सर्वांगीण ग्रन्थ तैयार किया जाय तो उस मे प्रायः ये अंग होने चाहियें।

१—ज्ञानांग, २—[illegible] (इच्छा-शक्ति स्थानीय), ३—कर्मांग।

ज्ञानांग

अध्यात्म स्थान

(क) अध्यात्म-स्थान। (१) पारमात्मिक, पारमार्थिक, दृष्टि से स्त्री-पुं-भेद, काम, रति-प्रीति, सौन्दर्य, यौवन, और वीर्य, [illegible]

स्वरूप का वर्णन, ये सब क्या हैं और क्यों हैं। (इस के दिग्दर्शन मात्र का यत्किंचित् यत्न ऊपर किया गया है, और 'दि सायंस आफ पीस' तथा 'दि सायंस आफ इमोशन्स' में कुछ अधिक किया है)। अंग्रेजी शब्दों में इस अंश को 'दि फिलासोफी, आर् मेटाफिजिक्स, आफ सेक्स' कहा जायगा। इस का संकलन, प्रायः वेदान्त-शास्त्र के बल से ही करना होगा। पाश्चात्य ज्ञान में इस में सहायता कम मिलेगी। (२) जैवात्मिक, व्यावहारिक, दृष्टि से, काम के आकार, प्रकार, विकार, आविष्कारों का वर्णन। इस पर संस्कृत के साहित्य-शास्त्र में, तथा पश्चिम के 'दि साइकालोजी ऐण्ड पैथालोजी आफ सेक्स' के अब विशाल साहित्य में, बहुत सामग्री है। अंग्रेज़ी में इस अंश को 'दि साइकालोजी आफ सेक्स' कहते हैं।[1]

शारीर स्थान

(ख) शारीर स्थान। (१) स्त्री-पुरुष के प्रजनन-इन्द्रियों का, उन के सूक्ष्म अवयवों का, एक एक के विशेष-विशेष रसों का, गर्भाधान और सतान-उत्पत्ति में उपयोगों का, वर्णन।[2] (२) तथा इन के रोगों का,

---

1 Havelock Ellis, *The Psychology of Sex* 7 vols Iwan Block *The Sexual Life of our Time* (*Germany*) 1 vol. (*Britain*) 2 vols Krafft-Ebing, *Psychopathia Sexualis* etc

२ इस विषय पर, हिन्दी में, वर्णनिक शैली से लिखे अब ग्रन्थ निकलने लगे हैं, किन्तु, विज्ञापनों से, मालूम होता है। मेरे देखने में एक आया डाक्टर ए० ए० दास का लिखा 'जन्मनिरोध' (१९४० ई०, ज्ञान पुस्तकालय बनारस)। यद्यपि नाम 'जन्म-निरोध' है, पर पुरुष और स्त्री की प्रजनन इन्द्रियों का वर्णन, नाना अवयवों के, चित्र सहित, अच्छा किया है, जन्म-निरोध सम्बन्धी बातों का भी प्रतिपादन, प्रामाणिक रीति से किया है। इस के [illegible]

रोगों के कारणों का, रोगों से बचाये रखने के उपायों, अर्थात्, नित्य शौच के प्रकारों, का। (२) इस सम्बन्ध मे, ओषधि-वनस्पति वृक्ष-गुच्छ गुल्म तृण-प्रतान-वल्ली-रूप स्थावरों के, तथा विविध जंगमों के, प्रजनन के प्रकारों का वर्णन। तीन प्रकार मुख्य है; पहिला प्रकार, अलिंग-अमैथुन, कोई

मे, डाक्टर त्रिलोकीनाथ वर्मा का ग्रन्थ, "हमारे शरीर की रचना" (दो जिल्द, १९३८-१९४०) देखा, इसकी दूसरी जिल्द के अन्त मे, स्त्री-पुरुष की प्रजनन इंद्रियों का अच्छा और प्रामाणिक वर्णन किया है, तथा गर्भाधान, गर्भ मे शिशु की अवस्था, और प्रसव का भी। वात्स्यायन के काम सूत्र का हिन्दी मे अनुवाद, श्री विजयबहादुरसिंह ने किया है (महाशक्ति प्रेस, बनारस), उसी के लिये, भूमिका के रूप मे "कामाऽध्यात्म" का प्रथम लघुरूप लिखा गया था, विजय बहादुर जी ने अनुवाद अच्छा किया है, पाश्चात्य ग्रन्थों के ज्ञान से भी, अनुवाद को, स्थले स्थले, उपबृंहण किया है, और दुराचारों व्यभिचारों के विरुद्ध चेतावनी भी दी है, इन्हीं ने प्रजनन इन्द्रियों का वर्णन भी किया है, जो वात्स्यायन ने सर्वथा छोड़ दिया है, यद्यपि नामोल्लेख, विजय बहादुर जी ने नहीं किया, पर मिलाने से विदित होता है, कि उन्हों ने, डाक्टर त्रिलोकीनाथ के ग्रन्थ से ही बहुधा शब्दशः उद्धरण किया है, एक जगह, "मर्मारणी, चान्द्रमसी, गौरी", इन तीन नाड़ियों की चर्चा की है, कहां से इनका हाल मिला, सो नहीं लिखा; अभी थोड़े दिन हुए, "पञ्चसायक" नाम का ग्रन्थ मेरे देखने मे आया, इसके "नाड़ीज्ञान मु[illegible]द्र-प्रकरण" मे इन नाड़ियों की चर्चा की है, और कहा है कि, स्त्री-योनि की मर्मारणी नाम की नाड़ी मे पुरुषवीर्य पड़ने से निष्फल होता है, चान्द्रमसी मे कन्या जन्मती है, गौरी मे बालक, पर "पञ्चसायक"-कार ने यह किस प्रमाण पर लिखा, सो यह नहीं मालूम होता, तथा, उस ग्रन्थ मे, इन चार पाँच [illegible] लिखा, वात्स्यायन की बातों से अन्य, कुछ भी नहीं है। "रतिरहस्य", "अनङ्गरंग", "स्मर-प्रदीप" आदि अन्य ग्रन्थ भी, जिनसे विजय बहादुर जी ने कहीं कहीं उद्धरण किये है, वात्स्यायन के कुछ अंशों का [illegible] अनुवाद मात्र है।

प्ररोही, है कितने ही पौधे ऐसे है जिन की एक टहनी, काट कर जमीन मे गाट देने से, जड पकड लेती है. तथा जल मे रहनेवाले कई चाल के अणु कीट भी ऐसे होते है जो फूल कर फटते और दो टुकडे हो जाते है, और प्रत्येक टुकडा स्वतत्र कीटाणु हो जाता है, और फिर फूलता है, फटता है, परम्परया । सृष्टि का दूसरा प्रकार, उभयलिंग-अतर्मैथुन, बीजप्ररोही, है, जैसा अधिकांश ओपधि-वृक्षादिकों का, इन के फलो के बीच मे जो सूत्र या जीरे निकले रहते है, उन मे से कुछ पुरुप-लिंग और कुछ स्त्री-लिंग होते है दोनो के मुख-भाग को सूक्ष्मेक्षिका से देखने से भेद प्रत्यक्ष जान पडता है, पुरुप-सूत्रो के मुख पर से पराग झड कर, अथवा विविध प्रकार के फनगो (पतगो) मधुमक्खियों आदि के द्वारा, स्त्री-सूत्रो की नाली मे प्रविष्ट हो कर बीज बनता है, पाशव और मानव पुरुप शरीरो मे, अव्यक्त रूप से, स्त्री चिन्ह, और स्त्री शरीरो मे पुरुप चिन्ह, सभी को होते है, और किसी अति प्राचीन युगांतर मे उनकी उभय-लिंगता, अर्धनारीश्वरता, का प्रामाणिक अनुमान कराते है । इन सब बातो का सक्षेप मे पर विशद रूप से, वर्णन होना चाहिये ।[1] तीसरा प्रकार, सृष्टि का, भिन्न-लिंग समैथुन है, जैसा इस युग मे अधिकाश कीट, पतग, दश, मक्खिका, सरीसृप, मत्स्य, पशु, पक्षियो मे, और मानवो मे है । इन के सयोग के और गर्भाधान के प्रकारो का वर्णन होना चाहिये । इस विपय मे पाश्चात्य आचार्यों ने भारी परिश्रम से बडी गवेषणा की है, और बडे रोचक और शिक्षक ज्ञान एकत्र किये है । किन्ही किन्ही प्राणि-जातियों मे

---

१ [illegible] प्रजा पूर्वं न व्यवर्धन्त [illegible]
[illegible]

पुराणो मे कहा है कि आदिकाल मे [illegible] विचित्रता नहीं हुई [illegible] ने [illegible] किये, [illegible] हुई ।

नारी, गर्भाधान के बाद, नर को मार डालती है और खा जाती है; किन्ही मे स्त्री-वीर्य पानी पर उतरा आता है, तब नर उस पर पुरुष-वीर्य छिडक देता है; किन्ही मे, यथा मधुमक्षिका और दीमकों मे, एक ही 'रानी' होती है, और वही गर्भ-धारण करती और हज़ारों बच्चे देती है जिन मे से दस-बीस ही, विशेष प्रकार का पदार्थ खिला कर, नर बनाये जाते हैं, बाकी नपुंसक और महापरिश्रमी, मधु आदि का सञ्चय करने वाले, शहद का छाता और दीमक की बाँबी बनाने वाले, होते हैं, इत्यादि। यह बात याद रखने की है कि, नर और वानर से नीचे दर्जे के प्राणियों मे मैथुन काम, बँधे ऋतुओं मे, और गर्भाधान के अर्थ, ही होता है। तीसो दिन, बारहो महीने, रति के अर्थ, नहीं होता, जैसा सौभाग्य-दौर्भाग्य से मानवों मे होता है। पुराणों मे शिक्षाप्रद रूपक से बताया है कि क्यों और कैसे 'नित्यकामवराः स्त्रियः' (और 'पुरुषाः') हो गये; 'नित्यकाम' होते हुए भी, स्त्रियों को तो प्रत्यक्ष ही 'ऋतु' होते हैं; पाश्चात्य सूक्ष्म 'सायंटिफिक', शास्त्रीय, गवेषणा से विदित हुआ है कि पुरुषों को भी 'सैक्लिक-पीरियाडिसिटी', 'चक्रवत् वीर्याधिक्य-काल' होते हैं; यथा, वसन्तोत्सव सभी देशों मे मनाये जाते हैं, यद्यपि उनके प्रकार सात्त्विक भाव या राजस-भाव से भेदित होते हैं; कहीं अधिक शालीन और आवृत वचनों, नृत्यों, और चेष्टाओं मे हँसी ठठोली की जाती है, कहीं अधिक अश्लील, अश्लिल, असभ्य, अनावृत गीतों, आवाज़ों, और मुद्राओं मे। इन बातों का वर्णन भी होना चाहिये। इस अंश का, प्राच्य पाश्चात्य ज्ञान के बल से अधिकतर संकलन हो सकता है। अति प्राचीन अतीत युगों मे, मानव-जाति मे भी अमैथुन और अंतर्मैथुन सृष्टि होती थी, इसका सूचन पुराणों मे, तथा कुछ अधिक स्पष्ट वर्णन अंग्रेज़ी के 'दि सीक्रेट डाक्ट्रिन' नामक ग्रन्थ मे मिलता है।[1] इस सब अंश का अंग्रेज़ी नाम 'दि फ़िज़ियालोजी आफ़ सेक्स' है।

1. H. P. Blavatsky, The Secret Doctrine, 6[?] (Adyar Edition).

(ग) विवाह के प्रकारो का वर्णन, मुख्यत तीन। (१) सात्विक प्रकृति के उचित, मनुस्मृति के शब्दो मे, ब्राह्म-दैव-आर्ष-प्राजापत्य, इन सब का प्रधान और समान अंश यह है कि, वृद्धो की सलाह के साथ-साथ, वर-वधू की भी परस्पर अनुकूलता हो। (२) राजस-प्रकृति के उचित, यथा गांधर्व, अर्थात् स्त्री-पुरुष का परस्पर स्वयम्वरण, और राक्षस, अर्थात् स्त्री का बलात् अपहरण, और आसुर, अर्थात् स्त्री के माता-पिता को धन देकर उसका मोल लेना, आसुर को रजस्-तमस्-मिश्रित भी कहा है, (३) तामस, यथा पैशाच, अर्थात् सोती हुई या प्रमत्त (अनजान, अबोध, प्रमादवाली, बेफिक्र, खेलती, बालिका कन्या, या नशे से गाफिल) स्त्री पर बलात्कार। पौराणिक रूपक मे, उमा-महेश्वर, पार्वती-परमेश्वर, गौरी शंकर का जोड़ा सात्विक, भव-भवानी का राजस, रुद्र-काली का तामस। वात्स्यायन ने गांधर्व विवाह को सब से अच्छा कहा है, (जैसी पाश्चात्य शिक्षितो की भी राय है) परन्तु, सात्विक राजस तामस प्रकृतियो का विवेक नहीं किया है, इस से वात्स्यायन का मत, भगवान् मनु की सर्वसंग्राहक दृष्टि से एकपाक्षिक और अशुद्ध है।

इन सद् विवाहो और असद् विवाहो के गुण-दोष, सन्तति के ऊपर प्रभाव, आदि की, थोड़े मे, किन्तु पर्याप्त सूचना, मनुस्मृति और महाभारत मे की है,

> अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैः अनिन्द्या भवति प्रजा
> निन्दितैर्निन्दिता नृणां, तस्मात् निन्द्यान् विवर्जयेत्।
> ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्षु एव, अनुपूर्वशः
> ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसंमताः,
> रूपसत्त्वगुणोपेताः, धनवन्तो, यशस्विनः
> पर्याप्तभोगाः, धर्मिष्ठाः, जीवन्ति च शतं समाः।
> इतरेषु तु शिष्टेषु, नृशंसानृतवादिनः
> जायन्ते, दुर्विवाहेषु ब्रह्म-धर्म-द्विषः सुताः। (मनु)

अविज्ञातासु च स्त्रीषु, क्लीवासु, स्वैरिणीषु च,
परभार्यासु, कन्यासु, नाऽचरेत् मैथुनं नरः;
कुलेषु पापरक्षांसि जायंते वर्णसंकरात्,
अपुमांसोऽङ्गहीनाश्च, स्थूलजिह्वाः, विचेतसः;
एते चान्ये च जायंते, यदा राजा प्रमाद्यति;
तस्माद् राज्ञा विशेषेण वर्तितव्यं प्रजाहिते ।

(म० भा०, शांति०, अ० ६०)

भगवान् मनु के, तथा भीष्म पितामह के, ये श्लोक, कामशास्त्र के मस्तक पर सदा लिखे रहने चाहियें, और अध्येता को सब से पहिले कंठ कर लेने चाहियें, तभी उस का अध्ययन, इस शास्त्र का, निर्दोष और गुण-मय होगा, अन्यथा, विपरीत होगा । सात्त्विक विवाहों से, और स्त्री पुरुष के संयोग के समय सात्त्विक भावों के, प्रेममय भावों के, आधिक्य से सात्त्विक सन्तति होती है; राजस से राजस; तामस से, तामस । व्यभिचार से, कन्यादूषण से, घोर अप्राकृतिक पश्वादि के ऐसे संयोग से, नपुंसक अथवा हीनांग, स्थूल जीभ वाले, 'बौरहे', 'राक्षस' रूपी, भयानक आकृति के, जीव पैदा होते हैं । आयुर्वेद के ग्रन्थों में इस वि[षय] पर विस्तार किया है । राजा के ही प्रमाद से, ऐसे व्यभिचार आदि पा[प] प्रजा में फैलते हैं; इस लिये राजा को सावधानी से इन्हें रोकना चाहि[ये] अपने में भी और दूसरों में भी, "यद्यद् आचरति श्रेष्ठः तत् तद् [एव] इतरो जनः"; जैसा बड़ा करता है, उसी की नकल छोटा करता है, रा[जा] पापी है, तो प्रजा पापी होगी, राजा सदाचारी है, तो प्रजा भी सदाचा[री]।

पौराणिक रूपक में, 'कामस्य द्वे भार्ये, रतिश्च प्रीतिश्च', काम की दो पत्नी, रति और प्रीति । शरीर-प्रधान और अभिमान-प्रधान भा[व] 'रति' है; चित्त-प्रधान और प्रेम-प्रधान भाव 'प्रीति' है । प्रेम के पर्याय शब्द, अनुराग, स्नेह, प्रियता, हार्द, भक्ति, दया आदि हैं । भक्ति श[ब्द] केवल इष्टदेव के ही सम्बन्ध में प्रयोज्य नहीं है । 'भजमानं भजस्व मां

ऐसी उक्ति उत्तम नायक नायिका के बीच, काव्यों मे मिलती है। तथा, दयिता, यह विशेषण प्रिय और सुकुमार भार्या का, प्रसिद्ध है। उत्तम दाम्पत्य वह है जिस मे पति-पत्नी, भर्त्ता-भार्या, (इन शब्दों के यौगिक अर्थ विचारने और हृदय में रखने योग्य हैं), एक दूसरे के लिये ऐसा कह सकें जैसा दशरथ ने कौशल्या के लिये कहा,

यदा यदा हि कौसल्या दासीवत् च सखी इव च,
भार्यावद् भगिनीवच् च, मातृवत् च उपतिष्ठते,
(वा० रामा०, अयो०, सर्ग १२)।

शकुन्तला ने दुष्यन्त से,

सखाय प्रविविक्तेषु भवति एता प्रियवदा,
पितरो धर्मकार्येषु भवति आर्त्तस्य मातर
तस्माद् भार्या पति पश्येत् पुत्रवत पुत्रमातर
अन्तरात्मा एव सर्वस्य पुत्रो नाम उच्यते सदा
(म० भा०, आदि० अ०, ९८)।

अज ने इन्दुमती के लिये,

गृहिणी, सचिव, सखी मिथ,
प्रियशिष्या ललिते कलाविधा, (रघुवंश, अ० ८)।

सीता ने राम का वर्णन करते हुए, अनसूया से,

किं पुन यो गुणश्लाघ्य, साऽनुक्रोश, जितेन्द्रिय
स्थिराऽनुरागो धर्मात्मा, मातृवत्, पितृवत्, प्रिय
(वा० रा० अयो० स० ११८)।

दशरथ के लिये कौसल्या, दासी भी सखी भी, भार्या, भगिनी, माता भी सब कुछ थी एकान्त में मीठी बात करने वाली सखी, धर्म कार्यों में पिता, दुःख में माता, पति के लिये पत्नी सब कुछ होती है,

पिता की अंतरात्मा ही, पुत्र के रूप मे, पत्नी के द्वारा उत्पन्न होती है, इस लिये पति को उचित है, कि पुत्र की माता को अपनी ही माता जाने, अज के लिये इंदुमती, गृहिणी भी, सचिव, सखी, कलाओं में शिष्य भी थी, सीता के लिये राम, सर्वगुणसंपन्न, परम दयालु, जितेंद्रिय, हित प्रेमी, धर्मात्मा, माता और पिता के ऐसे प्रिय थे।

अद्वैतं सुखदुःखयो अनुगुणं सर्वासु अवस्थासु यत,
विश्रामो हृदयस्य येन, जरसा यस्मिन् न हार्यो रस,
कालेन आवरणाऽत्ययात् परिणते यत् स्नेहसारे स्थितं,
भद्रं प्रेम सुमानुषस्य, कथ अपि एकं हि तत् प्राप्यते,
(उत्तररामचरित)।

वह स्नेह का सार, सच्चा प्रेम, जिस से, सब अवस्थाओं में, एक को सुख तो दूसरे को सुख, एक को दुःख तो दूसरे को भी दुःख, एक सा होता है, थके माँदे हृदय को जिस से विश्राम मिलता है, जिस के रस को बुढ़ापा कम नहीं करता है, बल्कि युवाऽवस्था की लज्जा हट जाने से और अधिक परिपक्व हो जाता है—वह प्रेम, वह स्नेह का सार, बड़े दम्पतियों को ही, बड़े भाग्य से मिलता है। यौवन (जवानी) में, 'रति' का भी अंश व्यक्त होने से, परस्पर 'आवरण' (पर्दा, शर्म, छिपाव) रहता है, वृद्धावस्था में, यदि शुरू से ही रति के साथ सात्त्विक 'प्रीति' भी प्रबल रही, तो प्रीति ही प्रीति रह जाती है, जिस में कोई पर्दा नहीं।

इन उत्तम सात्त्विक परिष्कृत भावों को भूल कर, स्वार्थपरायण और जनश्रुतप्राय शब्दों में उन का आभास, राजस स्वभाव के पुरुष यों कहते हैं,

कार्ये दासी, रतौ वेश्या, भोजने जननीसमा,
विपत्ती बुद्धिदात्री च, सा भार्या सर्वदुर्लभा।

गृहकार्य के लिये दासी, मैथुन में वेश्या सी निपुण, विपत्ति में अच्छी सलाह देने वाली—ऐसी भार्या बहुत दुर्लभ होती है।

इस का प्रतिरूप और पूरक द्वितीय अर्ध नही सुनने मे आता, यदि यह भी कहा जाय तो आभास मे सद्-अंश अधिक हो जाय, यथा,

> कार्ये दासो, रतौ जारो, पोषणे जनको यथा,
> विपत्तौ रक्षिता चैव, स भर्त्ता सर्वदुर्लभ ।

कार्य के लिये गुलाम, रति-प्रसंग मे जार (यार, उपपति, विट), विपत्ति मे रक्षा करने वाला--ऐसा भर्त्ता बहुत दुर्लभ होता है ।

'पुरुष' की 'प्रकृति' होती है, पुरुष प्रकृतिमान् है, शिव, शक्तिमान् है शिवा, शक्ति है, पुरुष धर्मी है, प्रकृति उस का धर्म, उस का स्वभाव, है, इस लिये पुरुष और प्रकृति, शिव और शक्ति, एक ही है। तो भी दो के ऐसे जान पड़ते हैं। यही आदि माया का मूल है। पारमार्थिक एकत्व मे इसी द्वित्व होने के कारण, उस का अनुकरण स्त्री-पुरुषात्मक द्वित्व मे होता है[1]।

> स आत्मान द्वेधाऽपातयत्, तत पतिश्च पत्नी च अभवताम् ।
> तस्माद इद अर्धबृगलमिव । आपयतो वै तो ऽन्योऽन्यस्य
> कामान् सर्वान् । (उप०)
> एतावानेव पुरुष यज्जायाऽऽत्मा प्रजा इति ह,
> विप्रा प्राहु तथा च एतद, यो भर्त्ता सा स्मृताङ्गना (मनु) ।

परमात्मा ने अपने दो टुकड़े कर दिये, एक पति हो गया, दूसरा पत्नी इसी से, अकेला पुरुष, अकेली स्त्री, अधूरे से होते हैं, पति-पत्नी-सतान—यह तीन मिलकर सम्पूर्ण पुरुष बनता है, ऋषियों ने कहा है कि जो भर्त्ता है, वही अंगना है, पति और पत्नी मे भेद नहीं।

यह आदि-मिथुन, मूल-जोड़ी, एक दूसरे के लिये ससार-सर्वस्व है, इन्द्रिय-गोचर सर्वस्व है, एक दूसरे से सभी कामो, इच्छाओं, को पूरा

---

१ दुर्गासप्तशती मे विशेषेण, देवता स्त्रियों अथवा ईश्वर-परमात्म-शक्ति देवी के ही रूपान्तर क्षुधा, तृषा, निद्रा तुष्टि पुष्टि, कान्ति, शान्ति आदि कहा है।

करते हैं। इन्ही के अन्तर्गत, पति-पत्नी भाव, भर्त्ता-भार्या भाव, पिता-पुत्री भाव, माता-पुत्र भाव, भ्राता-स्वसा भाव, सखा-सखी भाव, गुरु-शिष्य भाव, स्वामी-दासी और स्वामिनी-दास भाव, गृही-गृहिणी भाव, राजा-सचिव भाव, सभी उत्पन्न होते हैं, सभी इस आदि-द्वंद्व-भाव मे समाहृत हैं। ऐसे ही, आदर्श मानव-दम्पती के बीच भी इन सब उत्तम भावो की चरितार्थता होनी चाहिये। अनार्य, अभद्र, भद्देस, अश्लील, अश्लील, पाशव-दम्पती के बीच मे जार-वेश्या के भाव भी हों। ये भी पुरुष-प्रकृति के रजस्-तमस् के अधम अंश के उद्गार हैं। मन मे अधिक रखने की बात यह है कि आर्य-दम्पती को, 'पति-पत्नी', 'स्त्री-पुरुष', भाव, का, जो अंश शारीर-रति-प्रधान है, उस को (सर्वथा तो त्याग नहीं सकते, पर प्रायः) गौण रखना चाहिये, और अन्य सब भाव जो चित्त-प्रीति-प्रधान हैं, उन को मुख्य रखना चाहिये। तभी कौटुम्बिक सांसारिक गार्हस्थ्य जीवन कल्याणमय होगा; अन्यथा नहीं। रति-प्रीति, शक्ति-भक्ति, दोनो ही चाहिये, पर रति-आत्मक शक्ति कम, प्रीति-आत्मक भक्ति अधिक।

त्वं हि सर्वशरीरी आत्मा, श्रीः शरीरेन्द्रियाऽऽश्रया,
नामरूपे भगवती, प्रत्ययम् त्वं अपाश्रय ;

(भागवत, ६-१९-१३)।

परमात्मा शिवः प्रोक्तः, शिवा माया इति कथ्यते,
पुरुषः परमेशानः, प्रकृतिः परमेश्वरी,
मन्ता स एव विश्वात्मा, मन्तव्यं तु महेश्वरी,
आकाशं शंकरो देवः, पृथिवी शंकरप्रिया,
समुद्रो भगवानीशो, वेला शैलेन्द्रकन्यका,
वृक्षः शूलधरो देवो, लता त्रिपुरप्रिया,
शब्दजातमशेषं तु धत्ते शर्वस्य वल्लभा,
अर्थरूपं अखिलं धत्ते मुग्धेन्दुशेखरः ;

यस्य यस्य पदार्थस्य या या शक्तिर्उदाहृता,
सा सा विश्वेश्वरी देवी, स स सर्वो महेश्वर ,
(शिव पु०, वायु स०, उ०, अ० ५)।

परमात्मा पति है, दृश्य जगत् पत्नी है, शरीरी, जीवात्मा, पति है, शरीर पत्नी है मता ज्ञाता, ध्याता, पति है, मतव्य, ध्येय, ज्ञेय पत्नी है, आकाश पति है, पृथ्वी पत्नी, समुद्र पति है, वेलातट पत्नी, वृक्ष पति है, लता पत्नी, अर्थ पति है, शब्द पत्नी, द्रव्य पति है, गुण पत्नी, जिस पदार्थ की जो शक्ति कही जाती है, वह पदार्थ महेश्वर, पति, है, और वह शक्ति विश्वेश्वरी, पत्नी है। ऐसे ऊचे भाव शिष्ट आर्य दम्पती को सदा अपने मन मे धारण करना चाहिये।

(आज, १९४३ ई० मे) पचास पचपन वर्ष हुए होगे, युवावस्था मे, मै ने अपनी गृहिणी से एक गीत सुना, बहुत आदर, बहुत भक्ति, बहुत नमस्कार से अपने हृदय मे रख लिया उसी आदर और भक्ति से, नयी पुश्त के वधू-वरो के सात्त्विक आनद के लिये, आज, वृद्धावस्था मे, उस को यहा लिखता है। उक्त पौराणिक आर्ष श्लोको के ही भावो का अनुवाद, सीधी सादी हृदयगम बोली मे है, यदि भावो मे उतनी गुरुता गभीरता नही है, तो मिठास उन से अधिक है।

तू होयो दियना, हम होवें बाती, तू होयो कागद, हम होवें पानी,
तू होयो जगल, हम होवें मोरा, तू होयो चदा हमहू चकोरा,
तू होयो हिमगिरि, हम होवें गगा, जनम जनम नहि बिछुरे सगा।

पत्नी की गीत की तो इतनी ही कडियाँ याद पडती है, पर भाव ऐसा प्रिय है कि पुराण के श्लोको का आशय, हिन्दी के शब्दो मे, चाहे टूटे-फूटे ही, अदल-बदल कर, कहने को मन चाहता है।

तू होयो सागर, हम होवें पानी, हम होवें प्रेमा, तू होयो ज्ञान
हम होवें चरन हमहू भुजगा, तू होयो सागर, हमहू तरग

तूं होयो सरिता, हम होवै नीरा; हम होवै सरवर, तूं होयो तीरा,
हम होवै ध्वजदंड, तुमहु पताका; तूं होयो बादर, (वारिद) हमहु बलाका,
हम होवै वनिका, तुमहु कुरंगा, तूं होयो दीपक, हमहु पतंगा,
तूं होयो सूत्र, (अ)रु हम होवै टीका, हम होवै पन्था, तूं रथलीका,
हम होवै प्रानी, तू होयो स्वाँसा, तूं होयो तारा, हमहु अकाशा;
तूं होयो हिरदय, हम होवै पीरा, हम हौवै चेतन, तुमहुँ शरीरा।

विवाह के वैदिक मंत्रों के उदार उत्कृष्ट सात्त्विक भावों को देखिये,

ॐ, सं अंजंतु विश्वेदेवा, सं आपो हृदयानि (हृदयेऽपि) नौ,
सं मातरिश्वा, सं धाता, स उदेष्ट्री दधातु नौ।
अमो (प्राणो) ऽहं अस्मि, सा (वाणी) त्वं, द्यौर् अहं, पृथिवी त्वं,
सामाऽहं, ऋक् त्वं, तौ, एहि, विवहावहै, सह रेतो दधावहै,
प्रजा प्रजनयावहै, पुत्रान् (पुत्रौ) विन्दावहै बहून् (शुभौ),
ते (नौ) सन्तु जरदष्टयः (ष्टी), संप्रियौ, रोचिष्णू, सुमनस्यमानौ।

पश्येम शरदः शतं, शृणुयाम शरदः शतं,
प्रब्रवाम शरदः शतं, जीवेम शरदः शतं,
मोदेम शरदः शतं, भवेम शरदः शतं,
अदीनाः स्याम शरदः शतं, भूयश्च शरदः शतात्।
मम व्रते ते हृदयं दधामि, मम चित्तं अनुचित्तं ते अस्तु,
मम वाचं एकमनाः जुषस्व, प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यं।
गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं, मया पत्या जरदष्टिर् यथासः,
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर् मह्यं त्वाऽदुर्गार्हपत्याय देवाः।

सब देवता, हम दोनों का प्रेम बढ़ावें; सब पवित्र जल हमारे हृदयों को मिलावें; शुद्ध पवन, और बुद्धि के अधिष्ठाता ब्रह्मदेव, पावन देव और उत्तम उपदेश हमारी अंतरात्मा को दें। मैं प्राण (श्वास) हूँ, तुम वाणी; मैं आकाश हूँ, तुम पृथिवी हो; मैं साम हूँ, तुम ऋक् हो

आओ, हम दोनों विवाह करैं, रेतस् (रजो-वीर्य) एकत्र करैं, प्रजा उत्पन्न करैं, एक जोड़, उत्तम पुत्र और उत्तम पुत्री; हम दोनो भी, और वे भी, मनुष्य की परम आयु पावै, वृद्ध हो, परस्पर प्रिय, परस्पर रोचिष्णु, परस्पर सुमना, सौ वर्ष, अक्षीण इन्द्रियों से देखै, सुनै, बोलैं, जीयैं, आभूषण धारण करैं, आनद करैं, अदीन रहैं, सो वर्ष से भी अधिक; हम दोनो एक दूसरे के भर्ता हों, पत्नीव्रत और पतिव्रता हों, परस्पर चित्त मे चित्त मिलावैं, एक दूसरे की बात को ध्यान से सुनै, प्रजापति देव हम दोनो को एक दूसरे के साथ बांध दे। सौभाग्य के लिये हम दोनो एक दूसरे का हाथ पकड़ते है, एक दूसरे की सहायता कर के दोनो परम आयु पावै। सविता, सूर्य देव ने, अपने भग, अर्यमा, पूषा आदि द्वादश महीनो के द्वादश आदित्य-रूपों से, तथा महादेवी शक्ति देवी पुरंधि ने, जो इस शरीर रूपी पुर का आधान, निर्माण, और धारण करती है, इन सब ने हम दोनो को उत्तम गार्हस्थ्य के लिये, और प्रजातन्तु का उच्छेद न होने के लिये, सात्विक विवाह के बन्धन मे बांधा है। ये मन्त्र अब भी वैदिक विधि से किये जाने विवाहों मे, पाणिग्रहण के समय पढ़े जाते हैं, तथा अन्य पौराणिक श्लोक भी, जिनसे पति पत्नी एक दूसरे से, बहुत अच्छी-अच्छी प्रतिज्ञाएं करते हैं, पर अर्थ की ओर वर-वधू का ध्यान नहीं दिलाया जाता।

प्राचीन युगों मे, जब बस्ती कम थी, तब 'पुत्रान्', बहुत से पुत्री पुत्रों की कामना करना उचित था। अब इस कलियुग मे, जब बस्ती इतनी बढ़ गई है कि पृथ्वी माता उसका पालन पोषण धारण नहीं कर सकती, उसका भार नहीं सह सकती, तब व्याकरण के, "रक्षा-ऊहा-आगम-लघु असन्देहाः" नियम के अनुसार 'पुत्रान्' के स्थान पर 'पुत्रौ' पढ़ना और (पुत्री च पुत्रश्च पुत्रौ) एक बेटी और एक बेटा की आकांक्षा करना उचित और पर्याप्त है, तथा 'पुत्रैः' के स्थान पर 'पुत्रौ', 'नप्तिभिः, रोचिष्णू, सुमनस्यमानौ", का 'पुत्रौ' का भी, और 'पति-पत्नी' के भी विशेषण हो सकते हैं।

पच्छिम के विद्यारसिक, विविध ज्ञानों का संग्रह करनेवाले, स्वावलम्बी, नये शास्त्रों उपशास्त्रो के प्रवर्त्तक, स्फुरद्बुद्धिमान्, गवेषकों ने, जैसा अन्य विषयो मे वैसा इस मे भी, पृथ्वीतल के सभी देशों, और सभ्य, असभ्य, और अर्धसभ्य जातियो, की विवाह प्रथाओं की खोज करके, बडे बडे ग्रन्थो मे उनका वर्णन विस्तार से किया है। कहीं एक जाति की सब स्त्रियों का दूसरी जाति के सब पुरुषों से विवाह, अर्थात् स्वच्छंद मैथुन, जाति के भीतर के स्त्री-पुरुषों का परस्पर नहीं, (अंग्रेज़ी में इसको 'एक्सो-गेमी' प्रकार कहते हैं) ; कहीं एक जाति के भीतर की सब स्त्रियो का उसी के सब पुरुषो से अनिरुद्ध संयोग, किन्तु दूसरी जाति वालो से नहीं, ('एण्डो-गेमी') , कहीं एक पुरुष का बहुत स्त्रियों से, ('पाली-जैनी'), कहीं एक स्त्री का बहुत पुरुषो से, ('पाली एण्ड्री'), कहीं अन्य स्त्रियो और पुरुषो के साथ प्रसग का अनुभव कर चुकने के बाद ही विवाह (एक्सपीरियेन्स्ड मैरेज'), कहीं विवाह करने के बाद स्वच्छंदता, कहीं गर्भ रह जाने के बाद गर्भाधायक पुरुष और गर्भिणी स्त्री का विवाह, कहीं आजमाइशी विवाह, अर्थात् कुछ काल तक सहवास के बाद, यदि मन मिला तो, पक्का ब्याह, नहीं तो पार्थक्य, ('ट्रायल' या 'एक्सपेरिमेंटल मैरेज'); कहीं जाति ('ट्रैब') के मुखिया, प्रधान नायक, राजा (चीफ़), या पुरोहित ('मेडिसिन-मैन', 'प्रीस्ट' 'मैजिशन') के द्वारा कन्या को 'क्षतयोनि' और 'पवित्र' करा के फिर अन्य से विवाह , कहीं विवाह हो जाने के पश्चात्, 'प्रथम रात्रि' में, या एक रात्रि के लिये, ('जुस प्राइमी नोक्टी'), नववधू का राजा, पुरोहित सम्प्रदायगुरु, को समर्पण'; इत्यादि।

---

1 1८००-०१ ई० के आस पास, बम्बई में एक मुकदमा हुआ; हाइकोर्ट की तजवीज़, 'हिस्टरी आफ दि सेक्ट आफ महाराजाज' के नाम से, एक जिल्द में, किसी ने छापी

भारतवर्ष की हजारो जातियो मे खोज करने से, स्यात्, सभी नही तो बहुतेरे प्रकार मिल जायेंगे। यथा शिमला के पास, सीपी नाम के एक स्थान मे प्रतिवर्ष मेला लगता है वहाँ एक पहाडी जाति के

हाइकोर्ट ने लिखा कि वल्लभ सम्प्रदाय के गुरु लोग, गोस्वामी, 'महाराज कहे जाते है, उस सम्प्रदाय मे यह रीति है कि भक्त शिष्य लोग नव वधू को, पहिली रात के लिये, सम्प्रदाय-गुरु को समर्पण करते है, बम्बई मे इस सम्प्रदाय का जो मदिर था, उसके गुरु 'महाराज' गोसाई जी को ऐसी एक नव-वधू समर्पित की गई, उस वधू को भीषण 'आतशक ('Chancre शब्द का प्रयोग जजों ने किया, जिसके स्थान पर अब Syphilis का प्रयोग अंग्रेज़ी भाषा मे होने लगा है) हो गया, सम्बन्धियो ने कचहरी मे, गुरु जी पर मुकदमा चला दिया। (स्यात्, नये पाश्चात्य विचारों के प्रभाव से, महा तामस अध भक्ति को, इस भीषण दुष्फल ने, महाक्रोध मे परिणत कर दिया)। अदालत ने 'गोसाई महाराज को दड मिला। सारे देश मे चर्चा हुई, गुरु लोग भी और भक्त लोग भी शर्माए और डरे, और यह दुराचार कुछ कम हुआ, और छिपाया जाने लगा।

इसी वल्लभ गुरु का जो प्रधान मदिर श्रीनाथ द्वारा के नाम से प्रसिद्ध, उदयपुर राजपुताना के राज्य मे है उस के गुरु ने एक वेश्या को, खुली रीति से, रख लिया और, अनुयायियो मे शोर गुल होने पर उस से एक प्रकार का विवाह भी कर लिया, अन्तत, अधिक आन्दोलन होने पर, गुरु जी गद्दी से अलग हुए, और उन के पुत्र उस पर बिठाये गये। यह मामिला इधर दस वर्ष के अन्दर अन्दर हुआ, और अखबारो मे इस की बहुत चर्चा रही।

बम्बई के उस मुकदमे के सिलसिले मे यह भी विदित हुआ, कि देश मे, भीतर भीतर यह भी विश्वास प्रचलित है, कि यदि आतशक सूजाक

जो पति-पत्नी परस्पर असन्तुष्ट होते है, वे आपस मे पति पत्नियां का विनिमय, वदलौवल कर, लेते है, इत्यादि।

मनुस्मृति मे पुनर्भू, सहोढ, नियोग, आदि शब्दों से ऐसे प्रकारों की सूचना होती है। महाभारत, आदि पर्व, अ० १२८, मे अधिक स्पष्ट लिखा है,

> अनावृता किल पुरा स्त्रिय आसन्, वरानने,
> कामचारविहारिण्य स्वतंत्राश्, चारुहासिनि,

का रोगी शुद्ध नीरोग कन्या से प्रसग करे, तो उसका रोग कन्या मे चला जाता है और वह उस से छूट जाता है, तथा, इस विश्वास के हेतु से भी, वल्लभीय गुरु के घोर पाप के ऐसा पाप, देश मे अक्सर होता है; परन्तु, पाश्चात्य सुपरीक्षित विज्ञान के मत से यह विश्वास मिथ्या है; पाश्चात्य अनुभव यह है कि नीरोग कन्या को तो रोग हो जाता है, पर रोगी पुरुष का रोग बना ही रहता है। ऐसे मिथ्या विश्वासों के प्रसार मे एक हेतु यह भी है, कि यह मिथ्या विश्वास (न केवल भारत मे, अपि तु सभी देशों मे) फैल गया है कि स्त्री भोग्य है, परिग्रह ('प्रापर्टी', मिल्क) है, और पुरुष भोक्ता, परिग्रही, स्वामी। सांख्य-योग-वेदान्त की तथ्य-दृष्टि के विपरीत अज्ञान मे यह मिथ्या दृष्टि कैसे उत्पन्न हुई और फैली, जैसे अन्य सब माया का प्रपंच और जंजाल—इस पर विस्तार करने का यहां अवसर नहीं, विचारशील पाठक स्वयं विस्तार कर लेंगे। इस मिथ्या-भाव का मूल मनु के एक श्लोक के एक पाद से, "यो भर्ता सा स्मृताङ्गना", ही जान पड़ता है, दोनों परस्पर सर्वस्व है, भोग्य भी है, भोक्ता भी है। ऐसे ही विपरीत दर्शन से प्रत्येक 'धर्म', वैदिक, बौद्ध, जैन, ईसाई, इस्लाम, आदि, मे भोग-वादी पंथ और 'काम-मार्ग' उत्पन्न हो गये है, जैसे यहां, 'वाम-मार्ग' कौल, पंच 'मकार' आदि का 'पन्थ'

> तासां व्युच्चरमाणानां कौमारात्, सुभगे, पतीन्,
> नाऽधर्मोऽभूद्, वरारोहे, स हि धर्मः पुराऽभवत्;
> तम् अद्यापि विधीयते तिर्यग्योनिगताः प्रजाः,
> उत्तरेषु च, रम्भोरु, कुरुषु अद्यापि पूज्यते,
> अस्मिंस्तु लोके न चिरान्, मर्यादा इयं, शुचिस्मिते,
> उद्दालकस्य पुत्रेण स्थापिता श्वेतकेतुना।

प्राचीन काल मे स्त्रियां अनावृत (विना रोक-टोक छेंक के), कामचार मे विहारिणी स्वतन्त्र होती थीं, जैसे तिर्यग्योनि पशुओं की, तथा जैसे उत्तरकुरु जाति के मनुष्यों मे अब तक, यही उस काल मे धर्म माना जाता था। बहुत काल नहीं बीता है जब से यह एक-पति-व्रत विवाह की मर्यादा, उद्दालक ऋषि के पुत्र श्वेतकेतु ऋषि ने स्थापित की, जब उन्हों ने देखा कि उनकी माता को एक दूसरे ऋषि, अपने लिये पुत्र उत्पादन करने के हेतु ले कर जाने लगे, इत्यादि। आज कल पश्चिम मे, 'स्वच्छन्दचार', 'फ्री-लव', 'कम्पानियोनेट मैरेज', आदि की प्रथा जोर कर रही है, और इस विषय पर ग्रंथ बहुत लिखे जा रहे हैं, तथा अखबारों मे बहस होती रहती है।

सर्वाङ्ग कामशास्त्र मे इन सब प्रकारों की, थोड़े मे, चर्चा तथा प्रत्येक के गुण दोष का दिग्दर्शन होना चाहिये।

अर्थ बड़े आडम्बर और आटोप से बताते हैं, बौद्धों का 'वज्रयान' यही 'वाम-मार्ग' है, "गुह्य-समाज-तन्त्र' नामक ग्रन्थ (१९३१ ई०, गायकवाड़ ओरियेंटल् सीरीज) में इस का वर्णन और 'रहस्य' अर्थों के प्रतिपादन का महाद्भुत यत्न किया है, पर जिन अर्थों को तुम 'रहस्य' बताते हो वह सात्त्विक अर्थ तो सब उत्तम धर्म ग्रन्थों में स्पष्ट लिखा है फिर तुमको इतने आडम्बर आटोप से उसको 'रहस्य' बताने का क्या प्रयोजन? यह तो केवल दम्भ, छल, कपट, धूर्तता और मक्कारी है।

जो पति-पत्नी परस्पर असन्तुष्ट होते है, वे आपस मे पति पत्नियों
विनिमय, अदलौवल कर, लेते है, इत्यादि ।

मनुस्मृति मे पुनर्भू, सहोढ, नियोग, आदि शब्दों मे ऐसे प्रकारों
सूचना होती है । महाभारत, आदि पर्व, अ० १२८, मे अधिक
लिखा है,

> अनावृता किल पुरा स्त्रिय आसन, वरानने,
> कामचारविहारिण्य स्वतन्त्रास्, चारुहासिनि,

का रोगी शुद्ध नीरोग कन्या से प्रसंग करै, तो उसका रोग कन्या को
जाता है और वह उस से छूट जाता है, तथा, इस विश्वास के हे
भी, बलभीय गुरु के घोर पाप के ऐसा पाप, देश मे अक्सर होत
परन्तु, पाश्चात्य सुपरीक्षित विज्ञान के मत मे यह विश्वास मिथ्
है, पाश्चात्य अनुभव यह है कि नीरोग कन्या को तो रो
जाता है, पर रोगी पुरुष का रोग बना ही रहता है । ऐसे
विश्वासों के प्रसार मे एक हेतु यह भी है, कि यह
विश्वास (न केवल भारत मे, अपि तु सभी देशों मे) फैल गया
स्त्री भोग्य है, परिग्रह ('प्रापर्टी', मिल्क) है, और पुरुष
परिग्रही, स्वामी । सांख्य-योग-वेदान्त की तत्त्व-दृष्टि के विपरीत
मे यह मिथ्या दृष्टि कैसे उत्पन्न हुई और फैली, जैसे अन्य सम
का प्रपंच और जाल—इस पर विस्तार करने का यहां अवसर
विचारशील पाठक स्वयं विस्तार कर लेंगे । इस मिथ्या भाव का
मनु के एक श्लोक के एक पाठ मे, "यो भर्ता सा स्मृताङ्गना
जाता है, दोनों परस्पर सर्वस्व है, भोग्य भी है, भोक्ता भ
ऐसे ही विपरीत अमल मे प्रत्येक 'धर्म', वैदिक, बौद्ध,
ईसाई, इस्लाम, आदि, के भीतर पापिष्ठ घोर 'वाम-मार्ग' गु
रहे है, छूटने पर, 'वाम-चार' लोग, पंथ 'मन्त्र' आदि का

वेत्ता हैं, कई, चिकित्सक, वा वकील, वा समाजशास्त्री, वा 'साइको-ऐनालिस्ट' भी है। प्रायः सभी लेख ऊँची काष्ठा के हैं, एक दो अपरिपक्व बुद्धियों के लेखों को छोड़ कर, प्रायः सभी ज्ञान-वर्धक, विचार-कारक, हैं। यही कथा दूसरी पुस्तक के ग्यारह लेखों की है। इन तेतालीस लेखकों में से दो या तीन को छोड़ कर, सब के अनुभव, विविध अध्ययन विविध-विषय-परीक्षण, का निष्कर्ष यही है कि, उत्तम पक्ष वही है जो मनु ने कहा है, पर, साथ ही, जब इस 'कलियुग' में उसका अविकल पालन प्रायः असम्भव हो रहा है, सो मे अस्सी पचासी लड़के लड़कियों, विद्यार्थी विद्यार्थिनियों, का ब्रह्मचर्य अविप्लुत नहीं रहता, विशेष कर पश्चिम मे, जहाँ युवा-युवतियों के सह-अध्ययन की रीति चल गई है—जब यह अवस्था है, तब, इन विशेषज्ञों की सलाह यह है, कि, सामनशीलत्वमनता को यथासम्भव निश्चय कर के विवाह करें, और बीती भूलों को भुला कर, आगे के लिये, परस्पर अ-व्यभिचार, परस्पर पतिव्रत-पत्नीव्रत, का दृढ निश्चय कर के, सदाचार से जीवन निर्वाह करें, और सन्तान को यथासम्भव उन भूलों से बचावें।

श्री जेनी ली, १९२९ ई० में ब्रिटिश पार्लिमेंट की सदस्य हुई, अमेरिका, यूरोप, रूस में बहुत भ्रमण किया, रूस में प्रथम बार १९३० ई० में गई, तब से और भी कई बार गई, ब्रिटिश मिनिस्ट्री के सेक्रेटेरियट (दफ्तर) में इनको एक जगह भी दी गई थी, परन्तु समाचार-पत्रों में लेख छपाने का स्वातन्त्र्य रहे, इस लिये उस पद को इन्हों ने त्याग दिया। १९४५ ई० के अगस्त में इन्हों ने एक पुस्तिका छपाई, "अवर ऐलाइ रशिया", चौंसठ पृष्ठ की। इस छोटी पुस्तिका के आठ अध्यायों में, सोवियट शासन और रूसी सामाजिक और वैयक्तिक जीवन के सभी मुख्य अंगों की सार सार बातें लिख दी है, लिखने के प्रकार से, पाठक के चित्त पर यही प्रभाव पड़ता है कि निष्पक्ष सत्य लिखा है। पुस्तिका के पृ० २४ पर लिखा है, "हाल में, विवाह और तलाक के कानून कड़े कर दिये गये हैं,

निष्कर्ष यही निकलता है कि लाखों वर्ष की आयु में, मानवजाति ने स्त्री-पुरुष-संग के सब प्रकार आजमा डाले, पर अंत में सब से उत्तम सात्त्विक प्रकार, अधिकतर सुख और अल्पतर दुःख का, यही है कि ब्रह्मचर्य में अविप्लुत अदूषित युवा, और वैसी ही अविप्लुत अदूषित युवती कन्या, का विवाह, उनकी समान-व्यसन-शीलता का यथाशक्य निर्णय, वृद्धों के परामर्श से तथा परस्पर युवा युवती के रुचि और प्रेम से, निश्चय कर के, किया जाय, और तब सारी ज़िन्दगी एक दूसरे के साथ वफादारी, प्रेमव्रत, अव्यभिचार, से निबाही जाय।

अन्योन्यस्याऽव्यभीचारो भवेदामरणांतिकः-
एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः,
तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु कृतक्रियौ,
यथा नाभिचरेतां तौ वियुक्तौ इतरेतरम्, (मनु)।

स्त्री-पुरुष, पति-पत्नी, के धर्म कर्म का सार इतना ही है, कि सदा जतन करते रहें, कि एक दूसरे से चित्त कभी न फटे, न हटे, कभी तीसरे पर न गड़े, कभी व्यभिचार न करें। पृ० ३२१ पर, ट्रिपर्गीम, वेस्टरमार्क के ग्रन्थ की चर्चा की है, जज लिंड्से की 'दि रिवोल्ट आव मॉडर्न यूथ' (१९२७ ई०) और 'कम्पानियोनेट मैरेज' (१९२८ ई०) नामक पुस्तकों में, पश्चिम देशों की वर्तमान कामिक और अति नाज़ुक अवस्था का थोड़े में बहुत पूरा वर्णन, तथा गुण-दोष-दर्शन (पर कम सन्तोषप्रद) किया है। इस विषय पर अन्य बहुत से ग्रन्थ, अंग्रेज़ी में, इन वर्षों में छपे हैं; बहुत थोड़े से जो मेरे देखने में आये, उनमें से दो विशेष उल्लेख्य जान पड़े, "सेक्स इन सिविलिज़ेशन" (१०२९ ई०) और "दि सेक्स लाइफ आफ़ दि अन्-मैरिड पेरेन्ट" (१९३४ ई०), पहिले ग्रन्थ में बत्तीस, और दूसरे में ग्यारह, विशेषज्ञों के लेख छपे हैं, इनमें स्त्रियाँ भी हैं, पुरुष भी; विविध शास्त्रों और जातियों के ये लोग हैं, अन्न मनःशास्त्र, 'साइकालोजी', के विविध अङ्गों के ये विशेष अध्येता

वेत्ता हैं, कई, चिकित्सक, वा वकील, वा समाजशास्त्री, वा 'साइकोऐनालिस्ट' भी है। प्राय सभी लेख ऊंची काष्ठा के हैं, एक दो अपरिपक्व बुद्धियों के लेखो को छोड कर, प्राय सभी ज्ञान-वर्धक, विचार-कारक, है। यही कथा दूसरी पुस्तक के ग्यारह लेखों की है। इन तेतालीस लेखकों मे से दो या तीन को छोड कर, सब के अनुभव, विविध अध्ययन, विविध-विषय-परीक्षण, का निष्कर्ष यही है कि, उत्तम पक्ष वही है जो मनु ने कहा है, पर, साथ ही, जब इस 'कलियुग' मे उसका अविकल पालन प्राय असम्भव हो रहा है, सौ मे अस्सी पचासी लडके लडकियो, विद्यार्थी विद्यार्थिनियों, का ब्रह्मचर्य अविप्लुत नहीं रहता, विशेष कर पश्चिम मे जहां युवा-युवतियो के सह-अध्ययन की रीति फैल गई है—जब यह अवस्था है, तब, इन विशेषज्ञों की सलाह यह है, कि, मामनसील्यमनता को यथासम्भव निश्चय कर के विवाह करें, और बीती भूलों को भुला कर, आगे के लिये, परस्पर अ-व्यभिचार परस्पर पतिव्रत-पत्नीव्रत, का दृढ निश्चय कर के सदाचार से जीवन निर्वाह करें, और सन्तान को यथासम्भव उन भूलों से बचावें।

श्री जेनी ली १९२९ ई० मे ब्रिटिश पार्लिमेंट की सदस्य हुई, अमेरिका, यूरोप, रूस मे बहुत भ्रमण किया, रूस मे प्रथम बार १९३० ई० मे गई, तबसे और भी कई बार गई, ब्रिटिश मिनिस्ट्री के सेक्रेटेरियट (दफ्तर) मे इनको एक जगह भी दी गई थी, परन्तु समाचार-पत्रो मे लेख छपाने का स्वातन्त्र्य रहे, इस लिये उस पद को इन्होने त्याग दिया। १९३१ ई० के अगस्त मे इन्होंने एक पुस्तिका छपाई, 'अवर [illegible] रशिया', चौंसठ पृष्ठ की। इस छोटी पुस्तिका के आठ अध्यायों मे, सोवियट शासन और रूसी सामाजिक और वैयक्तिक जीवन के सभी मुख्य अंगो की सार सार बातें लिख दी है, लिखने के प्रकार से, पाठक के दिल पर यही प्रभाव पडता है कि निष्पक्ष सत्य लिखा है। पुस्तिका के पृ० ३६ पर लिखा है, "रूस मे, विवाह और तलाक के कानून सरल कर दिये गये है·

स्त्री और पुरुष का शाश्वतिक संग साथ, और अपने और अपनी समाज के लिये परस्पर-संबद्ध दृढ़-मूल (कौटुम्बिक) जीवन का साधन और निर्वाहण—इस समय रूस देश मे, यही भावना धारणा चलती है; अर्थात्, विविध प्रकारो की परीक्षा और अनुभव कर के, रूसी जनता और शासक भी मनु के सिद्धांत के पास पहुँचे है ।

(घ) विवाह सुखमय कैसे हो, इस के साधनो का वर्णन । इस शास्त्र का ठीक नाम तो 'सांसारिक-सुखशास्त्र', वा 'दाम्पत्य-शास्त्र', वा 'गार्हस्थ्य-शास्त्र' होना चाहिये । इस दृष्टि से, इस शास्त्र के अन्तर्गत मे, स्त्री और पुरुष के आदर्श शरीरो का वर्णन, चित्रों के साथ, होना चाहिये।

अर्थस्य मूलं निकृतिः, क्षमा च. कामस्य रूपं च, वयो, वपुश्च,
धर्मस्य यागादि, दया, दमश्च, मोक्षस्य चैव उपरमः क्रियाभ्यः ।

काम का मूल, यौवन, रूप-सम्पत्ति, और दृढ शरीर है; अर्थ का नीचा निकृष्ट व्यवहार और बर्दाश्त, नम्रता, धर्म का, यज्ञ याग और इष्ट आपूर्त आदि, के द्वारा परार्थ कार्य, दया, और इन्द्रिय दमन, मोक्ष का, सब क्रियाओं से उपरम, निवृत्ति । कामशास्त्र की दृष्टि से, कामसूत्र ने इन चार में से प्रथम तीन पुरुषार्थों को नमस्कार किया है, और उन का लक्षण संक्षेप में, किया है, वह पृ० १९८-१९९ पर ऊपर लिखा गया । मोक्ष का तो केवल नाममात्र लिया है, उसको कामशास्त्र के अननुकूल, अनुपयुक्त, समझा, पर यह ठीक नहीं; साक्षात् सम्बन्ध भले नहीं है, किन्तु परम्परया है। अध्यात्म शास्त्र के सिद्धान्त, एक ओर अभ्युदय के अन्तर्गत तीन पुरुषार्थों को, और दूसरी ओर निःश्रेयस-रूप चौथे पुरुषार्थ मोक्ष को, परस्पर बाँधे हुए हैं; उन सिद्धान्तों की सर्वथा उपेक्षा करने से, "आत्मवत् सर्वभूतेषु" को भुला देने से, न धर्म ही, न अर्थ ही, न काम ही, सुसाध्य रूप में सध सकता है, काम ...

सुरत यज्ञ का अंग 'प्रीति' है, पर नहीं पसरी । ...

पापो से ही वैराग्य होना उचित है, पुण्यात्मक सांसारिक व्यवहारो से नही, पर ऐसे सारागय को भी धर्म वनाये रहने के लिये, उत्तम अध्यात्म भाव का कुछ न कुछ ध्यान, मन मे बना रहना, उपयुक्त ही, किंवा एक सीमा तक आवश्यक भी, है, इसी लिये, अक्षरारम्भ के पहिले सन्ध्या वन्दन सिखाने की विधि है, अभ्युदयाभिलाषी युवा को, मोक्षोन्मुख शात सद्वृद्धो के दर्शन पूजन से, अति अभिमान, अति काम, अति लोभ आदि नही होने पाता, और सभी सासारिक कार्यो मे सहायता और अच्छे उपदेश मिलते रहते है। इस लिये वात्स्यायन को अन्तिम पुरुषार्थ की सर्वथा उपेक्षा नही करना चाहता था।

> कन्या वरयते रूप, माता वित्त, पिता श्रुत,
> बान्धवा कुलमिच्छन्ति, मिष्टान्नमितरे जना (लोकोक्ति)।
> कुल च, शील च, सनाथता च, विद्या च, वित्त च, वपुर्, वयश्च,
> एतान् गुणान् सप्त विचिन्त्य, देया कन्या बुधै,
> शेष अचिंतनीय, (व्यास-स्मृति)।
> अव्यगांगी सौम्यनाम्नी, हसवारणगामिनीम्
> तनुलोमकेशदशना मृद्वगीम् उद्वहेत् स्त्रियम्। (मनु)

युवा और कन्या दोनो का कुल, शील, विद्या, वित्त, वपु (शरीर की सुन्दरता और स्वस्थता), वयस्, अच्छा नाम, अच्छी चाल, आदि का विचार कर के विवाह स्थिर करना चाहिये।

रूप—काम का उद्बोधक, यौवन की प्राप्ति के बाद, सब से पहिले सुन्दर रूप है। प्राय अनार्ष अर्वाचीन सस्कृत-साहित्य मे, तथा हिन्दी-साहित्य मे, स्त्री का ही नख-शिख-वर्णन देख पडता है, वह भी अति-रंजित, बहो तक कि मिथ्या और अश्लील। पुरुष शरीर की शोभा का वर्णन बहुत कम मिलता है। इस का फल यह हुआ है कि, पुरुष के मुख और अन्य अग के सुन्दर होने की कोई जरूरत नही, पुरुष भोक्ता, और स्त्री

भोग्य है, भोग्य ही को सरस होना चाहिये—ऐसा भाव फैल रहा है। फलतः सुन्दर पुरुष-मुख कम देख पड़ते हैं, तथा, क्रिया प्रतिक्रिया के नियम से, जब पिता सुन्दर न होंगे तो केवल माता के सुन्दर भी होने से कन्या सर्वथा सुन्दर नहीं हो सकती, इस लिये स्त्रियों का सौन्दर्य भी विरल हो रहा है, और समस्त जाति रूपहीन होती जाती है। पश्चिमीय देशों में कभी कभी 'स्कल्पटर', प्रतिमाकार, रूपकार, मूर्ति उत्कीरक, तथा 'पेण्टर', चित्रकार, लोगों में बहुत रोचक बहस उठती रहती है, इस प्रश्न पर कि स्त्री-रूप निसर्गतः अधिक सुन्दर और स्थायी है कि पुरुष-रूप। सिद्धान्त यह है कि पुरुष को स्त्री-रूप और स्त्री को पुरुष-रूप अधिक सुन्दर प्रकृत्या जान पड़ता है। इसका आध्यात्मिक कारण जानना हो तो, काम के पारमार्थिक अध्यात्मतत्त्व से सम्बद्ध, स्त्रीत्व और पुरुषत्व का आध्यात्मिक तत्त्व जानना होगा।

सौन्दर्य क्या है, इस पर, पूर्व में भी, पश्चिम में भी बहुत विचार किया गया है; आध्यात्मिक निष्कर्ष यही है,

यद् यस्य रोचते, तस्मै, तद् एव ननु सुन्दरं,

जो रूप जिसको रुचे, उसके लिये वही सुन्दर है।

पुरुष भोक्ता और स्त्री भोग्य—यह भाव असभ्य, अनार्य, अग्राह्य है। आर्ष ग्रन्थों में यह नहीं देख पड़ता। यदि सीता की शोभा का वर्णन है तो राम की शोभा का उससे अधिक है[1]। कृष्ण के रूप की महिमा तो

---

[1] महर्षि वाल्मीकि ने राम जी के आध्यात्मिक गुणों का जो वर्णन किया है, उनके शरीर के एक एक अंग की भी आदर्श-शरीर-पुरुषोचित शोभा का वर्णन किया है। पर सीता देवी के स्त्री-शरीर का वर्णन कैसे करें?

अहो [illegible], अहो [illegible],
अहो [illegible], अहो [illegible]।

पुराण इतिहास मे बहुत ही प्रसिद्ध है। "विभ्रद् वपु सकलसुन्दर-सन्निधान", "त्रिभुवनकमन तमालवर्ण", "नेत्रोत्सव विदधतं नगरांगनानां", जिस को स्त्री-पुरुष आँख फाड फाड कर देखें, जिस के देखने से आँख थकें नही, अघायें नहीं। पुराणो मे कथा है, स्वर्ग मे बहस चली, सब से सुन्दर कौन है, उर्वशी, मेनका, रम्भा आदि अप्सराओं की पंचायत बना कर नारद ऋषि को मध्यस्थ, प्राड्विवाक्, सरपच, नियत कर, सब लोकों मे घूम कर निर्णय करने को इन्द्र ने नियुक्त किया, राजा पुरूरवा को, स्नान के समय, अनावृतांग, नग्न, देख कर, पचायत ने निश्चय

इन्द्रजित् ने राम और लक्ष्मण को नाग पाश से बांध दिया है, दोनो भाई मूर्च्छित, निश्चेष्ट, प्राणरहित से, पृथ्वी पर पडे हैं, सीता देवी को विमान पर बिठा कर, उन्हें दिखाने के लिये, राक्षस लाते हैं, देख कर, सीता देवी, विह्वल रोती हैं, "जो जो लक्षण दैवज्ञो ने कहा है कि, जिस स्त्री के शरीर मे ये लक्षण हों, उसको वैधव्य कभी नही हो सकता, वे सब लक्षण मेरे शरीर मे वर्तमान हैं, फिर कैसे यह दशा?" और सीता देवी अपने शरीर लक्षणों का वर्णन करती हैं। इस प्रकार से महर्षि ने, ऐसे दारुण दुःख के समय मे, स्वयं देवी के मुख से अपने शरीर का वर्णन कराया कि किसी के चित्त मे काम विकार उत्पन्न हो ही नहीं सकता। देवी के दुःख से दुःखी ही होना पड़ता है। यह महर्षि का कारुण्य, वात्सल्य, उपदेश-प्रावीण्य है। जैसे छोटा बच्चा, अपनी माता के साथ स्नान करता हुआ, उसके शरीर को, निर्विकार भाव से देखता है, वैसे ही, मनुष्य, इस वर्णन को पढ़ कर, चित्त का संस्कार हो जाता है, विकार नहीं।

> [illegible] निराशे,
> [illegible] प्रजानि च
> [illegible] दर्शन
> [illegible]
> [illegible]

भोग्य है, भोग्य ही को सरस होना चाहिये—ऐसा भाव फैल रहा है। फलत. सुन्दर पुरुष-मुख कम देख पडते है, तथा, क्रिया-प्रतिक्रिया के नियम से, जब पिता सुन्दर न होगे तो केवल माता के सुन्दर भी होने से कन्या सर्वथा सुन्दर नहीं हो सकती, इस लिये स्त्रियों का सौन्दर्य भी विरल हो रहा है, और समस्त जाति रूपहीन होती जाती है। पश्चिमीय देशो मे कभी कभी 'स्कल्पटर', प्रतिमाकार, रूपकार, मूर्ति-उत्किरक, तथा 'पेण्टर', चित्रकार, लोगो मे बहुत रोचक बहस उठती रहती है, इस प्रश्न पर कि स्त्री-रूप निसर्गत. अधिक सुन्दर और स्थायी है कि पुरुष रूप। सिद्धान्त यह है कि पुरुष को स्त्री-रूप और स्त्री को पुरुष-रूप अधिक सुन्दर प्रकृत्या जान पडता है। इसका आध्यात्मिक कारण खोजना हो तो, काम के पारमार्थिक अध्यात्मतत्त्व से सम्बद्ध, स्त्रीत्व और पुरुषत्व का आध्यात्मिक तत्त्व जानना होगा।

सौन्दर्य क्या है, इस पर, पूर्व में भी, पश्चिम मे भी बहुत विचार किया गया है; आध्यात्मिक निष्कर्ष यही है,

यद् यस्य रोचते, तस्मै, तद् एव ननु सुन्दरं;

जो रूप जिसको रुचे, उसके लिये वही सुन्दर है।

पुरुष भोक्ता और स्त्री भोग्य—यह भाव असभ्य, अनार्य, असत्य है। आर्ष ग्रन्थो मे यह नहीं देख पड़ता। यदि सीता की शोभा का वर्णन है राम की शोभा भी उससे अधिक है'। कृष्ण के रूप की महिमा तो

पुराण इतिहास मे बहुत ही प्रसिद्ध है। "बिभ्रद् वपु सकलसुन्दर-सन्निधानं", "त्रिभुवनकमन तमालवर्ण", "नेत्रोत्सव विदधत नगरांगनानां", जिस को स्त्री-पुरुष आँख फाड़ फाड़ कर देखें, जिस के देखने से आँख थकें नही, अघाये नहीं। पुराणों मे कथा है, स्वर्ग मे बहस चली, सब से सुन्दर कौन है; उर्वशी, मेनका, रम्भा आदि अप्सराओं की पचायत बना कर नारद ऋषि को मध्यस्थ, प्राड्विवाक्, सरपच, नियत कर, सब लोकों मे घूम कर निर्णय करने को इन्द्र ने नियुक्त किया, राजा पुरूरवा को, स्नान के समय, अनऽावृतांग, नग्न, देख कर, पचायत ने निश्चय

इन्द्रजित् ने राम और लक्ष्मण को नाग पाश से बाँध दिया है; दोनो भाई मूर्च्छित, निश्चेष्ट, प्राणरहित से, पृथ्वी पर पड़े हैं; सीता देवी को विमान पर बिठा कर उन्हें दिखाने के लिये, राक्षस लाये हैं; देख कर, सीता देवी, विलाप रोती है, "जो जो लक्षण दक्षों ने कहा है कि, जिस पत्नी के शरीर में ये लक्षण हों, उसको वैधव्य कभी नहीं हो सकता, वे सब लक्षण मेरे शरीर में वर्तमान हैं; फिर कैसे यह वैधव्य?", और सीता देवी अपने शरीर लक्षणों का वर्णन करती हैं। इस प्रकार से महर्षि ने, ऐसे दारुण दुःख के समय में, स्वयं देवी के मुख से अपने शरीर का वर्णन कराया कि किसी के चित्त में काम विकार उत्पन्न हो ही नहीं सकता, देवी के दुःख से दुःखी ही होना पड़ता है। यह महर्षि का कारुण्य, वात्सल्य, उपदेश-प्रावीण्य है। जैसे, छोटा बच्चा, अपनी माता के साथ स्नान करता हुआ, उसके शरीर को, निर्विकार भाव से देखता है, ऐसे ही, सज्जन, इस वर्णन को पढ़ कर, चित्त का संस्कार ही पाता है, विकार नहीं।

यथा [illegible] शान्तस्य [illegible] निरीहः,
संस्कार एव [illegible], विकार न [illegible] च,
[illegible] महा[illegible] सीतादेव्या हि वर्णन
[illegible] स्वशरीरस्य, पठित्वा, [illegible],
शुभं प्राप्नुयात् [illegible], [illegible]।

२२

किया कि ये ही सब से सुन्दर हैं, फिर उर्वशी उन पर, और वे उर्वशी पर, इतने मुग्ध हुए कि विवाह हुआ और चन्द्रवंश बढ़ा। स्नान के समय जाँच इस लिये की गई कि स्वाभाविक लावण्य पर, स्वेद आदि धुल कर, और भी 'आब', 'पानी', की चमक, आ जाती है। यह हुई पौराणिक कथा। इतिहास में विख्यात सिकन्दर को भी, स्नान के समय, उस के योद्धा देखने को जमा हो जाया करते थे, उसका शरीर ऐसा ही सुन्दर और बलवान् था। उसकी शोभा पर भी, और युद्धनेतृत्व के कौशल पर भी, मुग्ध होकर योद्धा उसके लिए अपने प्राण का बलिदान किया करते, और उसकी विजयश्री को नित्य बढ़ाते रहते थे, अंत में, पंजाब देश के राजा पौरव से युद्ध कर के, सिकन्दर की और उस के रणोत्कट भटों की युद्ध-श्रद्धा क्षीण हुई; कामसूत्र, अर्थशास्त्र, पचतंत्र आदि ग्रन्थ-रत्नों के कर्त्ता वात्स्यायन-चाणक्य महामंत्री के बुद्धिबल से समुन्नत चंद्रगुप्त की साम्राज्य-शक्ति की कीर्त्ति सुन कर, वे और भी हिम्मत हारे, और अपने देश की ओर वापस चले'। राजा पौरव की शरीर-सम्पत्ति सिकन्दर से भी किन्हीं अंशों में बढ़ी चढ़ी थी, ऐसा स्वयं ग्रीस देश के तत्कालीन इतिहास-लेखकों के ग्रन्थों से विदित होता है, साढ़े सात फुट से अधिक ऊँचे थे, हाथी पर सवार, बिना महामात्र (महाउत) के, स्वयं उसको चलाते दौड़ाते हुए, (जैसे महाभारत में राजा भगदत्त), युद्ध करते थे; और

लेखक प्लूटार्क कहता है कि पौरव, हाथी पर सवार नही, बलिक घोडे पर सवार जान पडते थे; गजराज और नरराज के शरीरो की ऊँचाई की निष्पत्ति, (अनुपात, 'निस्बत'), से भी, और राजा के हस्ति-सचालन-कौशल से भी, ऐसा जान पडता था मानो अश्व पर अश्वारोही आरूढ है , दबे शब्दो मे सिकन्दर की हार भी प्लूटार्क कबूलता ही है। पजाब प्रात अब भी शरीर-सम्पत्ति की खान है। खेद है कि महा-भारत-ग्रन्थ के बाद, सच्चे, सविस्तर, बहुविषय-सग्राहक, बहुश्रुतता-सम्पादक, सर्वशास्त्रसार, सर्वकाव्यरसाधार, नवीन-नवीन इतिवृत्तो से पूर्ण, अत अधिकाधिक मनोहर और ओजस्वी, इतिहासो के लिखने का स्रोत ही इस अभागे देश मे बद हो गया। कामशास्त्र का इतिहास से घनिष्ठ सम्बन्ध है, यह ऊपर सूचना की जा चुकी है। प्राय सभी असाधारण ऐतिहासिक घटनाओ के करनेवाले, अलौकिक, अति विशिष्ट, धर्मावतारो और अधर्मावतारो, की उत्पत्ति मे कोई विशेष आविष्कार किसी विशेष काम-विकार का भी लगा रहता है, यह पुराणो मे बहुधा सूचित किया है। आधुनिक पाश्चात्य पौरस्त्य लेखक अक्सर इस की चर्चा बचा जाते है, पर इस से, कार्य-कारण-सबध-ज्ञान मे, अध्येता के, त्रुटि रह जाती है।

अच्छे अर्वाचीन कवियो ने भी, कभी-कभी, पुरुष-नायको का भी कुछ वर्णन कर दिया है, यथा रघु का कालिदास ने,

> युवा युगव्यायतबाहु अंसल कपाटवक्ष परिणद्धकधर,
> वपु प्रकर्षाद् अजयद् गुरु रघुम्, तथापि नीचैर्विनयाद अदृश्यत।

वृषभो पर रक्खे जाने वाले युग (जुआ) के ऐसे मोटे और लम्बे बाहु, भारी कन्धे, मासपेशियो से नद्ध ग्रीवा इस प्रकार के उत्कृष्ट शरीर से, रघु, अपने पिता दिलीप से भी बढ गये, किन्तु विनय से सामने दबे हुए ही रहते थे।

तथा श्रीहर्ष ने, नल का, दूसरे प्रकार से,

अधारि पद्मेषु तदङ्घ्रिणा घृणा, क्व तच्छयच्छायलवोऽपि पल्लवे,
तदास्यदास्येऽपि गतोऽधिकारिता न शारदः पार्वणशर्वरीश्वरः ।

राजा नल ने जब यौवन मे प्रवेश किया, तब उन के पैरों ने कमलों का तिरस्कार किया, उन के हाथो की सुन्दरता की छाया भी, अच्छे से अच्छे पल्लवो ने नही पाया, पूर्णिमा के चंद्रमा की शोभा तो उन के मुख की शोभा की दासी होने के भी योग्य नही थी ।

एक अन्य नाटककार ने बहुत ललित शब्दो मे, राम और सीता के परस्पर भाव, एक दूसरे के सौन्दर्य के विषय मे, विवाह से पहिले के, कहे है,

यौवनोद्गमनितान्तशङ्किताः, शीलशौर्यबलकान्तिलोभिताः,
सङ्कुचन्ति विकसन्ति राघवे, जानकीनयननीरजश्रियः ।
उत्तरङ्गय, तरङ्गलोचने, लोचने कमलगर्वमोचने
अस्तु सुन्दरि कलिन्दनन्दिनीवीचिडम्बरगभीरम् अम्बरम् ।

तथा मृच्छकटिक नाटक के नायक का वर्णन है,

घोणोन्नतं मुखम्, अपाङ्गविशालनेत्रं, नैतद् हि भाजनम् अकारणदूषणानाम्,
नागेषु गोषु तुरगेषु तथा नरेषु, नैवाऽऽकृतिः सुसदृशं विजहाति वृत्तम् ।

सूरदास जी ने भी हिन्दी-साहित्य मे प्रायः आर्य भावों का प्रदर्शन किया है, यद्यपि कहीं कहीं, भक्ति की अति कर दी है ।

आदर्श पुरुष और आदर्श स्त्री के बालक-बालिका, कुमार-कुमारी, युवक-युवती, प्रौढ़-प्रौढ़ा, वृद्ध-वृद्धा अवस्थाओं के चित्र, घर-घर में रहने चाहिये, जिनको देखते-देखते विवाहित दम्पतियों के मन में ये भाव इतने बस जावें कि उन की सन्तान वैसी ही होने लगे । राम और सीता, कृष्ण और रुक्मिणी, बलराम और रेवती, वसिष्ठ और अरुन्धती, नल और दमयन्ती, सत्यवान और सावित्री, बुद्ध और यशोधरा की, सुन्दर-सुन्दर अवस्थाओं की तस्वीरों या प्रतिमाओं की घर घर में पूजा नहीं हो-

कारक हो, यदि ये तस्वीर और प्रतिमा सचमुच सुन्दर हो। मूर्तिपूजा की युक्तिमत्ता, उपादेयता, चरितार्थता, तभी है जब इष्टदेव की मूर्ति और भाव सुन्दर और सात्त्विक हो, और, 'यो यच्छ्रद्ध स एव स' के नियम से, उपासक और उस की संतान के देह और चित्त भी ध्यान और भक्ति के बल से, वैसे ही सुन्दर और सात्त्विक हो जायँ। खेद है कि मूर्तियाँ प्राय सुन्दर के स्थान पर भद्दी रहती हैं। ग्रीस देश मे, दो सहस्र वर्ष पहिले, सौंदर्य की उपासना बहुत हुई, और उस समय वहाँ स्त्री-पुरुष बहुत सुन्दर होते थे। उस समय की जो बची-खुची सङ्गमर्मर की टूटी-फूटी भी प्रतिमा, खंडहलों मे दबी-दबाई मिली है, उनको और उनके फोटो चित्रो या प्रतिकृतियो को देखते आँख नही थकती। हिमालय पर्वत की किन्ही किन्ही द्रोणियो मे अब भी ऐसी जातियाँ है, जिनके विषय मे, स्वय अंग्रेजो ने, अपना जात्यभिमान भुला कर, मुक्तकंठ लिखा है, कि इन से अधिक सुन्दर स्त्री-पुरुष अन्यत्र कही नहीं है।[1]

---

[1] वात्स्यायन ने, इस प्रकार मे, स्त्री और पुरुष के शरीर की सुन्दरता के लक्षण तो कहे नही, उन की गुह्य इन्द्रियों के परिमाण के भेद से, तीन तीन भेद लिख दिये है, यथा,

शशो, वृषो, अश्व, इति नायक विशेषा।
नायिका पुन मृगी, वडवा, हस्तिनी, चेति

(साम्प्रयोगिक अधि०, २ अ० १)।

पीछे के लेखकों ने चार भेद किये है,

शशो, मृगो, वृषो, वाजी, इत्थं पुरुष चतुर्विधः।
पद्मिनी, चित्रिणी चैव, शंखिनी, हस्तिनी, स्त्रिय।

[illegible] । इस प्रकार के भेद, [illegible] शरीर [illegible] [illegible] दिये है [illegible] उपयोगी भी नहीं है, क्योंकि [illegible] [illegible]

वपुः—वपुष्मत्ता, शरीर-सम्पत्ति, अर्थात् बल और दृढ़ता, भी काम-सुख के लिये आवश्यक है, केवल सुन्दर-रूप पर्याप्त नहीं, यदि बहुत नाज़ुक, सुकुमार, रोगिया है, तो सुन्दर ही होकर किस काम का? इस लिये, कामशास्त्र मे, उपयुक्त आहार तथा व्यायाम की भी चर्चा होनी चाहिये।

अंतर्गत है, किन्तु, शरीर के अन्य, और अ-गुप्त, अवयवों के सौन्दर्य का और आध्यात्मिक उत्तम गुणों का अधिक वर्णन होना चाहिये, क्योंकि, पहिले परि-दृश्यमान साक्षात् आकर्षक तो ये ह। वाल्मीकि रामायण मे, कई स्थानो मे, राम और सीता के जो वर्णन किये हैं, वे देखने योग्य हैं; 'न्यग्रोधपरिमण्डल' और 'श्यामा' विशेषण दिये हैं; इन दो शब्दों के ठीक अर्थ आज काल प्राय भूले हुए हैं।

प्रसारितभुजस्येह, यस्य बाहुद्वयान्तर
उच्छ्रायेण सम, स स्यात् न्यग्रोधपरिमण्डल ,
महाधनुर्धराश्चैव, त्रेताया, चक्रवर्तिन ,
नरलक्षणसम्पन्ना॰, न्यग्रोधपरिमण्डला ,
न्यग्-रोधौ तु स्मृतौ बाहू, व्यामो न्यग्रोध उच्यते ,
व्याममुच्योच्छ्रयो यस्याऽस्मि अ. ऊर्ध्वं च देहिन ,
समोच्छ्रयपरीणाहो, न्यग्रोधपरिमण्डल॰ ।
स्तनौ सुकठिनौ यस्या , नितम्बे च विशालता ,
मध्ये क्षीणा भवेद् या, सा न्यग्रोधपरिमण्डला ।
शीते सुखोष्णसर्वांगी, ग्रीष्मे तु सुखशीतला ,
तप्तकाञ्चनवर्णाभा, सा स्त्री श्यामा इति कथ्यते ,
[illegible] च श्यामा (सोम[illegible]) ।
([illegible], [illegible], [illegible], [illegible]) ।

[illegible]

ऊपर कहा कि शरीर-सम्पत्, वपुष्मत्ता, अब भी पंजाब मे बहुत है। अफगानिस्तान मे भी है, याद रहे कि मुहम्मद और इस्लाम धर्म के जन्म के पहिले, उस देश का नाम 'गाधार' (अब 'कदहार') था, और वहाँ के बाशिंदे सब 'हिंदू' और बौद्ध थे, बुद्ध, चद्रगुप्त, सिकदर, अशोक, आदि के समय मे, तक्षशिला का विद्यापीठ परम प्रसिद्ध था, पाणिनि, पतंजलि, आदि का जन्म इसी प्रान्त मे हुआ, अस्तु। सिख-मडली मे कहा जाता है कि महाराज रंजीत सिह जब हाथी पर निकलते थे, तब सर्दार हरिसिह नटवा, उन के हाथी के पुट्ठे पर एक हाथ रक्खे हुए साथ-साथ बात करते चलते थे, जैसे किसी घुडसवार के साथ उस का आत्मीय, उस के घोडे के पुट्ठे पर हाथ रक्खे बात करता चलै, ऐसे विशालकाय थे। इन्ही हरिसिंह और मेलाराम ने अफगानिस्तान और काबुल फतह किया, हरिसिह ने उसी युद्ध मे अपना शरीर छोडा। एक पजाबी सज्जन से मैने

नीचे, रह, बढना, लटकना, जैसे वट के बरोह, वट वृक्ष को भी न्यग्रोध कहते है), फैलाई बाँह का जो परिमाण, वही सिर से पैर तक का, जिस का हो, और मोटाई उँचाई भी बराबर हो, वह न्यग्रोधपरिमडल। जिस स्त्री के स्तन कठिन, नितम्ब विशाल कमर पतली हो, वह 'न्यग्रोधपरिमडला'। जिस का शरीर शीत काल मे उष्ण, और ग्रीष्म काल मे ठढा हो, और जिस का रग तपाये सोने के ऐसा हो, वह 'श्यामा'। यहा श्यामा का अर्थ सावली, काली, नही, रामायण मे सीता का वर्ण गौर लिखा है।

स्त्री अग पुष्ट और सुन्दर होने चाहिये तौ भी शरीर के स्तनो का, और पुरुष शरीर के बाहुओ की, शोभा पर, साहित्य ने अधिक ध्यान दिया है। क्यो? अध्यात्मशास्त्र की दृष्टि से [illegible] जान पडता है, कि मनुष्यो के चित्त मे [illegible] रूप से यह भाव बैठा हुआ है कि [illegible] स्तनो से बच्चो का पालन, और पुरुषो के बाहुओ से कुटुम्ब और समाज का रक्षण, [illegible] है, [illegible] 'पालयित्री' और 'महाबाहु' [illegible]

सुना कि अब तक अफगानी लडाकू जातियों की स्त्रियाँ, अपने शोर करते बच्चों को यह कह कर चुपाती है कि "हरिसिंह आया, नब्बा आया।" ऐसा विशाल शरीर होना असंभव नहीं, और किंवदन्ती को हठात् अत्युक्ति और मिथ्या नहीं समझ बैठना चाहिये, साढ़े छः फुट के सिख और अफगानी मै ने कई देखे है, ७ जनवरी १९२० ई० के 'पायोनियर' नाम के दैनिक मे, (जो उस समय इलाहाबाद से निकलता था), एक चित्र छपा है; इसमे जे० जी० टार्वर नाम का अतिकाय पुरुष, एक हाथी के पुट्ठे पर हाथ रक्खे, और अपनी दाहिनी कुक्षि मे एक साधारण पुरुष को दबाये, दिखाया है। टार्वर का उच्छ्राय (ऊँचाई) आठ फुट चार इंच लिखी है, और शरीर की तौल एक हजार पौंड, अर्थात् साढ़े बारह मन। "एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका" मे 'जायन्ट्स' पर लेख है; और दैनिक पत्रों मे, समय-समय, ऐसों के हाल छपते रहते हैं। गिबन ने, अपने लिखे "रोमसाम्राज्य के इतिहास" मे, मैक्सिमिन नाम के कैसर का सुप्रमाणित हाल लिखा है, कि आठ फुट से अधिक ऊँचा था, उसी अनुपात से मोटा, अति बलवान्, दिन मे बीस सेर मांस और तीस सेर मदिरा खा-पी लेता था; वृकोदर भीम ही था। भारतवर्ष को ऐसे बलशाली भीम, अर्जुन, पौरुषों की आवश्यकता है। जैसे सूखे भूखे, मर्कट-आकृति, मर्कट प्रकृति के, नीच देश मे भर रहे हैं, वे भारत का उद्धार नहीं कर सकते।

वयस्—तीसरे, उपयुक्त वयस् भी कामोपभोग का आवश्यक अंग है। इस सम्बन्ध में, किस वयस् में विवाह होना चाहिये, इस का भी विचार कामशास्त्र में होना आवश्यक है।

[illegible]
[illegible]।

स्त्री के 'भग', [illegible], के [illegible], [illegible], नमक, के [illegible] के [illegible], [illegible], जो गुप्त अंगों पर [illegible] पड़ती है, उसको [illegible], [illegible],

सलोना-पन कहते हैं। यह पूर्वोक्त (पृ० १८०) शुक्रकला का फल है। लावण्य और तारुण्य का साथ है। आयुर्वेद, सुश्रुत आदि, में,

पूर्णषोडशवर्षा स्त्री पूर्णविंशेन संगता,

इत्यादि से बीस और सोलह वर्ष का वयस्, पुरुष और स्त्री के विवाह (संगम) के लिये उचित है, ऐसी सूचना की है। इस से कम तो किसी प्रकार होना ही नहीं चाहिये। इतने वर्ष तक अविप्लुत-ब्रह्मचर्य से रहने से शरीर में लावण्य तारुण्य की यथा-कथञ्चित् कांति की दीप्ति आ जाती है। पुराणों में, स्वर्ग और नन्दन-वन के आदर्शों के वर्णन में, ऐसा रूपक बनाया है कि, स्वर्गवासी पुरुषों और स्त्रियों का, पचीस और सोलह वर्ष का, स्थिर यौवन रहता है। मनुस्मृति की प्रचलित लिखी छपी प्रतियों में पाठ यों देख पड़ता है,

त्रिंशद्वर्षोद्वहेत् कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीं,
त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा, धर्मे सीदति सत्वरः।

तीस वर्ष का पुरुष बारह वर्ष की कन्या से, अथवा, यदि ब्रह्मचर्य धर्म के अवसाद के भय से त्वरा हो तो, चौबीस वर्ष का पुरुष आठ वर्ष की स्त्री से विवाह करे। निश्चयेन यह पाठ भ्रष्ट है। पुरुष की अवधियां तो विज्ञान-सम्मत हैं, पर स्त्री की स्पष्ट ही विज्ञान विरुद्ध हैं। बारह वर्ष की अनभिव्यक्ताङ्ग बालिका से तीस वर्ष के प्रौढ़ पुरुष का, अथवा आठ वर्ष की अबोध बच्ची से चौबीस वर्ष के तरुण का, संयोग तो घोर बाल-हत्या और महापातक है।

मैं एक ऐसे कुटुम्ब का हाल स्वयं जानता हूं जहां, (१९४२में) कोई पैंतीस वर्ष के होने, एवं हृष्ट पुष्ट व्यायामशील (और प्रायः सदाचारी भी) बीस वर्ष के युवा का दूसरा विवाह, पहिली पत्नी के किसी रोग से मर जाने पर, एक ठीक आठ वर्ष की बच्ची से कर दिया गया। उस अनजान बच्ची को, प्रसंग से ही अत्यंत पीड़ा हो कर, गर्भ भी रह गया, गर्भ की

वृद्धि से अति व्याकुल, वह बच्ची अपने साथ खेलने वाली बालिकाओं से कहती फिरती थी, 'अभी हमे ऐसा नही होना चहिये था', 'अभी हमे ऐसा नहीं होना चहिये था', सातवें मास असमय प्रसव-वेदना उठी; भयंकर यातना के साथ मृत बालक हुआ; उस को, वह बालिका, अपनी स्तनहीन दुग्धहीन छाती पर दोनो हाथों से चपका कर, परलोक को चली गई, परमेश्वर से पूछने को, 'आप ने ऐसा क्यों किया', 'आप ने ऐसा क्यों किया', 'मनुष्यों की ऐसी तामस बुद्धि क्यों बनाई'।

अवश्य ही मनु के श्लोक का पाठ भ्रष्ट हो गया है; स्यात् कारण यह होगा कि विदेशियों के आक्रमणों से, अथवा स्वदेशी राजों के ही दुराचार, परस्पर कलह, युद्ध, लूट पाट से, और उन की और उनके सैनिकों की,

पुरीं अवस्कन्द, लुनीहि नन्दनं, मुषाण रत्नानि, हराऽमराऽङ्गना, (माघ),

नगर पर धावा करो, उस मे घुस जाओ, बाग़ बागीचों को नोच खसोट डालो, सब रत्न और अच्छी चीज़ें लूट लो, और स्त्रियों को उठा लाओ—इस पाशव नीति से भीत हो कर, शास्त्री लोगों ने, कन्याओं की रक्षा के लिये ही उन के ब्याह की उमर कम कर दी, और पर्दे की प्रथा भी चला दी, कि विवाहित हो जाने से स्यात् कम हरी लूटी जायँ, फिर सामान्य जनता कि साम्यबुद्धि ने पुरुषों की भी ब्याह की उमर तदनुसार घटा दी, यद्यपि शास्त्रियों को तीस और बारह, तथा चौबीस और आठ की असमंजसता नहीं सूझी। यदि 'विवाह' का अर्थ 'वाग्दान', सगाई समझा जाय, तो कम उमर मे सगाई कर देने में दोष नहीं; क्योंकि गुण है, बाल्य और कैशोर अवस्था का, कुमार-कुमारी का स्नेह और सात्त्विक 'प्रीति'-मय होता है। 'द्विरागमन', गौना, की बात भी, इस हेतुओं से बाद [illegible] वही असली 'विवाह' है; उस में, 'प्रीति' के सा 'रति' भी मिलती है।

प्रत्यक्ष प्रमाण प्रबल है; सब अन्य प्रमाण उस पर प्रतिष्ठित है वही उन सब की सौटी, नींव, प्रतिष्ठा है; आयुर्वेदशास्त्र, प्रत्यक्ष प्रमाण

सिद्ध है, ऐसे आयुर्वेद शास्त्र से विरुद्ध, मानव-धर्म-शास्त्र कभी नहीं हो सकता, अन्यथा, अ-शास्त्र हो जायगा। आयुर्वेद-सम्मत शुद्ध पाठ, मनुस्मृति के उक्त श्लोक का, निश्चयेन यही हो सकता है,

त्रिंशद्वर्षो(उ)द्वहेत् कन्या हृद्या द्वि-दश वार्षिकीम्,
त्र्यष्टवर्षोऽष्टिवर्षां वा, धर्मे सीदति सत्वर।

तीस वर्ष का पुरुष, हृदय-ग्राहिणी हृदय को प्रिय, बीस वर्ष की स्त्री से, अथवा चौबीस वर्ष का 'अष्टि' अर्थात् सोलह वर्ष की स्त्री से, विवाह करे। इस विषय का पाश्चात्य विज्ञान भी अब प्राय इन्हीं अंकों को उचित मानने लगा है। इन अंकों के गुण स्पष्ट हैं, शरीर और बुद्धि दोनों पुष्ट परिपक्व हो जायेंगे। मनु के कहे हुए, मध्यम श्रेणी के, अर्थात् अठारह वर्ष के, ब्रह्मचर्य और उपयुक्त विद्याग्रहण का सम्पादन, कुमार कर लेगा, तथा कुमारी भी भविष्य मे अपने कर्त्तव्य के साधक और उचित, गृह-कर्म सम्बन्धी ज्ञान, कला, विद्या आदि का सचय कर लेगी, एक दूसरे को देख कर समान-शील-व्यसनता और परस्पर रुचि का भी दोनो यथासभव निश्चय कर ले सकेंगे।[1]

---

१ (निर्णयसागरीय) डल्हणकृतटीकोपेत सुश्रुत, शारीर स्थान, अ० १० मे कहा है 'अथास्मै पंचविंशतिवर्षाय षोडशवर्षां पत्नीमावहेत् पित्र्य-धर्मार्थ-काम-प्रजा प्राप्स्यति, इति।

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पंचविंशतिम्,
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं, कुक्षिस्थः स विपद्यते
जातो वा न चिरं जीवेद्, जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रि
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत् (इत्यादि)।
[illegible] इति [illegible] [illegible] [illegible] षोड [illegible] [illegible]
[illegible] ([illegible]) [illegible]
[illegible] [illegible], [illegible], [illegible] [illegible] [illegible]

एक बात इस स्थान पर याद रखने की है, जिस की सूचना पूर्वोक्त इस कथन से हो चुकी है, कि ब्रह्मचर्य से शरीर मे प्राणसंचय और बलसंचय होता है। देखा जाता है कि जिस उमर मे प्राणी वीर्य विसर्जन और संतानन आरंभ करते हैं, उसकी चौगुनी उन की आयु होती है। कुत्ते बिल्ली दूसरे वर्ष बच्चे देने लगते है, सात आठ दस वर्ष मे मर जाते है; गाय बैल तीसरे चौथे वर्ष मे, और बारह चौदह सोलह तक जीते है, घोडे पांचवें वर्ष और बीस वर्ष; सिंह व्याघ्र आदि दस बारह वर्ष और चालीस पचास वर्ष; हाथी 'साठा तब पाठा', और सौ सौ ढाई सौ वर्ष तक जीता है। मनुष्य की वेदोक्त आयु, साधारण रीति से,

---

वीर्यवन्तं सुतं सूते, ततो न्यूनाऽब्दयोः पुनः
रोगी अल्पायुर् अधन्यो वा गर्भो भवति, नैव वा,
(वाग्भट, शारीर० अ० १)।

श्री यादव शर्मा आचार्य द्वारा संशोधित सम्पादित सुश्रुत के उक्त संस्करण (१९३८ ई०) के पृष्ठ ३०२ पर, ऊपर उद्धृत श्लोकों के नीचे टिप्पणी में लिखा है—"षोडशवर्षां इति ताल्पत्रपुस्तके पठ्यते, द्वादशवर्षां इतीतरेषु मुद्रित पुस्तकेषु।... वृद्धवाग्भटे तु, 'पुमान् एकविंशतिवर्षः कन्यां द्वादशा[illegible] [illegible]दीयाऽऽदद्यात्, तस्यां षोडशवर्षायां पंचविंशतिवर्षः पुरुषः पुत्रार्थं यतेत; [illegible] हि तौ प्राप्तवीर्यौ वीर्यान्वितं अपत्यं जनयतः', इति पठ्यते"।

श्री राजेश्वरदत्त मिश्र शास्त्री आयुर्वेदाचार्य के रचे "स्वास्थ्य वृत्त समुच्चय" (१९३० ई०) नामक ग्रन्थ के पृ० ८१ पर 'गर्भाधानकाल' शीर्षक नीचे, इस श्लोक को, अन्य श्लोकों के साथ, लिखा है,

पंचविंशे ततो वर्षे पुमान्, नारी तु षोडशे,
समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक्।

[illegible] और '[illegible]' के [illegible] के ऊपर बहुत [illegible] [illegible]
[illegible], इस [illegible] को [illegible] करने के लिए, [illegible] [illegible] है, [illegible]

'शतायुर्वै पुरुषः' है पचीस वर्ष शुद्ध ब्रह्मचर्य निबहै तो यह प्राय सधै। अक्सर लोग कहा करते हैं कि निबहना (निर्वहण) कठिन है तो फिर अधिक जीना भी कठिन है। परन्तु निभना ऐसा कठिन नही है, यदि सारे समाज मे सच्चा ज्ञान, सच्चे भाव, ब्रह्मचर्य के आदर की बुद्धि, कुमारों कुमारियो की आचारभ्रंश से रक्षा करने की बुद्धि, एक बेर चारो ओर फैल जाय, तो यह बात नितांत सहज हो जाय। पति पत्नी के वयस् मे, चार पाच से आठ नौ वर्ष तक का अन्तर तो होना ही चाहिये पुरुष का अधिक, इस से बहुत ज़्यादा अन्तर, शास्त्र और विज्ञान के विरुद्ध है, तथा आध्यात्मिक और सामाजिक दृष्टि से भी। "भावप्रकाश" नामक वैद्यकग्रन्थ मे दो श्लोक कहे है,

सद्योमास, नव चान्न, बाला स्त्री, क्षीरभोजन,
घृत, उष्णोदके स्नान, सद्य प्राणकराणि षट्,

प्रयोजन ही। पाठक सज्जन स्वय ही, पक्ष-प्रतिपक्ष के गुण-दोष को विचार कर के, निर्णय कर ले, कि कौन अधिक युक्तियुक्त है, मेरा तो विश्वास यही होता है कि धर्मान्धता के फेर मे पड़ कर, वा विदेशियो के आक्रमणो के कारण अस्थिर-बुद्धि, विचलित-मति, किंकर्त्तव्य-विमूढ़, हो कर 'धर्माधिकारियों ने 'पोषण' के स्थान पर '[illegible] लिखना लिखवाना आरम्भ कर दिया। जो कुछ हो गुण का [illegible], प्रभाव आप निर्णय कर रहा है, लिखित पठित कुलो मे, स्वय [illegible], [illegible], घरो मे, विविध कारणो से, विवाह का वयस् बढ़ता जा रहा है। यदि इस विषय के बहुविध अति विचित्र आचारो, रीतिरिवाजो का, जो भारत के पृथ॰ काल मे प्रचलित थे और अब है, वर्णन किया जाय तो एक पुस्तक हो जाय। एक श्लोक तो वाल्मीकि जी ने एक स्थान पर सीता जी से कहलाया है। [illegible] प्रश्न मे लिखा उचित है,

[illegible]
[illegible]

पूतिमांसं, स्त्रियो वृद्धा, बालाऽर्कं, तरुणं दधि,
प्रभाते मैथुनं, निद्रा, सद्यः प्राणहराणि षट्।

(कुछ पाठ भेद भी किया जाता है), आशय यह है—ताज़ा मांस, नया अन्न, (वा धारोष्ण दूध), बाला स्त्री, दूध (-सहित, या स्निग्ध, स्नेह-युक्त, घी-तेल-आदि 'चिकने' पदार्थ सहित, भोजन), घी, उष्ण जल से स्नान, ये छः तत्काल प्राण बढ़ाते हैं। पुराना सड़ा मांस, वृद्धा स्त्री, बाल (अर्थात् कुमार) आश्विन कार्त्तिक की घाम, अहोरात्र से कम का कच्चा दही, सवेरे का मैथुन भी और निद्रा भी, ये छः तत्काल प्राण घटाते हैं। "वृद्धस्य तरुणी विषं", "बालाया. जरठो विषं", "बाला तु प्राणदा प्रोक्ता, तरुणी प्राणहारिणी", "सद्यः प्राणहरा वृद्धा", आदि अन्य वाक्य भी बहुत कहे सुने जाते हैं। स्वार्थी दुर्बुद्धि पुरुष इन का दुरुपयोग कर के वृद्धावस्था मे प्राणवान् बनने की तृष्णा से बाला स्त्री (सोलह वर्ष से कम) से विवाह करते हैं ; जो चतुर विशेषज्ञ नहीं हैं उन पर तो उलटा ही असर होता है ; अधिक प्राणक्षय होता है, और जल्दी ही मर जाते हैं ; जो चतुर हैं, वे पौष्टिक रसौषधों का सेवन करते हैं, जिस से बाला स्त्रियां ही मर जाती हैं, और वे पुनः पुनः विवाह करते जाते हैं। काशी के ऐसे एक विशेषज्ञ के बारे मे, जिन को परलो[illegible] गये बहुत वर्ष नहीं हुए, कहा जाता है कि, प्राय सत्तर वर्ष की उम्र तक में, छ वा सात विवाह ऐसी ही लड़कियों से, एक के मरने के बा[illegible] [illegible] से किया ; स्वयं कोई उग्र पौष्टिक का सेवन करते थे, जिस से उ[illegible] शरीर मे इतनी और इस प्रकार की गर्मी उत्पन्न होती थी कि स्त्रियां उस के प्रभाव से ही जल्दी मर जाती थीं ; इत्यादि।

सात्त्विक आचार यह है कि, प्रथम आश्रम मे ब्रह्मचर्य, द्वितीय [illegible] परिमित मैथुन और एक पति-पत्नी-व्रत, तृतीय चतुर्थ मे पुनः ब्रह्मचर्य [illegible] इस सदाचार से मनुष्य, स्त्री भी पुरुष भी, दीर्घजीवी और स्वस्थ [illegible] रहते हैं। याद रहे कि स्त्री शरीर के लिये गर्भ-धारण का कार्य [illegible]

परिश्रम और प्राण पर खींच का है , गर्भाऽवस्था मे मैथुन प्राय वर्जनीय ही कहा है। दुनिया जानती है कि गर्भधारण और प्रसूति से स्त्री का यौवन क्षीण होता है, तथा, "वयसि गते क कामविकार", ढली उमर मे काम-विकार, काम-चेष्टा, का अपहास ही होता है। साथ ही एक और वास्तव है, जिस का ज्ञान जनता मे कम है, कि वृद्धावस्था के मुख की शोभा, यौवन के मुख की शोभा मे किसी तरह कम नही है, यदि उचित सदाचारी जीवन से उस का आवाहन, निमन्त्रण, सचयन, किया जाय , हा, वह शोभा, सात्त्विक शांति की शोभा है , यौवन और बाल्य की कान्ति, राजस चापल्य चाचल्य की है। सफेद (श्वेत) बाल, प्रशांत मुख, उज्ज्वल दयामय स्नेहपूर्ण नेत्र, स्वच्छ देह आदि का वार्धक्य मे अनुभव यदि इष्ट हो, तो गार्हस्थ्य और मैथुन को उचित समय से समाप्त कर देना चाहिये। स्त्री के लिये तो प्रकृति ने प्रत्यक्ष अवधि, गार्हस्थ्य (मैथुन) काल की, बाध दी है, अर्थात पचास वर्ष की उमर के आस पास मासिक रजो दर्शन का बन्द हो जाना, समझदार सदाचार सुचरित्र पुरुष को भी तदनुसार 'गार्हस्थ्य' समाप्त कर देना चाहिये। सात्त्विक काम सब पुण्यो का मूल है, जैसे राजस तामस काम सब पापो का।

उत्तम संतान—सन्तान, विवाह के सुख का बड़ा और आवश्यक साधन है, जो पति और पत्नी के प्रेम को परस्पर दृढ़ करता है,

> अर्थागमो नित्यम , अरोगिता च, प्रिया च भार्या, प्रियवादिनी च ,
> वश्यश्च पुत्रो,ऽर्थकरी च विद्या, षट् भागधेयस्य सुखानि, राजन्।
>
> (म० भा० विदुरनीति)

> स्याऽत्तनाम्नोह रत, भावबन्धन वस्तुद मत्प्रेम परस्परऽाश्रयम् ,
> [illegible] अपि एक [illegible] तनुत्ते परस्परस्य उपरि पर्यवसीयत।
> न [illegible] शरीरयोगज [illegible] [illegible] [illegible],
> [illegible] [illegible] [illegible] ([illegible])

अपि बालांगनासंगाद्, अपि, साधो, सुधारसात्,

राज्यादपि सुखायैव, पुत्रस्नेहो महामते ; (योगवासिष्ठ, प्र० १, अ० ८))

शरीर नीरोग हो, अन्न वस्त्र के लिये अर्थ (आय, आमदनी) की कमी न हो, भार्या प्रिया भी हो, और प्रीति करनेवाली मीठा बोलनेवाली भी हो, (अर्थात् दो-तरफा प्रीति हो, यह नहीं कि भर्त्ता तो भार्या पर लट्टू हो और भार्या तो मुँह फेरे रहे), सन्तान अनुकूल मनोहर गुणवान् हो, तथा इहलोक परलोक की, और चारो पुरुषार्थों की, साधने वाली विद्या हो—यह छः बातें बड़े सौभाग्य से मिलती हैं। कुछ लोग इस धोखे मे पड़े हैं कि सन्तान होने से पति पत्नी का परस्पर प्रेम कम हो जायगा, सन्तान के ऊपर चला जायगा; ऐसा नहीं है, प्रत्युत और दृढ़ हो जाता है; बच्चा एक छोटे हाथ से माता की अंगुली और दूसरे से पिता की अंगुली पकड़ कर गठजोड़ा ताज़ा कर देता है ; उसका स्नेह रेशमी डोरी का काम करता है, दोनो को एक दूसरे से बांध देता है ; रस्सी, दो पदार्थों से आधी आधी बँधी हुई भी, दोनो को एक दूसरे से कस देती है। दिलीप ने अपने बालक रघु को गोद मे लिया, उसके स्पर्श से मानों सारे शरीर मे अमृत भीन गया। दशरथ से राम को, यज्ञ मे विघ्न करनेवाले राक्षसों के निवारण के लिये, विश्वामित्र मांगने आये; दशरथ देना नहीं चाहते थे ; कहा कि, नवविवाहिता अतिप्रिया अतिसुन्दर अंगवाली अंगना के स्पर्श से भी अधिक सुख देने वाला, सुधा अमृत के स्वाद से भी अधिक मीठा, राज्य और ऐश्वर्य के सब भोग-विलासों से अधिक प्यारा, अपने बच्चे का स्नेहमय स्पर्श होता है, कुमार को कैसे जोखिम में डालें ; बड़े समझाने पर जाने दिया। प्राचीन आर्य श्रुति स्मृति के और अर्वाचीन [illegible] के साहित्य [illegible] और देखिये; ये भाव [illegible] हैं। माता पिता अपने पुत्र को आशीर्वाद देते हैं,

[illegible] अंगादंगात् प्रभवसि, हृदयाद् अधि जायसे,

[illegible] पुत्रनामासि, [illegible] ।

पतिर् भार्यां सम्प्रविश्य, गर्भो भूत्वा हि जायते,
जायायास् तद् हि जायात्वं, यद् अस्यां जायते पुनः, (मनु) ।

शिशोर् आलिंगनं तस्माच् चन्दनाद् अधिकं भवेत्,
न वाससा, न रामाणां, नाऽपां, स्पर्शस् तथाविधः,
शिशुनाऽऽलिंग्यमानस्य स्पर्शः सूनोर् यथा सुखः,
ब्राह्मणो द्विपदां श्रेष्ठः, गौर्वरिष्ठा चतुष्पदां,
गुरुर् गरीयसां श्रेष्ठः, पुत्रः स्पर्शवतां वरः
पुत्रस्पर्शात् प्रियतरः स्पर्शो लोके न विद्यते,
(म० भा,० शकुन्तलोपा०)

आलक्ष्य दंतमुकुलान् अनिमित्तहासैर्,
अव्यक्त-वर्ण-रमणीय वचः-प्रवृत्तीन्,
अंकाऽश्रय-प्रणयिनस् तनयान् वहन्तो,
धन्यास् तदंगरजसा मलिनी-भवन्ति, (कालिदास, शाकुन्तल)

अंतःकरणतत्त्वस्य दम्पत्योः स्नेहसंश्रयात्,
आनंदग्रंथिर् एवोऽयं, अपत्यं अभिधीयते ।
अंगाद् अंगात्स्युतः इव निजो देहजः सत्त्वसारः,
प्रादुर्भूय स्थितः इव बहिश् चेतनाधातुर् एव,
सान्द्राऽनंद-क्षुभित-हृदय-प्रस्रवेन इव सिक्तः
गात्रश्लेषे यद् अमृतरसस्रोतसा सिंचति इव
(भवभूति, उ० रा० चरित) ।

इस प्रस्तुत विषय से अतिप्रसक्त दो अवान्तर विषयों का उल्लेख यहां आवश्यक है । सन्तान-उत्कर्ष, और सन्तान-निरोध ।

सन्तानोत्कर्ष—पश्चिम के वैज्ञानिक शास्त्रियों ने इधर पचास साठ वर्ष से, प्रसिद्ध सृष्टि-विकास वाद ('इवोल्युशन') के विकास के साथ साथ, इस विषय पर, कि अपत्य सुरूप, शक्तिशाली, बुद्धिमान्, कैसे हों,

और समाज में सौंदर्य कैसे फैले, बहुत विचार किया है, और ग्रंथ लिखे हैं ; एक नया उपशास्त्र बन रहा है, जिसका नाम 'यूजेनिक्स' (ग्रीक 'यु', संस्कृत 'उत्', उत्तम ; लैटिन 'जेनिटम्', सं० 'जन्', प्रजनन) रक्खा गया है । पर इन विद्वान् शास्त्रियों का ध्यान प्रायः शारीर गुणों की ही ओर रहा है ।

पशुओं में, चुन चुन कर, उत्तम रूपवान् वृषभ और रूपवती तथा बहुदुग्धवती गाय के, उत्तम रूप बल वेग वाले अश्व-अश्विनी के, एवं श्वा-शुनी के, कुक्कुट कुक्कुटी के, तथा अन्य पालतू पशुओं के, जोड़ों का संयोग करने से, संतति अधिकाधिक उत्कृष्ट होती है, यह उन्हों ने प्रत्यक्ष सिद्ध कर लिया है ; ऐसी युक्तियों से, उन्हों ने, घोड़ों, कुत्तों, कुक्कुटों, बकरियों की, विशेष विशेष कार्य के लिये विशेष उपयुक्त, उपजातियाँ भी तैयार कर ली हैं, यथा घुड़दौड़ी घोड़े, शिकारी घोड़े, भारी छकड़े खींचने वाले घोड़े, सवारी गाड़ी खींचने वाले घोड़े, आदि, (जिनका उपयोग अब मोटरों के कारण कम होता जाता है), तथा शिकारी कुत्ते, चौकीदारी कुत्ते, चूहा पकड़ने वाले कुत्ते, बर्फ़ान में यात्रियों को बचाने वाले कुत्ते, खिलौने कुत्ते, आदि । ऐसे ही, फूलों, फलों, गोहूँ चावल आदि धान्यों, में, चुने हुए पुमान्-केशर से पराग लेकर, चुनी हुई स्त्री-केसर के भीतर डालने से, बहुत उत्कर्ष किया गया है ; रंग, गंध, स्वाद, परिमाण बढ़ाया गया है, तथा नयी नयी किस्में, उपजातियाँ, तयार की गयी हैं । यह सब प्रत्यक्ष सिद्ध होते देख कर, इन वैज्ञानिकों की धारणा यह होती गयी है, कि सुन्दर बलवान् स्त्री-शरीर और पुरुष-शरीर एकत्र करने से संतति सुन्दर होनी चाहिये । 'नय' (सिद्धांत, शास्त्र, 'दर्शन', नीति, 'थियरी') तो यह ठीक है, पर इसके 'चार' (प्रयोग, व्यवहार, 'प्रचार', रीति, 'प्रैक्टिस') में कठिनाई है । पहिली बात यह है कि, मानव योनि में पहुँच कर, जीव में अंतःकरण, मनो-बुद्धि-अहंकार-चित्त, अंतर्-मनस, स्व-कल्पना, अपनी अपनी अलग राग रुचि और

मनमाना करने की इच्छा, एक ओर, और, दूसरी ओर, लोक-संग्रह-युक्त 'समाज' (सम अजन्ति जना यस्मिन्) मे दूसरो के साथ रहने और चलने की इच्छा, विशेष रूप से विकसित होती है । इससे एक ओर 'काम स्वभाव-वाम' देख पडता है, दूसरी ओर 'धर्माऽनपेत कामोऽस्मि भूताना, भरतर्षभ', मनमाना वाम-स्वभाव वाला होते हुए भी काम, धर्म और अर्थ के साथ बध गया है, सब सभ्य कहलाने वाले देशो मे, इस समय, विवाह के सम्बन्ध मे, क़ानून-क़ायदे, मर्यादा, धर्म, बध रहे है। जिसको एक स्त्री या पुरुष सुन्दर कमनीय जाने माने, उसको दूसरे कभी कभी ऐसा नही समझते । फारसी मे कहावत है, "लैला रा ब चश्मि मजनूं बायद दीद", लैला पर मजनू आशिक़ आसक्त, था; लैला उस से विवाह करना नही चाहती थी, मजनूं शोक से मरणासन्न हुआ; देश के बादशाह ने दोनो को बुलवाया, देखा लैला मे कोई विशेष रूप नही, मजनूँ से पूछा, क्यो ऐसा मरा जाता है, तो उसने कहा, 'लैला को मजनूं की आंख से देखना चाहिये'। गाय-बैल का तो, अपने वैज्ञानिक प्रतिमानों के अनुसार, 'विवाह' करने मे प्रभुत्व, पश्चिम देश के शास्त्रियो को है, पर मनुष्यो का नही । पूर्व देश मे, यदि वृद्धो को ऐसा प्रभुत्व है, तो प्राय उसी अवस्था मे जब वधू-वर वय प्राप्त नही है, ऐसी अवस्था मे उनका स्वरूप व्यक्त ही नही है, इस लिये शास्त्रानुसार परीक्षा की शर्ते पूरी ही नही हो सकती, तथा, यदि वय-प्राप्त, परिपक्व-बुद्धि, हो जायँ, तो वह प्रभुत्व नही हो सकता । इस कारण से, तथा मर्यादा के कारण से, मानवों मे वैज्ञानिक परीक्षा के लिये यथेष्ट सयोग-वियोग नही कराया जा सकता । दूसरी बात देखने की यह है कि, मानव प्रकृति को ध्यान मे रख कर, न केवल शरीर के सौन्दर्य की चिंता करना चाहिये, किन्तु चित्त के सौन्दर्य की भी । वैवाहिक सुख और सतानोत्कर्ष, दोनो, के लिये आवश्यक है कि, 'समान शील-व्यसनेषु सख्यम्', 'विशिष्टाया विशि-ष्टेन सगमो गुणवान् भवेत्', इन न्यायो के अनुसार, वृद्धों के परामर्श,

और युवा-युवती को अन्योन्य के प्रति अनुकूलता, दोनो, को मिला कर, सब प्रकार का 'वर्ण', (जिससे व्यक्ति के स्वभाव और तदुचित जीविका का 'वर्णन', व्यञ्जन, होता हो), जिनका 'समान' हो, शरीर भी और मानस भी जिनका सुन्दर हो और मिलता हो, उनका परस्पर विवाह किया जाय। शील, व्यसन, जीविका, आदि के सच्चे 'वर्ण' और 'गुण' के निर्णय मे, अध्यात्म-शास्त्र से अनुस्यूत ज्योतिष-शास्त्र से सहायता मिल सकती है। ऐसा होने मे विवाह सुखमय होंगे और सन्तानोत्कर्ष भी होगा। इस विषय पर मै ने, "मानव-धर्म-सार." नामक संस्कृत ग्रन्थ मे विस्तार करने का यत्न किया है।

ऐसा हो सकना और होना, देश मे, समाज में, अनुकूल हवा बाँधने, शिक्षा फैलाने, सद्भाव जगाने, की बात है। ऊपर (पृ० ३३५-३३१) उद्धृत मनु महाभारत आदि के श्लोकों मे जैसी सूचना की है, यदि राजा उत्तम हो, प्रजाभक्त प्रजाहितचिन्तक हो, स्वयँ सदाचार हो और सत् शिक्षा का प्रचार करावे, और प्रजा उससे सर्वथा प्रसन्न हो और राजभक्त राजाऽनुयायिनी हो, अर्थात् दोनों परस्पर अनुमत हों, तो यह बात सहज मे हो जाय, क्योंकि परस्पर भक्त होने से दोनों अवश्य धर्म-भक्त होंगे। आज काल के भारतवर्ष के सामाजिक-जीवन मे देख पड़ता है कि पाश्चात्य-सभ्यता के दोषों की नकल अधिकाधिक होती जाती है, और गुणों की कम। विषय-लोलुपता, विलास प्रियता, आदि के लोभ द्वेष-स्पर्द्धा-अभिमान, धनार्जन के अधार्मिक प्रकार, गुप्ताचारों के रोजगार, 'फाटका', 'कम्पनी' आदि के नाम से धोखा देनेवाले [illegible] विज्ञापन, अफीम-शराब का आधिकाधिक प्रचार, तथा सिनेमा थियेटर कहानी [illegible] चित्र आदि में अश्लील कामोद्दीपक दृश्य और भाव, जिनमें [illegible] मैथुन के केवल अंतिम [illegible], [illegible], इनकी [illegible] [illegible], [illegible] की [illegible]

और 'पौष्टिक' औषधियों के इश्तिहार—इन ही की चारो ओर भरमार देख पड़ती है। ऐसी दशा मे, इन वर्धमान अज्ञान-जन्य दुर्भाव-दुर्बुद्धि रूप रोगों का उपाय यही है, कि सद्ज्ञान का उपदेश करनेवाले सद्-ग्रन्थो का, और उनमे धर्माऽनपेत, धर्मयुक्त, अर्थपरिष्कृत, ललित-कलाओं से परिमार्जित, काम के सद्-ग्रन्थों का, अधिकाधिक प्रचार किया जाय।

सन्तान-निरोध—जहाँ एक ओर यूरोप और अमेरिका के शास्त्री, सन्तान उत्कर्षके उपायों की खोज पचास साठ वर्ष से कर रहे है, वहाँ बीस-पचीस वर्ष से सतान-निरोध के उपायो की खोज भी प्रकट रूप से कर रहे हैं। इस खोज के प्रेरक, कई कारण, ऐतिहासिक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक, हो रहे हैं। मनुष्य संख्या बहुत बढ गई है, भोजन अच्छादन की पर्याप्ति नही है, या तो इतने प्राणियों के योग्य पेट भर अन्न और पीठ भर कपड़ा उपजाने लायक़ उर्वरा भूमि की मात्रा पर्याप्त न होने से, अथवा शासकों और पूजीपतियों के दुष्प्रबन्ध से, या दोनो से, जीवन-सग्राम, परस्पर आर्थिक द्रोह, बहुत बढ गया है; यहां तक कि हाल के महायुद्ध मे यह आर्थिक लोभ और तज्जनित स्पर्धा और द्रोह, प्रधान कारण हुए, सभ्यता, यन्त्र-प्रधान हो गई है, आये दिन एक नया यन्त्र ऐसा निकलता है, जिस के सहारे एक होशियार आदमी, दस बीस, पचास, सौ तक मजदूरों का काम अकेला कर लेता है, और वे मज़दूर बेकार हो जाते है, इस से बेरोज़गारी बहुत बढ़ती जाती है। एक ओर, धनिकों मे स्वार्थांधता और भोगलोलुपता भी बहुत बढ़ गई है, जिससे अपने ही तन पर, सुख भोग पर, इन्द्रिय-तर्पण पर, सब धन व्यय कर देना चाहते हैं, और अपत्यों तक को इस मे विघ्नकारक मानते हैं,

इन्द्रियार्थपरिशून्यं अक्षमः सोढुम् एकं अपि स क्षणान्तरम्,
अंतर् एव विहरन् दिवानिशं, न व्यपैक्षत समुत्सुकाः प्रजाः, (रघु० १९ • ६)

दूसरी ओर, अल्प या मध्यम धन वालों मे यह समझ भी बढ़ रही है, कि अपत्य तभी और उतने ही होना चाहिये, जब और जितने अच्छी तरह से पाले, पोसे, पढ़ाये, लिखाये जा सकें। उन्मत्त, 'अचेतस' अर्थात् बौरहे, बावले, 'वैधेय' ('इम्बेसील', 'इडियट', 'मोरन'), आत्मघाती, तथा पाप-रोगी, गर्मी सुज़ाक कुष्ठ आदि संक्रामक ('इन्फ़ेक्शस'), और सान्तानिक (आनुवंशिक, 'हेरेडिटरी') रोग वाले मनुष्यों की प्रतिशत संख्या भी प्रतिवर्ष यूरोप अमेरिका मे बढ़ती जाती है। इन सब कारणों से इधर अधिकाधिक अगुस खुली प्रवृत्ति हुई है, कि ऐसे उपाय उपज्ञात किये जाएँ, जिन से वर्तमान स्त्री-पुरुषों के काम-सुख मे बाधा भी न हो, और उक्त आपत्तियाँ भी बढ़ने न पावैं। पहिले कह चुके हैं कि पश्चिम मे विवाह की 'धार्मिक' संस्कारता, ('सैक्रेमेन्टल क्वालिटी') उपयोगिता, औचिती, पर से नागर-वर्ग की आस्था हटती जाती है, और 'फ्री-लव', स्वच्छंद, अनियन्त्रित, अनियमित, काम-प्रेम की ओर बढ़ती जाती है; यह आस्था-परिवर्तन और संतान-निरोधोपाय, अन्य कारणों की उपस्थिति से, और भी लाज़िम-मल्ज़ूम, परस्पराऽनुग्रही, हो रहे हैं।

निरोध के उपाय आयुर्वेद मे भी कुछ कहे गये हैं। अब पश्चिम में नये, कई प्रकार के, ईजाद किये गये हैं। चार राशियों मे इन उपायों का विभाजन हो सकता है। १ भक्ष्य-पेय औषध, २ लेप्य औषध; ३ जननेन्द्रियों का शस्त्र-कर्म से चिकित्सन, ४ जननेन्द्रियों पर लपेट देने के यान्त्र उपकरण।

संतान-निरोध के दो प्रकार हो सकते हैं। १ शुक्र-शोणित का संयोग, और गर्भ का आधान, ही न होने पावे; २ आधान हो जाने के बाद गर्भ का स्राव करा दिया जाय।

यद्यपि तीन प्रकार के उपाय, इन दोनों प्रकार के निरोधों में, पूर्वी देशों मे भी, पश्चिम में भी, लोग काम में लाते रहे हैं; पर वे सब [illegible], बहुदोषपूर्ण, [illegible], बहुधा प्राणघातक, हैं, और अब [illegible]

बूझ कर गर्भस्राव करना कराना धर्म-विरुद्ध, क़ानून के ख़िलाफ़, अदालत मे दंडनीय, भी है। गर्भस्राव के विषय मे, पश्चिम मे, जनमत अब बहुत बदल गया है, अत कानून भी अमल मे ढीले होते, या रूपत बदलते जाते है, नये रूस मे तो नियम हो गया है, कि जाने हुए डाक्टरों की सलाह से, विशेष कारण होने पर, गर्भस्राव करा देना जायज़ है। अन्य देशों मे भी धीरे-धीरे इस का अनुकरण, प्रकट वा अप्रकट रूप से, होता जाता है। ऐसा होते हुए भी, एक प्रामाणिक लेखक ने पुस्तक मे लिखा है कि, केवल युनाइटेड स्टेट्स आफ अमेरिका मे, प्रतिवर्ष दस लाख से अधिक गर्भस्राव किये जाते हैं।

चतुर्थ उपाय, रबर के बने हुए बाह्य उपकरणो का, जिन से जननेन्द्रिय वेष्टित हो जाये, कम दोषयुक्त समझा जा रहा है। इसकी चर्चा, 'काट्रासेप्टिव्ज़' के नाम से, अखबारो मे अक्सर होती रहती है, तथा दूकानदारों के इश्तिहार भी समाचार पत्रों मे अक्सर देख पड़ते हैं। इस विषय पर से समाज ने प्राय लज्जा या आवरण हटा लिया है, और कानून मे भी इस की दंडनीयता नही कही जाती। खुली तरह से बिकती हुई अंग्रेज़ी पुस्तकों मे, अन्य उपायो के साथ इस की तुलना समीक्षा कर के, इसकी प्रशंसा की जा रही है। यूरोप मे तो बहुत प्रचार इस का है ही, यहां तक कि कई देशों मे तो शासक वर्ग की ओर से प्रकाश रूप से, अस्पताल आदि के साथ-साथ प्रबन्ध कर दिया गया है कि डाक्टर और डाक्टरनी, इन उपकरणो के उपयोग करने के विषय मे आवश्यक शिक्षा, विवाहित स्त्री पुरुषों को दें। भारतवर्ष मे भी, अप्रकाश रूप से, इस उपाय का प्रयोग बहुत होने लगा है, और अब यहां की गवर्मेंट मे भी, ब्रिटेन की सर्कार का अनुकरण करने का विचार हो रहा है। ऐसी अवस्था मे कामशास्त्र के ग्रन्थ मे इसके गुण दोष पर विचार करना न्याय प्राप्त है।

विचार का निष्कर्ष यह समझ पड़ता है कि, यदि विवाह की परिधि के भीतर, पति-पत्नी ही, मर्यादित नियमित रूप से इस चतुर्थ उपाय

का प्रयोग करें, तो दोष कम और गुण अधिक देख पड़ेंगे। सर्वथा निर्दोष वा सर्वथा गुणमय तो कोई प्रकार हो सकता ही नहीं;

सर्वाऽरम्भाः हि दोषेण धूमेनाऽग्निरिवाऽऽवृताः, (गीता)।
नाऽत्यंतं गुणवत् किंचित् नाऽत्यंतं दोषवत् तथा, (म० भा०)।

देश-काल-अवस्था को देख कर, जिस आरम्भ मे दोष कम, गुण अधिक, देख पड़े, वही करना चाहिये, क्योंकि बिना कर्मारम्भ के भी संसार-यात्रा असम्भव है,

न कर्मणा अनारम्भात् नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते, (गीता)।

निरपत्यता मे भी दोष है, बह्वपत्यता मे भी बहुत दोष है। इस की आपत्तियाँ, वर्तमान मानव जगत् मे प्रत्यक्ष हैं; अधिकांश मनुष्य उनसे पीड़ित हैं। काष्ठवत ब्रह्मचर्य भी, इने गिनो को छोड़ कर, मानव शरीर के लिये असम्भव है। ऐसी दशा मे, इस युग मे, 'रबर' का उपाय, आध्यात्मिक वैज्ञानिक मर्यादाओं का पालन करते हुए, विवाहित पति पत्नी के बीच, कथंचित् उपादेय है। दोष इसके, पाश्चात्य ग्रन्थों मे विदित होते हैं, निरोध निश्चित नहीं; मैथुन के प्राकृतिक सम्पूर्णता से भिन्न हो जाने से स्त्री-पुरुष को शारीर और मानस तृप्ति नहीं होती, असंतोष रह जाता है। पौराणिक कथा मे, भव-पार्वती के 'विच्छिन्नेच्छ', असम्पूर्ण 'रत', के पश्चात, पार्वती के कोप, और केवल भव-वीर्य से कार्तिकेय के जन्म का आख्यान, इसका निदर्शन है। गर्भाधान का और संक्रामक रोगों का भय कम हो जाने से, अविवाहित युवा-युवतियों मे, विशेष कर उन स्थानों मे जहाँ लड़की-लड़के साथ ही स्कूल कालेज मे पढ़ते हैं, मैथुन बहुत होने लगा है; तथा विवाहितों मे व्यभिचार। अथवा, समाचार-पत्रों मे, विरुद्ध-विचारी पक्ष की ओर से शिकायत आती है, कि अंग्रेजी स्त्री-पुरुष धर्म-भय और परस्पर-प्रतिपालन-भाव लुप्त हुआ जाता है, और स्त्रियों के चरित्र में भी लज्जा नहीं रह गयी है; दूसरी तरफ, स्वास्थ्य

विश्वासी पक्ष की ओर से यह कहा जाता है, कि वैवाहिक आमरण बलात्कृत गठबन्धन से सच्चे प्रेम का वध हो जाता है, पति-पत्नी एक दूसरे से विवाह के थोडे ही दिन पीछे उद्विग्न हो जाते है, और अमेरिका के बडे नगरो मे तो यहाँ तक दशा पहुँची है कि, यदि वर्ष मे सौ वैवाहिक गठ-जोडा होता है तो पचास अन्योऽन्य त्याग, गठ-तोडा, 'डैवोर्स', होता है। यह सब उथल-पुथल अधिकतर पश्चिम के बडे नगरों मे ही देख पडता है, जहाँ जीवन के प्रकार नितान्त कृत्रिम हो रहे हैं, देहात मे ऐसा नही है, वहाँ विवाह और परस्पर निर्वाह की श्रद्धा अभी भी पूर्ववत् कुछ घनी है, यद्यपि नगर और ग्राम के परस्पर वर्धमान सम्पर्क के कारण अब ग्रामो की हवा भी बदलती जाती है।

पश्चिम के नगरों के सामाजिक कामिक जीवन की भयङ्कर तस्वीर, इस विषय की पुस्तको से, तथा अखबारो मे जो खबरे निकलती रहती है उनसे, आँखो के सामने आती है। इस प्रकार का जीवन सुखावह नही है, आपात-रमणीय है, थोडी सी दूर-दृष्टि से महादु खावह जान पडता है। मानव जीवन के जो विशेष विकास और परिष्कार है, वे, बिना मर्यादित अहता ('इंडिविजुएलिटी') के (अर्थात् अन्त करणरूप आहार-बुद्धि-मनस् के) उपोद्बलन सवर्धन विकासन के, बिना नियन्त्रित परिग्रहात्मक, स्वत्वात्मक, अर्थ-सम्पत्ति ('प्रापर्टी') के, बिना नियमित एक-स्त्री एक-पुरुष के विवाह ('मोनो-गेमस मेरेज') के, वे परिष्कार ऊँची कोटि को नहीं पहुँच सकते। मैथुन-स्वाच्छन्द्य वाद का और परिग्रह-विषयक साम्यवाद का, प्राय साथ देख पडता है। पर यही पशुओं मे देख पडता है। इस ओर जाना, मनुष्यो के लिये मानो प्रतिसञ्चर करना है, ऊँचे से नीचे गिरना है। हाँ, अतिपरिग्रह, बहुविवाह, अपहार आदि के अति वैषम्य मे भी वैसे ही अति भयङ्कर दोष है, जैसे अतिसाम्य मे। इस लिये बीच का रास्ता पकडना चाहिये। जोड पर समान-शील व्यसनों का विवाह हो, उनके बाद श्रद्धा से एक दूसरे का आमरण निर्वाह करें,

का प्रयोग करें, तो दोष कम और गुण अधिक देख पड़ेंगे। सर्वथा निर्दोष या सर्वथा गुणमय तो कोई प्रकार हो सकता ही नहीं।

सर्वाऽरम्भाः हि दोषेण धूमेनाऽग्निरिवाऽवृताः, (गीता)।
नाऽत्यंतं गुणवत् किंचित् नाऽत्यंतं दोषवत् तथा, (म० भा०)।

देश-काल-अवस्था को देख कर, जिस आरम्भ मे दोष कम, गुण अधिक, देख पड़े, वही करना चाहिये, क्योंकि बिना कर्मारम्भ के भी संसार-यात्रा असम्भव है,

न कर्मणा अनारम्भात् नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते, (गीता)।

निरपत्यता मे भी दोष है, बह्वपत्यता मे भी बहुत दोष है। [illegible] कही आपत्तियाँ, वर्तमान मानव जगत् मे प्रत्यक्ष है; अधिकांश मनुष्य उनसे पीड़ित हैं। काष्ठवत् ब्रह्मचर्य भी, इने गिनो को छोड़ कर, मानव शरीर के लिये असम्भव है। ऐसी दशा मे, इस युग मे, 'रबर' का उपाय, आध्यात्मिक वैज्ञानिक मर्यादाओं का पालन करते हुए, विवाहित पति-पत्नी के बीच, कथञ्चित् उपादेय है। दोष इसके, पाश्चात्य ग्रन्थों मे विदित होते हैं; निरोध निश्चित नहीं; मैथुन के प्राकृतिक सम्पूर्णता में विघ्न हो जाने से स्त्री-पुरुष को शारीर और मानस तृप्ति नहीं होती, असंतोष रह जाता है। पौराणिक कथा मे, भव-पार्वती के विनिवेश', असम्पूर्ण 'रत', के पश्चात्, पार्वती के कोप, और केवल भव-वीर्य से कार्त्तिकेय के जन्म का आख्यान, इसका निदर्शन है। गर्भाधान का और संक्रामक रोगों का भय कम हो जाने से, अविवाहित युवा-युवतियों मे, विशेष कर उन स्थानों मे जहाँ लड़की-लड़के साथ ही स्कूल कालेज मे पढ़ते हैं, मैथुन बहुत होने लगा है, तथा विवाहितों मे व्यभिचार। अखबार, समाचार पत्रों मे, विरुद्ध-विचारी पक्ष की ओर से शिकायत होती है, कि वैवाहिक स्त्री-पुरुष धर्म भाव और परस्पर-प्रतिपालन भाव लुप्त हुआ जाता है, और स्त्रियों के पातिव्रत्य मे भी [illegible] नहीं रह गयी है; दूसरी ओर, स्वास्थ्य

विश्वासी पक्ष की ओर से यह कहा जाता है, कि वैवाहिक आमरण बला-त्कृत गठबन्धन से सच्चे प्रेम का वध हो जाता है, पति-पत्नी एक दूसरे से विवाह के थोडे ही दिन पीछे उद्विग्न हो जाते है, और अमेरिका के बडे नगरो मे तो यहाँ तक दशा पहुँची है कि, यदि वर्ष मे सौ वैवाहिक गठ-जोडा होता है तो पचास अन्योऽन्य त्याग, गंठ-तोडा, 'डैवोर्स', होता है। यह सब उथल-पुथल अधिकतर पश्चिम के बडे नगरों मे ही देख पड़ता है, जहाँ जीवन के प्रकार नितान्त कृत्रिम हो रहे हैं; देहात मे ऐसा नही है, वहाँ विवाह और परस्पर निर्वाह की श्रद्धा अभी भी पूर्ववत् कुछ घनी है, यद्यपि नगर और ग्राम के परस्पर वर्धमान सम्पर्क के कारण अब ग्रामो की हवा भी बदलती जाती है।

पश्चिम के नगरो के सामाजिक कामिक जीवन की भयङ्कर तस्वीर, इस विषय की पुस्तको से, तथा अखबारो मे जो खबरे निकलती रहती हैं उनसे, आँखो के सामने आती है। इस प्रकार का जीवन सुखावह नही है, आपात-रमणीय है, थोडी सी दूर-दृष्टि से महादु खावह जान पडता है। मानव जीवन के जो विशेष विकास और परिष्कार है, वे, बिना मर्यादित अहता ('इंडिविजुएलिटी') के (अर्थात् अत करणरूप अहकार-बुद्धि-मनस् के) उपोद्दलन सवर्धन विकासन के, बिना नियन्त्रित परिग्रहात्मक, स्वत्वात्मक, अर्थ-सम्पत्ति ('प्रापर्टी') के, बिना नियमित एक-स्त्री एक-पुरुष के विवाह ('मोनो-गेमस मैरेज') के, वे परिष्कार ऊँची कोटि को नही पहुँच सकते। मैथुन-स्वाच्छन्द्य वाद का और परिग्रह-विषयक साम्यवाद का, प्राय साथ देख पडता है। पर यही पशुओं मे देख पडता है। इस ओर जाना, मनुष्यों के लिये मानो प्रतिसचर करना है, ऊंचे से नीचे गिरना है। हाँ, अतिपरिग्रह, बहुविवाह, अत्याहार आदि के अति वैषम्य मे भी वैसे ही अति भयकर दोष है, जैसे अतिसाम्य मे। इस लिये बीच का रास्ता पकडना चाहिये। जाँच कर, समान-शील व्यसनो का विवाह हो, उसके बाद श्रद्धा से एक दूसरे का आमरण निर्वाह करे,

नाता तोड़ने की, तलाक़ की, नौबत न आवे, तथा अतिपरिग्रह का भी लोभ न हो, तभी विवाह में और गार्हस्थ्य में सुख मिल सकता है।

कुछ लोग, आत्यन्तिक अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रह पर ज़ोर देते हैं, उनकी भ्रान्ति इतने से ही प्रत्यक्ष सिद्ध है कि यदि वे स्वयं आत्यंतिक अहिंसा या अपरिग्रह का आचरण करें, तो उनका शरीर एक क्षण भी जी न सके। अध्यात्मशास्त्र से सर्वथा सिद्ध है, कि जीवन के पूर्वार्ध के दो आश्रमों में, 'बुभुक्षा' की एषणात्रय की, 'स्वार्थ'-त्रिक की, त्रिमूर्ति का नियंत्रित उपासन, परमात्मा की प्रकृति की, ब्रह्म के स्वभाव की, अनुल्लंघनीय आज्ञा है; तथा, परार्ध के दो आश्रमों में, 'मुमुक्षा' 'मुमुक्षा' के 'परार्थ' का वर्धमान उपासन। यदि ऐसा न हो, तो सृष्टि चल ही नहीं सकती; अथ किं, हो ही न सकती। परमात्मा ने स्वयं मूलप्रकृति-दैवीप्रकृति-रूपिणी देवी 'अविद्या' (मूर्खता, बेवकूफ़ी!) से विवाह किया; "अनित्य-अशुचि-दुःख-अनात्मसु नित्य-शुचि-सुख-आत्म-ख्यातिः अविद्या"; अपने नित्य-शुचि-सुखमय आत्मता को जान बूझ कर भुला दिया, और अनित्य-अशुचि-दुःखमय अनात्मा, शरीरधारी जीवात्मा, बन गया, खुदा ने खुदी बीबी को सिर पर चढ़ा लिया! जब सृष्टि के आरम्भ की यह दशा है, तो हाड़-मांस के मनुष्य के लिये, अपने शरीर को पालते हुए भी, आत्यंतिक अहिंसा अपरिग्रह आदि की पुकार करना, अपने को और दूसरों को धोखा देना है। हाँ, विशेष देश काल अवस्था में, विशेष कारणों से, हिंसा-असत्य-स्तेय(चोरी)-व्यभिचार-परिग्रह-लोभ की आत्यन्तिक वृद्धि को रोकने के लिये, इनके प्रतिद्वंद्वी विरोधी, अहिंसा आदि भावों की आत्यंतिक पुकार, उतने काल तक जब तक अवस्था न सुधरे, उचित और न्याय्य, नीतियुक्त कर्तव्य, हो सकती है।

पाश्चात्य देशों में, विवाह के बरस दो बरस, या अक्सर महीने दो महीने, बाद ही, बहुधा एक दूसरे से ऊब (उद्विग्न) जाते हैं, और [illegible]

की कचहरी मे दौडे जाते हैं। उसमे विशेष हेतु यह है कि, 'हनी-मून' की प्रथा के अनुसार, स्त्री-पुरुष, दस पद्रह दिन, एक दूसरे के साथ निरंतर रहते हैं, सन्ताननिरोधक उपायों का प्रयोग करते हैं, एक दूसरे के शरीर के अनवरत सभोग से सब इन्द्रियों को अति तृप्त, और वीर्यादि रसो के अति व्यय से नितान्त म्लान ग्लान, कर डालते हैं। सुस्वादु, सुमधुर, भोज्य पदार्थों के भी अति भोजन से वमन होने लगता है।

यदि वधू को गर्भ रह जाय, तो उसकी भी ओर वर की भी मनोवृत्ति तत्काल बदल जाती है, गर्भ रक्षा की चिंता होने लगती है, चित्त, स्वार्थी से परार्थी हो जाता है। सब ससार ही दूसरा और नया हो जाता है, परस्पर स्नेह, दया, रक्षाभाव बढ़ता है। इस लिये, परिमित सख्या मे, अपत्य नितान्त आवश्यक हैं। बिना विवाह के गर्भाधान होने पर, प्राय यही देखा जाता है, इस देश मे भी और अन्य देशों मे भी, कि, पुरुष, हृदय-हीन शठता और क्रूरता से, स्त्री का परित्याग कर देता है, और स्त्री को, या तो मरण मे शरण लेना पड़ता है, या वेश्या आदि वृत्ति मे।

इस सम्बन्ध मे, इस प्रश्न का आध्यात्मिक उत्तर विचारणीय है कि,

वर्त्तमान युग मे, प्रकृति देवता ने, अपत्य-सृष्टि वीर्य विसृष्टि, के आनद-सार को उन्ही इन्द्रियों से क्यों बांध दिया है जिन से मूत्र-पुरीष के उत्सृष्टि के घृणा-सार को भी बाधा है। पुराण और वेदान्त का निर्णय है कि 'मोक्षस्तु मानवे देहे', मनुष्य देह मे ही पहुँच कर जीव को मोक्ष हो सकता है, क्योंकि इसी योनि मे उसको यह बुद्धि होती है कि, 'मै बंधा हूँ, कैसे छूटूं', अन्य शरीरों मे इस प्रकार का विवेक और वैराग्य नहीं होता। इस विवेक वैराग्य का सम्भव तभी होता है जब तीव्रतर द्वन्द्व का, सुख दुःख का, आनन्द-घृणा का, साथ ही अनुभव हो, इसके साधन के लिये, प्रकृति देवी ने, मनुज देह मे, निज(आत्म)बोधोपयोगिनी प्रत्यक्चेतना के, प्रत्यग्दृष्टि के, समर्थ, बुद्धि भी रक्खी है और मूत्रेन्द्रिय को आनन्देन्द्रिय भी बनाया है, कि जीव अति-आनन्द से [illegible] कर

तृतीय चतुर्थ आश्रम मे, अति-घृणा, संसार से अति-वैराग्य, की परा काष्ठा को पहुँच जाय। योग भाष्य मे, वैराग्य की दो काष्ठा कही हैं, आरंभ मे 'अपर', और अंत मे 'पर'; 'पर वैराग्य' और 'परम प्रज्ञान' 'मोक्ष', एक ही पदार्थ के दो पक्ष वा नाम है।

इस सम्बन्ध मे, भर्तृहरि के प्रसिद्ध श्लोक की याद करा देना उचित है,

> स्तनौ मासग्रन्थी कनकघटवत् श्लिष्यति मुहुः,
> गुरां श्लेष्मस्रावं पिबति चषकं साऽगवं इव,
> अमेध्यक्लेदाऽर्द्रे पथि च रमते स्पर्शरसिकः,
> अहो मोहाऽन्धाना किं इव रमणीयं न भवति।

यह हुई स्त्री शरीर की निन्दा और घृणा, पुरुष-दृष्टि मे। इसकी पूर्ति के लिये, स्त्री-दृष्टि मे पुरुष-देह की भी वैसी ही निन्दा और घृण्यता है, जिसको कहना भर्तृहरि भूल गये,

> मांसाऽस्थिपंजरं इयं मनुतेऽतिकान्तं,
> आनन्दधाम गणयति अपि मूत्रसारं,
> बीभत्सभागपरिघर्षणं अपि उपास्ते,
> बाला मुधा इव च, संमदमोहमत्ता।

संसार की द्वंद्वता, अमृत-विष-ता, अन्न-पुरीष-ता, उपादेय-हेय-ता, अनिवार्य प्रत्यक्ष है; चित्त जब एक ओर अधिक झुकता है, तब अनुराग, स-रागता, होती है; तब दूसरी ओर, तब वि-रागता और निर्वेद।

इस प्रश्न के इस उत्तर से समझ मे आयेगा कि क्यों काम का [illegible] परिणाम, यदि आत्म-संयम का नहीं हुआ तो, परम्परा [illegible] जायगा। यह माया की द्वंद्व-निर्माण-शक्ति का, जगत् के द्वंद्वात्मक तत्त्व का, फल है। पुण्य-पाप मिले हुए हैं। और, या एक ओर [illegible] दूसरी ओर, जाना ही पड़ता है। यदि काम अनुचित [illegible]

दिया जाय, तो खट्टा कसैला कड़ुआ होकर, कठवायगा और सड़ जायगा, यदि सूर्य की कल्याणमय किरणो से यथासमय पक जाने पावेगा, तो खाने पर सुस्वादु तुष्टि-पुष्टि-कारक होगा । ऐसे ही दैह्य रति, कामिक शारीर क्षोभ, 'कार्नल पैशन', यदि मातृत्व पितृत्व के वात्सल्य मे परिणत न होने पाया, बलात् रोका गया, तो विष हो जायगा ; विषय-तृष्णा-पूर्ण ब्रह्म-राक्षस, ब्रह्म-पिशाच, अर्थात् ज्ञानपूर्वक बुद्धिपूर्वक पापाचारी, हो जायगा ; चारो ओर जार-वेश्या, अप्सरा-गन्धर्व, राक्षस-राक्षसी, पिशाच-पिशाची के भाव को फैला कर समाज को उन्माद मे डालेगा और नष्ट भ्रष्ट करेगा ।

यूरोप के महायुद्ध मे यह भी भीतर-भीतर कारण हुआ है । जो ही अग्नि, नियम के अनुसार, शास्त्र के अनुसार, प्रयोग करने से खाना पकाती है, जाडा (जाड्य, जड़ता) दूर करती है, एञ्जिन मे रह कर लाखो यात्रियो और लाखों मन माल असबाब को दूर दूर के देशों मे पहुँचाती है, वही अग्नि, दुष्टता या मूर्खता से प्रयोग करने से, नगर के नगर जला डालती हैं, लाखों मनुष्यों के प्राण ले लेती है, करोड़ों की जायदाद भस्म कर देती है । कामाग्नि का यही हाल है ।

मनु ने कहा है,

> यस्मिन् ऋणं सनयति, येन चाऽनन्त्यमश्नुते,
> स एव धर्मजः पुत्रः, कामजान् इतरान् विदुः ।

ज्येष्ठ पुत्र, जो माता-पिता को देव-ऋषि-पितृ-ऋण से छुड़ाता है, जिसके द्वारा माता-पिता अमरता पा सकते हैं, वही धर्मज पुत्र है, पीछे के पुत्र कामज हैं । इस श्लोक से, आदि प्रजापति, नितान्त प्रजावत्सल, "वात्सल्ये मनुवन्नृणां", (भाग०), अपने प्रजा की वृद्धि चाहते हुए भी, बहु-प्रजत्व का दोष देखते हुए, सूचना मात्र कर देते हैं, कि अपत्य होना भी आवश्यक है, पर बहुत अपत्य होना अच्छा नहीं । इस सत्याग्रह-कारक धार्मिक उपदेश को मन मे रख दिग्दर्शित [illegible] को चाहिये कि

संतान उत्पन्न अवश्य करें, पर पाँच सात वर्ष में एक। बीच में यदि शु
ब्रह्मचर्य नहीं बन सके तो, अगत्या, संतान-निषेध के अल्पतम दोष वा
चतुर्थ उपाय को काम में लाना अनुचित नहीं कहा जा सकता। यं
उनके शरीर और चित्त के स्वस्थ रहने की आशा है, और अपत्य-पाल
भी यथावत् हो सकेगा, अपत्य-स्नेह से परस्पर स्नेह भी बढ़ेगा, अपत्य
हित-चिंतन में दिन बीतेंगे, कामाग्नि कम सतावेगी, उसका परिणाम
स्नेह प्रीति में निरन्तर होता रहेगा।

सौशील्य—सबसे उत्तम और सबसे आवश्यक साधन दाम्पत्य सु
का, सौशील्य है। शील के तीन अंग इस सम्बन्ध में कहे जा सकते हैं

सब से पहिला यह कि, पति पत्नी अपने अपने अलग अलग स्वा
सुख का ध्यान कम करें, और एक दूसरे के सुख का, अर्थ का, स्वा
अधिक करें। यह तो, महाभारत (शांतिपर्व) में कहे, शील के मौलि
मार्मिक लक्षण का ही अनुवाद मात्र है—'जो अपने लिये न चाहो, व
दूसरे के लिये भी मत चाहो; जो अपने लिये चाहो, वह दूसरे के लि
भी चाहो'।

दूसरा अंग दाम्पत्य शील का, पहिले अंग का प्रसारण ही है। व
यह है कि एक दूसरे से सर्वथा निर्लज्ज न हो जायँ, एक दूसरे की ओ
विनय, आदर, कुछ लज्जा का भाव सदा बनाये रहें, प्रीति अधिक औ
रति कम करें। स्वयं वात्स्यायन ने भी कामसूत्र में यह सलाह दी है,

> परस्पराऽनुकूल्येन तदन्योन्यं लज्जमानयोः,
> संवत्सरशतेनाऽपि प्रीतिर्न परिहीयते।

भर्तृहरि ने भी कहा है,

> [illegible] लोके यद् अन्योऽन्यचित्तता ;
> [illegible] कार्ये, [illegible] संगम।

दोनों का चित्त एक होना चाहिये ; बिना चित्त एक हुए, दोनों के
विग्रह में सुखों का विभ्रम है।

पाठक सज्जन !, वृद्धावस्था मे, अगली पुश्त के लिये, वात्सल्य-मोह अधिक हो जाता है, 'वृद्धस्तावच् चिंतामग्नः', यह चिंता वृद्धो को सदा सताती रहती है कि बच्चे अच्छे रहे, इन को क्लेश न हो। इस वात्सल्य-मोह से प्रेरित हो कर तुम लोगों की भलाई की उत्कट कामना से, फिर फिर यह कहता हूं, कि पश्चिम देशो की इस वर्धमान भयानक भूल मे मत पडना, यह मत समझना कि स्त्री-पुरुष के शरीरो का सयोग केवल इन्द्रिय सुख की बात है जैसे खट्टा-मीठा स्वछद रुचि के अनुसार खाना, गध सूंघना, रग देखना, यह मत समझना, कि इस सयोग से धर्म का, मर्यादा का, क़ानून-क़ायदे का, कुछ सबध न होना चाहिये। ऐसा समझना भारी भूल है। साधारण इन्द्रिय-सुख भी, खाना पीना भी, बडे व्यापक धर्म का, प्राकृतिक भी मानुषिक भी क़ायदे-क़ानून का, विषय है, यहाँ तक कि 'आहार-शुद्धौ सत्त्वशुद्धि ... ध्रुवास्मृतिः मोक्ष' (छांदो० उप०), योगाभ्यास और मोक्ष की सीढी का पहिला भी और अतिम भी डडा, जिह्वा-शिश्न का जय, उदर-उपस्थ का मर्यादित निग्रह, ही है, आहार मे भूल करने से प्राण का नाश तक हो सकता है, और बहुधा हो जाता ही है। सात्त्विक आहार से सात्त्विक-बुद्धि, उस से मोक्ष-सिद्धि। वैसे ही, या उस से बहुत अधिक, स्त्री पुरुष के सयोग के विषय मे भूल होने से तो महा-समाज के महा-प्राण का सामूहिक नाश हो सकता और होता है। लका के, और राक्षस और वानर वशो के, महासहार का निदर्शन देखा ही है। स्त्री पुरुष सयोग भी क़ायदे क़ानून का नितरा विषय है, स्वातंत्र्य का नही। इस क्रिया को 'क्षणिक' मत समझो, इस 'क्षण' मे अनत भूतकाल, अनत भविष्यकाल, भरा हुआ है अनत प्रजशक्ति का कार्य, और अनत सतानपरम्परा का कारण, स्त्री-पुरुष का वीर्य है। ऐसा वीर्य जिस 'क्षणिक' क्रिया से सम्बद्ध हो, वह साधारण चोखने, सूंघने, छूने, देखने, सुनने की-सी क्रिया नही है, जीव का समग्र अन्तःकरण इस से सम्बद्ध है। पश्चिम के देशो मे, बुद्धिमान

विद्वान् भी माने हुए मनुष्य, पर इस विषय मे दुर्विद्वान, दुर्बुद्धिमान, अदूरदर्शी, अनध्यात्मवित् लोग, कहने लगे हैं, कि काम सुख मे परस्पर ईर्ष्या-द्वेष न करना चाहिए। ये लोग मानव प्रकृति के अध्यात्म तत्त्व की ओर आँख बंद किये हैं, और, "न ह्यनध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते" (मनु), समाज को गढे मे गिरा रहे हैं। यदि नया जगत और नये स्वभाव के जीव, ये लोग बना सकेंगे, तब उन का विचार स्यात् ठीक हो सकेगा , अन्यथा, मानव-स्वभाव से, जगत् की द्वन्द्वात्मक प्रकृति से निसर्ग से, यह सिद्ध है कि, बिना मर्यादा बाँधे, बिना धर्म की व्यवस्था किये, स्वाछंद्य की परिधि और सीमा घेरे, काम से क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष आदि अवश्य उत्पन्न हो कर समाज मे घोर उपद्रव खड़ा करेंगे; और असभ्य, अभव्य, जातियों की, और फिर पशुओं की अवस्था की, ओर वापस ले जायंगे।

तीसरा अंग, दूसरे अंग का सम्पूरण और साधन है। परस्पर भी रोपभोग मे अति न होने पावे, सब रति-शक्ति थोड़े ही दिनों में, दिवालिये के धन के ऐसी, खर्च न हो जाय, एक दूसरे का रस समाप्त न हो जाय, परस्पर नवीनता सदा बनी रहे।

> तदेव रूपं रमणीयताया, क्षणे क्षणे यन नवतां विधत्ते; (माघ)[1]
>
> जगति मिथुने चक्रौ एव स्मराऽऽगमपारगौ,
>
> नवम् इव मिथः सम्भुञ्जाते वियुज्य वियुज्य यौ ,
>
> सततम् अमृताद् एकाऽऽहाराद् यद् आपद् अरोचकम्,
>
> तद् अमृतभुजां भर्ता शम्भुः विषं बुभुजे किल; (नैषध)।

चकवा-चकई ही काम-शास्त्र, स्मरागम, के पार पहुँचे हैं, इस मर्म को जानते हैं, कि प्रति दिन, संध्या मे बिछुड़ बिछुड़ कर, सबेरे एक दूसरे के लिये नये हो जाते हैं। नित्य नित्य अमृत पी पी कर, निर्जरों ने व्यर्थ, मनोरथ के लिये, पी लिया। स्मरागम का मर्म यही है कि प्रति क्षण नई जान पड़े, नित्य नई दिखाय।

परस्पर शील बनाये रहने के लिये आवश्यक है कि यह भाव दूर कर दिया जाय कि पुरुष स्वामी और स्त्री दासी ; पुरुष मालिक और स्त्री मिल्कीयत जायदाद, पुरुष भोक्ता और स्त्री भोग्य परिग्रह, पुरुष इष्टदेव, स्त्री भक्त उपासिका, नर उच्च, नारी नीच। दुर्भाग्यवश, इधर सैकड़ों, स्यात् सहस्रों, वर्ष से, भारतवर्ष में, तथा अन्य देशों में भी, यह भाव फैला हुआ था और है। यह अब पाश्चात्य देशों में इस तेजी से बदल रहा है, कि दूसरी आत्यन्तिक कोटि तक उसके बहक जाने का भय उत्पन्न हो रहा है। स्यात् इसका ही रूपक, तंत्र ग्रन्थों में, यह किया है, कि शिव तो शव के ऐसे पृथ्वी पर पड़े हैं और नग्नप्राय, खड्ग-धारिणी, मुण्डहस्ता काली उनके ऊपर पैर रखकर खड़ी हैं। यह दोनों आत्यन्तिक भाव, आर्ष काल में नहीं थे, अथवा यों कहना चाहिये कि उप-लभ्य आर्ष ग्रंथों के सात्त्विक अंशों में नहीं देख पड़ते हैं। सत्य और आर्य भाव, जो अनुमानतः आर्ष काल में था, उसको फिर से हृदय में धारण करना और फैलाना चाहिये, अर्थात, यदि पति स्वामी तो पत्नी स्वामिनी, पति देव तो पत्नी देवी, नर आर्य तो नारी आर्या। देवों और महापुरुषों के नामोच्चारण में, अधिक आदरार्थ, देवी का नाम पहिले और देव का पीछे अब भी लिया जाता है, यथा लक्ष्मी-नारायण, उमा-महेश्वर, सीता-राम। भागवत में कहा है, कि स्त्री और पुरुष परस्पर, तुल्य रूप से, भोग्य, और बंधन में डालनेवाली माया के रूप, हैं। महाभारत में, पुरुषसार, अत्युदार, प्रवीर, आजीवन अच्युत ब्रह्मचारी, भीष्म पितामह ने कहा है कि, व्यभिचार जब होता है तब 'नर एवाऽपराध्यति', पुरुष का ही दोष अधिक होता है। इन बातों को ध्यान में रख कर, जहां जहां, अच्छे ग्रन्थों में भी, एकपाक्षिक नारी की निन्दा या भोग्यता के सूचक शब्द हों, वहां पाठ को शोध देना चाहिये। यथा, उदाहरणार्थ, भर्तृहरि के श्लोक,

शम्भु-स्वयम्भु-हरयो (हरिणेक्षणानां) ऽपि च, तन्निदध्म,
येनाऽभिनन्त सतत (गृहकर्मदासा) सहदारदास्य ,

विद्वान् भी माने हुए मनुष्य, पर इस विषय मे दुर्विद्वान्, दुर्बुद्धिमान्, अदूरदर्शी, अनध्यात्मवित् लोग, कहने लगे हैं, कि काम सुख मे परस्पर ईर्ष्या-द्वेष न करना चाहिए। ये लोग मानव प्रकृति के अध्यात्म तत्त्व की ओर आँख बंद किये हैं, और, "न ह्यनध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते" (मनु), समाज को गढे मे गिरा रहे हैं। यदि नया जगत और अन्य स्वभाव के जीव, ये लोग बना सकेंगे, तब उन का विचार स्थान पा सकेगा, अन्यथा, मानव-स्वभाव से, जगत की द्वन्द्वात्मक प्रकृति से, निसर्ग से, यह सिद्ध है कि, बिना मर्यादा बाँधे, बिना धर्म की व्यवस्था किये, स्वातंत्र्य की परिधि और सीमा घेरे, काम से क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष आदि अवश्य उत्पन्न हो कर समाज मे घोर उपद्रव मचा करेंगे; और अर्धसभ्य, असभ्य, जातियों की, और फिर पशुओं की अवस्था को, और वापस ले जायंगे।

तीसरा अंग, दूसरे अंग का सम्पूरण और साधन है। परस्पर अति संभोग से क्षति न होने पावे, सब रति-शक्ति थोड़े ही दिनों में, दिवालिये के धन के ऐसी, खर्च न हो जाय, एक दूसरे का रस समाप्त न हो जाय, परस्पर नवीनता सदा बनी रहे।

> तदेव रूपं रमणीयताया क्षणे क्षणे यन् नवतां [illegible], (माघ)
> [illegible] मिथुने चक्रौ एव स्मराऽऽगमपारगौ,
> नवम् इव मिथ सम्भुञ्जाते वियुज्य वियुज्य यौ,
> [illegible] अनुनाद् एताऽऽस्वादाद् यद् आप्त अतिरसम्,
> तद् अमृतभुजां मर्त्या सम्मुख किं बुभुजे विभु; (नैषध)।

चकवा-चकई ही काम-शास्त्र, रमणशास्त्र, के पार पहुँचे हैं, इस मर्म को जानते हैं; कि प्रति दिन, संध्या में बिछुड़ बिछुड़ कर, सवेरे एक दूसरे के लिये नये हो जाते हैं। नित्य नित्य अमृत पी पी के एक हो कर, निरन्तर के सम्भोग, मन्वन्तर के लिये, पी लिया। रमणीयता का मर्म यही है कि प्रति क्षण नई जान पड़े, नित्य नई दिखाय।

परस्पर शील बनाये रहने के लिये आवश्यक है, कि यह भाव दूर कर दिया जाय कि पुरुष स्वामी और स्त्री दासी , पुरुष मालिक और स्त्री मिल्कीयत जायदाद, पुरुष भोक्ता और स्त्री भोग्य परिग्रह, पुरुष इष्टदेव, स्त्री भक्त उपासिका नर उच्च, नारी नीच। दुर्भाग्यवश, इधर सैकड़ों, स्यात् सहस्रों, वर्ष से, भारतवर्ष मे, तथा अन्य देशों मे भी, यह भाव फैला हुआ था और है। यह भव पाश्चात्य देशो मे इस तेजी से बदल रहा है, कि दूसरी आत्यन्तिक कोटि तक उसके बहक जाने का भय उत्पन्न हो रहा है। स्यात् इसका ही रूपक, तन्त्र ग्रन्थों मे, यह किया है, कि शिव तो शव के ऐसे पृथ्वी पर पडे है और नग्नप्राय, खड्ग-धारिणी, मुण्डहस्ता काली उनके ऊपर पैर रखकर खड़ी है। यह दोनो आत्यन्तिक भाव, आर्ष काल मे नही थे, अथवा यों कहना चाहिये कि उप-लभ्य आर्ष ग्रथों के सात्त्विक अशों मे नही देख पडते है। सत्य और आर्य भाव, जो अनुमानतः आर्ष काल मे था, उसको फिर से हृदय मे धारण करना और फैलाना चाहिये , अर्थात्, यदि पति स्वामी तो पत्नी स्वामिनी, पति देव तो पत्नी देवी, नर आर्य तो नारी आर्या। देवों और महापुरुषों के नामोच्चारण मे, अधिक आदरार्थ, देवी का नाम पहिले और देव का पीछे अब भी लिया जाता है, यथा लक्ष्मी-नारायण, उमा-महेश्वर, सीता-राम। भागवत मे कहा है, कि स्त्री और पुरुष परस्पर, तुल्य रूप से, भोग्य, और बधन मे डालनेवाली माया के रूप, है। महाभारत मे, पुरुषसार, अत्युदार, प्रवीर, आजीवन अच्युत ब्रह्मचारी, भीष्म पितामह ने कहा है कि, व्यभिचार जब होता है तब 'नर एवाऽपराध्यति', पुरुष का ही दोष अधिक होता है। इन बातों को ध्यान मे रख कर जहां जहाँ, अच्छे ग्रन्थों मे भी, एकपाक्षिक नारी की निन्दा या भोग्यता के सूचक शब्द हों वहां पाठ को शोध देना चाहिये। यथा उदाहरणार्थ, भर्तृहरि के श्लोक

> शम्भु-स्वयम्भु-हरयो (हरिणेक्षणानां) ऽपि च, हरिणाक्ष्य,
> येनाक्रियन्त सततं (गृहकर्मदासा) सहचरदासाः ,

पर भी विचार होना उचित है। आज काल, जिस 'व्यक्ति-वाद', 'वैयक्तिकता', 'व्यक्ति-स्वाधीनता' ('इंडिविजुअलिज़्म', 'इंडिविज्युएलिटी', 'फ्रीडम आफ दि इंडिविजुअल') की लहर बह रही है, उस पर आरूढ व्यक्तियो की दृष्टि से, प्रत्येक स्त्री पुरुष के स्वच्छंद आहार विहार के हक मे अधिकार मे, कोई बाधा होना उचित नहीं है। इस दृष्टि से ऐसे विवाहो का कोई नियमन नियंत्रण नही होना चाहिये, बल्कि 'फ्री-लव', स्वच्छंद-'मुक्त-अनवरुद्ध-'काम का (यथा 'वाम-मार्गियों' मे) पोषण होना चाहिये। परन्तु प्रतिपक्ष यह कहता है, कि कोई भी व्यक्ति सर्वथा 'स्व तंत्र' नहीं है, केवल अपने बल से ही नही जीता, समाज के बल से भी जीता है, इस से, समाज का देव-ऋषि-पितृ-ऋण-रूप त्रिविध ऋण से ऋणी है, इस लिये यह प्रश्न केवल वैयक्तिक दृष्टि से ही नहीं देखा जा सकता, सामाजिक सामूहिक दृष्टि से भी देखना आवश्यक है। स्त्री-पुरुष सम्बन्ध और तज्जनित संतान यह समाज का मूल है। अत, दोनो पक्षो पर विचार करने से यह निष्कर्ष होता है, कि विधवा और विधुर का विवाह न होना, वा कम होना, अच्छा है, विशेष कर ऐसे स्त्री या पुरुष का, जिस को पहिले विवाह से सन्तान मौजूद है। इस से, मनुष्य-संख्या की अति-वृद्धि रुकेगी; और विधवा और विधुर को, परार्थी सामाजिक कार्यों मे शक्ति लगाने का सुअवसर मिलेगा। ऐसों को समझना चाहिये कि भाग्य ने वानप्रस्थ हम को दे दी, चाहे प्राकृतिक समय से पहिले ही। सब को सब सुख ही मिलें—यह न कभी हुआ और न होगा, एक सुख के साथ, एक दुःख, वैयक्तिक भी और सामाजिक भी लगा ही है। कुछ लोगो को, सब के लिये, त्याग करना ही पड़ेगा, और पड़ता ही है। सांसारिक विषय, किसी न किसी दिन, अवश्य ही हम को छोड़ देंगे, और तब उन को हम दुःख मानेंगे; तो यदि, हम ही, अपनी इच्छा से, उन को हटा दें, छोड़ दें, तो बहुत शोभा है, बहुत शांति का आनन्द मिलेगा।

कुछ सप्ताहों तक बुद्बुद कलल के रूप मे, जेसे उद्भिज्ज भ्रूण का फिर मछली के भ्रूण का, फिर सरी-सृप के फिर पशु के फिर वानर के, फिर स्वलक्षण नर के भ्रूण का आकार धारण करता है। यह एक निदर्शन मात्र है, कि कैसे येसे पुराणो के वैज्ञानिक और ऐतिहासिक आधिदैविक और आधिभौतिक, अशो की व्याख्या, बिना पाश्चात्य विज्ञान की सहायता के अब ठीक हो नही सकती। इस देश मे वह आवश्यक ज्ञान लुप्त हो गया है। एव पाश्चात्य ज्ञान को बद्धमूल और (मनुष्यघातक, मनुष्यापकारक, नहीं) मनुष्योपकारक, मनुष्यपालक, होने के लिये, अभी भी यत्र किंचित उपलभ्यमान, भारतवर्ष के प्राचीन अध्यात्मज्ञान की नितान्त आवश्यकता है। स्यात् इसी इच्छा से परमात्मा, जगदन्तरात्मा, ने, दोनो का, भारतभूमि मे, सम्मेलन किया है। पर मानवप्रकृति के दोष से, यदि एक ओर कुछ लाभ इस मिश्रण से हुआ है, तो दूसरी ओर बहुत हानि भी होती देख पड़ती है, दोनो जातिया, एक दूसरे के दोषो का अधिक गुणो का कम, ग्रहण करती हैं। परन्तु

यत्ने कृते, यदि न सिध्यति, कोऽत्र दोषो (यत्नेऽभवत्, तृणम् इदं तु विचारणीयम् निश्चित्य तच् च, यतितव्यम् अथो पुनश्च, यावत् भवेत् न गत तापहरी त्वमिति।)

इस सम्बन्ध मे विविधजन्तुओं के भ्रूणो के परिवर्त्तनो की कथा यथास्थितिस्थापक और अभिसार्थकता से बहुत अधिक मनोहर है। कई कीट पतंग ऐसे हैं जो परभृत (कोकिल) से परभृतता मे कहीं अधिक बढ़े हुए हैं। एक प्रकार की बिल्नीं को नर पर कमन्द्रिय होती है, नालीदार पोली सूई के रूप मे, ('ओवी पोजिटर') जिस से घार दूसरे अपने से बड़े, प्राणी के चर्मसाथ मे छेद कर के, नाली द्वारा अपना अंडा रख देती है, और अंडा फूटने पर, भ्रूण, आस पास के उसी चर्मसामग्री को खा कर पुष्ट होता है, फिर निकल कर उड़ जाता है। एक चाल की तितली होती है, ('सेकन्ड्रीन इयर टोकन्ट') जिस के भ्रूण सत्रा दर्द नर ए नौ

के बिलों मे, गुफाओं मे, पड़े रहते हैं, फिर एक दिन अनगिनत करोड़ों की तादाद में निकल कर उड़ते फिरते हैं, और थोड़े ही दिनो मे हरिआली का भारी संहार आहार कर के, और नये अंडे दे के, नष्ट हो जाते हैं। एक ऐसा कीट है जिस का भ्रूण, घासपात के साथ, बकरी आदि के पेट में हो कर, उस की आंत मे परिपुष्ट होता है, और तब पुरीष के साथ निकल कर अपना स्वतंत्र अल्पकालिक जीवन बिताता है। एक प्रकार का मेंढक दक्षिण अमेरिका मे होता है, जो मण्डूकी मे निकले भ्रूणो को अपनी पीठ पर, अपने मुख के लसदार रस से, चिपका कर, इधर उधर घूमता रहता है, जब तक वे पुष्ट और स्वतंत्र होकर अलग न हो जाएँ। कोई कोई पतंग ऐसे होते हैं जिन मे केवल स्त्रीलिंग होता है, और उन्हीं से बच्चे होते हैं ('पार्थेनो-जेनेसिस'), किन्हीं पशुओं को, यथा कुत्ती, सूअरी, आदि को, छ छः आठ आठ, स्तन होते हैं, और एक एक प्रसव में इतने बच्चे भी होते हैं। इस के कारण भी खोजे गये हैं। विविध प्रकार के मक्खियों, डंस, मशक, मक्षिकाओं, के गर्भाशयों और भ्रूणों और जन्म के बाद के रूप परिवर्तनों की कथा नितान्त रोचक है। आर्ष उपनिषद् तक ने 'मनुष्य-गर्भानां उत्पत्तिं अनु उत्पत्ति, निर्गमं अनु निर्गमं [illegible] म दुर्लिङ्गमा', लिखा है। संभव है कि यह पंक्ति क्षेपक हो। चाणक्य [illegible] ([illegible]) ने, इसी सूत्र की नकल करते हुए, अपने ग्रंथ [illegible] प्रमाणभूत की संज्ञा से डाल दिया है। अर्वाचीन [illegible] ने भी इसी पंक्ति [illegible] है। [illegible] वैज्ञानिकों ने, सूक्ष्मदर्शक यंत्र ('माइक्रोस्कोप') के [illegible] प्रमाण से, सिद्ध किया है कि यहाँ 'मनुष्य [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] संस्कृत ग्रन्थों में, [illegible] [illegible] ने लिखा है कि, [illegible] [illegible]

बन्द कर देती है, तब वह कीट, भृंगी का ध्यान करते करते तन्मय और तद्रूप हो जाता है, और फिर खोंते को फोड कर उड जाता है, और, ऐसे ही, जीवात्मा को, भक्ति ध्यान के बल, परमात्मरूप हो जाना चाहिये। यहाँ उपमेय तो शुद्ध है, पर उपमान अशुद्ध है। कीडा, भृंगी नही बन जाता, बल्कि भृंगी के अडे पहिले से उस खोते मे दिये रहते है, और अडो को फोड कर, निकल कर, उसके भ्रूण, उस कीडे के शव को खा कर. पर (पख) निकाल कर, खोता तोड कर, उड जाते है। पाश्चात्य ग्रन्थो मे ऐसा पढ कर, मै ने स्वय इसका प्रत्यक्ष अनुभव किया। एक बडी, चमकते हुए हरे रग की, बिलनी को, एक लम्बा, रेंगने वाला, कीडा पकडे हुए उडते देख कर, उसके पीछे पीछे, उसके मिट्टी के खोते तक पहुँचा। जब खोंते मे उस कीडे को ठूँस कर बिलनी उड गई, तब छुरी से खोंते को, सम्हाल कर, मै ने काटा, और उसमे चार अडे बहुत बारीक छोटे चावल के ऐसे, बिना सूक्ष्मेक्षक यन्त्र के भी आँखो से देख पडते हुए, देखे। शुद्ध उपमान यह है कि, कुछ प्रकार के कीडे ('कैटर-पिलर') रेंगते रेंगते, किसी पेड के पत्ते पर पथरा जाते है, फिर फूलते है, आकार परिवर्तन करके, चाँदी ऐसे चमकते अडे, जामुन के छोटे बीज के परिमाण के, हो जाते है, और कुछ दिनों के बाद अडा फोड कर उसमे से तितली के रूप मे उड जाते है। इसको भी, मै ने स्वय, कई दिनो तक, ताक और अनुसधान मे रह कर देखा है। अग्रेज़ी मे इन तीन अवस्थाओ को 'कैटर-पिलर—क्राइसेलिस—बटरफ्लाइ' कहते है। ऐसे ही तीन रूप-परिवर्तन मच्छड मे होते है, जिनको 'लार्वा—प्यूपा—मास्किटो' कहते है। मच्छड के अडे पानी पर दिये जाते है, और तेल की फोफी ऐसे, झुण्ड मे, तैरते रहते है, पानी को दूषित करते है, और बीमारी फैलाते है।

ऐसी गवेषणाओ का खजाना, पाश्चात्य शरीर-विज्ञान-सम्बन्धी और वैद्यक-सम्बन्धी साहित्य मे भरा है। उसके बल से, पुराणो की कितनी ही अद्भुत बातें समझ मे आने लगती है और श्रद्धेय हो जाती है,

को, लुटेरों की और शस्त्रास्त्रचालन की तर्कीबों का विशेष ज्ञान आवश्यक है, और सभी साधु (साह) गृहस्थों को अपने और आश्रितों के जान माल की, रक्षा करने के लिये, उन तर्कीबों का सामान्य ज्ञान उपयुक्त है। ऐसे ही, सद्गृहस्थों को, अपने दारा-अपत्यों की रक्षा के लिये, दुराचारी, व्यभिचारी, समाजध्वंसकारी पारदारिकों और वेश्या-विटों के चरित्र का भी सामान्य ज्ञान अपेक्षित है। इस विषय के ज्ञान का भी, पाश्चात्यों ने, नयी खोज से, 'सैकालोजी आफ सेक्स', 'हिस्टरी आफ प्रास्टिट्यूशन', 'सैकोपेथिया सैक्सुएलिस' 'पेथालोजी आफ सेक्स' 'सेक्स लाइफ आफ अवर टाइम,' आदि नाम के, महाभारत सदृश बृहदाकार, अथवा उससे भी बड़े, बहुतेरे ग्रन्थों मे महासंग्रह किया है। वात्स्यायन ने जो इस विषय मे लिखा है उसकी चर्चा आगे की जायगी।

यहाँ पर यह चेतावनी दे देना आवश्यक है कि पारदारिक, पारपुरुषिक, व्यभिचार के सम्बन्ध मे, स्त्रियों की ही निन्दा करने की अति क्षुद्र, अति दुष्ट, अति अनार्य, प्रथा, इस देश मे प्रचलित है, तथा पश्चिम के देशों मे भी कुछ काल पहिले तक थी। इसका हेतु केवल इतना ही है, कि प्रायः पुरुषों के हाथ मे लेखनी रही है, और वे पुरुष इस विषय मे प्रायः क्षुद्र बुद्धि के रहे। प्रत्यक्षसिद्ध है कि अकेले स्त्री व्यभिचार नहीं कर सकती, जब व्यभिचार होगा, तो कम से कम एक स्त्री और एक पुरुष, दो मिल कर व्यभिचार करेंगे। भीष्म के उदार वाक्य की चर्चा, इस सम्बन्ध मे, पहिले की जा चुकी है।

> एवं स्त्री नाऽपराध्नोति, नर एवाऽपराध्यति
> व्युच्चरन्न महादोषं, नर एवाऽपराध्यति,
> नाऽपराधोऽस्ति नारीणां, नर एवाऽपराध्यति
> सर्वकार्याऽपराध्यत्वात् नाऽपराध्यन्ति चाऽङ्गनाः ।
>
> (शान्ति पर्व अ० २६७)

तो फिर रुक्मिणी के ही साथ किसी पर-पुरुष का ध्यान आप क्यो नही करते हो ? इस पर वे सज्जन, कानो पर हाथ रख कर, 'हरे हरे' कहते हुए, चले गये। मद्रास प्रान्त मे तो प्राय विष्णु की, वा लक्ष्मी-नारायण, की, उपासना होती है, कृष्ण की नहीं, महाराष्ट्र देश मे भी, कृष्ण और रुक्मिणी की पूजा है, राधा की नहीं। हॉ, राधा और कृष्ण को, बहिन भाई की, या बालसखा-सखी की, दृष्टि से देखे तो उचित है, पर-पुरुष पर-स्त्री आदि भाव अधार्मिक और निंद्य है। क्यो ऐसे अधार्मिक सम्बन्ध मे प्रेम की 'परा काष्ठा' का आभास जान पड़ता है क्यों वह मिथ्या और दोष-युक्त है, यह अन्यत्र ('दि सायन्स आफ दि इमोशन्स' मे) कहा गया है। इसी यात्रा मे, एक अन्य 'गोस्वामी' जी ने भी यही प्रसग उठाया, सस्कृत के विद्वान् थे, मै ने उन से भी वही प्रश्न किया। शुक ने, राजा परीक्षित् को जो उत्तर दिया था, वही उन्हों ने मुझ को सुनाया,

ईश्वराणा वच सत्य, तथैव आचरित क्वचित्,
तेजीयसा न दोषाय, वह्नेः सर्वभुजो यथा।

तुलसीदास जी ने भी इसका अनुवाद कर दिया है,

समरथ को नहि दोस, गुसाईं,
रवि पावक सुर सरि की नाईं।

बड़े तेज वाले ईश्वर लोगो की आज्ञा, उपदेश आदेश, सच्चा होता है मानने योग्य होता है, उनका सब आचरण अनुकरणीय नहीं होता।

मै ने गोस्वामी जी से कहा कि, परीक्षित ने शका की, कि रासलीला मे कृष्ण ने पराई स्त्रियो का स्पर्श किया सो यह तो पाप किया, धर्म के सस्थापन के लिये अवतार लिया और स्वय अधर्म किया,

स कथ धर्मसेतूना वक्ता, कर्ता अभिरक्षिता,
जुगुप्सित कृतवान्, परदाराऽभिमर्शन ?

वेश्याओ के विषय मे भी ऐसी ही तामसी विपरीत बुद्धि प्रसृत है ; वेश्या ही को गाली दी जाती है। वेश्या की निन्दा करना तो ठीक ही है, पर विटों की निन्दा भी, और उससे अधिक, करनी चाहिये। पुरुष यदि वेश्याओं की खोज न करे, तो महाकुत्सित समाजभयकारी यह रोज़गार पैदा ही क्यो हो ? यदि यह ठीक है कि,

> वेश्या नाम महावह्नि , रूप-इन्धन-समाऽचिता,
> कामिभिर्यत्र हूयते, यौवनानि धनानि च,

तो यह और भी ठीक है कि,

> विटा नाम वृका घोरा , ये बाला हरिणीर्इव,
> दन्तैर्विदार्य रुदतीर्भक्षयन्ति सहस्रश ।

भर्तृहरि ने दोनो का समुच्चय किया है,

> कश्चुम्बति कुलपुरुष , वेश्याऽधरपल्लव, मनोज्ञम् अपि,
> चार-भट-चौर-चेटक नट-विट-निष्ठीवन-शरावम् ?

रूप के ईंधन से धधकती ज्वाला का नाम वेश्या है, कामुक अपना धन और यौवन उस मे स्वाहा करते हैं। विट हुँड़ार भेड़िये हैं, जो हरनी के ऐसी बालाओं को फाड कर खा जाते हैं। शोहदे, चोर, सिपाही, खिदमतगार, नट, विट आदि की पीकदानी के ऐसे वेश्या के मुख को, कौन भला आदमी चूम सकता है ? संचारी रोग का भय ऊपर से।

कैसे कैसे व्याघ्र-निष्ठुर उपायो से फुसला कर, धोखा दे कर, लुभा कर, झूठे इश्तिहारों विज्ञापनों द्वारा नौकरी की आशा झूठी दिला कर, अबोध लड़कियाँ फँसाई जाती हैं, और तन-मन नष्ट कर के 'चकलों' की वेश्यावृत्ति की दहकती आग मे झोंक दी जाती हैं, इसका रोमांचकारी, हृदयकम्पकारी, वृत्तान्त, पश्चिम तथा पूर्व देशों के 'ह्वाइट स्लेव ट्रैफिक' के ग्रन्थों से, विविध गवर्मैन्टों, और अब 'लीग आफ़ नेशन्स', की रिपोर्टों से जान पडता है। बम्बई के एक ऐसे 'चकले' की यन्त्रणाओं का हाल,

मे पैदा हो जाते है। व्याभिचारिक-काम-सम्बन्धी विविध दुष्ट क्षोभो से अवश्य यही होता है, यहां तक कि बिना सक्रमण के भी, स्वतः, व्यभिचार से पूर्व नीरोग भी, स्त्री-पुरुष शरीरों मे, 'सिफिलिस', 'गोनाहिंया', गर्मी सूजाक, आदि के विष-कीट उत्पन्न हो जाते है, पुराणो मे अहल्या से व्यभिचार करने के बाद इन्द्र को सहस्र व्रण हो गये, इस रूपक से यह बात सूचित की गई है। इस लिये सब चतुर्वर्ण, चतुराश्रम, के अन्तर्गत सभी स्त्री-पुरुषो को सदा याद रखना चाहिये कि आदि प्रजापति भगवान् मनु ने यह चेतावनी दी है,

नहि ईदृग अनायुष्यं लोके किंचन विद्यते,
यादृश पुरुषस्य इह परदारोपसेवनम्, (४,१३४)।

पारदारिक या पारपुरुषिक या वैशिक व्यभिचार जैसा प्राण-क्षय-कारक आयु-क्षय-कारक, अनायुष्य, है, वैसा अन्य कोई कार्य नही।

मृगया, अक्ष, दिवास्वप्न, परिवाद स्त्रिय, मद,
तौर्यत्रिकं, वृथाऽट्या च, कामजो दशको गण।
पैशुन्य, साहस, द्रोह, ईर्ष्या, असूया, अर्थदूषण,
वाग् दड-ज च पारुष्य, क्रोधजोऽपि गणोऽष्टक।
द्वयोर् अपि एतयो मूल, य सर्वे कवयो विदु,
त यत्नेन जयेल् लोभं, तज्जौ एतौ उभौ गणौ।

(७ ४७, ४८, ४९)

अति काम से दस दोष उत्पन्न होते है, मृगया, द्यूत, दिन मे भी सोना, दूसरो का परिवाद (मिथ्या भी बुराई करना), व्यभिचार, मद्य, नाच, गाना, बाजा, व्यर्थ घूमना फिरना। दूसरों के मर्म का उद्घाटन, साहस के अनुचित कार्य, द्रोह, ईर्ष्या (दूसरों के गुणो की बात न सहना), असूया (दूसरो के गुणो मे भी दोष दिखाना) दूसरो के धन का अपहरण, वाक्-पारुष्य, दंड-पारुष्य, ये आठ दोष अति क्रोध से उत्पन्न

ही है। बहुविवाह के दोष पहिले कहे जा चुके है। आदि काव्य रामायण मे ही ये दोष चित्रित है, दशरथ के बहुविवाह के दोषो का अनुभव कर के ही राम जी ने एकपत्नीव्रत का धारण किया। इन के दोषो के सम्बन्ध मे यहाँ अधिक लिखने का प्रयोजन नही।

मैथुन के अष्टाङ्ग, पृ० ३२१ पर सूचित किये, स्मरण, कीर्तन, केलि, प्रेक्षण, छिपी बातचीत, सङ्कल्प, निश्चय, और शरीर सम्मेलन, अन्तिम के आठ अवातर अङ्ग, काम-सूत्र मे कहे है—"आलिंगन-चुम्बन-नखच्छेद-दशनच्छेद-संवेशन-सीत्कृत-पुरुषायित-औपरिष्टकानां अष्टानां अष्टधा विकल्प-भेदाद् अष्टौ अष्टका. चतु षष्टि इति बाभ्रवीया," (२–२–५), इन आठ मे भी एक एक के आठ आठ भेद करके, कामशास्त्र की एक और विशेष चौ-सठ्ठी होती है, जो ऊपर कही चतु षष्टि कला वा विद्या से भिन्न है। इनमे अधिकाश राजस-तामस अनार्य है, उनकी ओर न जाना ही अच्छा है। उदाहरणार्थ, 'सीत्कृत' मे अतर्गत 'प्रहरण' के सब प्रकार महा बीभत्स है तथा, नखकर्म, दन्तकर्म, औपरिष्टक, प्राय. सभी, 'संवेशन' के अतर्गत 'चित्ररत' मे पशुओं की 'लीलाओ' और चेष्टाओ और आसनो का अनुकरण (—वृष, कुक्कुर, हरिण, मेढ़ा, बकरा, गर्दभ, बिडाल, व्याघ्र, हस्ती, शूकर, घोटक, इत्यादि का उदाहरण, काम सूत्र मे दिया है, यूथश. मैथुन भी कहा है–) महा घृणाऽऽस्पद है, ऐसे मैथुन से जो सन्तान होगी, वह भी प्राय तत्तत् पशुवत् होगी। घोटक-मुख नामक ग्रन्थकार (जिनका नाम वात्स्यायन ने प्राचीन ग्रन्थकारों मे गिना है), स्यात् अपने पिता माता के 'घोटक लीला' के मैथुन से ही जन्मे होंगे। वात्स्यायन के बड़े दोषो मे एक प्रधान यह है, कि ऐसी बीभत्स क्रियाओं के वर्णन के साथ, विधिलिङ् के शब्दो का प्रयोग किया है, यथा, "यत्र-यत्र योगोऽपूर्व तत् तद् उपलक्षयेत्" "रञ्जयेयु," "अनुतिष्ठेयु", 'अपूर्व योगो का अनुभव करें', 'परस्पर रञ्जन करें', 'इन प्रकारो का अनुष्ठान करें', इति प्रभृति, अ योनि-मैथुन (गुदा-मैथुन, मुख-मैथुन),

सत्त्वं ज्ञानं, तमोऽज्ञान, रागद्वेषौ रज स्मृतम्
एतद् व्याप्तिमद् एतेषा सर्वभूताऽश्रित वपु , (मनु) ।

इन शब्दो के अर्थ का, और तीनो गुणो के तात्विक स्वरूप का, तथा नित्य अनुभव मे आते हुए आकारों का, विवेचन, विस्तार से, अन्यत्र किया गया है* , यहां इतना कहना पर्याप्त है, कि तीनो मे किट्टांश और प्रसादांश दोनो है ; तथा स्वत , कोई गुण किसी दूसरे से भला या बुरा नहीं है , तीनो का एक दूसरे से सदा अभेद्य सम्बन्ध और परस्पर आश्रय है । सुप्रयोग से प्रसादांश, दुष्प्रयोग से किटांश, देख पडता है । शिव-शिवा तमः प्रधान, विष्णु-सरस्वती सत्त्वप्रधान, ब्रह्मा-लक्ष्मी रज.-प्रधान देवता है । शिव-शिवा अर्ध-नारीश्वर, विष्णु-लक्ष्मी भिन्नलिंग, और गिरा-द्रुहिण निर्लिंग विवाहित जोडे, ('गिरामाहुर्देवीं द्रुहिण-गृहिणीमागमविदो'), कैसे हुए, इस की कथा, तथा रूपकों के रहस्यार्थ का सूचन, देवी-भागवत मे है । एव, काम यद्यपि तामस है, तौ भी इस मे अवान्तर भेद से सात्त्विक काम, राजस काम, तामस काम, होते है । साहित्य शास्त्र मे नायक नायिका के जो स्वभाव-भेद कहे है, वे इस स्थान पर भी उपयुक्त है । धीर, उदात्त, ललित, मधुर, गम्भीर, उदार आदि सात्त्विक गुणो से विभूषित जो नायक नायिका पति-पत्नी है, उन के प्रयोग भी, सभोग के अवसर मे, 'चुम्बन', 'आलिंगन' आदि, तदनुकूल होगे । जो प्रचण्ड, दृप्त, उद्धत, राजस है, उन के 'दन्त-नख-आदि' कर्म राजस होगे। जो मायावी, शठ, ग्राम्य, अनार्य, तामस है, उन के 'प्रहणन औपरिष्टक' आदि तामस । जैसे भाव, स्त्री-पुरुष के चित्त मे, काम-क्रीडा के समय मे, रहेंगे, वे ही अपत्य के चित्त मे प्रधान हो जायगे,

शुक्रशोणितसंयोगे यो भवेद् दोष उत्कट ,
प्रकृति जायते तेन, (अपत्यस्य, अनुगनो हि अत्र)
(सुश्रुत, शा०) ।

---

* 'दि सायन्स आफ पीस' मे ।

गीता में कहा है,

यं यं वाऽपि स्मरन् भावं त्यजति अंते कलेवरं,
तं तं एति, कौंतेय, सदा तद्भावभावितः ।

अंतकाल में, शरीर को छोड़ कर, इस लोक से परलोक को जाने के समय, जो भाव जीव के चित्त में अधिक रहता है, वही दूसरे जन्म में उस का प्रधान भाव होता है। एवं, संयोग के समय पति पत्नी का भाव जैसा होता है उसी भाव को रखने वाला जीव, उस गर्भाधान में, परलोक से इस लोक में आता है। यह सब आध्यात्मिक आधिदैविक शास्त्र के रहस्यप्राय सिद्धान्त हैं।

शुक्र और शोणित के संयोग के, अर्थात् गर्भाधान के, समय, दैविक, वातिक, वा श्लैष्मिक, अर्थात् सात्त्विक, राजस, वा तामस, जो भाव स्त्री-पुरुष में बलवान् हों, उन्हीं के अनुरूप गर्भ की प्रकृति होती; और बहुत प्रकार की मानव प्रकृतियों का वर्णन, सुश्रुत और चरक ने किया है। ज्योतिष के जातक ग्रंथों में भी यही अर्थ दूसरे शब्दों में दिखाया है, अर्थात् गर्भाधान के मुहूर्त में जो ग्रह बलवान् हों, उन के अनुसार, सन्तान का स्वभाव वर्ण आदि होगा। बृहदारण्यक उपनिषद् में भी कहा है कि प्रसंग के समय जैसी भावना स्त्री-पुरुष की हो वैसी सन्तति होगा, पुराणों ने यही बात ऐतिहासिक उपाख्यानों से प्रकट किया है।

हे [illegible], यदि अच्छे जीव को अपने कुल में बुलाना चाहते हो, और कुल का उत्कर्ष करना चाहते हो, तो सात्त्विक भाव [illegible] [illegible]

पाश्चात्य देशों मे, विविध द्वंद्वो के प्रत्येक अवयव का अनुभव अत्यंत ('एक्स्ट्रीम') हो रहा है, एक ओर यह पुकार हो रही है, कि आबादी बहुत बढ़ती जाती है, संतान का निरोध करो, दूसरी ओर, यह भय दिखाया जा रहा है कि संतान का अति निरोध, विशेष कर शिक्षित शिष्ट दलो मे, हो रहा है; जिससे वार्षिक सख्या, प्रसवो की, सभ्य राष्ट्रो मे, प्रतिवर्ष, गतवर्ष की अपेक्षा से, कम होती जाती है, और यदि ह्रास, इसी अनुपात से, होता रहा, तो कुछ दशाब्दियो मे, नहीं तो कुछ शतियो मे, राष्ट्र, मनुष्य से शून्य हो जायेंगे। दोनो आत्यतिक कोटियो के मध्य का कृत्य, निष्कर्षभूत, वही है जो पहिले कहा; एक जोड़ा दम्पती को एक जोड़ा उत्तम सन्तान हो। पाश्चात्य ग्रन्थो और दैनिक आदि पत्र-पत्रिकाओं के लेखों मे, 'वान्टेड चिल्ड्रेन', अभिलषित सतति, और 'अन्-वान्टेड् चिल्ड्रेन्', अन्-अभिलषित सतति, का विवेक कर के, इस विषय पर बहुत कुछ लिखा पढ़ा जा रहा है। भारत मे जल्दी ब्याह, जल्दी बच्चे, जल्दी मौत–यही नियम सा हो रहा है, जब मै (१८९८–१९१४ ई०) काशी के सेन्ट्रल हिन्दू कालिज का अवैतनिक सेक्रेटरी था, अक्सर लोग, अपने लड़को को ले कर, मेरे पास आते थे और कहते थे, 'यह लड़का आप ही का है, इसको खिलाने पिलाने पढ़ाने लिखाने का प्रबन्ध कर दीजिये, आप ही इस के पिता हैं,' मै उन से पूछता था, 'भाई, पैदा करने के लिये आप पिता, और पालने पोसने के लिये मै पिता, यह कैसी बात करते हो ?', उत्तर मिलता था, 'यह तो ईश्वर के देन है' मै प्रत्युत्तर देता, 'यदि दम्पति को, सतान, ईश्वर के देन है, तो उनकी रक्षा-शिक्षा भरण पोषण का कृत्यधर्म भी उसी दम्पती को देन है', अभागे भारत मे, धर्माभास प्रचारको के दम्भ से, अपना बोझ, दूसरे के सिर लाद देने की प्रवृत्ति अत्यन्त हो गई है। प्राचीन काल मे, इन मिथ्या धर्म, मिथ्या भाव, के विपरीत, सत्य धर्म, सात्त्विक भाव, का प्रचार बहुत था, पुराण इतिहास मे सैकड़ों उपाख्यान

रैस्थीनिया' (दिमाग की कमजोरी, नाडीदौर्बल्य), 'स्पर्माटोहिंया' (शुक्रमेह), 'ल्यूकाहिंया' (योनि-द्रव-स्राव), 'कन्वल्शन्स' (आक्षेपकं) आदि, अतित्वराकृत, वा बलात्कार-जनित, साध्वस से हो जाया करते हैं। पुरुषों द्वारा कन्यादूपण, स्त्रियों द्वारा कुमारदूषण, यों भी महापातक होते हुए, इस कारण से और भी घोर हो जाते हैं। वात्स्यायन ने भी इस विषय में चेतावनी की है, और पवित्र प्राचीन वैदिक विधि का हवाला दिया है, कि नव-विवाहित वधू-वर तीन रात्रि तक ब्रह्मचर्य न छोड़ें, परस्पर मन ही मिलावें, फिर तन मिलावें।

वा० कामसूत्र (अधिकरण ३, प्रकरण २५) में लिखा है, "कुसुम-सधर्माणो हि योषित (कन्या, नवविवाहिता), सुकुमारोपक्रमा, . प्रसभ उपक्रम्यमाणा सम्प्रयोगद्वेषिण्यो भवति, (अत) न प्रसह्य किंचिद् आचरेत्"। यदि पति हठ और बल से मैथुन में अतित्वरा करें, तो, यदि रोग नहीं तो, वधू के चित्त में, सदा के लिये, मैथुन क्रिया की ओर घृणा और द्वेष हो जाता है।

(ख) तृतीया प्रकृति—इसकी चर्चा स्यात् ज्ञानांग में होना चाहिये था। अथवा अष्टांग मैथुन से इसका सम्बन्ध है इसलिये रसांग में भी होना अनुचित नहीं। यों तो सब विषयों का सब से सम्बन्ध है। तृतीया प्रकृति की चर्चा पृ० २६७ पर की जा चुकी है।

'तृतीया प्रकृति' शब्द का प्रयोग वात्स्यायन ने कामसूत्र में किया है, और एक अध्याय में इस विषय पर बीभत्स 'औपरिष्टक' मैथुन के सम्बन्ध में लिखा है। शब्द का अक्षरार्थ तो यही है, कि स्त्री-प्रकृति पुरुष प्रकृति दोनों से भिन्न और अन्य तीसरी प्रकृति, अंग्रेजी लेखकों ने भी 'थर्ड सेक्स', 'इन्टरमीडियेट सेक्स' शब्दों का प्रयोग किया है। इस के कई अवान्तर प्रकार कहे जा सकते हैं। एक तो, जो न स्त्री और न पुरुष, अर्थात् जिस में विशेषक व्यावर्तक स्त्री चिन्ह या पुरुष चिन्ह व्यक्त न हो, मूत्र स्थान या छिद्र मात्र हो। इसी के लिए नपुंसक शब्द

कार्य है, जो अव्यक्ति, अर्ध-व्यक्ति, अधिक-व्यक्ति से, सृष्टि मे नये नये भेद पैदा करती रहती है। तृतीया प्रकृति और उसके अवांतर भेदो मे भी यही कारण है।

समय समय पर वार्त्ता-पत्रो मे, विशेष कर पाश्चात्य आयुर्वेद के 'मेगजीनो', 'जर्नलों', साप्ताहिक मासिक पत्रों मे, खबर देख पडती है कि अमुक देश मे, अमुक स्त्री को, यौवनप्रवेश के समय पुरुष चिन्ह विकसित होने लगे, तथा अमुक पुरुष को स्त्री चिन्ह, तथा तिर्यग्योनियो मे, जो पहिले कुक्कुट था वह कुक्कुटी हो गई, या कुक्कुटी, कुक्कुट हो गया; इत्यादि। पुराणो की इला-सुद्युम्न, ऋक्षरजा, शिखडी आदि के लिंग-परिवर्त्तनो की कथा, इस प्रसग मे स्मरणीय है। पुंसवन संस्कार का भी आधिदैविक-आधिभौतिक रहस्य, इन्ही विचारो और तथ्यो की सहायता से समझ मे आ सकता है।

पश्चिम मे इस विषय पर भी बडी खोज कर के बडा साहित्य बन गया है। और ऐसी प्रकृति के लोगो के स्नेह काम आदि का संग्राहक नाम 'होमो-सेक्सुऐलिटी' रख दिया गया है, जैसे भिन्न-लिंग जनो के स्नेह काम आदि का नाम 'हेटेरो सेक्सुऐलिटी' रक्खा है। 'हेटेरो' ग्रीक शब्द है, यह, तथा अग्रेजी 'अदर', सस्कृत 'इतर' का रूपातर है। एव, 'होमो', 'सेम', सम, समान, का। 'होमो सेक्सु-ऐलिटी' का ठीक अक्षरार्थ तो सम, स्त्री-स्त्री का, पुरुष-पुरुष का, स्नेह काम है। पर तृतीया प्रकृति के सभी अवातर भेदों का सग्राहक हो रहा है।

जर्मन भाषा मे, पुरुष-'होमो सेक्सुअल्' को 'अर्निङ्', और स्त्री-'होमो-सेक्सुअल्' को 'अनिन्डे', कहते है।

प्राय सभ्य कहलाने वाले सभी देशो मे, इधर बहुत वर्षों से, 'होमो-सेक्सुऐलिटी' के प्रकार, लज्जास्पद, घृणास्पद, निन्दनीय, समझे जाते है। इनके अतिम, आभ्यन्तर, प्रकार, (गुदा मे लिंग-प्रवेशन) दडनीय भी समझे जाते है, और अक्सर देशो के दड-विधानों ('पीनल

कोड') मे दर्ज है। गवेषकों के लेखों से जान पड़ता है कि 'सामान्य लिंगों' के सम्बन्ध में, 'सम्प्रयोग' के अष्टांग में से जो बाह्य अंग या उपचार हैं, प्रायः उन्हीं से लोग संतोष कर लेते हैं, अंतिम अंगों की नौबत कम आती है। कचहरियों में मुकद्दमे भी कम होते हैं, यद्यपि इसके अन्य कारण भी हैं, जिनका ज़िक्र पहिले किया गया है (पृ० २५५-२९३)।

'धर्मस्य सूक्ष्मा गतिः', 'महाजनो येन गतः स पन्थाः', जिस मार्ग पर 'महाजन', जनता का भूयस्भाग, महान् अंश, अधिकतर भाग, चले, वही पक्का धर्म मार्ग हो जाता है। जिसको वह निषिद्ध माने, वही अधर्म हो जाता है। जनता के, 'महाजन' के, हृदय की प्रेरणा करने वाली 'वासना वासुदेवस्य, वासितं सकलं जगत्' वासुदेव की, जगद्व्यापी व्यापक अन्तरात्मा की, वासना होती है। वह जिसको चाहे धर्म, जिसको चाहे अधर्म, बना सकती है, और बना देती है। विवाह के विविध प्रकारों का उल्लेख ऊपर हुआ है (पृ० ३२१-३३०) अपने अपने देश काल में वे धार्मिक रहे हैं, अन्य देशकाल में अधार्मिक। इस समय जो अति-प्रकृति के कामिक व्यापार, सभ्य देशों में 'अप्राकृतिक' ('अनैचुरल' ऑफ़ेन्स') समझे जाते हैं, किंतु पश्चिम के देशों में, इस विषय में भी, [illegible] में परिवर्तन हो रहा है, जैसा विवाह और [illegible] के, [illegible] [illegible] के, परिग्रह और साम्यवाद आदि के, विषयों में। पहिले समझा [illegible] था कि [illegible] प्रकृति के सम्बन्ध [illegible] है, अब [illegible] [illegible] है कि, यथा [illegible], जर्मनी, में, ([illegible]) [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

संतान हैं, इनका स्वभाव ऐसा ही निसर्ग से है, तो ये लोग अपनी वासना के, अपनी विशेष प्रकृति के, अनुसार, अपना जीवन क्यों न विताने पावें ? ओर, बीच-बीच मे, इस विषय पर क़ानून मे परिवर्त्तन कराने की चर्चा भी उठती रहती है, हॉ, किसी कुमार, कुमारी, या युवा, युवती, पर कोई बलात्कार करे, या उसको साध्वस पहुंचावे, या प्रलोभन करके उसका दूषण करै, या व्यभिचार या अपहरण करै, तो अवश्य उसको उग्र दण्ड दिया जाय। कुछ लोग तो, मानव संख्या-वृद्धि के निरोध का, इस प्रकार के कामीय सख्य को, उपाय बताने लगे है, दूसरी ओर, लोग कहते है कि, यह सब बात समाज को भ्रष्ट करनेवाली है, यदि कानून का भय ऐसे सम्बन्धों से हटा लिया गया, तो संचारी रोग के ऐसी यह दूषित प्रथा फैलेगी , इत्यादि। प्राचीन काल मे, ग्रीस, ईरान, आदि देशो मे, तथा यूरोप की 'अर्ध सभ्य' जातियों मे, मध्य काल मे मुसल्मानी राज्यों मे, यह प्रथा, क़ानून से, निर्दोष समझी जाती थी और खुली थी। तथा अब भी कुछ नव्वाबी रियासतों मे ऐसा है, यहाँ तक सुनने मे आता है कि किन्हीं नव्वाबी रियासतों मे पुरुष पुरुष का 'विवाह' भी क़ाज़ी के सामने किया जा सकता है। पर निष्कर्ष यह जान पड़ता है कि सब प्रकार का बलात्कार, धोखा देना, प्रलोभन करना, उग्र दण्ड से दण्डनीय है, तथा साधारण रीति से 'महाजन की दृष्टि मे 'होमोसेक्सुऐलिटी' निन्दनीय है, पर दण्डनीय नहीं। किन्तु स्कूलों, मदर्सों, पाठशालाओं मे, अबोध सुकुमार बालकों की, दुष्ट अध्यापकों तथा सयाने छात्रों से रक्षा का प्रबंध होना आवश्यक है, पृ० २०९–२१२, २५९–२६२, पर इसकी चर्चा की गई है, सोलह वर्ष से कम वयस् के बालक के साथ अप्राकृतिक अपराध, जिस सयाने पुरुष पर कचहरी मे साबित हो, उसको उग्र दंड देना आवश्यक है।

समाज की रूप रेखा को यहा समाप्त कर, शिक्षा का विचार करना चाहिये।

बालिकाओ को, विशेष कर बालिकाओ को, इस विषय की शिक्षा देने का प्रबध नही करते ।

चतु पष्टि कलाओ की पाँच मुख्य राशियाँ, पच ज्ञानेन्द्रियो के अनुसार, करना उचित होगा, जो बच जायें, उनकी गौण, राशियाँ उपयोगिता अनुसार, इन मे तीन राशि प्रधान होगी । १ – सुस्वादु और हितकारक भोजन बनाने की, २–'सूची-वान-कर्म', 'कार्पासस्य कर्त्तन, वान च', (कामसूत्र, १-३-१६, ४-१-३३), अच्छा सूत कातने और कपडा बीनने की, ३–ऐसी कदुक आदि की क्रीडाओ की, जिनसे व्यायाम का काम निकले । यहा आयुर्वेद का आदेश, 'अर्ध-प्राणेन व्यायच्छेत्', याद रखना उचित है, अर्थात् 'कसरत' मे आधि शक्ति लगावे, अपने को सर्वथा न थका डाले, सब शक्ति का व्यय न कर दे । इस रीति से, इन तीन प्रधान कलाराशियो की शिक्षा पाकर, गृह-पत्नी, गृह की (१) अन्नपूर्णा, (२) वस्त्रपूर्णा, (३) प्राणपूर्णा, सभी, जैसा चाहिये, वैसी होगी । गृहपतियों के लिये भी कला-कौशल सीखना इष्ट तो अवश्य है, पर प्रकृति के भेद से, तथा कर्त्तव्य के भेद से, स्त्रियों के हिस्से मे घर के भीतर के कृत्य और कला, और पुरुषो के हिस्से मे घर के बाहर के जीविका-साधक और बल-साध्य कृत्य, पडे है । जब रोजगारी कार्यों से थका गृहपति घर मे आवे, तो गृह-कर्म से थकी गृहपत्नी और बच्चो और अन्य कुटुम्बी जनो के साथ बैठकर, पत्नी के कला कौशल से, और सब के परस्पर प्रेममय वार्तालाप से, सब को आनद आवे, और सब की थकावट दूर हो जाय—यही उत्तम गार्हस्थ्य का फल है ।

(ग) औपनिषदिक अधिकरण—इसमे असाधारण अवस्थाओं के लिये उपयोगी उपकरणों और दवाओ का वर्णन होना चाहिये ।

क्रियात्र के सभी विषयो मे भारतवर्ष के पास सामग्री अच्छी है, जीर्णोद्धार की आवश्यकता है । पाश्चात्य ज्ञान से, अपनी सामग्री को अधिक सम्पन्न करने के लिये, नये आविष्कारो का

झिल्ली नहीं रहती। विचारने की बात है कि, 'कनी' या 'कनि' शब्द का, प्राचीन काल मे इस 'कुमारीछद' के अर्थ मे प्रयोग होता था, या नही। यदि होता था, तो पुराण की आख्यायिका सार्थ हो जाती है, कोई विशेष उपाय उस काल मे विशेषज्ञो को विदित रहा होगा, जिससे फटी झिल्ली पुन पूर्ववत् हो जाती हो, लैटिन भाषा मे, 'कनि' (cunni) शब्द का अर्थ, कुछ भगच्छद सा ही जान पड़ता है।

इसी सम्बन्ध मे, 'कर्ण-वेध' शब्द का अर्थ भी विचारणीय है। आज काल, इस का अर्थ प्रसिद्ध ही है, दोनो कानो की लहरों मे सूक्ष्म छिद्र बना देना, कुंडल आदि पहिनने के लिये, आभूषणार्थ, विचारना यह है कि, भारत मे भी, किसी पुराकाल मे, इसका अर्थ 'सर्कम्सिशन' था, या नही। अंग्रेजी के इस शब्द (circum-cision) का अर्थ यह है जिसको मुसल्मान 'खतना' कहते है, यहूदियो और मुसलमानो मे, हर एक लड़के का यह संस्कार (रस्म, सुन्नत) किया जाता है, अर्थात् (prepuce, foreskin) लिंग मणि-च्छद' का अगला टोंका काट दिया जाता है, 'धार्मिक, 'अदृष्ट', पुण्य भी, इससे मानते है, और ऐहिक लाभ यह मानते है, कि स्त्री-प्रसंग मे इससे अधिक सौकर्य भी, और मैथुन की चिरस्थायिता भी, होती है। याद रहे कि, कई 'अर्ध-सभ्य' जातियों मे, तथा 'हिन्दुओं' की भी कुछ जातियों मे (विशेष कर दक्षिण प्रान्तों मे) कुमारियो के भग-च्छद का भी पाटन, संस्कारवत्, पत्थर या धातु के बने 'इन्द्रियाकार 'शिव-लिंग' पर 'अर्पण' करके, बलेन 'बैठा' कर के, कर देते है, अथवा सम्प्रदाय के जीवत् और बलिष्ठ 'गुरु' को अर्पण कर के, उसके द्वारा करा देते है, अथवा, अंगुलि-प्रक्षेप से ही, विवाहानन्तर मैथुन की सुकरता के लिये। अक्सर बालकों का लिंग-च्छद इतना कसा रहता है, कि मणि पर से पीछे नही सरकता, मा और धाय, तेल डाल कर, धीरे धीरे, सरकाने का अभ्यास करा देती है इससे भी वही प्रयोजन, अशत, सिद्ध होता है जो 'खतने' से। खतने की रस्म, बहुत देशो,

अक्सर, घरेलू दवाओ (यथा घिसी सुपारी के लेप) से ही अच्छा हो जाता है , अधिक बिगड जाने पर शास्त्रकर्म की शरण लेना पडता है । स्त्रियों का मूत्र छिद्र, भग छिद्र से भिन्न होता है , इस लिये, किसी बालिका का छद बहुत मोटा और निच्छिद्र भी हो, तो भी, बाल्यावस्था मे मूत्र का अवरोध नही करता ; हा, रजो-रुधिर की प्रवृत्ति को, यौवनारम्भ मे, रोकता है, जिस से रोग उत्पन्न होते है , उस समय शस्त्रकर्म की आवश्यकता होती है ; एव, विवाहानन्तर, मैथुन मे रुकावट होने से भी । इन सब विषयो पर, विविध जातियों के विविध आचारों का, बहुत अन्वेषण और वर्णन किया है । इत्यादि ।

आज काल, पश्चिम मे शरीर के सभी अवयवो की सामान्यत. पुष्टि के लिये, और विशेषत क्षीण मैथुन शक्ति के पुन सम्पादन के लिये, 'इलेक्ट्रिक बाथ' देते है । चीन और भारत से, पाश्चात्यो ने, पौष्टिक रहस्य औषध भी कुछ सीखे है, पर अभी वैसे 'रस' नही बना सकते । नये नये, 'योहिम्बिन', 'कोकेन', आदि का, अमेरिका देश की प्राचीन जातियो से सीख कर, कामोद्दीपन, वीर्य-स्तम्भन ('इम्साक') आदि के लिये, प्रयोग करते है । ऐसे ही अति काम के वेग के शामक द्रव्यो का । उत्तेजक, द्रव्य 'आफ्रोडीसियाक, शामक 'ऐन-आफ्रोडीयाक', कहलाते है । डाक्टर वोरोनाफ के प्रकार की चर्चा की जा चुकी है, (पृ० २३४, २९९) ।

यह सब, विज्ञान के विशेष रहस्यो की लीला है । पर साधारण सद्-गृहस्थ का सौभाग्य इसी मे है, कि ऐसे प्रयोगों की आवश्यकता ही उस को न हो, और इनका भुगत उसको देखना न पडे , तथा यह कि, यदि पूर्व पाप कर्म ने कोई खण्डितता उसके जीवन मे आ ही जाय, तो सिर झुका कर उसको सह ले, 'प्रारब्धकर्मणा भोगादेव क्षय' के नियम को हृदय मे रख कर सतोष कर ले । 'सतोषाद् अनुत्तमसुखलाभ ' यह योगसूत्र है । इसका यह अर्थ नही है कि साध्य रोगो की चिकित्सा न करे । यह नही । बल्कि यह कि कामिक सुख की हिर्स हवस के मारे, असाध्यसाध्य अन-

स्याओं को दूर करने का व्यर्थप्राय महा-आयास न करें। तथा यह बात सब के याद रखने की है, कि आयुर्वेद का भी सिद्धान्त यही है, कि सब से उत्तम वृष्य, वाजीकरण, सुभगं-करण, पति-पत्नी का परस्पर स्नेह है।

वाजीकरण अग्र्यं तु (पत्नी) स्त्री या प्रहर्षिणी;
इष्टा हि एकैकशोऽपि अर्था परं प्रीतिकरा स्मृता,
किं पुनः स्त्रीशरीरे ये संघातेन प्रतिष्ठिता,
स्त्री-आश्रयो हि इन्द्रियाऽर्थो यः स प्रीतिजननोऽधिकं,
स्त्रीषु प्रीति विशेषेण, स्त्रीषु अपत्यं प्रतिष्ठितं,
धर्माऽर्थौ स्त्रीषु, लक्ष्मीश्च, स्त्रीषु लोका प्रतिष्ठिता,
सुरूपा, यौवनस्था या, लक्षणै या विभूषिता,
या वश्या, शिक्षिता या च, सा स्त्री वृष्यतमा मता,
वर्णो-रूप-रसों-हार्दे, या यस्य परमाऽङ्गना
प्रविशति आशु हृदयं, दैवाद् वा, कर्मणाऽपि वा
हृदय-उत्सवरूपा या, या समानमन शया,
समानसत्त्वा, या वश्या; या यस्य प्रीयते, प्रियैः
या पाशभूता, सर्वेषा इन्द्रियाणां परै गुणैः,
यया वियुक्तो, निःस्त्रीकं, अरति, मन्यते जगत
यस्या ऋते शरीरं ना (नर) धत्ते शून्यं इव इन्द्रियैः
शोक-उद्वेग-अरति-भयैः या दृष्ट्वा नाभिभूयते,
[illegible] या [illegible]

एक एक इन्द्रिय का विषय अलग अलग भी प्रिय होता है; स्त्री और पुरुष के लिये, एक दूसरे के शरीर मे, सभी विषय एकत्र है, क्यो न परस्पर अत्यंत प्रिय हो, प्रीति, रति, संतति, धर्म, अर्थ, लक्ष्मी, सभी, एक दूसरे से प्राप्य हैं। पुरुष के लिये, जो स्त्री सुरूप, युवती, शुभलक्षणो से सम्पन्न, वश्य, शिक्षित है, वही वृष्यतमा है, जो हृदय मे घुस जाय, हृदय को उत्फुल्ल उत्सवमय कर दे, सत्त्व मे और मन शय अर्थात् काम मे समान हो, अत्यत प्रीति करे, अपने परम प्रिय गुणो से पति को मानो पाशों से, फंदो से, बांध ले, जिससे वियुक्त, अलग, होने पर, पति समस्त जगत् को शून्य मानता है, अपने शरीर को चेतन रहित जानता है, जिसको देख कर वह शोक-उद्वेग-अ-रति-भय देने वाले पदार्थों से लड़ने का उत्साह (हिम्मत) बांधता है, धैर्य, विस्रभ, अपनी शक्ति पर भरोसा, करता है, जिसको नित्य अपूर्व, नई, जानता है, बहुत बेर भी जिसका दर्शन स्पर्शन कर के, तृप्त नही होता, ऐसी स्त्री, पति के लिये, वृष्यतमा, सब पदार्थो से बढकर वृष्या, वाजीकरणी, है। ऐसे ही गुण वाला पति, अपनी पत्नी के लिये वृष्यतम, वाजीकरणतम, है। याद रहे कि प्रकृतियां भिन्न होती हैं, जो वस्तु, जो गुण, जो रूप-रग, जो हाव-भाव, आहार-विहार, एक को प्रिय है, वह दूसरे को अप्रिय, "यद् यस्य रोचते, तस्मै, तत् तद् एव अस्ति सुन्दरं", जो जिसको रुचे, वही उसके लिये सुन्दर। जिनको सात्त्विक उत्तम अपत्य की इच्छा हो, वह दम्पती परस्पर प्रसग तब करें, जब पत्नी, मासिक ऋतु से शुद्ध होकर स्नान कर चुकी हो, दोनो निरामय नीरोग हों, परस्पर वृष्य और प्रसन्न हों। वृष्, वर्षणे, से वृष शब्द बना है, साधारण अर्थ, स्पष्ट है, और भी अनेक अर्थ हैं, वृष, वीर्य की वर्षा करता है, वर्षा से जीवजन्तु बहुत उपजते हैं, इसी से वीर्य बढ़ाने वाले पदार्थ को 'वृष्य' कहते हैं। 'वाज' शब्द के बहुत अर्थ हैं, अन्न, जल, घृत, (उससे उत्पन्न) बल, वीर्य, वेग, स्फूर्ति, (वेग-साधक) पक्ष (पंख), धन, दान, आदि, कामशास्त्र के लिये, वाज का मुख्य अर्थ बल और वीर्य

वात्स्यायनकृत कामसूत्र

कामशास्त्र का इतिहास

काम-सूत्र के प्रथमाध्याय मे, वात्स्यायन ने स्वय काम-शास्त्र का इतिहास, बहुत सक्षेप से, लिखा है। "प्रजापति ब्रह्मा ने मानव प्रजा को उत्पन्न कर के, उन की व्यवस्थिति के लिये, धर्म-अर्थ-काम तीनो पुरुषार्थों के साधन के उपाय, एक लाख अध्यायो मे कहा। उस के धर्म-विषयक अश को मनु ने अलग कहा, अर्थ-विषयक को बृहस्पति ने, महादेव के अनुचर नन्दी ने एक सहस्र अध्यायो मे काम-सूत्र कहा, पाँच सौ अध्यायो मे, उद्दालक के पुत्र श्वेतकेतु ने, उसी का संक्षेप किया। पचाल देशवासी[1] बाभ्रव्य ने, एक सौ पचास अध्यायो मे, औद्दालकि के ग्रथ का पुन सक्षेप किया, और सात अधिकरणो मे उसे बाँटा (१) साधारण, (२) साम्प्रयोगिक, (३) कन्या-सम्प्रयुक्तक, (४) भार्याऽधिकारिक, (५) पारदारिक, (६) वैशिक, (७) औपनिषदिक। पाटलिपुत्र (पटना) की वेश्याओं के अनुरोध से, दत्तक ने, वैशिक अधिकरण को अलग कहा, चारायण ने साधारण को; सुवर्णनाभ ने साम्प्रयोगिक, घोटकमुख ने कन्या-सम्प्रयुक्तक, गोनर्दीय ने भार्याऽधिकारिक, गोणिकापुत्र[2] ने पारदारिक, कुचुमार ने औपनिषदिक (उपनिषद्, रहस्य-विद्या, ओषधी, तान्त्रिक मान्त्रिक प्रयोगों, के विषय मे)। बाभ्रव्य के ग्रन्थ की विशालता और दुरध्येयता, तथा उक्त अन्य

---

१ [illegible] प्रान्त, महाभारत काल मे, पचाल कहलाता था [illegible] उत्तर भाग, उत्तर पचाल, दक्षिण भाग (जिस के राजा, उस काल मे द्रुपद थे) दक्षिण पचाल।

२ व्याकरण-महाभाष्य-कार पतञ्जलि का भी एक नाम गोनर्दीय है, क्योंकि पंजाब के उत्तर-पश्चिम के गोनर्दीय प्रान्त मे उन का जन्म हुआ, पर यह निश्चित नहीं, कि ये गोनर्दीय [illegible], या दूसरे।

ही किया है। वेश्याओ के विवाहिता हो जाने की भी चर्चा, सूत्र और टीका मे आई है, कौटलीय अर्थशास्त्र मे भी है, मनु आदि स्मृतियो मे भी, पुनर्भू पत्नी और पौनर्भव, सहोढ, आदि बहुविध पुत्रो के सम्बन्ध मे। अनुवाद, अधिकाश का, ठीक है, कहीं कहीं, मूल (और जयमगला टीका) का आशय ठीक ठीक नही समझा गया है, आश्चर्य नहीं, मूल (और टीका मे, मूलोक्त से अन्य भी,) सांकेतिक शब्द अनेक है, लिखने की शैली बहुत कसी (सूत्रो की सक्षिप्तता तो प्रसिद्ध ही है, टीका की भी लिखाई बहुत गैठी) है, पठन पाठन की परम्परा उच्छिन्न, खोजने पूछने से भी अर्थ का निश्चय, कहीं कही, नहीं होता, मुझे तो पाश्चात्य पुस्तकों मे मिली बातो से, और उन के जीवत् ज्ञान से, ऐसे सदिग्ध स्थलों पर कई बेर प्रकाश मिला। कम उमर मे विजय बहादुर जी ने, जितना इस 'लोपित गोपित' विषय पर परिश्रम किया, और, दुष्ट कामीय आचारों के विरुद्ध चेतावनी लिख कर, वात्स्यायन की एक भारी न्यूनता के पूरण का, बल्कि यों कहना चाहिये कि बडे दोष के मार्जन का, यत्न किया, बही प्रशसा के योग्य है, वात्स्यायन ने भी, ऐसे घृण्य (घृणा-योग्य) प्रकारों मे आवर्जन (चेतावनी, खबरदारी, मना, बरजना) की सूचना की है, पर १२५० श्लोको मे मुश्किल से १०-१२ श्लोक ऐसी सूचना के होंगे, मानो दस सेर प्रलोभन के पश्चात् एक माशा वर्जन। मै ने कामसूत्र और कामकुंज की निजी प्रतियों के पन्नों के मर्म (हाशियों) पर बहुत सी टिप्पणियां उक्त बातों पर लिखी हैं, पर उन सब की चर्चा यहां असम्भव है, पचासो पृष्ठ और बढ़ जायगे, जिस का अवसर नहीं। स्त्री सौन्दर्य-तत्त्व पर श्री विजय बहादुर जी ने कुछ लिखा है, स्त्री शरीर के "चार भाग उज्ज्वल वर्ण, चार कृष्ण, चार रक्त, चार भाग गोल, चार लम्बे," चार मोटे ' चार विशाल, होने चाहियें, (कामकुंज, पृ० ४६५), किस ग्रन्थ से उद्धरण किया, यह नहीं लिखा, इस विषय पर मूल-सूत्र या टीका मे हमें कुछ नहीं मिला, किंतु पुरुष-

हैं, मानो उपदेश देते हैं कि ऐसा करना उचित है, और करना चाहिये। यह तो जैसे अंधे को कूएं का रास्ता बताना और कहना है कि इधर जाओ (और कूएं में गिरो), अ-योनि मैथुन, वि-योनि-मैथुन, यूथ-मैथुन ('गोष्ठी-परिग्रह') आदि के सम्बन्ध में भी वात्स्यायन ने ऐसे ही दूषित शब्द कहे हैं। उचित प्रकार कहने का यह था और है कि, 'एव दुष्टा, असाधव, अनार्या, अदूरदर्शिन, महापातकिन, नरकगामिन, कुर्वंति', 'इस इस रीति से दुर्बुद्धि असाधु अनार्य अदूरदर्शी दुष्ट महापापी, घृण्य स्वयं नरक में गिरने वाले और दूसरों को गिरानेवाले, स्त्री और पुरुष करते हैं, भले आदमी को ऐसों से सदा सावधान रहना चाहिये'। बहुभार्यक बहु-(पत्नी)-चारी के वृत्त के सम्बन्ध में भी, वात्स्यायन के सूत्र में कुछ ऐसा दोष है, पर उसकी मात्रा इतनी घोर नहीं कही जा सकती, क्योंकि, उस समय में, ऐसा बहु-विवाह, समाज में सद्-आचार के विरुद्ध, धर्म के विरुद्ध, नहीं समझा जाता था, और परदार-गमन उस युग में भी अति पातक, और वेश्यागमन भी अनुचित, अधर्म, सुरा में तो कहा ही जाता था।

यदि वात्स्यायन और चाणक्य एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं, तो काम सूत्र के उक्त घोर दोष का कारण प्राय यही होगा कि वे, महा साम्राज्य के महाबुद्धिमान् महापण्डित महामन्त्री होते हुए, महाकुटिल भी थे, और उनके भाव और विचार और कृतियों, बहुत अंशों में साम्प्रत-कालिक (माडर्न) पाश्चात्य राष्ट्रनायकों की सी थीं। इस विषय में इतिहास-विशेषज्ञों में मतभेद है, कि अर्थ-शास्त्र नामक अद्भुत ग्रन्थ के रचयिता 'कौटिल्य-चाणक्य' और काम सूत्र के 'वात्स्यायन' एक ही थे या नहीं। श्री श्याम शास्त्री ने, जिन्हों ने इस 'अर्थ शास्त्र' का पहिले पता लगाया मुद्रण कराया, अंग्रेजी में अनुवाद किया, अपने उपोद्घात में, इस विषय को, विस्तृत विचार करके, प्रायः सन्दिग्ध ही छोड़ दिया, किंतु प्रथा यही है कि अर्थशास्त्र-कार, कामसूत्र-कार, एक

पर उनकी कुटिल-नीति के कारण 'कौटल्य' के स्थान पर 'कौटिल्य' को, सहस्र मुख वाली जनता ने सिद्ध कर दिया; पारदारिक, वैशिक, प्रभृति विषयों में जो कुटिल नीति कामसूत्र में मिलती है, वैसी ही राजनीतिक व्यवहारों के लिये अर्थशास्त्र में भी है। पंडित मंडली में ऐसा प्रायोवाद है कि, इस कुटिलता के हेतु से ही 'अर्थशास्त्र' का पठन पाठन और व्यवहरण, (व्यवहार में प्रयोजन, प्रयोग करना, काम में लाना), उच्छिन्न हो गया, उसके पीछे के अन्य ग्रन्थों में कहीं कहीं छोटे मोटे उद्धरणों से उसकी स्मृति बनी रही है। परन्तु यह प्रतीति, दृढ़मूल नहीं जान पड़ती, क्योंकि समाज के जीवन में धार्मिकता बढ़ी नहीं, राजनीतिक व्यवहारों में कुटिलता घटी नहीं, प्रत्युत, पांचवीं छठवीं शती ई० के पश्चात्, दुश्चरित्र, आभिजात्य मद, जाति विद्वेष, धर्माभास, छल, कपट, द्वैधीभाव, विश्वासघात, परस्पर कलह, और युद्ध, भारत में बढ़ते ही गये। अन्य कारण जो कुछ हो, मुख्य कारण, 'अर्थ-शास्त्र' की नीतियों के अनू-अनुष्ठान और ग्रन्थ के उच्छेद का, यह जान पड़ता है कि, जिस प्रकार के साम्राज्य और समाज की व्यवस्था के लिये, और जिसके बीच, वह लिखा गया, वह प्रकार ही, काल के प्रवाह से, अर्थात् कालकृत इति-वृत्तों से, विदेशी आक्रमणों से, स्वदेशी दौःशील्यों से, बदल गया, न वह साम्राज्य रहा, न वह समाज का रूप, व्यास जी ने कृष्ण के मुख से कहा है, "ज्ञानानि अत्यी-भविष्य-

---

बहुत सी सामग्री एकत्र की थी, एतद्विषयक पाश्चात्य साहित्य की भी, और, प्रतिवर्ष के अपने भारत देशाटन में, भारतीय ग्रन्थों की, तथा वर्तमान काल के कामीय व्यवहारों और रीतियों की भी, पर श्वास रोग से बहुत पीड़ित रहने और ८० ८५ की उमर में शरीर छूट जाने से निबन्ध स्वरूप की उनकी इच्छा पूरी न हो सकी। भारत के कितने ही छापाखानों में छपे, विविध शास्त्रों के पुराने ग्रन्थों की भूमिकाओं में, सम्पादकों ने उनसे सहायता पाने के लिये कृतज्ञता प्रकाश किया है।

भारत का शारीरिक ह्रास, वात्स्यायन के समय से थोड़े ही समय बाद शुरू हो गया। बुद्धदेव के समय से स्कन्दगुप्त और शशांकगुप्त के समय तक, हजार बारह सौ वर्ष का युग, भारत वर्ष के उन्नति समृद्धि का था, पर, किन्हीं पहलुओं (पक्षों, अंशों) मे, ह्रास का भी, बुद्ध से दो सौ वर्ष पीछे चन्द्रगुप्त और चाणक्य हुए, स्यात् वैसा साम्राज्य, उस समय, पृथ्वीतल पर अन्य किसी देश मे नहीं था, यद्यपि साम्राज्य ('एम्पायर'), प्रतापी भी, इनके समकालीन, पृथ्वी पर कई थे, चीन मे ईरान मे, ग्रीस मे, और रोम मे। चन्द्रगुप्त के पौत्र अशोक के समय मे साम्राज्य ने और भी विस्तार पाया और उन्नति किया। पाणिनि आदि, विष्णुगुप्त चाणक्य-वात्स्यायन से बहुत पहिले के नहीं होंगे, इनके सम्बन्ध मे रोचक कहानिया (कथानक) "कथा सरित्-सागर' नामक बृहत् काव्य के आरम्भ मे कही है, पंच-तन्त्र मे विष्णुगुप्त ने लिखा है

> सिंहो व्याकरणस्य कर्तुर् अहरत् प्राणान् प्रियान् पाणिने,
> मीमांसाकृत उन्ममाथ सहसा हस्ती मुनिं जैमिनि,
> छन्दोज्ञाननिधिं जघान मकरो वेलातटे पिंगल,
> हिंस्राणा हि तमोविमूढमनसा कोऽर्थं तिरश्चा गुणै।

पाणिनि को सिंह ने, जैमिनि को हाथी ने, पिंगल को मगर ने मार डाला, हिंस्र पशुओं को गुणों से क्या मतलब ? इन से जान पड़ता है कि पंचतन्त्रकार से बहुत पुरानी बात यह सब न होगी। कामसूत्र से ग्रन्थकार की बहुश्रुतता प्रतिपद जान पड़ती है, रेल, तार, छापा आदि न होते हुए भी, भारत के विभिन्न प्रान्तो के विशेष विशेष [illegible] और आचार व्यवहार लिखे हैं, यथा, "प्रहणन' के बुरे प्रकारों से चोल देश के राजा ने चित्रसेना गणिका के प्राण ही ले लिये, कुन्तल (नरेश) सातवाहन सातकर्णि ने महादेवी मलयवती को मार ही डाला, पाण्ड्यराज के सेनापति नरदेव ने एक नटी को काणी कर दिया, गुर्जरात्र (गुजरात)

है, 'शास्त्र, शास्त्र, शास्त्र' की रटन चारो ओर संस्कृतज्ञो मे होती है, नये उपज्ञान की सहायता से शास्त्र-संस्कार, शास्त्र-संशोधन, नूतन-शास्त्र-प्रवर्त्तन का यत्न नही, शक्ति नही, इसी से, उत्कर्ष के स्थान मे अपकर्ष। पाश्चात्य देश से, नवीन बुद्धि, नवीन उत्साह, नवीन तर्कशक्ति, नवीन प्रश्नोत्तर-रुचि, नवीन गवेषणा-सामर्थ्य, का नवीन मत्स्याऽवतार, इस देश मे जगदात्मा ने भेजा है, यदि परस्पर आदर और गुणग्रहण का भाव अधिक बलवान्, और दोषग्रहण और तिरस्कार और द्वेष का भाव कम, हो, तो पूर्व और पश्चिम दोनो देशों मे, पुनरपि 'वेदों' का, ज्ञानो का, शास्त्रों का, शांतिस्थापक, प्रीतिकारक, समृद्धिवर्धक उद्धार और विकास होगा। अस्तु। एवं अस्तु।

काम-सूत्र, विशेषतः उसका गुणवान् अंश, सब गृहस्थों को पढ़ना जानना उचित है, प्रतिपद चेतावनियों के साथ साथ, दोषवान् अंश सहित समग्र ग्रन्थ, प्रौढ़ो के ही पढ़ने योग्य है। सब अंश इसके, सब छोटी बड़ी उमर वालों के पढ़ने के योग्य नहीं है, कोमल चित्त के अल्पवयस्कों को इससे भ्रम और अति क्षोभ हो सकता है।

समाज के सब अंगो के उपकार के लिये आवश्यक है कि, कामशास्त्र पर एक श्रेणी, छोटे बड़े ग्रन्थो की, तयार की जाय, जैसी पश्चिम देश मे, समाजहितैषियो ने, तयार किया है। १८०७ ई० मे, पादरी सिल्वेनस स्टाल ने, एक श्रेणी, 'सेक्स एण्ड सेल्फ सीरीज़' के नाम से छापी, उसमे (१) 'बालक को क्या जानना चाहिये', (२) 'बालिका को क्या', (३) 'युवा को क्या', (४) 'युवती को क्या', (५) 'विवाहित को क्या', (६) 'विवाहिता को क्या', (७) 'वृद्ध को क्या', (८) वृद्धा को क्या जानना चाहिये', ऐसी आठ पुस्तकें हैं, बहुत अच्छे लेख हैं, पादरी 'सद्ब्राह्मण' ने, शुद्ध लोकोपकार के हेतु, उस समय की दृष्टि से बहुत सामाजिक निन्दा की जोखिम उठा कर, यह उत्तम कार्य किया।

भारत समाज के लिये ऐसी ही श्रेणी, स्वदेशी भाषा में, पाश्चात्य नवीनतम ज्ञान से उपोद्‌बलित, बनना चाहिये। पादरी श्री स्टाल के ग्रन्थ, प्रायः (अब, १९४३ ई० से) चालीस पैंतालीस वर्ष पहिले लिखे गये, पर वे आज भी नये हैं, और बहुत उपयोगी हैं। इधर हाल में, आठ दस वर्ष के भीतर, जननेन्द्रियों की बनावट, उनके अवयवों के कर्म, कार्य, निस्यन्द आदि, तथा गर्भाधान-निरोध आदि के प्रकार, के विषय में, नये ज्ञान और उप-ज्ञान, नये आविष्कार, बहुत हुए हैं, और इन विषयों पर बहुत ग्रन्थ लिखे गये हैं। सर्व-साधारण के उपयोग की बातें, डाक्टर मेरी स्टोप्स के ग्रन्थों में अच्छी नीयत से लिखी गई हैं, यद्यपि उनका भाव उतना ऊँचा सात्त्विक नहीं है जैसा पादरी स्टाल का। पृ० २२०-२२६ पर लिख आये हैं कि बच्चे, अक्सर, माता, पिता, अन्य गुरुजनों, वा अधिक उमर वालों से पूछते हैं, नया बच्चा कहाँ से कैसे आया, (जोड़ा लगाते हुए पशुओं पक्षियों को देख कर) यह क्या कर रहे हैं, इत्यादि; वृद्ध लोग प्रायः हँस कर टाल देते हैं, या बहकाने वाले [illegible] प्रायः उत्तर दे देते हैं, या (अति अनुचित) धमका देते हैं और [illegible] पूछने को मना कर देते हैं, अपनी बाल्यावस्था के [illegible] और उचित उत्तर न पाने से जो चित्त में अशान्ति हुई, और [illegible] का अपने अनुभव में जो कष्ट हुआ था, उस सब को, [illegible] भूल गये हैं, फल प्रायः यही हुआ और होता है, कि बच्चे दूसरे [illegible] पूछते हैं, जो उनके हितचिन्तक नहीं, जो निर्दय हैं, [illegible] कामिक दुरवस्थाओं को [illegible] उनको दुष्ट उपदेश देते हैं, [illegible] [illegible]

लिये दूषित और रोगी हो जाते हैं, और सारा जीवन विष से सिक्त हो जाता है। इसका प्रतिपादन 'सैको-ऐनालिसिस' नामक उपशास्त्र के पाश्चात्य ग्रन्थकारो ने बहुत और अच्छा किया है।

चेतावनी

ऊपर सूचना की गई कि, वात्स्यायन ने प्रलोभन और अधःपातन की सामग्री बहुत, और उससे आवर्जन अवधीरण के शब्दो की बहुत अल्प-मात्रा, पाठक के सामने रक्खी हैं, मानो एक पसेरी के सामने एक रत्ती, जो चेतावनी उन्हों ने ग्रन्थ के अंत मे रक्खी है, वह आदि मे रखना उचित था। धर्म-अर्थ-काम को वात्स्यायन ने प्रथम सूत्र मे नमस्कार कर के, आगे धर्म और अर्थ का लक्षण कह दिया, काम को तो सारे ग्रन्थ ही मे अधिकार है, पर मोक्ष का, दूसरे अध्याय के चौथे सूत्र मे नाम मात्र लिख के, और यह कह के, कि उसकी चिंता वृद्धाऽवस्था मे करनी चाहिये, उपेक्षा ही की है, यह भी ठीक नही किया चारो पुरुषार्थो का, साक्षात् वा परम्परया सम्बन्ध है ही, इसको ध्यान मे रख कर, मोक्षशास्त्राऽन्तर्गत अध्यात्म-शास्त्र का प्रकाश प्रतिपद कामशास्त्र पर डालते रहना उचित है इसी का यत्न यहां 'कामाऽध्यात्म' मे किया गया है। जो थोड़ी सी चेतावनी वात्स्यायन ने की है, उसका संग्रह यहा कर देता हूं।

औपरिष्टक आदि के सम्बन्ध मे कहा है कि सज्जन, विशेष कर के राजा, मंत्री, या अन्य विद्वान्, जिस के ऊपर जनता विश्वास किया करती है वह ऐसे निकृष्ट काम न करै करावे,

> न शास्त्रं अस्ति इति एतावत् प्रयोगे कारणं भवेत्,
> शास्त्रार्थान् व्यापिनो विद्यात् प्रयोगान् तु एकदेशिकान्
> रसवीर्यविपाकादि, श्वमांसस्य अपि वैद्यके
> कीर्तितं इति तत् किं भक्षणीयं विचक्षणैः ?
> सन्ति एव पुरुषाः केचित् सन्ति देशाः तथाविधाः,
> सन्ति कालाश्च, येषु एते योगा न स्युः निरर्थकाः।

महाजनेन हि चरित एषा दृश्यते, अनुविधीयते च ।
न तु एव पर-भवन ईश्वर प्रविशेत् ।
न तु एव एतान् प्रयुञ्जीत राजा, लोकहिते रत ,
निगृहीतारिषड्वर्ग तथा विजयते महीं ।

पारदरिक व्यभिचारियों के छलों को जान कर, उन से सज्जन अपनी पत्नी की रक्षा करै , व्यभिचार के महा दोषो को पहिचान कर, और उस के अपायों, अनर्थ परम्पराओं को देख कर, धर्म और अर्थ दोनो का उन से नाश जान कर, स्वय सज्जन ऐसे दुष्कर्म से अपने को और दूसरों को बचाता ही रहे , काम सूत्र मे, पारदारिक मनुष्यों के (तथा वेश्याओं के) कपटों, ठगने के प्रकारों, और अति नीच, अति कमीने, आचरणों का वर्णन किया है, वह इसी लिये किया है कि, भले आदमी, इन को जान कर, सावधान रहैं, अपनी और पत्नी तथा पुत्र, पुत्री, अन्य कुटुम्बी जन और बन्धु बान्धव की रक्षा कर सकें,[1] इस लिये यह सब

---

१ परदाराओं के पीछे पड कर, या वेश्याओं के फदों मे फस कर, मनुष्य जो मुसीबतें भुगतते है, वह तो, चारो ओर थोडा भी आँख घुमाने मे, थोडा भी विचार करने वाले को, तत्काल मालुम हो जाती हैं, पर, मनुष्यो मे, विचार-शीलता की अभी बहुत ही कमी है, इस लिये, पुन पुन याद दिलाना पडता है । अवध के एक ताल्लुकादार राजा, इस समय, (१९४६ ई० मे) चौदह वर्ष की कैद की सजा भुगत रहे है, उनकी राजमाता, विधवा, भी यही कारावास दण्ड भोग रही है । क्यों ? , तो, दोनो ने मिल कर, राजा ने अपनी रानी, राजमाता ने अपनी पतोहू, की हत्या का यत्न किया, उस पर पिस्तौल से गोली चलवाई, उसके एक ओर मे गोली लगी, जान बच गई । क्यो यह हत्या का यत्न किया ? तो, राजा एक अन्य स्त्री पर आसक्त थे, वह, विवाह मे उनको बद्ध किये बिना, उनके साथ नही रहना चाहती थी, न सपत्नी को ही बरदाश्त कर सकती थी, इस लिये, राजा ने, पहिली पत्नी को मार कर, उससे विवाह करना चाहा था , और माता

तद् एतद् ब्रह्मचर्येण, परेण च समाधिना,
विहित लोकयात्रार्थं, न रागाऽर्थोऽस्य सविधि ।

रक्षन् धर्मार्थकामाना स्थितिं स्वा, लोकवर्त्तिनी,
अस्य शास्त्रस्य तत्त्वज्ञो भवति एव जितेन्द्रिय ,

तद एतत् कुशलो विद्वान्, धर्मार्थी अवलोकयन्,
नाऽति रागाऽन्मक कामी प्रयुञ्जान प्रसिद्ध्यति ।

बाभ्रवीय शास्त्र को पढ़ कर, और उसका अच्छी तरह विमर्श विचार कर के, तथा पूर्व मे लिखे अन्य शास्त्र-ग्रन्थों को देख कर, और लोक मे प्रवर्त्तमान प्रयोगो आचरणो का भी पता लगा कर, उनका अनु-सरण अनु-रूपण कर के, वात्स्यायन ने बहुत संक्षेप से यह कामसूत्र कहा। इसके तत्त्व को जो समझ लेता है, वह धर्म अर्थ काम को, लोक मे प्रत्यय (प्रतीति, विश्वास्यता) पाने के मर्म को, तथा लोक के आचरण को, तत्त्वत जान जाता है, और फिर कभी अति राग से अन्ध नहीं होता। अधिकार-प्राप्त, प्रसंग-प्राप्त, होने से, जिन राग बढ़ाने वाले योगो प्रकारो का यहां वर्णन किया, उनका विनिवर्त्तन, आवर्जन, अवधारण, भी, अनन्तर ही कर दिया। यह सब ग्रन्थ, ब्रह्मचर्य का पालन कर के, समाधिपूर्वक, एकाग्र चित्त हो कर, वात्स्यायन ने इस उद्देश्य से लिखा, कि जनता की लोक-यात्रा, अधिक सुख और कम दुःख के साथ, सरलता से निबहै, ऐसे ही ब्रह्मचर्य और समाधि से इस ग्रन्थ का अध्ययन करना चाहिये, तभी अध्ययन सुफल होगा। राग बढ़ाने के लिये यहां विधान नहीं किया है। धर्म और अर्थ (और मोक्ष) को जो सदा ध्यान मे रखता है काम से अन्ध नहीं हो जाता उचित मात्रा मे जितेन्द्रिय हो कर, शास्त्र के तत्त्व को समझ कर, धर्मानुकूल प्रकारो से ही सात्त्विक काम का सेवन करता है, वह धर्म-अर्थ-काम तीनो की सिद्धि प्राप्त करता है। इति।

केचित् कर्म वदति एन, स्वभाव अपरे जना ,
एके काल, परे दैव, पुस काम उत अपरे,
एष भूतानि भूतात्मा, भूतेशो, भूतभावन ,
स्वशक्त्या मायया युक्त सृजति, अत्ति च, पाति च,
(भाग०, स्क ४, अ० ११)।

कामाय मायाबीजाय, सर्वम्सारकारिणे,
परमात्मस्वरूपाय, दैवीप्रकृतये नम ।
ज्ञानिना अपि चेतासि, देवी भगवती हि सा,
बलाद् आकृष्य मोहाय, महामाया प्रयच्छति ।
दैवी हि एषा गुणमयी याऽत्ममाया दुरत्यया,
प्रपद्यते ये आत्मान एव, ते सतरन्ति ता ।
सर्व तरतु दुर्गाणि, सर्वो भद्राणि पश्यतु,
सर्व सद्बुद्धि आप्नोतु, सर्व सर्वत्र नन्दतु ।
ॐ

पानी, बादल, बिजली, पहाड़, समुद्र, नदी, जंगल, सहस्रों प्रकार के पेड़, पौधे, लता, लाखों प्रकार के जीव जन्तु, पशु, पक्षी, कछुए, मछली,

---

व्यतीत किया, राज्य, छोटे भाई विक्रम को सौंप दिया, विक्रम ने, चरणाद्रि (चरनार, चुनार) का प्रसिद्ध दुर्ग (किला) बनवाया, भर्तृहरि ने, संन्यासाऽवस्था में, 'शतक-त्रय' (नीति-शृङ्गार-वैराग्य) लिखा, जो आज तक परम प्रसिद्ध है, कहा जाता है कि उन्हीं ने, व्याकरण का एक बड़ा भारी, सवा लाख श्लोक का, ग्रन्थ, 'हरिकारिका', भी लिखा, जिसका कुछ बहुत थोड़ा अंश, 'वाक्य-पदीय' ही, अब मिलता है। ऐसी ही कथा, ३५० वर्ष पहले के महात्मा तुलसीदास जी की प्रसिद्ध है कि वर्षा की अँधेरी रात में, पैर कर गंगा को पार कर के, श्वशुरालय में अपनी पत्नी से मिलने को पहुँचे, सती, स्नेहवती, पर शर्माई, पत्नी ने उनकी लानत मलामत की, हृदय को ऐसा धक्का लगा, मन ऐसा पलटा, कि समस्त संसार से बिल्कुल हटा, और राम और सीता के अनुपम रूप में जा सटा जिसका बहुत मीठा फल यह हुआ, कि 'रामायण', तथा अन्य भक्तिमय काव्य, लिखे गये कहीं कहीं अति-भक्ति-मय। भर्तृहरि का वैराग्य, ज्ञानप्रधान था, तुलसीदास का, भक्तिप्रधान, कारणों में भेद होने से, भर्तृहरि को, दुश्चरित्रा पत्नी से और समस्त संसार से तीव्र वैराग्य हो गया था, तुलसीदास को, सती पत्नी से वैराग्य नहीं हुआ, न संसार से ही, अपितु अपनी ही निर्लज्जता और सामाजिक मर्यादा के उल्लंघन पर ग्लानि हुई, स्त्री-पुरुष के शुद्ध स्नेह का स्वाद, सीता-राम के रूप में लेते रहे।

बाल-भूषण [illegible] के विषय में, बहुत [illegible] हुए [illegible] छूने, 'पिशाच' [illegible] ऊँचे दर्जे के [illegible] के, [illegible] के साथ [illegible] करते हुए, पुरानी [illegible] हुए, [illegible] करने [illegible] 'मास्टर' को, [illegible] [illegible]

अपने भीतर हल्की अच्छी रौशनी, प्रकाश, सा, जान पडेगा, और 'मै हूँ" ऐसा भाव, ऐसी चेतना, ऐसा होश भी जान पडेगा, वह, परमात्मा का ही आभास है।

पौ० अच्छा, तो परमात्मा ने जीव जन्तुओ, पेड पौधो, के लिये क्या नियम बनाये हैं ?

दा० इनके लिये, परमात्मा की ऐसी आज्ञा है कि, ये पैदा होते हैं, कुछ काल जीते है, अपने समान नये बच्चे पैदा करते है, फिर मर जाते है। यों ही, पीढी पर पीढी, प्रत्येक जाति के पेड पौधों, जीव जन्तुओं, की जाति बनी रहती है। नई पीढी पैदा करने के लिये, परमेश्वर ने कई प्रकार के नियम बना दिये है। कुछ पौधे तो ऐसे है कि, उनकी एक टहनी काट कर पृथ्वी मे गाड दी जाय, तो वह जड पकड लेती है, और उससे नया पौधा तयार हो जाता है। बहुतेरे पेड पौधो मे फूल लगते है, फूल के बीच मे दो चाल के छोटे छोटे सूत होते है, एक के माथे पर धूल ऐसा 'पराग' होता है, दूसरो के माथो पर बारीक छेद, पराग, झर कर, छिद्रों मे जाता है, और सूत्र की नली मे से नीचे उतर कर, एक बारीक थैली मे ठहर जाता है, उस थैली मे एक विशेष प्रकार का मीठा मधुर मधु (शहद) होता है, उससे मिल कर, धीरे धीरे, रूप बदलता हुआ, बीज बन जाता है, जब फूल सूखता है, तब बीज, धरती, (धरित्री, सर्व-धारिणी) पृथ्वी पर, गिरकर धॅस जाता है, और वर्षा ऋतु मे जड निकाल कर, क्रमशः, अपने मा-बाप पेड-पौधे के रूप का बन जाता है। यह दो प्रकार, टहनी से, और पराग-मधु से, नयी 'पुश्त' का पैदा होना, अ-चर, अर्थात स्थावर, चेतनो का है। अ-चर, स्थावर, वे जीव है, जो चलते फिरते नही, एक ही जगह स्थित रहते है, यद्यपि 'जीव', अर्थात् व्यापक परमात्मा की चेतना का सूक्ष्म अश, उनमे भी है ही।

पौ० क्या चलते फिरते जीवो की नई पुश्त के पैदा होने का प्रकार दूसरा है।

पौ० गौरा के अंड-कोष तो देख नहीं पड़ते हैं ?

दा० नहीं, बच्चा सभी चिड़ियों के, तथा कछुआ, छिपकिली, मगर, घड़ियाल साँप आदि के नरों के, अंडकोष, पेट के भीतर ही रहते हैं, जोड़ा लगने के समय, केवल दृटिका, रुधिर से भर जाने के कारण बाहर निकल आती है, और उससे, उन उन जातियों की स्त्री जन्तुओं के मूत्रेन्द्रिय के भीतर, वीर्य का निषेचन हो जाता है।

पौ० तो मैं भी ऐसे ही पैदा हुआ ?

दा० निश्चय ही। तुम्हारे शरीर का आधा भाग, अति सूक्ष्म 'वीर्य' रूप मे, तुम्हारे पिता के शरीर के भीतर बना, और आधा, अति सूक्ष्म 'रजस्' के रूप मे, माता के भीतर, फिर पिता का भाग, माता के उदर मे गया, नौ महीने तक तुम्हारी माता ने तरह तरह के क्लेश सह कर, तुमको अपने पेट के भीतर पाला पोसा बढ़ाया, फिर, बड़ा भारी कष्ट सह कर, छोटे मूत्रद्वार को फैला कर, तुमको बाहर लाई, और उसके बाद भी, अपने रुधिर को, स्तनों मे, दूध बना कर, तुम को एक बरस, या दो तीन बरस तक भी, पिलाया और बलवान् किया।

पौ० दादा जी, माता के पेट मे से मेरे बाहर आने के समय, माता को कष्ट क्यों हुआ ?

दा० बच्चा, नौ महीने पहिले, जब तुम ने माता के उदर मे प्रवेश किया, तब तुम इतने छोटे, सूई की नोक से भी छोटे, थे, कि आँख से देख नहीं पड़ते थे, नौ महीने मे इतने बड़ गये, कि कई सेर के हो गये, इस से, माता के शरीर को, ज्यों ज्यों महीने बीतते थे, त्यों त्यों क्लेश अधिक होता रहा, और तुम्हारे बाहर आने के समय तो बहुत ही हुआ। तुम्हारे बाहर आने के बाद नित्य नित्य बड़े प्यार, बड़े स्नेह, से, और विशेष कर तुम्हारी बीमारियों मे और दांत निकलने के समय मे माता ने, और पिता ने भी, रात रात भर जाग कर, अपने खाने पीने सोने की फ़िक्र छोड़ कर, दौड़ धूप कर, वैद्य डा[illegible] डाक्टरों से दवा ले ले कर, तन के

अच्छा किया, खिलाया पिलाया, कपड़ा पहिनाया, जाड़ा गर्मी पशु पक्षी कीड़े मकोड़ों से तुम्हारी रक्षा किया। जिस दया से और असीम अपार शक्ति से परमात्मा सब प्राणियों का भला करता है, उस दया और शक्ति का एक अणु प्रतिबिम्ब, उसने सब माता-पिताओं के हृदय में, उनके बच्चों के लिये, रख दिया है, जिसी के बल से वे उनका पालन पोषण करते हैं, न केवल मनुष्य माता-पिता के हृदयों में, बल्कि पशु पक्षियों के भी, यहाँ तक कि जो हिंस्र पशु दूसरे अहिंस्र पशुओं को मार कर खा जाते हैं, जैसे सिंह, व्याघ्र, तेंदुआ, हुँडार, साँप, मगर, आदि, वे भी अपने अपने बच्चों का वैसा ही प्यार, वैसी ही रक्षा, करते हैं, जैसे तुम्हारे माता पिता तुम्हारी। इस लिये तुम, सब से पहिले, उस सर्वशक्तिमान परमात्मा परमेश्वर भगवान की पूजा और प्रार्थना अपने हृदय के भीतर करो, हृदय के भीतर, क्योंकि बाहर की आँखों से वह देखा नहीं जाता; और उसकी प्रार्थना कर लेने के बाद, अपने माता पिता का, [illegible] प्रतिनिधि माता का, आदर, नमस्कार, और सेवा करो, सबेरे उठ कर प्रतिदिन उन की वन्दना करो। जो लड़की लड़के अपनी माता, अपने पिता, की इतनी भक्ति मन में रखते हैं, वे सैकड़ों आपत्तियों से, दुर्गुणों से, दुष्ट आदतों, बुरी संगतों, बहकावों, कुकर्मों से बचते हैं, [illegible] [illegible] बल्कि इनसे डरते हैं, सच्ची माता पिता भक्ति [illegible] [illegible] प्रसन्न, [illegible], है।

[illegible] [illegible], क्या सब जीव जन्तु अपनी माता के [illegible] [illegible] ?

सकोगे, जिनमे ऐसी बातो का विस्तार से वर्णन किया है। मछलिय के प्रकार दूसरे हैं, फतिगों के दूसरे, रेंगने वाले जंतुओ के दूसरे, पेड पोधो के दूसरे।

पो० दादा जी, बहिन और भाई का व्याह एक दूसरे मे अपने घर के भीतर ही क्यो नही होता ?

दा० परमात्मा ने मनुष्यो के हृदय के भीतर ऐसी आज्ञा दे रक्खी है कि ऐसा व्याह नही होना चाहिये। पहिले तो, भाई बहिन को एक दूसरे से व्याह करने की इच्छा ही नही होती, दूसरे, यदि ऐसा व्याह किया जाय, तो सन्तान या तो नहीं होती, या कुरूप, दुर्बल, रोगी होती है, पशुओं मे भी देखा गया है कि यदि एक ही मा-बाप की सन्तान मे 'व्याह' हुआ, तो उनकी सन्तान कम अच्छी होती है। सब मनुष्यो मे, सारी पृथ्वी पर, भाई-बहिन, तथा अन्य बहुत पास के बान्धवो का (एक 'गोत्र' वालों का) विवाह बड़ा पाप समझा जाता है, और मना किया जाता है।

पौ० व्याह ऐसे गाजे-बाजे धूम-धाम से क्यो होता है ?

दा० जिसमे सब लोग जान जाये कि इस युवा और इस युवती का परस्पर विवाह हो गया है, दूसरा कोई इनसे विवाह करने की इच्छा न करे, यह दोनो एक साथ एक घर मे परमात्मा के बनाये नियम के अनुसार धर्म से रहेंगे, गृहस्थी के कामो मे एक दूसरे की सहायता करेंगे, प्रेम प्रीति से सतान उत्पन्न करेंगे, और वही सतान इनके धन को पावेगी, यह पुरुष दूसरी स्त्री का स्पर्श नही करेगा, और यह स्त्री दूसरे पुरुष का स्पर्श नहीं करेगी। तुम्हारे माता पिता का ऐसे ही विवाह हुआ, और उन्हों ने तुमको प्रेम-प्रीति से उत्पन्न किया और गर्भ के भीतर और बाहर पाला पोसा।

पौ० दादा जी, बिना व्याह किये, स्त्री पुरुष एक साथ रहें तो क्या दोष ?

अन्य सब देशों के अखबारों में उसका हाल छपा, और, एक एक दो दो महीने पर, पाँचों की तस्वीर, एक साथ, एक या दो बरस तक छपती रही, यह दिखाने को कि सब जीवित और पुष्ट हैं, क्यों कि जोड़ुआँ (युग्म) बच्चे भी दुर्बल होते हैं, और बहुधा मर जाते हैं, फिर पाँच का जीते रहना और पुष्ट होना तो उनके एक साथ पैदा होने से भी बहुत अधिक आश्चर्य की, अजीब, बात है, उनकी माता को, वहाँ की सर्कार की ओर से, विशेष पारितोषिक, इनाम, भी दिया गया। यदि मनुष्य माता को, कुत्ती, बिल्ली, सूअरी के इतने, बहुत बहुत बच्चे एक साथ हर दफा, होने लगें, तो बीस बीस बरस तक सब कैसे पाले जा सकें ? कुत्ता, बिल्ली आदि के बच्चे बहुतेरे मर ही जाते हैं, सूअरी के बच्चों को तो जैसे भेड़, बकरी के बच्चों को, कुछ मनुष्य ही खा जाते हैं। और भी देखो, भगवान् ने मनुष्य को बुद्धि दी है, जैसी पशु को नहीं दी। मनुष्य तरह तरह के कपड़े बनाते और पहिनते हैं, बड़े बड़े भवन, नगर, सड़क, गाड़ी, विविध प्रकार की कलों के कारखाने, बनाते और काम में लाते हैं, पशु तो नहीं। परमात्मा ने मनुष्यों के उत्तम जीवन के लिये अलग नियम बना कर उनके हृदय में बैठा दिये हैं, पशुओं के जीवन के नियम अलग हैं। परमेश्वर के बनाये नियमों का जो स्त्री पुरुष उल्लंघन करते हैं, उनको इस लोक में, और मरने के बाद परलोक में, घोर कष्ट भोगना पड़ता है।

पौ० दादा जी, कुछ लड़के लड़की अपनी मल-मूत्र की इन्द्रियों के साथ खेलते हैं, यह ठीक है या नहीं ?

दा० यह ठीक नहीं है, बहुत बुरा है। हाँ, नहाने धोने के समय, सावधानी से, जैसे और अंगों की वैसे इनकी, स्वच्छता सफाई कर लेनी चाहिये, कि वहाँ भी मैल ज़रा भी न रह जाय। पर इनके साथ खेलना इनको गुदगुदाना, बहुत बुरा है, इससे रोग हो जाते हैं, शरीर और बुद्धि दोनों दुर्बल और क्षीण हो जाते हैं, तेज घट जाता है। उचित समय से

होगा। सर्वोपरि, यह सदा याद रक्खो, कि यदि माता पिता से, वा अन्य किसी मनुष्य से, अपना कोई काम छिपा भी लोगे, तो सर्वव्यापी भगवान्, परमेश्वर, परमात्मा से तो कभी भी छिपा नहीं ही सकोगे, वह तो सब के भीतर सदा बैठा है, तुम्हारे हृदय के भीतर भी, और सब कुछ सर्वदा देखता जानता रहता है, और कभी न कभी, देर मे या जल्दी ही, अच्छे कार्यों के लिए इनाम, और खराब के लिये दण्ड, देता है।

पौ० यदि और कोई बात पूछने को जी चाहेगा, तो आप से पूछने आऊंगा, न ?

दा० जरूर, बच्चा, तुम तो जानते ही हो, कि मै तुमको बहुत प्यार करता हूँ, जो जो पूछोगे, वह तुम को बताने का जतन करूँगा, यदि मुझे मालूम हो, और तुम्हारे समझने लायक़ हो। जब विद्यार्थी अवस्था समाप्त करके, गृहस्थी मे पैर रखने के लिए विवाह करोगे, तब तुम्हारी अवस्था दूसरी होगी, और उसके लिये अधिक ज्ञान और विशेष नियमो की आवश्यकता होगी, उनको तुम अभी समझ न सकोगे, उचित समय पर वे सब तुम को विदित हो जायेंगे, बड़ो के बतलाने से, और इस विषय पर अच्छी अच्छी पुस्तकें, अच्छे ज्ञानी आदमियो की लिखी, जो अब मिलने लगी है, उनको पढ़ने से। अभी से उनको जानने की इच्छा मत करो, जैसा पहिले कहा, छोटा बच्चा दूध ही पचा सकता है, भारी अन्न नही।

प्यारे बच्चो !, इन बातो को ध्यान मे रक्खो। इस प्रकार से तुम अपना, अपने घरवालो का, पड़ोसियो का, और जिनसे जिनसे तुम्हारा संग साथ, संसार के काम काज मे, हो, उनका कल्याण करोगे।

परमात्मा तुम को और मनुष्य मात्र को सद्बुद्धि दे, और सब कल्याण करे यही दादा [illegible] न्द की सतत यही प्रार्थना रहती है

उसकी आवश्यकताओं और उचित इच्छाओं का सदा ध्यान रक्खो, अपनी ही का नहीं। सह-धर्म-चारिता शब्द का अर्थ मनमें अच्छी तरह बैठा लो। अब, जब विवाह हो गया है, एक दूसरे की कमियों, न्यूनताओं, त्रुटियों, को मत देखो, खूबियों को, गुणों को, ही अधिक देखो, और समय समय पर उनकी सराहना करो, इससे गुण बढ़ेंगे, और न्यूनताएँ दूर हो जायेंगी। गार्हस्थ्य से कुछ स्वार्थ सुख तो मिलना ही चाहिये, पर कर्त्तव्य-पालन और परार्थ सुख और अधिक होना चाहिये। परस्पर मीठे शब्दों का मीठे स्वर से प्रयोग करो, कटु शब्द और रूखे स्वर का नहीं। घर के आय-व्यय पर, प्रत्येक वर्ष के 'बजेट' (अनुष्ठान-पत्र, अनुमान-पत्र) पर, दोनों मिल कर, विचार और निर्णय करो। समान-शील-व्यसन के, और तज्जन्य-सुख के वर्धन के लिये, कोई अच्छी 'कला' का, जिस में दोनों का मन लगता हो, बहलता हो, एक साथ परिशीलन करो, यथा-सम्भव प्रतिदिन, इस कार्य के लिये, कुछ थोड़ा समय नियत कर लो, अच्छे भजनों या गीतों का गाना, घरेलू उपकरणों को ही सज कर रखना, अच्छी पुस्तक उच्च स्वर से पढ़ना, जिसे पति वा पत्नी, तथा सन्तति और अन्य बन्धु बान्धव मित्र भी जो उपस्थित हों, सुनें—यह प्राय अल्पवित्त गृहस्थों को भी साध्य है। अपनी अपनी 'कर्त्तव्य' सम्बन्धी (जीविका-कर्म और गृह-कर्म की) 'चिन्ताओं', तकलीफों, झंझटों, की बातों को प्राय अपने ही तक रक्खो, स्वय ही सम्हालो झेलो, दूसरे को (पति पत्नी को, और पत्नी पति को, सुना कर, उसके चित्त का बोझ और भारी मत करो, हाँ, जब विशेष परामर्श या सहायता की आवश्यकता हो तब तो कहना ही चाहिये। कर्जा कभी मत काढ़ना, कम खाना, कम पहिनना, पर ऋण नहीं लेना, यदि सम्भव हो तो आमदनी में से कुछ, जितना भी छोटा, अंश, गाढ़े समय के लिये बचा रखना। जैसा जीविका-कर्म, जैसी गृहस्थी तुम्हारे भाग्य ने दिया है, उसी से सन्तोष करना चाहिए [illegible] उसकी बुराई मत करते रहना, नहीं तो जिन्दगी और भी कड़ुई हो जायगी,

है, और उसी में सूक्ष्म कीड़ियाँ पैदा कर देते हैं, जिन से दाँतों सफाई की जगह और भी सड़ायँध उत्पन्न होती हैं, अब, 'सिंथेटिक' (synthetic) सूत्रों (कड़े बालों के ऐसे) के ब्रश बनने लगे हैं, जैसे 'नाइलोन' (nylon), जो दृढ भी है और 'पवित्र' भी, और बहुत दिनों तक काम देते हैं। स्त्रियों को अपना शरीर भी और हृदय भी दृढ बनाना चाहिये, जैसा समय आया है, इसमें, स्त्री का नाम 'अबला' न रह जाना चाहिये, 'सबला' होना चाहिये, दुष्ट मनुष्यों से आत्मरक्षा की शक्ति उनमें होनी चाहिये, समाचार पत्रों में कभी कभी पढ़ने में अब आने लगा है कि इस इस स्थान पर, कुमारी ने या विवाहिता ने, छेड़ने या आक्रमण करने वाले मनुष्य को इस इस प्रकार से खूब पीटा, बिना इसके इस समय में गति नहीं। युक्तप्रान्त के एक उत्तरी जिले के अच्छे कुटुम्ब की एक बेटी ने मुझ से कहा कि एक दिन, अपने घर के लोगों के साथ, नहर के किनारे टहल रही थी, कुछ दूर पर, उसी सड़क पर, एक लम्बी जाट स्त्री, सिर पर घास का भारी बोझा रक्खे, जा रही थी, सामने से तीन गोरे फौजी आये, एक ने उस स्त्री से छेड़-छाड़ की, स्त्री ने सिर का बोझ नीचे गिरा दिया, बायें हाथ से उस गोरे फौजी का हाथ पकड़ लिया, दाहिने से उसके मुँह पर ज़ोर का थप्पड़ लगाया, 'फिर ऐसा करेगा?' यह कह कर उसका हाथ छोड़ दिया, गोरा फौजी अपने हाथ से अपना गाल मलता हुआ, 'वेरी स्ट्रांग लेडी, वेरी स्ट्रांग लेडी' ('very strong lady', 'बड़ी ज़बरदस्त औरत') कहता हुआ भागा। अब तो भारतवर्ष को ऐसी स्त्रियों की अधिकाधिक संख्या में आवश्यकता है। किन्तु इससे यह अर्थ नहीं निकलता, कि भारत की स्त्रियाँ सदा सर्वदा अरक्षिता रहीं; आदर्श रहीं आत्मरक्षा और अपररक्षा के लिये तो सिंह-वाहना दुर्गा-देवी, और अपने कुटुम्ब के लिये गौरी-अन्नपूर्णा-गृहलक्ष्मी और बच्चों के लिये तो दूध पिलाती गौ-माता ही रही हैं।

नमस्ते तु [illegible] माता भारतदेवि [illegible]

५—विवाह और वर्ण ।

चतुःपुरुषार्थसाधक वर्णाश्रमधर्म मे अंतर्वर्ण-('अ-स-वर्ण')-विवाह का स्थान ।

बिगड़ी प्रथा के शोधन के लिये नये विधान की आवश्यकता ।

(पृ० २४१ २४२ पर, भारत की केन्द्रीय व्यवस्थापक सभा मे, 'अन्तर्वर्ण' वा 'अ-स-वर्ण' विवाह सम्बन्धी विधान के उपन्यास की चर्चा की गई है । उसकी ओर भारत जनता का, समग्र देश मे, ध्यान आकर्षित करने के लिये, सात अंग्रेज़ी लेखो की एक लेखमाला, सब प्रान्तो के मुख्य मुख्य दैनिक पत्रों मे प्रकाश कराई गई, और उसका हिन्दी मे आशयाऽनुवाद, काशी के 'आज' पत्र मे, १९२६ ई० मे, छपा । उसी का, पुनर्दृष्ट, शोधित, कहीं संक्षिप्त कहीं उपबृंहित, रूप, यह अध्याय है । इसी आशय का व्याख्यान, मै ने, दो दिन, ता० २८ जनवरी, १९२७, और ४ फरवरी, १९२७ को, केन्द्रीय व्यवस्थापक सभा मे किया, परन्तु कार्यसिद्धि वहां नहीं हुई, जैसा पृ० २४१-२ पर लिख चुका हूं ।)

उपन्यस्त विधान

२६ सितम्बर १९२५ को, भारत की केन्द्रीय व्यवस्थापक सभा (लेजिस्लेटिव असेम्बली) मे, हिन्दू-अन्तर्वर्ण-विवाह-सम्बन्धी एक विधान का प्रस्ताव मै ने किया । १७ अप्रैल सन् १९२६ को सभा मे निश्चय किया गया कि, १५ जुलाई तक उस पर लोकमत संग्रह करने के लिये वह प्रकाशित किया जाय । प्रस्तावित विधान के शब्द ये हैं—

"यह आवश्यक है कि उन उद्देश्यों की सिद्धि के लिये जिनका आगे चर्चा की जायगी, हिन्दुओं के भिन्न भिन्न संकेतित वर्णों के परस्पर विवाह, कानूनी (धर्मसंगत, स-मर्याद, शास्त्रीय, वैध, उचित प्रामाणिक 'सत्-कुल', 'धर्मिष्ठ', सत्) समझा जाय इस लिये निम्नलिखित विधान बनाया जाता है ।

आरम्भ मे ही, ऐसे सब लोगो को, जो इस विधान के विरुद्ध है, साऽनुनय विश्वास दिलाना चाहता हूं, कि किसी की हानि नही चाहता, प्रत्युत सब की सेवा करना चाहता हूं, प्राय ४० वर्षो से, परमात्मा की दी हुई अल्प बुद्धि के अनुसार, हिन्दू समाज और हिन्दू धर्म की सेवा करने का यत्न किया है, और साथ ही इस बात का भी यत्न करता रहा हूं, कि इस देश मे बसने वाले अन्य धर्म वालो के साथ हिन्दुओं का सौमनस्य बढ़े। यदि मै ने भूल की हो, या फिर करूँ, सेवा के बदले अपकार किया हो, या फिर करूँ, तो यह मेरी इच्छा या नीयत के दोष से नही हुआ है और न होगा, बल्कि समझ और विचार के दोष से हुआ है और आगे हो सकता है।

'बिल' (प्रस्तावित कानून) के विरोधी सज्जन यदि केवल इतना भी मान लेते, कि श्री विट्ठलभाई पटेल नेकनीयती से हिन्दू समाज की सेवा करने की सच्ची अभिलाषा से प्रेरित थे, तथा मेरा भी भाव ऐसा ही है, तो इस विधान पर सार्वजनिक चर्चा और बहस, कटुता से रहित होगी, और सत् परामर्श तथा गुणदोषसमीक्षा के सच्चे भाव से प्रेरित होगी, जो ही सच्चे लोकोपकारी कार्यों के साधन का एकमात्र उपाय है।

जैसा गीता मे कहा है,

> प्रसन्नचेतसो हि आशु बुद्धि पर्यवतिष्ठते,
> प्रसादे सर्वदुःखानां हानिर् अस्य उपजायते।

जब चित्त प्रसादयुक्त, प्रसन्न, शान्त, होता है, तब बुद्धि सुस्थिर हो जाती है, उसमे से चपलता हट जाती है, और तभी वह उन सत्यों, तथ्यों, उपायों को निश्चित रूप से देखती है, जिनके द्वारा मनुष्य के सब दुःख दूर होते है।

इस भूमिका के बाद, जिसका यह उद्देश्य है कि शान्ति का वातावरण बँध जाय, अपनी दलीलों को पेश करता हूँ।

तस्माद अन्य प्रभवति, सोऽपरम् बाधते पुन ,
आचाराणा अनैकाग्रयम्. तस्मात् सर्वत्र लक्षये ।
(महाभारत, शान्तिपर्व अध्याय २६६, २१४)

इस प्रकार से हिन्दू धर्मशास्त्रों मे धर्मव्यवस्थापन के सिद्धान्त को स्पष्ट कर दिया है और उस मे देश-कालाऽनुसार परिवर्तन, विरोधी भावो के समन्वय समझौते, आदि की पूरी गुजाइश रखी है। मानव ससार की सब से पुरानी क़ानून की पुस्तक मनुस्मृति है, उस मे स्पष्ट रूप से कहा है कि धर्म, कानून, अर्थात् अधिकार और कर्तव्य को परस्पर बांधने वाले नियम मनुष्य जाति की अवस्था के अनुसार बदलते रहते है, सत्ययुग त्रेतायुग, द्वापरयुग, और कलियुग मे मनुष्यो के धर्म दूसरे दूसरे होते है,

अन्ये कृतयुगे धर्मा त्रेतायाम्, द्वापरेऽपरे ,
अन्ये कलियुगे, नृणाम्, युग-ह्रासाऽनुरूपत ।
(मनु, १,८५)

'नाम्रा सवर्ण-विवाह' के नियम को कड़ाई से पालन करने का, दूसरी स्थिति मे चाहे कुछ ही फ़ायदा हुआ हो, अब तो, हिन्दू समाज मे इस की 'अति' हो गयी है, और इस से अब बहुत हानि हो रही है। बहुत से लोगो का यह निश्चित मत हो रहा है, और ये लोग ऐसे है जो किसी प्रकार से अविवेकी, जल्दबाज़, अथवा अपरिपक्व-बुद्धि के नहीं कहे जा सकते।

स्वर्गत पण्डित मोतीलाल नेहरू, देशबन्धु चित्तरंजन दास और जीवित महात्मा गांधी, श्री राजगोपालाचारी आदि जैसे बड़े बड़े देशभक्त और नेता—जिनकी उदार बुद्धि, और आत्मत्याग मे किसी को सन्देह नहीं हो सकता, और जिन्हों ने भारतीयों के उद्धार के लिये, और साथ ही सच्चे, हिन्दू धर्म के तत्त्व को सच्चे दिल से मानते हैं, इन की राय है

इसी तरह, कुछ निजी रुपया पैसा, कुछ निजी सम्पत्ति, कुछ निजी जगह जमीन, तथा रहन सहन के ढंग और दरजे में कुछ अन्तर, जो औचित्य की सीमा के अन्दर हो, मनुष्य की भोग्य वस्तुओं के विनिमय की सुविधा के लिये, क्रयविक्रय की सुकरता के लिये, तथा जीवन को रोचक बनाने के लिये, उपयोगी है, अनिवार्य है। पर 'पूंजीवाद' और 'थैली-शाही' और चल अचल सम्पत्ति पर 'इजारों' की (एकसत्ताकता, 'मोनो-पोली' की) 'अति', 'धनिकतन्त्र', अति हानिकारक है, और व्यापक असन्तोष तथा विप्लव की सृष्टि करता है।

इसी तरह, देश की रक्षा के उद्देश्य से खड़ी की गयी सेना, और जुटाये गये हरबा हथियार, अस्त्र शस्त्र, उचित सीमा का 'अति'-क्रमण करने पर, 'लाटीशाही' और विध्वंसकारी 'सैनिकतन्त्र' का रूप प्राप्त कर लेते हैं, और सदा मार-काट मची रहने का कारण होते हैं।

इसी तरह, चित्त को शांति देने के लिये ऋषियों की खोज से निश्चित की हुई पारलौकिक विद्या भी 'अति' का आश्रय लेने पर, 'पोथीशाही', 'पुरोहित-राज्य', और लोकविनाशक पुरोहिती स्वार्थ के साधन का रूप धारण करती है, और साम्प्रदायिक दंगों, धर्म के नाम पर होने वाले अमानुषिक अत्याचारों, 'जेहादी' लड़ाइयों और अन्त में उग्र सुधारों का कारण बनती है।[1]

हिन्दू स्मृतियां, और सामाजिक जीवन के नियम, 'अति' की ओर, ज्यादती की ओर, बहुत चले गये हैं। जिन लक्ष्यों के लिये उनकी सृष्टि हुई थी, ठीक उनके उलटे परिणाम वे उत्पन्न कर रहे हैं। आरम्भ में, उनकी

---

१ इन चार 'अतियों' के [illegible] नाम—[illegible] राज्य, [illegible] राज्य, [illegible] राज्य, [illegible] राज्य [illegible] राज्य। [illegible] ([illegible]) [illegible]।

होता है कि, सम्पूर्ण समाज, न केवल मानसिक दृष्टि से, किन्तु शारीरिक दृष्टि से भी, परस्पर सम्बद्ध, सयुक्त, दिखाई देता है, और उसका आधार, परस्पर का सहयोग हो जाता है। इस प्रकार सभी लोग एक ही शरीर और एक ही आत्मा के अग वास्तव मे हो जाते है।

रोटी-बेटी का सम्बन्ध, अन्न-सम्बन्ध और यौन-सम्बन्ध, ये ही प्राण सम्बन्ध है। पर, जब प्रत्येक व्यक्ति ही समाज का स्वतन्त्र अग समझा जाता है, तब, जिस समुदाय मे वह रहता है, उसके साथ उसका सम्बन्ध मनमाना और प्रतिस्पर्धा-मूलक हो जाता है, और इस कारण से, वह समाज मजबूत होने के बदले और कमजोर हो जाता है। यही कारण है जो आज हम, व्यक्तियों के, और ऐसे व्यक्तियो से निर्मित राष्ट्रो के, बीच, इतना उग्र द्वेषभाव देख रहे है, जिससे आज सारा मानव-वायुमण्डल व्याप्त हो रहा है। न केवल राष्ट्र राष्ट्र मे सघर्ष हो रहा है, बल्कि प्रत्येक राष्ट्र के भीतर भी, अमीर और गरीब मे, शासक और शासिता मे, बलवान और दुर्बल मे, और– सघर्ष की परा काष्ठा– स्त्री और पुरुष मे, पिता और पुत्र मे, बूढे और जवान मे, पुरानी पुश्त और नई पुश्त मे, सघर्ष चल रहा है।

कठोरता ही ह्रास का कारण

भारतीय रस्म-रिवाज भी, यद्यपि आरम्भ मे वे सम्यक् सामाजिक सघटन के वैज्ञानिक सिद्धान्तो पर आश्रित थे धीरे धीरे, कुछ अगो पर बहुत ज्यादा ज़ोर दिये जाने, और दूसरे अगो की उपेक्षा होने से, वर्तमान जातिभेद मे परिवर्तित हो गये। इस व्यवस्था की अस्वाभाविक कठोरता, हिन्दू धर्म व भारतीय जनता के ह्रास का स्पष्ट कारण था, और परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से अन्य कौमो के भी ह्रास का, मुख्य कारण है, क्योकि आज [illegible] अवस्था है [illegible] सब की गर्दने एक ही डोरी मे बधी है जिससे सब साथ है, और उनकी

सच्चे वर्णधर्म का त्याग है, जिसे बाहरी आलोचक, विस्मय और तिरस्कार की दृष्टि से देखते है।

यदि ठीक दवा समय से न दी गयी, तो इन रूढियो और रिवाजो की दिन दिन बढती जाने वाली कठोरता, हिन्दू समाज शरीर की मृत्यु का कारण होगी, जैसे कोमल सप्राण तन्तुओ का कड़ा पड़ जाना, धीरे धीरे, कुछ काल मे, व्यक्ति-शरीर के जीवन का अन्त कर देता है। अवश्य ही, जो मानव समुदाय इस समय हिंदू समाज के नाम से पुकारा जाता है, वह और उसकी सतति प्रसतति यदि हिंदू धर्म (ईश्वर न करे) मिट भी जाय, तो भी नष्ट न होगी, पर आध्यात्मिक सस्कृति, तथा सभ्यता के कुछ बहुमूल्य तत्त्व, तथा समाज-सघटन के उत्तम सिद्धान्त, बहुत दिनो के लिये लुप्त हो जायगे, जिससे सारी मानवजाति की भारी क्षति होगी।

प्राचीन वर्ण-व्यवस्था के वैज्ञानिक आधार

वर्ण-व्यवस्था के नाम से प्रसिद्ध, मनुष्य समाज के व्यूहन का आध्यात्मिक तत्त्व, वास्तविक रूप और व्यावहारिक उद्देश्य, जब ध्यान मे लाया जायगा, तब यह स्पष्ट होगा कि प्रचलित नाम मात्र सवर्ण विवाह की रीति का बहुत कड़ाई से पालन करना, उस व्यवस्था के सिद्धान्तो के अनुकूल नही है। आरम्भ मे, मानव-समाज की सागोपाग व्यवस्था ही वर्ण-व्यवस्था थी। इसे पश्चिम मे 'सोशल आर्गेनिजेशन' कहते है। इस मे चार परस्पर सम्बद्ध व्यूह थे (१) शिक्षा-व्यूह, ('एजूकेशनल आर्गेनिजेशन', 'लर्नेड प्रोफेशन्स') जिसके अवयव, तपस्वी-विद्वान ब्राह्मण वर्ण के शिक्षक, और ब्रह्मचर्य आश्रम के विद्यार्थी, थे (२) रक्षा-व्यूह, राजनीतिक प्रबन्ध, ('प्रोटेक्टिव आर्गेनिजेशन', 'एग्जेक्युटिव प्रोफेशन्स') जिस मे शासक, [illegible] 'क्षत्र-दल', क्षत्रिय वर्ण, और (साधारण दृष्टि से) वानप्रस्थ आश्रम, के होते थे, (३) जीविका-व्यूह, आर्थिक प्रबन्ध, ('इकोनोमिक आर्गेनिजेशन

कृण्वन्तो विश्वम् आर्यम्। (ऋग्वेद)

'शारीर शास्त्र' (आयुर्वेद) का सिद्धांत यह है कि देह धारी जंतुओं की पारम्परिक पीढ़ियों की उत्पत्ति मे दो नियम सदा कार्य करते रहते हैं।—(१) पितृक्रमाऽगम नियम, पितृ-परम्परा नियम, जन्मना-सिद्ध-स्वभाव नियम, आनुवंशिकता, (२) स्वतो-विशेषण नियम, नवोन्मेष नियम, कर्मणा-साधित-(व्यक्तीकृत, व्यंजित)-स्वभाव नियम, वैयक्तिक विशेषता। आधुनिक पाश्चात्य वैज्ञानिक, (१) को 'ला आफ हेरेडिटी', (२) को 'ला आफ स्पान्टेनियस वेरियेशन या म्युटेशन' कहते हैं। अर्थात् (१) कुछ गुण तो जन्म से ही, माता-पिता द्वारा, प्राप्त होते हैं, और (२) कुछ का स्वत व्यक्तिविशेष मे प्रादुर्भाव होता है। इसका फल यह होता है कि (१) एक ही माँ बाप की सन्तति, शरीर और बुद्धि मे, अपने माँ-बाप के सदृश और एक दूसरे के सदृश, कुछ अंश मे, होते हैं, और (२) साथ ही, दूसरे अंशो मे, उनमे विलक्षणता भी होती है। पुराने शब्दो मे, इन्हे 'जन्मसिद्ध गुण' और 'कर्मसिद्ध गुण', अथवा 'योनिकृत' गुण और 'तप श्रुतकृत' गुण, कह सकते हैं। इन परस्परभेदी नियमो का मूल कारण, ब्रह्मविद्या मे मिलता है। परमात्मा की 'एकता' ही, ससार मे जो कुछ एकता, समता, स्थिरता, सन्ततभाव, अविच्छिन्न परम्परा देख पडती है, उसकी हेतु है, और परमात्मा की स्व-भाव-रूप प्रकृति की 'अनेकता' ही, ससार मे जो कुछ बहुता, विचित्रता, विभिन्नता, और परिवर्तनशीलता है, उसकी कारण है।

'अन्त करण शास्त्र, चित्तशास्त्र, अध्यात्मशास्त्र' का सिद्धान्त यह है कि चित्त के तीन गुण हैं, जिनमे से, प्रत्येक व्यक्ति मे, एक का प्राधान्य होता है, और 'द्विज' अर्थात् सुशिक्षित, सुसंस्कृत, व्यक्ति, जो द्वितीय बार, आत्मज्ञान मे, जन्म पा चुके हैं, वे, इसी हेतु से तीन प्रकार के होते हैं—(१) ज्ञान-प्रधान, (२) क्रिया-प्रधान, तथा (३) इच्छा-प्रधान, और बाकी लोग चतुर्थ प्रकार के होते हैं, जो अल्पबुद्धि [illegible]

उत्तरदायित्व-संवेदन, और कर्तव्य-परायणता, के भाव मे परिवर्तित हो जाती है, जब उन्हे संतति उत्पन्न होती है। पर, जैसे अन्य बातो मे, वैसे सन्तति मे भी, 'अति' से बहुत दुःख पैदा होता है। जब इतनी संतति हो कि माता पिता उनका उचित रूप से पालन-पोषण न कर सकें तो अनर्थ हो जाता है। साथ ही, यदि जान बूझ कर सर्वथा सन्तति का निरोध किया जाय, एक दो अपत्य भी न हों, इस लिये कि सब प्रकार की कष्टदायी जिम्मेदारियों से, उत्तरदायित्व से, मियां-बीबी बचे रहें, और केवल अपने ही इन्द्रिय-सुख की लालसा को तृप्त करें, तो ऐसी केवल काम-वासना से स्वार्थ अधिकाधिक प्रज्वलित होता है, थोड़े ही समय मे सभी इन्द्रियां कुंठ हो जाती हैं, परस्पर ग्लानि हो जाती है, सब वैवाहिक प्रेम और सुख नष्ट हो जाता है, हर प्रकार के व्यभिचार, पाप, और अपराध, अधिक होने लगते हैं, और नाना प्रकार के सामाजिक दोष और रोग बढ़ जाते हैं। अतः, स्मृतिकारों ने गृहस्थाश्रम को ही सर्वश्रेष्ठ मान कर उसकी प्रशंसा की है। क्योंकि इसी से अन्य आश्रमों का पोषण होता है। साथ ही साथ, बहुत सन्तति की भी निन्दा की है, यहां तक कि एक पहिले पुत्र को ही 'धर्म-ज' कहा है और दूसरों को 'काम-ज'। (मनु, अ० ३ श्लो० ७७, ७८, अ० ६, श्लो० ८९, ९०, अ० ९, श्लो० १०७)

'अर्थ शास्त्र' का सिद्धान्त, वर्ण-धर्मात्मक समाजव्यवस्था की जड़ बुनियाद में, यह है कि, जीविकोपार्जन में अनियन्त्रित विनाशकारी प्रतिद्वन्द्विता दूर की जाय, या कम से कम उसकी [illegible] कम की जावे। इस लिये, चार वर्णों के लिये, चार, भिन्न भिन्न प्रकार की जीविकावृत्तियां नियत कर दीं। जो लोग अपनी शारीरिक और मानसिक प्रकृति के कारण जैसी जीविका के योग्य हों, वे निश्चिन्त उसी का अवलम्बन करें। पर जब किसी व्यक्ति में दूसरे प्रकार का स्वभाव पाया जाय, तो उसको यह इजाज़त रहे कि वह अपनी

चाहिये। तथा, किसी को किसी दूसरे के क्षेत्र पर (विशेष कर जीविका के साधन पर) आघात करने का कोई अवसर न मिलना चाहिये, न किसी वर्ग या व्यक्ति को दो या तीन या चारों प्रकार से जीविका उपार्जन कर सकने की इजाजत होनी चाहिये। अवश्य ही जीविका (रिज़्क) के चार प्रधान तरीकों में प्रत्येक के अन्तर्गत बहुत से उपप्रकार हैं। इस सिद्धान्त की जड़ में यह वैज्ञानिक और प्राज्ञानिक ('सायंटिफिक' व 'मेटाफिजिकल्') तथ्य है कि मनुष्यमात्र का परस्पर सम्बन्ध, शारीर ('बायोलोजिकल्') और चैतनीय (चेतनात्मक, 'स्पिरिचुअल') भी है। जैसा बाइबल में कहा है, "वी आर् आल् फ्लेश आफ् दि सेम् फ्लेश, ऐण्ड स्पिरिट आफ् दि सेम् स्पिरिट," सब प्राणियों में एक ही भौतिक तत्त्व, सब जीवों में एक ही चेतन तत्त्व है, सब ही एक ही प्रकृति पुरुष की सन्तान हैं, उसी के अनन्त रूप हैं। इसको सदा याद रखने से परस्पर स्नेहभाव सहायताभाव बढ़ता है। साम्प्रत काल में, 'व्यक्ति' ही को, 'समाज' का 'आरम्भक अणु' मानने की प्रवृत्ति बढ़ी हुई है, इस का फल यह है कि 'बायोलोजिकल् बोण्ड' ('अङ्ग सम्बन्ध,' 'यौन-सम्बन्ध,' 'वार्त्ता-सम्बन्ध, 'कोम्मेर्सम्', 'कोम्म्युनिज़्म्', 'कोम्मर्सम्' के 'प्राण-सम्बन्ध') में शुचिता और स्थिरता रखने की उपयोगिता का, और 'स्पिरिट' (आत्मा) में विश्वास का, आदर कम हो गया है 'वैयक्तिक' स्वार्थ की पूर्ति का ही आग्रह अधिक रहता है, परस्पर संघर्ष बढ़ता है, दारुण विग्रह युद्ध होते हैं।

दूसरा 'सामाजिक सिद्धान्त', जिस का प्रभाव बहुत ही व्यापक है और जो पुरातन सामाजिक व्यवस्था में अनुस्यूत था, यह है कि व्यक्ति नहीं अपि तु (बल्कि) कुल या कुटुम्ब, समाज का आरम्भक अवयव ('यूनिट') है। इस विषय पर पहिले कहा जा चुका है।

'समाज शास्त्र' का एक और बहुत गौरव-पूर्ण सिद्धान्त, वर्ण धर्म से जुड़ा हुआ, यह भी है कि प्रत्येक व्यक्ति के जीवन को मोटे तौर से चार

वह, यदि पूरी तरह से हटाई न भी जा सके, तो भी बहुत कम जरूर की जा सकती है।

'राजनीति शास्त्र' (धर्म शास्त्र के अन्तर्गत) का सिद्धान्त, जो इस वर्णव्यवस्था मे ओत-प्रोत है, वह यह है कि, चारो जीविकाओं के अनुसार विभक्त श्रेणियों का पृथक् पृथक्, परन्तु परस्पर अवलम्बित, व्यूहन हो। उन मे आपस मे शक्ति का उचित बँटवारा रहे, और शास्त्रशक्ति (ज्ञान बल), शस्त्र-शक्ति (सेना बल), अन्न-शक्ति (धन बल), और सेवा-शक्ति (श्रम बल), सब के सब, किसी एक समुदाय अथवा व्यक्ति मे केन्द्रीभूत न हो सकें, क्योंकि एक ही हाथ मे कई शक्तियों के आने का ख्वाहमख्वाह यह नतीजा होता है कि अहंकार, अभिमान, दर्प, गर्व, मद, उच्छृङ्खलता, निर्मर्यादता, अवश्यमेव उभरते हैं, प्रजा के शिक्षण रक्षण पालन के साम्यभाव दब जाते हैं, और अनियन्त्रित अधिकार का दुरुपयोग करके दूसरों को पीड़ा देने का भाव निश्चयेन बढ़ता है। पुराणों मे, नहुष, रावण, आदि के घोर अत्याचारों के वर्णन के आरम्भ मे कहा है, "स सर्वेषामेव देवानां अधिकारान् स्वयम् एव अधितष्ठ", अलग अलग देवताओं के जो अलग अलग अधिकार थे उन सब को छीन कर अकेले अपने ही हाथ मे उसने कर लिया। शिक्षण, रक्षण, पालन और सहायन, इन सब को, अपने अपने दायरे मे, परिधि के भीतर, काम करना चाहिये, इस लिये, कि किसी वर्ण या वर्ग को किसी दूसरे वर्ण या वर्ग पर अनियन्त्रित अधिकार रखने की, अथवा उसको पैर के नीचे दबाने की इच्छा करने का अवसर न मिले।

'शिक्षा शास्त्र' (धर्मशास्त्र के अन्तर्गत) का सिद्धान्त यह है कि, प्रत्येक बच्चे को, जो उमर में शिक्षा पाने योग्य है, सामान्य ('कल्चरल') शिक्षा के साथ साथ इस प्रकार व्यावसायिक ('वोकेशनल') अर्थकर, जीविका-साधनी, विशेष शिक्षा दी जाय, जिसके प्रति उसका स्वभाव से प्रवृत्ति हो। और इस प्रवृत्ति को समझने, पहिचानने, के लिये, उसके

हुए और इन में मिल गये। वर्ण-आश्रम-समाज-व्यवस्था तो एक ऐसा साँचा, ढाँचा, चार खानों का है, जिस में सब प्रकार के मनुष्य, अपनी प्रकृति, अपने स्वभाव-गुण-(जीविका) कर्म के अनुसार सहज में ढाले जा सकते हैं, और जाते थे। आज भी यह प्रत्यक्ष देख पड़ता है कि हमारे बीच में पंजाबी, मारवाड़ी, अवधी, मध्यदेशी, बंगाली, मद्रासी, मराठे, गुजराती, और बाली द्वीप के, ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र मौजूद हैं, और इन के प्रत्येक दल (गरोह) में ऐसे लोग हैं, जो अपने को, वैष्णव वा शाक्त वा शैव वा सैकड़ों अन्य सम्प्रदायों में से किसी एक सम्प्रदाय के, विशेष नाम से पुकारते हैं, और जो विविध प्रकार की भाषा में बोलते हैं।

प्राचीन व्यवस्था के मौलिक सिद्धान्तों के अनुसार, कोई कारण नहीं है कि संसार में बसने वाले सभी लोग—चीनी, जापानी, ईरानी, अरबी, फरासीसी, जर्मन, अंग्रेज, चाहे वे ईसाई, मुस्लिम, यहूदी, या और कोई मजहब के हों, इन्हीं चार जीविकानुसार गरोहों या पेशों में विभक्त न किये जायें। प्रत्युत बहुत से ऐसे कारण हैं जिनसे ऐसा करना ही उचित है। वास्तव में सब सभ्य जातियों में स्थूल रीति से ये चार वर्ण अथवा श्रेणियाँ अथवा पेशे मौजूद हैं, यद्यपि वे प्रकट रूप से इस प्रकार के माने नहीं गये हैं न इस प्रकार से नियमित रूप से संघटित किये गये हैं जिससे काम, दाम, और आराम का, बुद्धिपूर्वक विभाग हो सके, जैसा प्राचीन भारत में किया गया था।

रूस के सोवियट राज्य-प्रबन्ध ने भी अपना नाम 'किसानों (वैश्य), सैनिकों (क्षत्रिय), श्रमजीवियों (अर्थात् मानसिक श्रमजीवियों या ब्राह्मणों तथा शारीरिक श्रमजीवियों या शूद्रों) का सोवियट संघराज्य' ('पेजेन्ट्स, सोल्जर्स, एण्ड वर्कर्स रिपब्लिक', प्रजातन्त्र राज) रक्खा है। इङ्गलैण्ड में भी राष्ट्र के चार अंग हैं, अर्थात् 'क्लर्जी' (ब्राह्मण) 'नोबिलिटी' (क्षत्रिय), 'कामन्स' (वैश्य), लेबर (शूद्र)।

कि वह प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष, जान कर अथवा बिना जाने, स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रूप से, यह मानता है कि एक समाजव्यवस्था मे, वर्णाश्रम योजना मे, वह सम्मिलित है, और अपने को 'हिन्दू' कहता है। वास्तव मे, पुरानी पुस्तकों मे 'हिन्दू' शब्द नही मिलता। धर्म शास्त्र मे 'मनुज', 'मनुष्य', 'मानव', 'नर', ये नाम मिलते हैं, जिनका अर्थ केवल मनुष्य, आदमी, ही है। अंग्रेजी शब्द 'मेन' का मूल धातु, और मनुष्य, मानव, शब्दों का मूल धातु, 'मन्', 'मनस्' एक ही है। यह सत्य है कि एक तरफ 'आर्य' शब्द, और दूसरी तरफ़ उस के विरोधी भावों को दिखाने वाले 'अनार्य', 'वृषल', 'म्लेच्छ', और 'दस्यु' शब्द भी धर्मशास्त्रों मे आते है। पर आर्य का अर्थ सभ्य, और अनार्य आदि का असस्कृत, असभ्य, पतित, बर्बर, है, जाति-विशेष नही है। वर्तमान अर्थ मे 'हिन्दू' शब्द की उत्पत्ति उसी समय हुई है जिस समय से उस 'अस्पर्श'-रोग का आरम्भ हुआ जो धीरे धीरे और अब अधिकाधिक तीव्रता से, उस समाज को जर्जर करने लगा, और अब मुमूर्षु कर रहा है, जिसका यह नाम है। इस शब्द का अर्थ पहिले 'हिन्दी' अर्थात् 'हिन्द' का रहने वाला था, और यही उचित भी है। प्राचीन ईरानियों ('आर्याना'-वासियों) ने यह नाम रक्खा था, और पीछे यूनानियों ने, इसका नाम, सिन्धु नदी (सिन्ध, हिंध, इंडस) के आधार पर, 'इण्डिया' कर दिया। 'ईरानी', जो 'आर्यों की ही एक शाखा थे, 'स' को 'ह' कहते थे। भारतीय मुस्लिम, जो निकट पश्चिम के इस्लामी देशों मे भ्रमण करते हैं, वहां 'हिन्दी' नाम से ही पुकारे जाते हैं।

वर्णव्यवस्था की उत्पत्ति के विषय मे आज काल चार पाँच प्रकार के मत प्रचलित हैं। कोई गोरे काले रंग पर ज़ोर देते, कोई जाति पर, कोई सम्प्रदाय पर, कोई पेशे पर। ऊपर कहे प्रकार से देखने से, इन सब मतो का समन्वय हो जाता है, साथ ही इसके, इस व्यवस्था की [illegible]वैज्ञानिकता, और [illegible]र के क्षेत्र म उपयोगिता भी, मालूम हो -

वर्ण व्यवस्था के मौलिक सिद्धांतों की ओर लापरवाई करने, उसके अर्थ का अनर्थ करने, उसके कुछ अंशों पर अत्यधिक जोर देने और दूसरे अंशों को भुला देने, बलवानों और चालाकों के सब अधिकारों को पकड़ने और सब कर्तव्यों से परहेज करने, से ही, जीविकानुसार विभाजित वर्ण-व्यवस्था बिगड़ गई, और आज उसका स्वांग मात्र रह गया है, तथा अन्य बहुत-सी खराबियों के साथ, विवाह-सम्बन्धी यह खराबियाँ उत्पन्न हो गयी हैं, जिनको दूर करने के लिये नये कानून को बनवाने की परम आवश्यकता है।

नये विधान से कई लाभ

उपन्यस्त विधान का अभिप्राय केवल इतना ही है कि, यदि कोई चाहे तो 'अन्तर्वर्ण' विवाह कर सकता है, और ऐसा विवाह जायज, धर्म्य, शिष्ट, समझा जायगा, नाजायज, खिलाफ कानून, अधर्म्य, अशिष्ट नहीं होगा। विधान, अनुज्ञा (अनुमति) ही देता है, आज्ञा नहीं, यदि चाहो तो कर सकते हो, यह नहीं कि जरूर करो। इस का सिद्धांत सीधा और उपयुक्त यही है कि हम दूसरों को जीने दें और दूसरे हमें जीने दें, हम दूसरों के जीवन में बाधा न डालें और दूसरे हमारे जीवन में बाधा न डालें। यदि यह विधान पास होकर, धर्म परिषत् (असेम्बली) में स्वीकृत हो कर कानून का रूप ग्रहण कर ले, तो हिन्दू समाज में जो अत्यन्त भेद-भाव का आंतरिक दोष आ गया है, जिस के कारण वह नितांत जर्जर हो रहा है, वह दूर हो सकेगा। भीतर और बाहर, हर तरह से, एक दूसरे से, आग्रहपूर्वक दुराव बचाव करने का जो दुर्भाव इस समय हिन्दू समाज का सबसे तीव्र और भयावह रोग है, उसका वेग कम हो जायगा, अन्य समुदायों से प्रेम-सम्बन्ध हो सकेगा, सारे हिन्दू धर्म का सब भाव स्पष्ट और सुन्दर हो जायगा। विवाह-सम्बन्धी बातचीत में जो बहुत सी मक्कारी और बेईमानी और परस्पर धोखा देने की वृत्ति भरी रहती है, वह दूर हो जायगी, क्योंकि इसकी आवश्यकता ही न रह जायगी।

न होगा कि ऐसे किसी व्यक्तिके साथ वह सामाजिक सबंध रक्खे, जिसने इस प्रकार का विवाह किया हो, पर यदि कोई प्रकट रूप से, खुले तोर पर, यह घोषणा करे, कि अन्तर्वर्ण विवाह करने के कारण कोई स्त्री या पुरुष जातिच्युत हो गया, और सबंध रखने योग्य नहीं है, तो उस पर मानहानि का मुकद्दमा चल सकेगा और वह अदालत मे अपराधी और दंडनीय समझा जायगा।

इस विधान से कुछ और लाभ भी होंगे। (१) युवा और युवती की साथ साथ पढ़ाई का कालिजों मे जो प्रचार अब चला है, और देश मे बढ़ता ही जा रहा है, (यद्यपि इस प्रथा मे दोष बहुत हैं), उससे बहुत से सुखदायी विवाह हो सकेंगे, और अनाचार की घृणाजनक भूल, मन और शरीर को गंदा करनेवाले, और आजीवन हृदय मे चोर और शोक शंकु बैठा देने वाले, कार्य न होंगे, और तरह तरह की बीमारिया, विशेष कर युवतियों को न भोगनी पड़ेंगी, यदि, इस 'सह अध्ययन' के साथ, कुछ आवश्यक मर्यादाएं बांध दी जायें, और यह शिक्षा भी विशेष रूप से दी जाय, कि अविवाहित मैथुन के अनुबंध (फल) बहुधा, इस इस तरह के, बड़े दारुण हुआ करते हैं। (२) युवतियों की आत्महत्याएं और दूसरी खराबियां, जो अब शादी के समय बड़े बड़े जहेज (यौतुक) मांगने के कारण हो रही हैं वह कम हो जायेंगी, शिक्षित युवा और युवती, स्वतंत्र रूप से अपना स्वयंवरण कर सकेंगे, और वर्ण के नाम मात्र से, अनुचित रूप से, बंध न जायेंगे। याद रहे कि बहुत जहेज मांगने की प्रथा, कुछ तो आर्थिक संकट के कारण, और कुछ आधुनिक सभ्यता की धनलोलुपता के भाव के कारण, उत्पन्न हुई है। कहीं कन्या खरीदी जाती है, कहीं वर खरीदा जाता है।

सद्धर्म के किसी आवश्यक सिद्धान्त का, अथवा धर्म-शास्त्र के किसी मौलिक आदेश का, बिना विरोध किये, यह विधान, इस समाज को, सामाजिक जीवन और संघटन के सद्गुण सिद्धान्तों से पुनः अनुप्राणित

नही, गैरमामूली मुस्तस्नियात मे दाखिल होगा, मामूल मे नहीं, पर ऐसा अपवाद, इस्तिस्ना, लाभदायक और वाञ्छनीय होगा ।

'वर्ण' शब्दमे 'उपवर्ण' सम्मिलित है

'वर्ण' शब्दके अन्तर्गत 'उपवर्ण' भी सुतरा है। हिंदी मे 'जात' 'जाति' शब्दों मे उपजातियों भी अन्तर्गत है । वर्तमान प्रथा के अनुसार, कुछ अपवादो को छोड़ कर, दो वर्णो मे भी, और दो उपवर्णो मे भी, परस्पर विवाह दोनो ही एक ही तरह से, 'असवर्ण' विवाह माना जाता है, और अदालतो मे गैरकानूनी समझा जाता रहा है । पर, संस्कृत के पण्डित, धर्मशास्त्र के शब्दो के आधार पर यह कदापि नही कह सकते, कि प्रधान वर्ण के दो उपवर्णों का परस्पर विवाह धर्मविरुद्ध है । सच तो यह है कि, इतने उपवर्णो मे से अधिकतर के अस्तित्व के ही औचित्य का, वे समर्थन नहीं कर सकते । प्राचीन पुस्तको मे तो उनके नाम ही नही मिलते । ऐसे वर्ण जिन्हें वास्तव मे उपवर्ण मानना चाहिये, उन्हें भी हिन्दू जनता आज व्यवहार मे स्वतन्त्र वर्ण के ऐसा मान रही है ।

रीतियों की व्यामोहक भिन्नता और अनेकरूपता

उपवर्णो के सम्बन्ध मे यह विचार करने योग्य बात है कि रस्म-रिवाज मे, बड़े बड़े अन्तर पाया जाता है । उदाहरणार्थ, उत्तर भारत मे ब्राह्मणो के उपवर्णो मे परस्पर विवाह नही होता । वैश्यों मे भी यही प्रथा है । प्रत्येक उपवर्ण अपने मे ही, गोत्र बचा कर, विवाह करता है । पर क्षत्रियों के उपवर्ण अपने से बाहर विवाह करते है । अपने ही उपवर्ण मे कोई क्षत्रिय विवाह नहीं कर सकता पूरे पूरे उपवर्ण को ही एक गोत्र जैसा मानते है । संयुक्त प्रान्त के कायस्थो की उपजातियो मे भी, गोत्र बचा कर अपने मे ही विवाह होता है । मतलब, कायस्थ वर्ण मे, संयुक्तप्रान्त मे, श्रीवास्तव उपवर्ण मे, दो उप उप वर्ण है, अर्थात् 'दूसरे' और 'खरे' और ये दोनो परस्पर विवाह नहीं कर सकते ।

उनमे और भी पवित्रतम दल हैं जो 'पंक्तिपावन' कहलाते है, और जो अवध के कुछ जिलों मे रहते हैं, जिनमे, अति क्षुद्र निस्सार हेतुओं से, इतने लोग जातिच्युत कर दिये गये हैं, और विवाह-सम्बन्ध के योग्य इतने थोड़े रह गये हैं, कि अब विवाह स-गोत्रो मे होने लगा है, 'केवल दूध का बराव किया जाता है', अर्थात् एक माता का दूध पीनेवाले भाई बहिन का व्याह आपस मे नही किया जाता है। मुसलमानो मे, मैं ने दोस्तो से सुना है कि, इसी तरह से, कुरैशी, मिल्की, और सय्यद समुदाय है, जो भी यथासम्भव यही प्रयत्न करते है कि अपने समुदाय के भीतर ही विवाह करें। दक्षिण मे मालाबार समुद्रतट के प्रदेश मे मातृ-परम्परा से दाय का अधिकार मिलता है, और वहाँ पर उच्च श्रेणी के ब्राह्मणो के विवाह सम्बन्धी नियमों मे, उत्तर के ब्राह्मणो के नियमो से, बहुत अन्तर है, और उनमे भी, नाम्बुदिरि ब्राह्मणो की ही दो प्रकार की सन्तान होती है एक तो नाम्बुदिरि ही कहलाते हैं, दूसरे, नायर, और इन दोनो मे परस्पर विवाह नही हो सकता।

रस्मो की यह अनन्त विभिन्नता, जो बुद्धि को चकरा देती है प्रस्तावित विधान से उन लोगों के लिये बहुत सरल हो जायगी जो इस से लाभ उठाना चाहेंगे। जो ऐसा नहीं करना चाहते, वह बिना रोकटोक से अपनी विशेष रीति के अनुसार कार्य करने और कौटुम्बिक जीवन का निर्वाह करने के लिये स्वतन्त्र रहेंगे।

'वर्ण' का अर्थ 'पेशा' है

जो लोग 'वर्ण' का मौलिक अर्थ 'जीविका', 'पेशा', मानते हैं, जिससे मनुष्य का 'वर्णन' होता है, 'वर्णयति इति वर्णः', जिससे यह जाना जाता है कि व्यक्ति-विशेष का समाज में क्या स्थान और समाज से क्या सम्बन्ध है, ऐसे लोगों को यह समझने में कोई दिक्कत न होगी, कि स्त्री के वर्ण का नाम वही है जो उसके विवाहित पति का है, चाहे उसके पिता का वर्ण अथवा पेशा कुछ ही क्यों न रहा हो। इसलिए ही

वृत्तियों को, उठा लेने के कारण भिन्न भिन्न वर्णों के हो गये। जो लोग वर्ण को जन्मना मानते है, वे इन बातो पर विचार करे, और, साथ ही, इस पर भी ध्यान रखे कि, वेद और पुराण स्पष्ट रूप से कहते और दिखाते हैं, कि एक ही कुटुब के कई मनुष्य कई वर्ण के हुए है पुराणो मे ऐसे उदाहरण बहुत मिलते है कि, एक व्यक्ति, या एक समग्र कुल, एक वर्ण छोड कर दूसरे वर्ण का हो गया है। बहुत से छोटे छोटे समुदाय, जो पहिले शूद्र समझे जाते थे, ये अब, आज काल, अपने को ब्राह्मण, क्षत्रिय, या वैश्य कहने लगे हैं। वास्तव मे यह वही भाव है जिसे पाश्चात्य देशो मे, 'सामाजिक दर्जे मे उन्नति करना ('राइजिंग इन दि सोशल स्केल') कहा जाता है। १९२१ की मनुष्य गणना के विवरण मे, कई कई छोटी उपजातियों के एक मे मिल जाने की, कई के लुप्त हो जाने की, कई की नयी पैदाइश की, तथा अन्य प्रकार के परिवर्तनो की, चर्चा की गयी है। यह जाति परिवर्त्तन या वर्णोपवर्ण-परिवर्त्तन, लगातार, सब काल मे होता रहा है, अब भी जारी ही है, और इसके कारण, उप-जातियो का ठीक ठीक गिनती करना इतना जटिल हो गया, कि मनुष्य-गणना करने वाले अधिकारियों ने इस उपजाति गणना को, सन् १९३१ ई० की गणना मे, छोड ही दिया।

वर्ण-नाम-परिवर्तनके प्रवर्त्तमान प्रयत्न

हाल की कुछ घटनाओं से यह विदित होता है कि वर्ण को, अर्थात् वर्ण-नाम को, किस तरह, व्यापक रूप से, कई समुदायों मे, बदलने का यत्न हो रहा है। संयुक्तप्रांत मे कायस्थ समुदाय के कितने ही पढ़े लिखे लोग यज्ञोपवीत पहिनने लगे है, जो द्विजत्व का चिह्न है, और अपने को क्षत्रियों का एक उपवर्ण मानते है। मराठा 'प्रभु' जाति की भी ऐसी ही स्थिति प्रतीत होती है, वे भी पहले एक प्रकार के कायस्थ वर्ग के समझे जाते थे, अब अपने को क्षत्रिय कहने लगे है। बम्बई के 'भंडारी' सद्

लिखाया। तथा 'नापितों' ने (बंगाल मे) १९२१ मे 'वैश्य', १९३१ मे 'ब्राह्मण'। कुछ 'कहारों' ने १९२१ मे 'वैश्य', १९३१ मे 'क्षत्रिय', कुछ 'सूत्रधारों' 'सुतारों' ने (बंगाल मे) १९३१ मे 'वैश्य', १९३१ मे 'ब्राह्मण', इत्यादि।

सामाजिक श्रेणियों का, अपनी उन्नति के लिये, यत्न करना उचित ही है। तथापि उपर्युक्त उदाहरणो से स्पष्ट है कि जो यत्न हो रहा है, वह किसी बुद्धिसंगत वैज्ञानिक सिद्धांत का अनुसारी नहीं है। मसलन् 'जायसवालों' के सारे समुदाय का 'हैहय क्षत्रिय' बन जाने मे कोई मतलब नही मालूम पड़ता। पौराणिक समय मे, 'हैहय' जाति के क्षत्रियो मे बड़े शक्तिशाली कुल हुए, नर्मदा नदी के तटों पर इनका राज्य था, कार्तवीर्य नाम के इनके सब से अधिक प्रतापी राजा हो गये हैं, आरंभ मे ये बड़े धर्मात्मा प्रजापालक थे, धीरे धीरे, ऐश्वर्य के मादक मद से, निरंकुश प्रजापीडक हो गये; जमदग्नि आदि तपस्वी ऋषियों की 'कामधेनु' अर्थात भूमि छीनने लगे, ब्राह्मण ऋषियों ने भी, आवश्यकता से बहुत अधिक भूमि का परिग्रह कर लिया था, परशुराम ने ब्राह्मणो, वैश्यों, और शूद्रों की सेना बना कर, घोर संग्राम कर के इन्हें मार डाला। स्यात कार्तवीर्य के सैनिकों को मदिरा अधिक प्रिय था, सैनिकों को तो साधारणतः मद्यपान बहुत पसन्द होता ही है, स्यात् यही कारण है कि जायसवालों को इस पौराणिक क्षत्रिय कुल से विशेष कर नाता जोड़ने का विचार हुआ। पाश्चात्य देशों मे भी, राजवंशो के, और अन्य उच्च कुलों के, लोगों की यही इच्छा रहा करती थी, कि 'हेरल्ड' (चारण) गण, उन की कुल परम्परा को 'आदम और हौआ' तक पहुंचा देवे। मैं ने एक ऐसा कुर्सीनामा, 'वंशवृक्ष', देखा है, जिस मे मनुष्य जाति के उस 'आदिम' जोड़े से, ब्रिटेन की महारानी विक्टोरिया १०८ वीं पीढ़ी मे दिखाई गई थी। परन्तु सब के सब जायसवालों को अपने को 'हैहय क्षत्रिय' के नाम से पुकारने से, न तो हैहय का ही, न इनका ही कोई

बीच मे मुझ से पूछा गया है कि "एक वर्ण की स्त्री जब दूसरे वर्ण के पुरुष से विवाह करेगी, तो विवाह के बाद उस का, तथा उस के लड़कों का, वर्ण क्या होगा ?"। सीधा और स्पष्ट उत्तर इस का वही है जो पहिले कहा गया, कि, जिस तरह वह अपना 'गोत्र' बदल कर पति के गोत्र की हो जायगी, उसी तरह वह अपना 'वर्ण' भी बदल कर पति के वर्ण की हो जायगी, और लड़के भी पिता के ही वर्ण के होंगे, और कर्मकाण्ड-सम्बन्धी धर्मकृत्य के लिये, तथा व्यवहार-धर्म-सम्बन्धी क़ानूनी अधिकार और कर्तव्य के लिये, उसी वर्ण के माने जायंगे, जब तक वे, स्वतंत्र जीविका-कर्म (पेशा) उठा कर, अपना वर्ण-नाम स्वयं बदल न लें।

हर तरह से ऐसा मानना उचित और आवश्यक होगा। स्त्रियों की प्रतिभात्मक शीघ्रगामिनी बुद्धि, और पुरुषों की अनुमानात्मक शनैश्चरता बुद्धि, दोनो ही इस उत्तर की समर्थक हैं। जिस तरह पाश्चात्य देशों में 'किंग' की पत्नी 'क्वीन', 'एम्परर' की 'एम्प्रेस', 'ड्यूक' की 'डचेस', इत्यादि, विवाह होने के साथ ही हो जाती हैं, चाहे वह किसान, या पादरी, या सैनिक की बेटी हो, जिस तरह 'मिस कार्टर' ('छकड़ावाल') 'मिस्टर पोर्टर' ('मोटिया') के साथ विवाह कर के तत्काल 'मिसेज पोर्टर' हो जाती है, और 'कुमारी छकड़ावाल' नहीं रह जाती, जिस तरह 'मिस टेलर' ('दर्जी'), मिसेज स्मिथ ('लोहार) हो जाती है, उसी तरह (इस देश में, संयुक्त प्रांत में), यथा, तहसीलदार की पत्नी को तहसीलदारिन, कोतवाल की कोतवालिन, सेठ की सेठानी, राजा की रानी, पण्डित की पण्डितानी, ठाकुर की ठकुरानी, दूबे की दुबाइन, डाक्टर की डाक्टरनी, सूबेदार की सूबेदारिन, रिसालदार की रिसालदारिन, जमादार की जमादारिन, हवलदार की हवलदारिन, पुरोहित की पत्नी को पुरोहितिन, इत्यादि हैं। पुरातन धर्मव्यवस्थापक मनु ने भी यही कहा है, "यो भर्ता सा स्मृताङ्गना", जो पति है वही पत्नी भी है। इस प्रमाण से, जो वर्ण पुरुष का है वही वर्ण उस की स्त्री का भी है

आवर्तन, सांसारिक प्रकृति के सभी अंगों में, चारों ओर देख पड़ता है। 'नये' प्रकार, जिनसे परमात्मा अपनी वासना को पूरी करता रहता है, वे वास्तव में और भी 'पुराने' प्रकार हैं जिन पर घूमघूम कर वह वापस आता रहता है। हाँ, युगों के आवर्तन में पुराने प्रकार जब पुनर्वार आते हैं, तो अपना रूप कुछ थोड़ा नया कर लेते हैं, कुछ उत्कृष्ट अवस्था में देख पड़ते हैं। हर प्रश्न के दो पहलू (पक्ष), और केवल दो ही पहलू, होते हैं, मनुष्य समाज सदा एक 'अति' की कोटि से दूसरी 'अति' की कोटि तक, आगे पीछे, लगातार चलता रहता है, ("उभयकोटिस्पर्शिनी प्रकृतिः, अनवस्था"), लेकिन हर चक्कर में कुछ आगे बढ़ता है। इस 'द्वंद्वमयी' अवस्था को अंग्रेजी में 'एम्बीवालेन्स' कहने लगे हैं। पहले 'ड्युआलिटी', 'पोलारिटी', कहा करते थे। प्रकृति में स्थिरता, मध्यस्थता, किसी बीच के स्थान पर चिर काल तक ठहरना, नहीं होता। वह सदा एक तरफ की अति से दूसरी तरफ की अति की ओर झपटती रहती है। किन्तु ("पुरुष मध्यस्थ"), पुरुष का काम है कि बीच का रास्ता पकड़े, 'अति' बचावे, इस दोनों खींचातानी का ही फल 'आवर्त', संसार 'चक्र' होता है। भवसागर के मथन में, 'वासुकि' (वायु, प्राण, जी) रस्सी से लपेट कर, 'मन्दर' (स्वत 'मन्द', निश्चेष्ट) पर्वत को एक ओर देव पक्ष, दूसरी ओर दैत्य पक्ष, जब खींचता है, तब 'मन्दर' में और 'सागर' में 'भ्रम', चक्र, उत्पन्न होते हैं, और विष भी और अमृत भी निकलता है।

'नया' आविष्कार करने वाले लोग यह समझते हैं कि हम सचमुच 'नया' उपजा रहे हैं, 'नया' प्रकार निकाल रहे हैं, 'नये' मार्ग पर चल रहे हैं, जिसे किसी ने पहिले नहीं जाना था। दूसरे लोग, पुरातनवादी अपरिवर्तवादी, नियत रूप से, और इतिहास के पूर्वापर को, आगे पीछे को, दूरदर्शिता सूक्ष्मदर्शिता से ग्रहण न कर के, ऐसे नये मार्गों को बाजार में नया समझ कर उस का ज़ोर से विरोध करते हैं। पर इतिहास यह बतलाता है कि नयी पीढ़ियों, नयी जातियों, नये समाज, नयी संस्थाएँ,

सात्विक प्रीति के भावों का, जिन के बिना 'गृह', 'कुल', 'कुटुम्ब' आदि शब्द अर्थ-शून्य हो जाते है, और नयी पुश्त का पालन पोषण असम्भव हो जाता है, और समाज मे से स्थिरता, बद्धमूलता, प्रति-ष्ठा (प्रकर्षेण स्थान) व्यव-स्था (विधिपूर्वक स्थिति) सब लुप्त हो जाती है—इन दो विरुद्ध, मानव-प्रकृति मे विद्यमान, अशुभ और शुभ वासनाओ का समन्वय कैसे किया जाय, किस प्रकार से, स्वार्थपूर्ण आनन्द का, और कर्तव्य-परायणता पर आश्रित सन्तान-पालन का, समन्वय हो, किस प्रकार से दम्पति-रति का और संतति प्रीति का समन्वय हो ?। एक समुदाय स्वार्थ-वासनाओं की तृप्ति पर ही बल देता है, दूसरा परार्थ-वासनाओं की ही पूर्ति पर।

अभीष्ट मध्यम मार्ग

दूरदर्शिता, बुद्धिमानी, राष्ट्र-नायकत्व-योग्यता, राजशास्त्रज्ञता, इसी मे है, कि वैयक्तिक जीवन के तथा सामाजिक, सामूहिक, राष्ट्रीय जीवन के, सभी अंगों की क्रियाओं को, बीच के रास्ते पर रक्खा जाय, और दोनों ओर की 'अति-कोटि' बचाई जाये, यदि घड़ी का लंगर, दोला (लटुआ) एक ओर बहुत ज़्यादा दौड़ जाय तो सारा यन्त्र उलट पड़े और टूट जाय। याद रखना चाहिये कि, सामाजिक राष्ट्रीय जीवन के सभी अंगों का हृदय-स्थानीय, केन्द्र-भूत, गार्हस्थ्य ही है। सब 'गृह' सम्पन्न हों, सब 'गृहस्थ', सब कुटुम्ब सुखी हों, यही समग्र राष्ट्रप्रबन्ध का एकमात्र लक्ष्य है।

पाश्चात्य देशों में विवाह की प्रथा का अद्भुत परिवर्तन हो रहा है। काम विषयक, मिथुनता विषयक ('सेक्सुअल') भी एवम्-आचारविषयक, मर्यादा-विषयक ('मारल') विचारों में विप्लव, परिवर्तन, अधरोत्तर ('रिवोल्यूशन') हो रहा है। इसके साथ साथ समाज की अन्य चिर-कालीन संस्थाओं और प्रथाओं में भी परिवर्तन हो रहे हैं। जो संस्था और प्रथा ('इंस्टिट्यूशन्स'), समाज के स्तम्भ और आधार मानी जाती थीं, और जिन का इस विवाह सम्बन्धी विचारों के परिवर्तन से सम्बन्ध, कारण

गयी है, इस हेतु से, शिक्षित, प्रभावशाली, कार्यपरायण समुदायों मे, इसके विरुद्ध, विद्रोह सा हो रहा है। यदि यह विद्रोह, बुद्धिसमत और शिष्ट प्रकारो से शान्त नही किया जायगा, और समय से उपयुक्त अनुमतियों, रियायतें, न की जायगी, तो हिन्दू समाज मे घोर उत्पात मचने का, और समाज के नष्ट हो जाने का, भय है। "रसरी उतनिहि तानिये, जो नहि जावे टूट"। शिक्षा, देशाटन, और जीविका की आवश्यकताओं के दबाव से, अंतर्वर्ण विवाह बढ़ रहे हैं, बहुत लोग, बहुत दिनों के लिये, अपने घरों से दूर दूर प्रदेशों मे चले जाते हैं, विवाहित स्त्री पुरुष, अपने रिश्तादारों से, और उन सब लोगों से जिन से साधारणतः उनका संबंध था, कट जाते हैं, यदि कोई कारगर तरीके नही निकाले जाते, जैसा कि यह विधान निकालने का यत्न कर रहा है, जिससे ये सब लोग सामाजिक व्यूहन मे अपना उपयुक्त स्थान बनाये रह सकें, तब, अवश्य ही, इनके कारण, समाज-शरीर मे ऐसे दुष्परिणाम उत्पन्न होंगे, जैसे रोगी, दुर्बल, और जर्जर व्यक्ति के शरीर मे पैदा हो जाते हैं, जब उसमे कोई बाहरी, प्रतिकूल, असात्म्य, अजरणीय, अपचनीय, पदार्थ प्रवेश कर के रह जाय, और निकाल कर दूर न किया जा सके। ऐसे अजीर्ण भी और अनु-द्गीर्ण भी, मनुष्य शरीर मे बड़े उपद्रव उत्पन्न करते हैं। इस लिये उचित है, आवश्यक है, कि इनका संशोधन करके, इन को सात्म्य बना के, इनका, समाज-शरीर में परिणमन करण, पाचन, मिश्रण, आत्मसात्करण, कर लिया जाय।

भारत वर्ष के प्राचीन, किंवा 'सनातन', धर्म का, हृदय कहिये, मर्म कहिये, प्राण कहिये, सार कहिये, अध्यात्मशास्त्रानुसारी 'वर्णाश्रम-धर्म' है। इस लिये इस वर्ण-धर्म के तत्व पर, उसका सच्चा रूप निश्चित करने के लिये, जितना भी विचार किया जाय, उचित है। लोग, 'शास्त्रों' के, 'आप्तों' के, सत्य तत्व तक 'प्राप्तों' के, शब्दों का, प्रमाण करते हैं। करना उचित है। इन्हीं में, अर्थात् ज्ञानियों अनुभवियों में, [illegible]

इस सनातन पुरुष का मुख (-स्थानीय) ब्राह्मण हुआ, इस के बाहु (के स्थान मे) राजन्य क्षत्रिय किया गया, जो वैश्य है वह इसका ऊरु हुआ, तथा पावो के लिये शूद्र उत्पन्न हुआ ।'

अब, यदि इस वेद मत्र का अक्षरार्थ ही लिया जाय, तब चारो वर्णों का ऐसा घनिष्ट सम्बन्ध है, जैसे सिर, बाँह, जाँघ अथवा धड, और पैर का। 'अथवा धट' इस वास्ते कि भीष्मस्तवराज मे ऐसा ही कहा है, "कृत्स्नमूरूदर विश "। जब इनमे इतना घनिष्ट सम्बन्ध है, जो भाई भाई के सम्बन्ध मे कही अधिक नजदीकी है, तब इनके बीच 'छूओ मत', 'खाओ मत', 'ब्याहो मत' का दुराव बराव कैसा ?

पर यदि ऐसा अक्षरार्थ न किया जाय, और स्पष्ट ही न करना चाहिये, क्योंकि रूपकमात्र है, तब भी यह विचारने की बात है कि, जहाँ तब मैं ने देखा पूछा, सुना, यह नही जान पडा कि वेद मे कही भी यह कहा है कि चारो वर्ण एक दूसरे को छूवें नही, साथ खायें नही, साथ विवाह न करें । ऐसी स्पष्ट मनाई वेद मे देखी सुनी नही गयी । प्रत्युत, मनु सन्तान के लिये वेद मे यह आज्ञा है,

समानी प्रपा, सह वो अन्नभाग ,
समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि,
स गच्छध्वम् , स वदध्वम्
स वो मनासि जानताम् । इत्यादि ।

१ 'पद्भ्या' को पचमी विभक्ति मान कर इसका अर्थ 'पैरो से शूद्र पैदा हुआ' यही प्राय समझा जाता है । एक घूमते फिरते हुए सन्यासी से मुझे शिक्षा मिली, कि 'पद्भ्या' चतुर्थी है 'पैरो के लिये', विराट् पुरुष के शरीर में पैरो के स्थान के लिये, पैर बनने या पैर होने के लिये, शूद्र हुआ । जैसे, ब्राह्मण मुख हुआ, मुख से पैदा हुआ नहीं, क्षत्रिय भुजा बनाया गया, भुजा से पैदा हुआ नहीं, वैश्य जांघ था, जांघ से पैदा नहीं हुआ, एव, पैर का स्थान शूद्र ने लिया पैर से पैदा नहीं हुआ ।

वर्णव्यवस्था का इस उपन्यस्त विधान से सूत्रपात होता है, तो यह सब बात अति शीघ्र बदल जाय, समग्र समाज में, 'सुसहताश्चापि, न भिन्नवृत्तयः', 'सङ्घशक्ति' नाम की 'दुर्गा देवी' का नवावतार हो, और सब अभीष्टों की सिद्धि हो ।

पुनर्वार पाठक सज्जनों को याद दिलाता हूं कि यह उपक्षिप्त उपन्यस्त विधान किसी को भी अपने जन्मवर्ण के बाहर विवाह करने को विवश नहीं करता। केवल यही कहता है कि यदि कोई पुरुष ऐसा विवाह कर ले, तो उसको, बहिष्कृत करके, 'जात बाहर' मत करो, और उसकी पत्नी का वही वर्ण समझो जो उस पुरुष का है ।

हिन्दुत्वके आधुनिक बाह्य लक्षण

'जातिप्रथा' के असली और दिखाऊ अर्थ पर, उसके कृत्रिम, मिथ्या, बाहरी जाहिरी लक्षणों के, और उसके सच्चे, तात्त्विक, मौलिक लक्षणों के, बारे में, उसके वैज्ञानिक (शास्त्रीय) और अ-वैज्ञानिक (अ-शास्त्रीय) रूप के सम्बन्ध में, कुछ कहना आवश्यक है, जिससे इस उपक्षिप्त विधान के आभ्यन्तर आत्मिक हृदय पर अच्छा प्रकाश पड़ेगा ।

इधर कई जातियों, (शताब्दियों, सदियों) से, 'हिन्दू' कहलाने वाले समाज का सब से अधिक व्यक्त रूप यह रहा है, कि वह परस्पर भेदभरी जातियों और उपजातियों का ढेर है, जिनकी संख्या अभी तक बढ़ती ही जा रही है। सन १९०१ ई० की मर्दुमशुमारी में २३७८ जातियों और उपजातियों का उल्लेख किया गया है । १९३१ की गणना की रिपोर्ट में, संख्या "दो से तीन हजार तक" लिखी गयी है । और उस समाज के धर्म का, जो धर्म अब 'हिन्दुत्व' कहलाता है, सब से ज्यादा ध्यान खींचनेवाला, सब से अधिक प्रसिद्ध लक्षण यह है कि, जातियां, और (कुछ अपवादों को छोड़ कर) उपजातियां, आपस में रोटी बेटी का व्यवहार न करें, और जो मनुष्य करें वे जाति से निकाल दिये जायें, जातिच्युत हों, और बहुत सी सामाजिक सुविधाओं और आनन्दों से हाथ धो बैठें ।

कड़ी हो गयी है, कि उस ने प्राण के यथोचित सचार को रोक कर स्वास्थ्य नष्ट कर दिया है, और जीवन को खतरे मे डाल दिया है।

कुरूपता का कारण, अंग-विशेष की अतिवृद्धि

यदि यह मैल की तह सावधानी से निकाल दी जाय, तो शुद्ध वर्णधर्म आश्रमधर्म का जौहर फिर से खुलेगा, और यह भी देख पड़ेगा कि उस तह के नीचे ऐसे तत्त्व हैं, जिनके अनुरूप, किन्तु अपरिष्कृत, सब सभ्य समाजो मे तत्त्व पाये जाते है। समाजसंघटन के जो तत्त्व और सिद्धान्त अपने पूर्णरूप मे सर्वथा सहेतुक और लाभदायक हैं, उन का अगभग करने से, और अर्ध सत्यों को पूर्ण सत्य समझ लेने से ही, यह महा रोग पैदा हो गया है। व्यग्य चित्र, हास्य चित्र, ('कार्टून'), का रहस्य इतना ही है कि कोई एक अग विशेष, बिगाड़ कर, बहुत बड़ा या बहुत छोटा दिखाया जाय। सुन्दर से सुन्दर मनुष्य का मुख अत्यन्त कुरूप देख पड़ेगा, यदि उस की नाक या कान बहुत बढ़ा कर या बहुत घटा कर दिखायें जाय। हिन्दूसमाज का अग विकृत इस लिये हुआ है, कि उस मे उस नियम पर हद से ज़्यादा ज़ोर दिया गया है, जिसे पाश्चात्य विज्ञान शास्त्री 'ला आफ़ हेरिडिटी' वा 'आनुवंशिक नियम', 'जन्मना वर्ण', कहते हैं, और उतने ही उपयोगी और उस के सहकारी दूसरे नियम की उपेक्षा कर दी गयी है जिसे 'ला आफ म्यूटेशन,' 'स्वभाव-विशेषाभेप नियम,' 'कर्मणा वर्ण' कहते हैं। इस के विपरीत, पाश्चात्य समाज मे (आधुनिक काल को स्यात् छोड़ कर) 'कर्मणा वर्ण,' पर ही अधिक जोर दिया जाता है, जिस का परिणाम नितान्त अव्यवस्थित, अनियन्त्रित, स्पर्धा प्रतियोगिता संघर्ष, और नित्य की उथलपुथल, है। इन दोनों मे [illegible] अपनी [illegible] होती है। [illegible] इस बात की सूचना [illegible] किस प्रकार [illegible] उचित होगा, फिर, [illegible] से [illegible]

नीति 'जन्मना', विशेष नीति 'कर्मणा'। उत्सर्ग 'जन्मना', अपवाद 'कर्मणा'।

विवाह के, तथा वैयक्तिक और सामूहिक जीवन के अन्य कर्मों के, संबंध में, बीच का मार्ग अवलम्बन करने से ही, परस्पर विरोधी नियमो का समन्वय करने से ही, प्रत्येक नियम और प्रवृत्ति को व्यक्त होने के लिये, भली भाँति सुविचारित, नियमित, नियन्त्रित अवसर देने से ही, व्यक्ति और समाज अपने स्वास्थ्य की रक्षा करते हुए, समृद्ध हो सकते हैं।

वर्णव्यवस्था का, 'कर्म' अर्थात् पेशा के आधार से हट कर, जन्म के आधार पर चला जाना

यह विश्वास करने के लिये अनेक कारण हैं, कि भारतीय सभ्यता के प्रारम्भ में नियम यह था, कि मनुष्य अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुरूप, जिस का निर्णय उसके शिक्षक आचार्य करते थे, वृत्ति अर्थात् जीविकाकर्म या पेशा ग्रहण करता था। आचार्य ही उसे, उसकी प्रवृत्ति और रुचि के अनुरूप, 'वर्ण'-नामात्मक उपाधि देते थे, जैसे आजकल 'प्रोफेसर', 'डाक्टर', 'जेनरल', 'जज', 'बैंकर' आदि उपाधि दी जाती है। उसे पाने के बाद, वह व्यक्ति उन्हीं उपायों से जीविकोपार्जन कर सकता था जो उस वर्ण के लिये निर्दिष्ट थे। दूसरे वर्णों की जीविका के उपायों पर अधिकार नहीं कर सकता था। तथा अपनी जीविका से जो अधिकार सम्बद्ध थे, वे ही उसे मिलते थे, और उन्हीं के कर्तव्य उसे पालन करने पड़ते थे। अन्य अधिकारों और कर्तव्यों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता था। इस सिद्धान्त की व्यावहारिकता, आज भी, स्वभावतः, किसी किस्म तक स्वीकार की जाती है। जैसे गवर्नमेंट के नौकरों को दूसरी नौकरी करना मना है। पर, अपने वेतन के सिवा, कई अन्य प्रकारों से भी धन का उपार्जन करना उनके लिये मना नहीं है। प्राचीन प्रथा के अनुसार मना होना चाहिये।

[illegible]

[illegible]

इस सिद्धान्त से, कार्य का और वेतन का, श्रम का और विश्राम का, शरीर और मन के खेदन और रंजन का, काम और दाम का, व्यायाम और आराम का, मिहनत और उज्रत का, न्याय्य विभाजन होता है, तथा बेकारी घटाने में सहायता मिलती है।

वर्ण-व्यवस्थापन के आरम्भ काल में ऐसा ही विभाजन, स्मृतियों से सिद्ध होता है। बाद को, जीविका, वृत्ति, मआश, रिज़्क, के मामिले में, 'जन्म' का प्रभाव अधिकाधिक पड़ने लगा। वृत्ति के अनुसार बने हुए वर्ण, मध्य युग में, जातियों और उपजातियों के रूप में परिणत हो गये, जो एक दूसरे का बराव करने लगे। इन जात्युपजातियों का भीतरी मतलब, सबब, हेतु, प्रयोजन, प्राय वही होता था, जो व्यापारी या औद्योगिक संघों, पूगों निगमों, श्रेणियों, दलों, सार्थों का हुआ करता है। आज-काल के शब्दों में इन को 'ट्रेड यूनियन', 'ट्रस्ट', 'कार्टेल', 'गिल्ड', 'असोसियेशन', 'कम्पनी' आदि नाम से पुकारते हैं। इनका अभीष्ट, मक़्सद, यही होता है कि अपने अपने भीतर के व्यक्तियों की आर्थिक समृद्धि और जीविका प्राप्ति में सहायता की जाय, और बाहर वालों के मुक़ाबिले रक्षा की जाय। आर्थिक स्वार्थी कारणों से ही प्रेरित होकर, ये सब नये व्यक्ति को जल्दी अपने भीतर आने नहीं देते थे। आज भी, सर्वत्र व्यवसाय संघ के से समूहों में, इस प्रकार की आर्थिक संकीर्णता और ईर्ष्या दिखाई देती है। इस देश के एक प्रधान नगर में एक ऐसा 'अटोर्नियों' का 'असोसियेशन' है जिस में किसी एक नये व्यक्ति का प्रवेश सम्भव नहीं है, जो किसी वर्तमान सदस्य का बेटा या दामाद या ऐसा ही कोई नज़दीकी रिश्तादार या विशिष्ट मित्र न हो।

इन चार वर्णों के नामों की व्युत्पत्ति ही से सिद्ध होता है, कि वे प्रधानतः वृत्तियों के, पेशों के, जीविका के द्योतक थे। जैसे (१) ब्राह्मण, ('ब्रह्म' अर्थात् 'वेद' अर्थात् आध्यात्मिक और आधिभौतिक शास्त्रों के वेत्ता), अध्यापक, डाक्टर, [illegible] 'प्रीस्ट' से, पादरी-पुरोहित-[illegible]

इस सिद्धान्त से, कार्य का और वेतन का, श्रम का और विश्राम का, शरीर और मन के खेदन और रजन का, काम और दाम का, व्यायाम और आराम का, मिहनत और उज्रत का, न्याय्य विभाजन होता है; तथा बेकारी घटाने मे सहायता मिलती है।

वर्ण-व्यवस्थापन के आरम्भ काल मे ऐसा ही विभाजन, स्मृतियों से सिद्ध होता है। बाद को, जीविका, वृत्ति, मआश, रिज़्क, के मामिले मे, 'जन्म' का प्रभाव अधिकाधिक पड़ने लगा। वृत्ति के अनुसार बने हुए वर्ण, मध्ययुग मे, जातियों और उपजातियों के रूप मे परिणत हो गये, जो एक दूसरे का बराव करने लगे। इन जात्युपजातियों का भीतरी मतलब, मन्शा, हेतु, प्रयोजन, प्रायः वही होता था, जो व्यापारी या औद्योगिक सघों, पूगों, निगमों, श्रेणियो, दलो, सार्थों का हुआ करता है। आजकाल के शब्दों मे इन को 'ट्रेड यूनियन', 'ट्रस्ट', 'कार्टेल', 'गिल्ड', 'असोसियेशन', 'कम्पनी' आदि नाम से पुकारते है। इनका अभीष्ट, मक़सद, यही होता है कि अपने अपने भीतर के व्यक्तियों की आर्थिक समृद्धि और जीविका प्राप्ति मे सहायता की जाय, और बाहर वालो के मुक़ाबिले रक्षा की जाय। आर्थिक स्वार्थी कारणो से ही प्रेरित होकर, ये सघ नये व्यक्ति को जल्दी अपने भीतर आने नहीं देते थे। आज भी, सर्वत्र, व्यवसाय सघ के से समूहों मे, इस प्रकार की आर्थिक सकीर्णता और ईर्ष्या दिखाई देती है। इस देश के एक प्रधान नगर मे एक ऐसा 'अटोनियो' या 'असोसियेशन' है जिस मे किसी एक नये व्यक्ति का प्रवेश सम्भव नहीं है, जो किसी वर्तमान सदस्य का बेटा या दामाद या ऐसा ही कोई नज़दीकी रिश्तादार या विशिष्टमित्र न हो।

मुख्य चार वर्णों के नामो की व्युत्पत्ति ही से सिद्ध होता है, कि वे प्रधानतः वृत्तियों के, पेशों के, जीविका के, द्योतक थे। जैसे (१) ब्राह्मण, ('ब्रह्म' अर्थात् 'वेद' अर्थात् आध्यात्मिक और आधिभौतिक शास्त्रों के वेत्ता), अध्यापक, याजक, पाठक, इत्यादि से, धर्म-एव-सहकारि

वैज्ञानिक रूप से, समाज का नया व्यवस्थापन करने के लिये मजबूर होगा।

भिन्न भिन्न वृत्तियों के भिन्न भिन्न संघों में बड़ी उपयोगिता और कार्यसाधकता थी, पश्चिम और पूर्व में सर्वत्र, यन्त्रों के आविष्कार से, अब वह प्रबंध टूट गया, उस संघ व्यवस्था ('गिल्ड-सिस्टेम') के टूटने का प्रधान कारण, अति लोभ, ईर्ष्या, और परस्पर दुराव गराव हुआ है। पर संभव है कि क्रमशः पुनर्वार अधिक अच्छी रीति से, व्यवसाय-संघ, पूग, निगम, श्रेणी, 'ट्रेड यूनियन', 'गिल्ड', पचायत, बिरादरी, आदि, नये नये नाम और आकार नये नये रूप भी, देश काल निमित्तानुसार धारण कर के, पुनर्जीवित हों, जैसा रूस में तथा अन्यत्र भी होता मालूम होता है। मनमाना पेशा उठा लेने पर जो भारतवर्ष में पहिले रुकावट थी, वह जब दूर हो गयी है, और कुलागत, वंशागत, 'जातीय', पेशा करने पर जोर नहीं दिया जाता तब अन्तर्वर्ण विवाह की रुकावट को बनाये रखने का कोई अर्थ नहीं रह गया है। उससे कोई लाभ नहीं देख पड़ता। अब उस रुकावट में उपयोगिता कुछ भी नहीं रह गयी है, प्रत्युत प्रत्यक्ष हानिकारकता बहुत हो गयी है।

यदि लोग वर्ण-जाति के विरुद्ध पेशा न करने पाते, तो वर्णजाति के विरुद्ध विवाह भी न करना कुछ सार्थक था। 'समानशीलव्यसनेषु सख्यम्'। जिनका एक प्रकार का रोजगार उनका प्रायः एक प्रकार का रहन-सहन, खान पान, आहार विहार, आचार विचार, घर द्वार, रहन [illegible] रस्म-रिवाज, रीति नीति, बोल-चाल, शील-स्वभाव। ऐसों ही का परस्पर प्राण सम्बन्ध, विवाह-सम्बन्ध, अन्न-सम्बन्ध, [illegible] उचित है। जहाँ पेशा एक नहीं, व्यवहार एक नहीं, वहाँ सन्तान का कुछ अर्थ नहीं, [illegible] भविष्य [illegible] होगा। [illegible] आजकाल यह हो रहा। [illegible] हिन्दुस्तान [illegible] लोग पश्चिमीय देश के विवाह-सम्बन्ध करने का पक्ष करते हैं क्योंकि उनका

लिये, आत्मोन्नति कर के, मुख्य चार वर्णों मे से किसी के अन्तर्भूत हो जाने के उपाय भी बताये गये है। महाभारत मे, जो धर्मशास्त्र का ग्रन्थ समझा जाता है, विराट पर्व (अ० २१) मे कहा गया है कि, मत्स्य देश मे ब्राह्मण क्षत्रिय मे परस्पर विवाह होता है, और उन की सन्तति द्विज ही समझी जाती है। क्षत्रिय पुरुष से ब्राह्मण स्त्री को जो पुत्र हो वह 'सूत' कहा जाता था, और राजा लोग उससे विवाह संबन्ध करते थे, सूतों के एक राजा का नाम केकय था।

ब्राह्मण्या क्षत्रियाज्जात सूतो भवति, पार्थिव !,
प्रातिलोम्येन जाताना स हि एको द्विज एव तु।
सूतेन सह सम्बन्ध कृत पूर्व नराधिपै,
सूताना अधिपो राजा केकयो नाम विश्रुत।

कर्ण पर्व मे, जब कर्ण और शल्य एक दूसरे की निन्दा कर रहे थे, तब, आक्षेपबुद्धि से, पर वास्तविक स्थिति दिखाते हुए, कर्ण ने कहा है कि पचनद के अन्तर्गत वाह्लीक देश मे पुरुष अपना वर्ण अकसर बदलते रहते हैं।

तत्र वै ब्राह्मणो भूत्वा, पुनर्भवति क्षत्रिय,
वैश्य, शूद्रश्च, बाहीक, ततो भवति नापित,
नापितश्च ततो भूत्वा, पुनर्भवति ब्राह्मण,
द्विजो भूत्वा च तत्रैव, पुनर्दासोऽभिजायते। (कर्ण पर्व अ० ३६)

वाह्लीक देश मे, वही पुरुष कभी ब्राह्मण, कभी क्षत्रिय, कभी वैश्य, कभी शूद्र, हो जाता है, 'नापित' (नाई, हज्जाम) हो कर पुन ब्राह्मण, और पुन दास (मछुआ धीवर) हो जाता है। मतलब यह कि पचनद प्रदेश मे, महाभारत के समय मे भी, 'जन्मना' पर उतना जोर नहीं दिया जाता था, जितना ब्रह्मावर्त प्रान्त मे, बल्कि 'कर्मणा' ही पर अधिक जोर दिया जाता था, पर दोनो प्रान्तों मे यौन-सम्बन्ध निरन्तर होते थे। शल्य स्वयं युधिष्ठिर के मातुल थे।

ऐसे मिल गये हैं कि अलग नहीं किये जा सकते। सब आकार प्रकार के मनुष्य सब जातियों में पाये जाते हैं। कोई ऐसा विशेषक व्यावर्तक लक्षण नहीं है जो एक ही जाति में पाया जाता हो, दूसरी किसी में न मिलता हो। सभी जातियों की हदें, परिधियां, एक दूसरे में, सूक्ष्म रीति से लीन हो जाती हैं। जातियां नहीं हैं, वर्ग हैं।"[1] यह एक श्वेत वर्ण के 'अमेरिकन' का लेख है। सब को मालूम ही है कि श्वेतांगों में जाति-गर्व कितना बढ़ा हुआ है, पर यह लेखक सत्यकाम है, गर्व-काम नहीं, जाति-मद-मत्त नहीं। ऐसी दशा में, यदि विवेकपूर्वक, 'विशिष्टाया विशिष्टेन', 'समानाया समानेन' विवाह हों, चाहे वे 'अन्तर्वर्ण विवाह' हों, चाहे 'वर्णान्तर-विवाह' हों, चाहे नाम को 'असवर्ण' विवाह कहावें, चाहे 'सवर्ण विवाह' कहावें, वे ही सच्चे असली 'सवर्ण' अर्थात् सम शील-व्यसन-विवाह होंगे और तभी भारतीय मानव वंश का मान भी और शारीर भी उत्कर्ष हो सकता है। केवल नाममात्र जाति वा उपजाति या वर्ण या उपवर्ण के बाहर विवाह न करने की अन्धप्रथा से तो अपकर्ष ही होता जाता है, और होता जायगा।

पाश्चात्य देशों में भी, विशेष कर सम्पत्तिशाली समाजों में 'असमान' विवाह ('मेस आलियांस') का विरोध किया ही जाता है। पर वहाँ 'असमान' विवाह का अर्थ है, अपने पद, अपनी संस्कृति, और अपने सामाजिक गौरव के नीचे विवाह करना। एक बहुत धनी की लड़की यदि किसी गाड़ीवान, या दरबान, या चौकीदार, ऐसे छोटे नौकर, या शोफर के साथ भाग जाय तो उसकी निन्दा बहुत होती है। जैसे

१ [illegible]

सामान, जो अच्छा दुरुस्त काम लायक हो, वह भी चूर हो जायगा। बिना आँख से काम लिये, केवल हाथों से झाड़ू ही चौफेर चलायी जाय, तो कूड़ा करकट जाले मकड़े के साथ, सोन चाँदी हीरा मोती की चीजें भी फिंक जायंगी। भीतरी और बाहरी, पुरानी और नयी, प्राचीन और अर्वाचीन, पूर्वी और पश्चिमी सभ्यताओं के भीषण संघर्ष से, अपरिवर्ती 'पूर्व' देशों मे भी व्यापक परिवर्तन होने लगे हैं। आपस की फूट से जर्जर, असंख्य जातियों के परस्पर भेदभाव से शीर्ण जीर्ण, भारतवर्ष मे, यह परिवर्तन, ब्रिटिश जाति के राजनीतिक प्रभुत्व के कारण और भी तीव्र, विवेक-शून्य, और दूषित हो रहा है। विपरीत इसके, जापान मे, जो अपने उत्कृष्ट गुणों के कारण स्वाधीन और महाभाग्यवान् है, जो परिवर्तन किये जा रहे हैं, वह सब सुविचारपूर्वक, सुविवेकपूर्वक हो रहे हैं। भारत का पश्चिम से संपर्क हुआ, और राजनीतिक स्वतंत्रता स्वराजकता लुप्त हो गई, दासता पराधीनता आ गई; जापान का भी पश्चिम से संपर्क हुआ, पर वह अपनी उद्दाम स्वाधीनता सर्वथा बनाये रहा, बल्कि अधिकाधिक उत्कृष्ट और बलवती करता रहा है; यही, इन दोनो देशों की दशाओं मे जो ज़मीन आस्मान का, आकाश पाताल का, अन्तर है, उसका कारण है। पश्चिम के पैरों मे भारत जनता, अपने पापिष्ठ भेदभावों के कारण, बँध गयी है, सर्वथा पराधीन हो गई है। इस लिये जैसे जैसे वे पैर चलते हैं, हम भी उधर घिसते घसिटते हैं। वहाँ के भावों और विचारों की लहरें हमारे जीवन के सभी अंशों मे, अतः वैवाहिक अंशों मे भी, वैसे ही विक्षोभ उत्पन्न कर रही हैं। इस अवस्था में हमारा कर्तव्य यही है, कि प्राचीन से नवीन मे संक्रमण के समय होने वाली आकुलता को, जहाँ तक हो सके, कम करने का यत्न करें, और निरर्थकों तथा कुप्रथाओं और मिथ्याचार की नई बातों को, जिनसे समाज की बड़ी हानि हो रही है, दूर करने मे तत्पर होते हुए, प्राचीन मे जो कुछ सच्चा, सात्विक, अंश है, उसकी रक्षा करें।

केवल इस लिये विवाह न होने देना, कि वर-वधू का जन्मना वर्णनाम एक नहीं है, यह नितांत मूढग्राह है।

ज्योतिष के विचार

इस सम्बन्ध मे एक कुतूहल-जनक और गुर्वर्थ बात पर, अपरिवर्त-वादि सज्जनो को ध्यान से विचार करना चाहिये। ज्योतिष-शास्त्र के अनुसार, जो जन्म-पत्रिका बनाई जाती है, उस मे नवजात शिशु का जो वर्ण बताया जाता है, वह अक्सर माता पिता के 'जाति' या 'वर्ण' के नाम से भिन्न होता है। ज्योतिष शास्त्र के सम्बन्ध मे, यूरोप के प्रसिद्ध विद्वान् युङ्ग—जो अभी जीवित हैं, तथा जो चित्तचिकित्सा ('साइको-एनालिसिस') के नवीन विज्ञान के प्रसिद्ध प्रवर्त्तकों और जनकों में गिने जाते हैं—अपनी एक हाल की पुस्तक ('मॉडर्न मैन इन सर्च आफ ए सोल') में कहते हैं कि ज्योतिष से, किसी व्यक्ति के जन्मकाल की ग्रह-स्थिति से उसका स्वभाव निर्धारित करने में बड़ी सहायता मिलती है। आप यह भी कहते हैं कि, प्राचीन काल के लोगों के मानस-शास्त्र-विषयक उत्कृष्ट ज्ञान का प्रमाण इस शास्त्र से मिलता है। इस ज्योतिष शास्त्र पर बहुतेरे यूरोपियन, ईसाई, तथा मुसलमान भाई भी, ज़ाहिरा नहीं तो छुपके छुपके, गहिरा विश्वास करते हैं। इसी शास्त्र की सहायता से हमारे अपरिवर्तवादि, हिन्दू भाई यह जानने की चेष्टा करते हैं कि वर और वधू के ३६ गुणों में [illegible] मिलते हैं या नहीं। वर वधू के [illegible] और [illegible], तथा उनके स्वभाव मिलते हैं या नहीं, यह जानने की इच्छा [illegible] स्वाभाविक और वैज्ञानिक है। इसके निर्णय के लिये, यदि इससे अधिक [illegible] साधन न मिले, तो [illegible] ज्योतिष का अवलोकन [illegible] अनुचित नहीं है। कम से कम प्रत्येक हिन्दू, जो अपने को सनातनी [illegible], इसकी अवहेलना नहीं करता, प्रत्युत इस पर विश्वास करता है। [illegible] हिन्दू इस शास्त्र की [illegible] और [illegible] करते हैं, [illegible]

ईसा से पूर्व की छः सात शतियों में जब रोम के राष्ट्र में संघराज्य (रिपब्लिक) का शासन-प्रबंध था, उन्हीं उन्हीं 'पेट्रिशन' कुलों में से 'पांटिफ़, हारुस्पेक्स, फ़्लामेन' आदि धर्माधिकारी 'ब्राह्मण' भी, और 'कान्सल, सेन्सर, डिक्टेटर, प्राइटर', 'सेनापति ज़ेनरल, आदि शासनाधिकारी 'क्षत्रिय' भी, चुने और नियुक्त किये जाते थे। एवं ईसा के बाद, मध्ययुग में, यूरोप में, 'प्रिंस आफ़ दी लैंड', पृथ्वी-शासक, 'भूपति', 'क्षत्रिय', और 'प्रिंस आफ़ दी चर्च', 'देवालय-शासक', 'धर्म-पति', 'ब्राह्मण', अक्सर सगे भाई होते थे। एवं, भारत में, बौद्धकाल में, एक भाई राजा और एक भाई भिक्खु संघ का नायक।

सवर्ण-विवाह और वर्ण-संकर का सच्चा अर्थ

यदि दो व्यक्ति, युवक युवती, समान आचार-व्यवहार और समान जीविका वाले दो परिवारों में उत्पन्न हों और पाले-पोसे जायँ, तो यह अनुमान करना और मानना, कि उनके मानसिक और शारीरिक गुण परस्पर-विरोधी न होंगे, यह अनुचित नहीं है। अपनी जाति के भीतर ही, अर्थात् 'सवर्ण' विवाह के मूल में शास्त्रीय या वैज्ञानिक तथ्य इतना ही है। पर यह कहना, या इस बात पर ज़ोर देना, कि दो व्यक्ति दो भिन्न नाम की जातियों में उत्पन्न हुए हैं, इस लिये उनके स्वभाव या गुण नहीं ही मिल सकते, यह वर्तमान स्थिति में, जब कि जाति या वर्ण का नाम किसी व्यक्ति के शील, आचार, व्यवहार, और वृत्ति का द्योतक कुछ भी नहीं होता, केवल रूढ़ग्राह है।

वस्तुतः सवर्ण विवाह का अर्थ ऐसे व्यक्तियों का विवाह है जिनके गुण-कर्म, जिनके बौद्ध और शारीर व्यसन, जिनकी ज्ञान-इच्छा-क्रिया-संबंधी रुचि-अरुचि, समान या अविरोधी हों, परस्पर संगत हों। सवर्ण का अर्थ यह नहीं है कि केवल उनके जाति-नाम वर्ण-नाम मात्र एक हों। मनुष्यों के लिये यह भ्रम साधारण है, कि कार्य को कारण और कारण को कार्य मान लें। ऐसे ही भ्रम में हम हिन्दू लोग पड़ गये

अस्पृश्यता का प्रश्न

अन्तर्वर्ण विवाह के इस प्रश्न से अस्पृश्यता के प्रश्न का भी सम्बन्ध है। अस्पृश्यता, मल का गुण है, न कि मनुष्य वा जाति का। धर्माभिमानी लोगों के अस्पृश्यता-विषयक भाव मे विज्ञान का अंश इतना ही है, कि स्पर्श उन लोगों का अनुचित है जो मलिन हैं, अथवा संक्रामक वा छूत के रोगों से पीड़ित हैं। पर, मनुष्य चाहे जैसा निर्मल और नीरोग और शुभ्र हो, यदि उसका जाति-वर्ण-नाम किसी ऐसी जाति का है जो प्रचलित प्रथा से अस्पृश्य है, तो उसे छूना न चाहिये—यह केवल 'मूढ़-ग्राह' है। और ऐसे आदमियों का, अपने लिये, ऐसे जाति वर्ण-नाम को दाँतों से पकड़े रहना, यह और भी घोर 'मूढ़-ग्राह' है।

वस्तुतः, किसी का नाम ही ऐसा न होना चाहिये, जिससे कोई पेशा समझा जाता हो, पर वह उस पेशे का न हो। 'दलित वर्ग' का प्रश्न एक क्षण मे हल हो जाय, यदि वे हज़ारों क्षुद्र जातिनामों का त्याग कर दें, और प्रधान चार वर्णो मे से ऐसे वर्ण के नाम का ग्रहण करें जिसके अन्तर्गत उनका पेशा हो; यथा, करोरों 'हरिजन', जो कृषि से जीविका करते हैं, वे अपने को 'वैश्य' ही कहें, और सब नाम छोड़ दें। साथ ही, यदि उनका पेशा मैले काम का हो, तो वह काम कर के तुरन्त अपना शरीर धो कर साफ़ करना चाहिये; तथा समाज की ओर से उन्हें शिक्षा मिलनी चाहिये, कि वे अपना शौच इस तरह करें। यह प्रश्न वस्तुतः बहुत सरल है, पर उसे हल करने की नीयत का, और उपाय के ज्ञान का, अभाव है; इसी से सरल भी अत्यन्त कठिन हो गया।

प्राणहारक शब्द और प्राणधारक भाव

सभी देशों और सभी कालों मे मनुष्य के स्वभाव की इस दुर्बलता का परिचय मिलता है कि, वह प्राण बढ़ाने वाले 'भाव' की तो उपेक्षा करता है, और मार डालने वाले 'शब्दों' को पकड़े रहता है; अनाज को दूर फेंक देता है, और भूसी को हिफ़ाज़त से रखता है।

स्वभावानुकूल जीविका-साधन का काम दे कर यह व्यवस्था भी की गयी, कि उसके ख़ास गुणो के सदुपयोग से सारे समाज की सेवा भी हो।

आगे चल कर यह भाव ही उलट गया। जहाँ मूल-कल्पना, गुणानुरूप जीविका-कर्म की थी, वहां नई कल्पना हुई जन्म से कर्म की; गुण का स्थान जन्म ने लिया; जन्म से कर्म स्थिर किया जाने लगा; और आगे चल के यह भी व्यवस्था गिर गयी, वर्ण कुछ और कर्म कुछ होने लगा। फलतः, सुसंघटित, सुसंहत, सुव्यूढ़ समाज, विशृंखल, असंहत, विदीर्ण हो गया, और उसके हज़ारों टुकड़े ऐसे हो गये जो एक दूसरे से ईर्ष्या, मत्सर, विरोध, स्पर्धा करने ही मे अपना भला मानते हैं।

वर्णव्यवस्था की सर्वसंग्राहकता

यदि वर्णव्यवस्था के, अर्थात् चतुर्विध जीविका-कर्मों के, अनुसार, समाज के वर्गीकरण के मूलगत, अन्तःकरण-शास्त्रानुकूल, अध्यात्म-शास्त्रानुकूल, सिद्धान्तों का अर्थ ठीक ठीक और उदारतापूर्वक किया जाय, तो यह व्यवस्था अब भी अपना मूल उद्देश्य सिद्ध कर सकती है। समस्त जगत् के मनुष्य-जीवन को, बुद्धिपूर्वक, ख़ूब सोच समझ कर, परस्पर-सम्बद्ध, अन्योन्याश्रित, चार भागों मे विभक्त कर के, सुसंघटित और सुसंयोजित करना—यही यह उद्देश्य है। पूर्वकथनानुसार चार वर्ग ये हैं—पहिला वर्ग 'शिक्षकों', ब्राह्मणो, ज्ञानियों, आलिमों आरिफ़ों का है, यानी उन लोगों का जो ज्ञान, इल्म, 'इर्फ़ान' के अधिकारी हैं—वह ज्ञान जो विज्ञान और विश्वप्रेम से युक्त है; दूसरा वर्ग 'रक्षकों' का है, जिसमे क्षत्रिय, हाकिम़, आमिल हैं, जिन मे 'अम्र', 'हुकूमत', 'आज्ञाशक्ति', तथा शौर्य है—वह शौर्य जो परोपकारी है; तीसरा वर्ग आर्थिक 'पोषकों' का है, जिस मे वाणिज्य व्यापार मे कुशल व्यक्ति हैं—वह वाणिज्य और तिजारत जिससे सब मनुष्योपयोगी पदार्थों का संग्रह और वितरण, कुशलता और उदारता से होता है; अन्तिम और चौथा

वाह्यतः, समाज व्यवस्था मे रूस के बिलकुल विरोधी दिखाई देने वाले मार्गों से, पर कई गुर्वर्थ बातों मे तत्सदृश ही, व्यवस्थित-समाज-संघटन का काम कर रहा है। भारत की प्राचीन व्यवस्था ने इन दोनो का समन्वय करने और ऊपरी नुमाइशी विरोधों का परिहार करने का मार्ग दिखाया है।

मूल वर्णव्यवस्था मे स्थान पाने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि कोई मनुष्य अपने देश, राष्ट्र, मातृभाषा, वा विशेष धर्म का त्याग करे। किसी देश का रहनेवाला, किसी राष्ट्र का सदस्य, किसी भाषा का बोलने वाला, कोई भी नाम धारण करने वाला, वेद मे, कुरान मे, पुरानी तौरेत मे, नई इञ्जील मे, ज़िंदाविस्ता मे, बौद्ध त्रिपिटक मे, जिनऽगम मे, या ग्रन्थ साहय मे विश्वास करने वाला, अपने विशेष विश्वासों की, तथा अन्य सब लवाज़िमों की, रक्षा करता हुआ, अपने अपने पेशे के अनुसार वृत्तिसूचक वर्ण-नाम का ग्रहण कर सकता है; और यदि वह सोच समझ कर समान शील वाली 'सहधर्मिणी' से विवाह करे, तो उसकी अर्द्धांगिनी को भी उसका वृत्तिसूचक वर्ण-नाम प्राप्त होगा।

दूसरी विशेषता

मूल वर्णव्यवस्था तो एक ऐसा साँचा ढाँचा है जिसमे मानव जाति की सब अवांतर जातियों के मनुष्य, अपने अपने स्वाभाविक गुणो और जीविका-कर्मों के अनुसार ढाले जा सकते हैं; और भारतवर्ष मे प्रायः बौद्धकाल के अन्त तक ढाले जाते थे। 'व्रात्यस्तोम' आदि विधियों से उन का संस्कार कर के, 'व्रात्य' से 'शालीन', 'अनार्य' से 'आर्य', 'वर्ण-रहित' से 'वर्ण-सहित', 'अव्यक्त-वर्ण' से 'सुव्यक्त-वर्ण' बना लिए जाते थे। 'शाकद्वीपी ब्राह्मण' आदि का अर्थ यही है कि, जो 'शक' जाति के लोग भारतवर्ष मे आ कर बस गये, उन मे से ज्ञान-प्रधान व्यक्ति 'ब्राह्मण' वर्ण मे शामिल हो गये और 'शाकद्वीपी' कहलाये। एवं चौहान, परमार आदि, जो राजपूतों के चार 'अग्निकुल' क्षत्रिय प्रसिद्ध हैं, इस प्रथा के साथ, कि ब्राह्मणो ने

स्मरण सब को सदा बना रहता है; यह बड़े महत्व की बात है; इसके अभाव मे, प्रचलित व्यवस्था, सर्वत्र अत्यन्त अपूर्ण रह जाती है, अन्ध-संघर्ष होता रहता है, और सहयोग की जगह प्रतियोग प्रबल होता है; (२) सामाजिक जीविका कर्मों, और सब प्रकार के व्यवसायों और उद्योगों का, बुद्धिपूर्वक विभाग कर के, और तदनुसार पारितोषिक की व्यवस्था कर के, यह व्यवस्था, व्यक्तिवाद और समाजवाद का वैज्ञानिक समन्वय करती है। ऐसा बुद्धिपूर्वक समन्वय, वर्तमान स्थिति मे, कहीं पाया नहीं जाता। इस व्यवस्था मे यह संभव नहीं है कि एक मनुष्य अपने वर्ण वा वर्ग के लिये निर्धारित जीविका-कर्मों के सिवा, अन्य वर्गों के लिए निर्धारित किसी कर्म के द्वारा, अधिक धन उपार्जन करने की चेष्टा करे। इस व्यवस्था मे कोई अध्यापक, आचार्य, वकील, सैनिक, मजिस्ट्रेट, जज या ज़मीदार, अपना कर्म करता हुआ, बैंकर, साहूकार, या कम्पनी डाइरेक्टर का काम नहीं उठा सकेगा। इसी तरह, लेन-देन करने वाला सूदखोर कुसीदजीवी वार्धुषिक 'महाजन' या कम्पनी डाइरेक्टर भी, अध्यापकी, वकीली, जजी, ज़मीदारी, सिपाहीगरी, कान्सटेबली, मजिस्ट्रेटी आदि का काम नहीं करने पावेगा। इस मे वेतन, लाभ, कर, पुरस्कार, राजाओं की तनख्वाह ('सिविल लिस्ट') आदि, न्याय्य परिमाण की सीमा का अतिक्रमण नहीं करने पावेगी। तथा 'ग़रीब अमीर' मे अत्यन्त अन्तर न होने पावेगा।

ज्ञात इतिहास-काल मे, मालूम होता है कि, समस्त मानवजाति मे से केवल प्राचीन भारतीयों ने ही, बुद्धिपूर्वक और यत्नपूर्वक, मानव-जाति के प्राकृतिक नियमो और चित्त की वृत्तियों का अनुसरण करते हुए, वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के अंगों या अंशों का वैज्ञानिक विभाग करने का प्रयत्न किया है, और सफलता के साथ किया है। दक्षिण अमेरिका के 'पेरू' नामक देश मे, ईसा की १२ वीं से १५ वीं शताब्दियों के बीच, अर्थात् चार सौ वर्ष तक, भारतीय वर्णव्यवस्था से

मनमानी स्वच्छन्दताकृत भेदों की जननी यहाँ भी और पच्छिम मे भी है। मूल भाव के बिगड़ जाने से सारी बातें बिगड़ जाती हैं। 'तान्येव भावोपहतानि कल्कः'। यदि हम प्रचलित वर्ण-व्यवस्था की स्थापना, पुनः उसके सच्चे प्राचीन गुणकर्म के आधार पर कर सकें, यदि हम निश्चय कर सकें कि सम्मान और अधिकार केवल उनको ही मिलेंगे जो ज्ञानी, आत्मत्यागी, और जनसेवक हैं; तथा विलासी धन बटोरनेवालों को कभी न दिये जायँगे; जैसा वर्णधर्म के द्वारा प्राचीन समय मे किया जाता था; तो व्यक्ति-वाद और स्वार्थवाद और उन सब 'वादों' का अन्त हो जायगा, जो पच्छिम की नयी वैज्ञानिक सभ्यता को वैज्ञानिक राक्षसता और दुर्बल-पीड़क बर्बरता बनाये हुए हैं। ऐसा होने से मनुष्यता का, इन्सानियत का, भाव पुनः उदित होगा, तथा हमारे सब प्रश्नो का सुलझाव आप ही हो जायगा; क्योंकि जब भाव शुद्ध हो जायगा, जो विलासिता और धनप्रियता से सम्मान और आज्ञाशक्ति को अलग कर देने से अवश्यम्भावी है, तो सब बातें आप ही सुधर जायँगी। जब कर्मों का प्रेरक चित्त, शुद्ध और ज्ञानवान् है, तब कर्म अवश्य ही शुद्ध और सुख संचारक होंगे।

आज जाति और उपजाति की पंचायतों के मुखिया भूल गये हैं कि उनका कर्तव्य, अपनी अपनी सीमा के भीतर, अपनी बिरादरी की सेवा सहायता करना है। इसकी जगह, वे भोजन, विवाह, और छूआछूत के मामिलों मे, उनकी राय से ज़रा भी प्रतिकूल काम करने वालों को जातिच्युत कर के, अपनी अधिकार-शक्ति का रस ले रहे हैं। सर्वत्र अधिकार का अर्थ हो गया है, दुख देने का अधिकार, न कि सुख देने का; दूसरों को दबाने, दुःख देने, मे ही शक्ति का रस माना जाता है; सुख देने मे शक्ति का उत्तम महत्तम स्वाद होता है—यह भूल गया है।

तीन मूढ़ग्राह

(१) अन्तर्वर्ण-भोजन-विषयक मूढ़ग्राह तो अब उन लोगों में से अधिकांश मे मिट गया है जिन्हें नयी शिक्षा मिली है। दक्षिण भारत मे

इन लेखों पर मैंने आदर से ध्यान दिया। मुझे ऐसा जान पड़ा कि वर्तमान विधानो मे कई ऐसी शर्तें हैं, जो ऐसे कुछ सज्जनो को ग्राह्य नहीं हैं जो अन्तर्वर्ण-विवाह करना चाहते हैं। वर्तमान विधानो मे केवल हिन्दू धर्म की ही चर्चा नहीं है, बल्कि अन्य धर्मों की भी है; तथा उनके अनुसार, ऐसे लोगों को, जो अन्तर्वर्ण विवाह करना चाहते हैं, या तो यह क़रार करना पड़ता है कि हम किसी विशेष धर्म के अनुयायी नहीं हैं : या, यदि वे हिंदू बने रहना चाहते हैं तो उन्हें कई हक़ छोड़ देने पड़ते हैं : यथा, यदि अविभक्त कुल के अंग हैं तो कुल से उनका सम्बन्ध कट जायगा ; उनके पिता को दूसरा लड़का गोद लेने का हक़ हो जायगा ; उनको स्वयम् गोद लेने का हक़ न रहेगा ; उनकी सन्तान को सिर्फ़ उन्हीं की निजी जायदाद पाने का हक़ 'इण्डियन सक्सेशन एक्ट' के अनुसार होगा, स्मृत्युक्त दाय-विभाग के अनुसार नहीं; उनकी संतान को अपने दादा आदि की जायदाद मे स्मृत्युक्त दाय-विभाग के अनुसार अधिकार न होगा ; उनको किसी धर्मदाय या सम्पत्ति के प्रबन्ध का अधिकार न रहेगा ; इत्यादि। जिन सज्जनो को यह शर्तें मंज़ूर हों, उनके लिये तो वर्तमान विधानो का रास्ता खुला है, और वे उस पर चल सकते हैं और चलेंगे। पर कुछ सज्जन ऐसे हैं जो अपने कुल कुटुंब से क़ानूनन् सम्बन्ध-विच्छेद करना, और स्मृत्युक्त दाय-विभाग के और दत्तक पुत्र को गोद लेने आदि के अधिकार का त्याग करना, नहीं चाहते; 'हिंदू' होने के नाते जो अधिकार-कर्त्तव्य उनको प्राप्त हैं उन सब को बनाये रखना चाहते हैं, सर्वथा 'हिंदू' बने रहना चाहते हैं, केवल अन्तर्वर्ण-विवाह की अनुमति चाहते हैं। ऐसे लोगों के अभीष्ट की पूर्ति के लिये यह सीधा सादा विधान, श्री विट्ठलभाई पटेल जी ने प्रस्तुत किया था और मैं ने उनका अनुसरण कर के पुनर्वार प्रस्तुत किया। जहाँ तक मैं विचार कर सका हूँ, इस विधान से किसी की कोई हानि नहीं होती है, प्रत्युत कुछ सज्जनों की अभीष्ट-सिद्धि होती है, और, 'दीर्घं पश्यत मा ह्रस्वं,

की स्फूर्तिमती बुद्धि ने, उस मूर्ति पर खुदे, अधिकांश मिटे हुए, अक्षरों को पढ़ कर लगाया। और भी ऊपर कह चुके हैं, कि हिन्दू कहलाने वाले समाज मे कोई ऐसा आचार (सदाचार वा दुराचार) नहीं है जो, किसी न किसी समुदाय-विशेष मे, किया न जाता हो। संन्यासी स्वामी भावानन्द तीर्थ के, अनशन व्रत से, शरीर-त्याग को भी मै ने १८८८ ई० मे, काशी मे, केदारघाट पर, गंगा के तीर पर देखा है, जिस से बढ़ कर किसी पुराणोक्त ऋषि की तपस्या नहीं हो सकती। तथा सब प्रकार की पशु-बलि, साक्षात् गो-मेध नहीं तो महिष-मेध, अजमेध, अवि-मेध, कुक्कुट-मेध आदि भी जारी हैं; यहाँ तक कि 'अघोर' पन्थियों मे, विष्ठा-भक्षण, मूत्रपान, नरशव-भक्षण, और अवसर मिलने पर नर-बलि-दान भी हो रहा है; वाममार्गी द्विजों मे भी पंच 'मकार' का सेवन प्रसिद्ध है; विवाह के विषय मे सभी चाल की प्रथा प्रथित है; दक्षिण मे सगे भाई-बहिन के बेटा बेटी का, अर्थात् सगे फुफेरे-ममेरी भाई-बहिन का, परस्पर विवाह बहुत होता है, (जैसा कृष्ण के बेटे प्रद्युम्न, और उनके श्यालक रुक्मी की बेटी, का हुआ), जो उत्तर मे घोर अनाचार समझा जाता है; तन्त्रवार्त्तिक-कार ने और भी बहुत से विशेष विशेष प्रान्तों के विशेष विशेष अनाचार गिनाये हैं। दाय के सम्बन्ध मे, उत्तर भारत मे मिताक्षरा का क़ानून, पूर्व भारत बंगाल मे जीमूतवाहन का क़ानून, त्रावणकोर कोचीन आदि मलाबार प्रान्त मे 'नराणां मातुलः क्रमः', अर्थात् बेटे को नहीं, भांजे को जायदाद मिले, जारी है। पर सभी 'हिंदू' धर्म और 'हिन्दू' समाज के अन्तर्गत हैं। 'शास्त्र' 'शास्त्र' की दुहाई तिहाई बहुत दी जाती है, पर प्रत्येक समुदाय अपना 'शास्त्र-विशेष' अलग रखता है, और उससे अपने 'आचार-विशेष' का समर्थन करता है। ऐसी 'सर्वमेवऽकुलीकृतं' की अवस्था मे, जब सब प्रकार की मर्यादाओं का ऐसा संस्कार हो रहा है कि 'निर्मर्यादम् अवर्तत', तब केवल शब्दों को पकड़े रहना, अर्थ को न देखना, ठीक नहीं। गम्भीर विचार कर के, मर्यादा का ऐसा संशोधन

तथैव गर्भिताः सर्वे गुणैर्धूमो यथाऽग्निना ।

सभी कार्यों मे कुछ गुण रहते हैं, कुछ दोष । द्वन्द्वमय संसार है । एक समय मे उसी कार्य से गुण अधिक निकलते हैं, दूसरे समय मे दोष अधिक ; जैसे 'अश्वालम्भ' आदि मे, जिनकी चर्चा ऊपर की गयी । मर्यादास्थापक शासक का, और उस के परामर्शदाता निस्स्वार्थी अनुभवी विद्वानो का, यह काम है, कि सदा सावधान हो कर देखते रहें कि किस मर्यादा से, जिस से पहिले गुण अधिक निकलते थे, अब दोष अधिक पैदा होने लगे हैं, और तब उसको बदल कर दूसरी मर्यादा स्थापन करें । धर्मपरिषत्, 'लेजिस्लेचर', 'मज्लिसि-क़ानून' का एकमात्र यही कर्तव्य है । सो अब चातुर्वर्ण्य की मर्यादा के तीन हजार उपो-पो-पो-पो-पोप जातियों मे बिखर जाने से, निश्चयेन ऐसी दशा आ गयी है कि, यदि चातुर्वर्ण्य का सर्वथा नाश इष्ट न हो, उसे बचाना मंज़ूर हो, तो यह नया विधान स्वीकार करना चाहिये ।

एक-विवाह, तथा विवाह-सम्बन्ध के विच्छेद, के विषय मे विचार

कुछ सज्जनों ने यह सूचना की है कि उपन्यस्त विधान मे ऐसी शर्त बढ़ा देनी चाहिये जिससे एक पत्नी के जीवन-काल मे, इस विधान के अनुसार, दूसरी स्त्री से विवाह न हो सकेगा; तथा यह भी कि विशेष विशेष कारणों से विवाह-सम्बन्ध का विच्छेद भी हो सकेगा । बम्बई प्रान्त के एक सज्जन का एक लेख, प्रयाग के 'लीडर' अखबार मे, निकला था, जिस मे उन्हों ने यह कहा है कि बम्बई प्रान्त मे कई ऐसे विवाह हुए हैं जिन मे, पहिले बाल्यावस्था मे ब्याही अनपढ़ पुराने चाल की सीधी सादी पत्नी मौजूद होते हुए, उन के पतियों ने, नयी 'ग्रेजुएट' (बी० ए० आदि पास) स्त्रियों के लोभ मे पड़ कर, इन से ब्याह कर लिया है, और पहिली पत्नियों का त्याग कर दिया है, जिससे वे घोर कष्ट मे पड़ी हैं । इस बात पर मैं ने बुद्धि भर, शक्ति भर, ध्यान दिया; निर्णों

दशा उत्पन्न हो गयी है, कि अकसर जवान स्त्रियाँ, धनिकों को फुसला बहला कर, उनसे व्याह कर लेती हैं; फिर मिथ्या बहानो से तलाक़ कर के, अदालतों की डिक्रियों के अनुसार, उनसे अच्छी अच्छी बँधी रक़मे, माहाना या सालाना, वसूल करती हैं, और मनमाना भोग विलास और चैन, 'गिगोलो' पुरुषों (नर-वेश्याओं, विटों) के साथ, करती हैं। छपी पुस्तकों और समाचारपत्रों से मालूम होता है कि, अमेरिका के बड़े शहरों मे तो अब यह नौबत आ गयी है, कि सौ विवाह पीछे पचास मे तलाक़ होता है, और समग्र 'युनाइटेड स्टेट्स' का अनुपात, सात विवाह पीछे एक तलाक़, यानी पन्द्रह फ़ी सदी है। यह सब दशा तो अपने विधान के लक्ष्य के नितरां विरुद्ध है। अपना मंशा तो यह है कि पति-पत्नी का, कुल-कुटुम्ब का, समस्त हिन्दू समाज का, परस्पर सम्बन्धन अधिक दृढ हो; न कि शिथिल। त्यागों तलाक़ों की वृद्धि से तो यह सम्बन्धन, व्यूहन, ग्रन्थन, बहुत दुर्बल हो जायगा।

ज़रूर है कि बीच बीच मे ऐसे मामिले होते रहे हैं, हो रहे हैं, होते रहेंगे, जिनमे पति-पत्नी मे किसी कारण से अनबन हो कर सहवास असह्य हो जाता है। पर 'सर्वारम्भाः हि दोषेण', 'नास्ति कोऽपि खलु सादुपायः सर्व-लोक-परितोष-करो यः'; कोई भी प्रबन्ध किया जाय, ऐसा नहीं होगा कि उससे सुख ही सुख निकले; कोई उपाय ऐसा नहीं है जो सब मनुष्यों का एक साथ संतोष कर सके। मेरी समझ मे यही आता है कि, त्याग-तलाक़ को सुकर बनाने मे बहुत अधिक दोष है, बहुत अधिक सामूहिक कष्ट है, और दुष्कर बनाने मे कम। बुद्धिमानी यही है कि कम कष्ट की राह पकड़ी जाय। समाज के आगे यही आदर्श सदा रखे रहना अच्छा है, कि जो स्त्री-पुरुष परस्पर विवाह करना चाहें, उनको गम्भीर भाव से, धार्मिक संस्कार के भाव से, यह दृढ निश्चय कर के, कि आ-मरण, अथ किम् उसके बाद भी, एक दूसरे के साथ स्नेह प्रीति से निर्वाह करना है; इस स्नेह प्रीति को आत्म-चिन्तन से,

वाणिज्य, 'बिज़िनेस-कांट्रैक्ट', लेन-देन, तिजारती क़ौल क़रार, मुआ-हिदा की बात), 'अपरस्पर-सम्भूतं, किमन्यत् कामहैतुकम्' (गीता), व्यवहार है। इस नवीन पाश्चात्य भाव से हमारा कल्याण नहीं।

भारतवर्ष की प्राचीन धारणा इस विषय मे यह है कि, जैसे चिनगारी का (आजकाल दियासलाई का) कार्य इतना ही है कि वह दीपक बाल दे, वैसे ही दो शरीरों के विवाह और क्षणिक 'रति' का प्रधान कार्य यह है, कि दो हृदयों मे, चित्तों मे, जीवों मे, आध्यात्मिक स्नेह प्रीति के चिरस्थायी, सत्वप्रकाशक, जीवनोद्योतक दीपक बाल दे।

न गृहं गृहमित्याहुः; गृहिणी गृहमुच्यते ;
एतावानेव पुरुषः यज्जायाऽऽत्मा प्रजाऽऽइति ह ;
विप्राः प्राहुस्तथा चैतद्यो भर्त्ता सा स्मृतांगना ; (मनु०)

'अग्निहोत्र' के 'गार्हपत्य अग्नि' को बालना और बलते रखना—इसका भी एक अर्थ यह भी है।

सब धार्मिक सम्प्रदायों मे सब से पवित्र और मीठे नाम हैं—'जगत्पिता' परमेश्वर, 'जगज्जननी' प्रकृति ; दोनो का 'अपत्य', मानव है।

पिताऽहं अस्य जगतः, माता, धाता, पितामहः ; (गीता)

इसी हेतु से मनु की आज्ञा है कि पिता, माता, प्रजा, तीनो मिल कर एक सम्पूर्ण पुरुष बनते हैं ; किसी एक के बिना, अन्य दोनो खंडित असम्पूर्ण रहते हैं : तत्रापि विशेष कर पति-पत्नी एक ही हैं, जो वह सो यह, उन मे भेद नहीं, परस्पर अर्धांग-अर्धांगिनी। ऐसे आदर्श के साथ, आरम्भ मे ही, परस्पर त्याग-तलाक़ के सम्भव को लगा देना, किसी प्रकार उचित नहीं जान पड़ता। 'प्रथमकवले मक्षिकापातः'।

हाँ, जो ऐसी ही विशेष कर्कश स्थिति हो, कि पति-पत्नी का किसी प्रकार परस्पर निर्वाह नहीं ही हो सके, तो उनके लिये स्वयं स्मृतियों ने, उत्सर्ग के अपवाद रूप से, प्रबन्ध कर दिया है, कि ऐसी ऐसी अवस्था मे वैवाहिक ग्रन्थि तोड़ दी जाय, पति के ऐसे ऐसे दोषों से, पत्नी के इन

जिसमे, एक मृत सब-जज की विधवा को, उस के सौतेले बेटे के ख़िलाफ़, केवल पाँच रुपया मासिक 'नान-व-नफ़क़ा', 'रोटी कपड़ा', की डिक्री, एक ज़िन्दा सब-जज ने दी, यद्यपि मृत सब-जज ने कई लाख की जायदाद छोड़ी थी।

ऐसी वजहों से यही मुनासिब मालूम होता है कि विवाह-सम्बन्ध तोड़ने या न तोड़ने का निश्चय, स्त्री-पुरुष के शुभचिन्तकों और रिश्तादारों की पंचायत पर ही छोड़ना चाहिये; कचहरियों पर नहीं। जब ऐसी पंचायत निर्णय कर दे, कि स्त्री का दोष नहीं, और पुरुष ऐसा नालायक़ है कि उसके साथ स्त्री का रहना असम्भव है, और स्त्री के जीवन के निर्वाह के लिये पुरुष को इतना इतना मासिक या वार्षिक देना चाहिये, और पुरुष इस फ़ैसले को न माने, तब स्त्री अदालत मे भले ही, उसी फ़ैसले के भरोसे, नान-व-नफ़क़ा की नालिश कर सकती है, और मुन्सिफ़ को जब तक कोई ख़ास सबब उस पंचायती फ़ैसले के ख़िलाफ़ मालूम न हो, उसी के अनुसार डिग्री देना चाहिये। यदि पंचायत के सामने सिद्ध हो कि पत्नी का दोष है, पति का नहीं, तो पति उसको अलग कर दे सकेगा, और दूसरा विवाह करने की अनुमति भी पा सकेगा; किन्तु यदि पहिली पत्नी व्यभिचारिणी न हो, तो उसको रोटी कपड़ा देता रहेगा। काशी की एक ऐसी बिरादरी मे, जिस में से चिरकाल से बहु विवाह की प्रथा उठ गई है, कुछ वर्ष हुए, एक युवा की पत्नी को ऐसा रोग हो गया जिस से वह बिल्कुल अपाहज हो गई, चारपाई से उठने योग्य न रही; पंचायत से अनुमति ले कर, उस युवा ने, उसी की छोटी बहिन से विवाह कर लिया, और उसकी भी खिदमतगारी अंत तक करता रहा।

एक-विवाह की व्यवस्था

बम्बई तथा अन्य प्रान्त के कुछ शिक्षित पुरुष, विलायती युवतियों के प्रलोभन से, अपनी पहिली बालावस्था की ब्याही अशिक्षित पत्नियों का

और मध्यम को उत्तम अपनी ओर स्वभावतः खींचते रहेंगे; उत्तम के लिये विशेष विधि निषेध का प्रयोजन नहीं है।

इन मूल सूत्रों को (सूचनात् सूत्रम्), 'प्रिंसिपल्स' सिद्धांतों को, ('प्रिंसिपियम्', आदि, अस्ल, मूल), मन मे रख कर, यह विचारना चाहिये कि इन से, प्रस्तुत प्रश्न के उत्तर के लिये, क्या व्यावहारिक सूचना मिलती है। वस्तुस्थिति को पहिले निश्चय करना चाहिये। जिस प्रकार के द्वितीय विवाहों की बम्बई प्रांत के सज्जन ने चर्चा की, क्या वैसे मामिले बहुत होते हैं? यदि बहुत होते हैं तो, उपन्यस्त विधान मे एतद्विषयक निषेध की शर्त न बढ़ाने से, क्या ऐसी घटनाएं और भी बढ़ेंगी? इन दोनो उप-प्रश्नो का यदि उत्तर हो कि 'हां', तब तो निश्चयेन उपन्यस्त विधान मे संशोधन करना उचित होगा; अन्यथा, नहीं। जहां तक जांच-खोज कर सका हूं, ऐसा विश्वास करने के लिये कोई पर्याप्त हेतु नहीं है, कि ऐसे द्वितीय विवाह बहुत होते हैं, या उपन्यस्त विधान से इनकी संख्या बढ़ेगी।

नया विधान, अठाईस कोटि संख्या वाले 'हिंदू-समाज' की दृष्टि से बनाना चाहिये। सौ दो सौ, या हजार दो हजार, भी ऐसी घटना हों, जो सचमुच 'अपवाद' रूप हैं, तो उन की बुनियाद पर एक नया 'उत्सर्ग', नया नियम कानून, नहीं बना देना चाहिये, जिस से अवशिष्ट कोटियों की प्रगति और उन्नति मे कुछ भी बाधा पड़े।

इस समय, हिन्दू समाज और हिंदू धर्म के सर्व-शरीर-व्यापी क्षय-रोग की सब से उत्तम औषध, और इनका एकमात्र अभीष्ट साध्य, यही जान पड़ता है कि, अंतर्वर्ण-विवाह, धर्म्य, जायज़, प्रामाणिक, धर्माऽविरुद्ध सिद्ध हो जाय। इस भेषज के साथ ऐसा कोई अनुपान लगा देना उचित नहीं है, जिससे इसके प्रभाव और प्रयोग मे कुछ भी संकोच, कुछ भी प्रतिबंध, पड़ जाए।

हिंदू-समाज मे, एक दो ही नहीं, बहुत से अनाचार हो रहे हैं,

आदि की शंका से क्रुद्ध हुए, तो खिरकी से तालाब मे वह गिरा दी जाती थी; इत्यादि। वात्स्यायन के काम सूत्र मे भी, (और 'अलिफ़ लैला' मे भी, जिसमे, बहुत सी झूठी कथा के साथ, उस समय की अवस्था का यथातथ वर्णन भी बहुत कुछ है), दिखाया है कि कैसे 'सुरक्षित' अवरोधों मे भी व्यभिचार होता ही था; मुग़ल बादशाहों, तथा अन्य पूर्वीय पश्चिमीय देशों के शाहनशाहों, सुलतानों, राजाओं के महलों मे भी कमबेश यही हालत रही है। और, वह तो दूर की बातें हैं; आजकाल भी, राजाओं की, नवाबों की, रियासतों मे जो घोर पाप हो रहे हैं, तथा, उससे स्यात् कुछ कम मात्रा मे, अन्य धनाढ्य घरों मे, मठों में, तीर्थ स्थानो मे भी, वह सब थोड़ा सा ही दर्याफ़्त करने से मालूम हो जाते हैं; अथवा, यह कहना चाहिये, कि सभी मध्यवयस्क आदमियों को विदित हैं ही। गाँव गाँव मे, शहर शहर मे, तरह तरह के व्यभिचार, कुछ स्त्रियों के आरंभ किये, कुछ पुरुषों के आरंभ किये, हो रहे हैं; नये प्रकार की प्रच्छन्न वेश्याएँ भी बड़े शहरों मे बढ़ रही हैं; बल्कि पुराने चाल की, तौर्यत्रिक मे, वाद्य, गीत, नृत्य कलाओं मे, प्रवीण वारांगना कम हो रही हैं; सिनेमा आदि के प्रभाव से। इन सब पापों के परिशोध का यत्न करना नितांत आवश्यक है। पर, उपन्यस्त विधान मे इन सब के संबंध मे शर्तें बताना तो स्पष्ट ही किसी को भी उचित और मुनासिब नहीं जान पड़ेगा। उक्त द्वितीय विवाह को भी इसी कोटि मे डालना चाहिये, और इनके परिशोध का यत्न अलग करना चाहिये; वह भी, पूर्वाऽपर को, कार्य-कारण को, बहुत विचार कर के। आजकाल, पश्चिम मे, रोज़ नये नये क़ानून बनाने, पुराने मिटाने, का रोग हो रहा है। ब्रिटेन मे १९११ से १९२० तक, बारह वर्ष मे प्रायः आठ सौ क़ानून बने, जो प्रायः आठ हज़ार पृष्ठों पर छपे हैं। जल्दबाज़ी से, बिना दूर-अन्देशी के, एक फुंसी पर तेज़ाब डाल दिया; फुंसी तो जल गयी, पर जलन ने दूर दूर तक नसों मे घोर विकार पैदा हो गये; और एक एक नस के विकार की

नरकों मे झोंक दी जाती हैं; इनकी यातना के आगे उन स्त्रियों की संख्या कितनी है, और उनका दुःख क्या है, जिनके पतियों ने दूसरा विवाह कर लिया है, पर पहिली स्त्री को जीविका देने के लिये अदालत से मजबूर किये जा सकते हैं ?

यदि अन्तर्वर्ण-विवाह का सिद्धांत देश मे फैले, तो धीरे धीरे ऐसी भयंकर घटनाएं भी कम हो जायंगी।

विचारने की और भी बातें हैं। अत्यधिकांश हिंदू आज भी ऐसे ही हैं जिनकी एक ही पत्नी है। बहुत अल्पसंख्यक धनाढ्यों की, राजाओं की कई कई पत्नियां होंगी। आर्थिक कष्ट, बे-रोज़गारी, ऐसी हो रही है कि एक भार्या का भरण भी कठिन हो रहा है; विवाह का वयस्, इसी हेतु से, मध्यवित्त वर्ग मे 'सारदा-विधान' से भी आगे, आप से आप बढ़ा जा रहा है; युवती स्त्रियां भी, स्वतन्त्र रोटी कपड़ा कमाने की चिंता मे, पाठशाला आदि की नौकरियां खोज रही हैं और उठा लेती हैं, और विवाह करने से रुकती हैं, क्योंकि विवाहिता को, ऐसी नौकरी के कर्तव्य निबाहना कठिन होता है; पढ़े लिखे युवा पुरुष, लाखों की संख्या मे, बेकार हो रहे हैं, और ब्याह करने से हिचकते हैं; अपने खाने का ठिकाना नहीं, पत्नी को और बच्चों को क्या खिलायेंगे ? ऐसी दशा मे, जब प्रथम विवाह ही मध्यवित्त पुरुष के लिये कठिन हो रहा है, तब उक्त दूषित अनिष्ट प्रकार के द्वितीय विवाहों की संख्या निःसंदेह नगण्य होगी; इनके विचार से इस विधान मे विशेष 'सख़्त' अर्थात् कड़ा करना उचित नहीं; इनके लिये सामाजिक भर्त्सना और आक्रोश पर्याप्त है; इसी से ये धीरे धीरे कम होते जायंगे। और भी; अशिक्षिता स्त्रियों का सुशिक्षित पुरुषों से विवाह भी धीरे धीरे असम्भव हो रहा है, और थोड़े ही दिनों मे सर्वथा असम्भव हो जायगा; इस लिये भी ऐसे विशेष सख़्ती की, दफ़ा की, ज़रूरत नहीं। रहा यह कि, परस्पर मनमुटाव से, वैमनस्य से, त्याग—यह तो किसी भी अवस्था मे सम्भावित रहेगा ही;

दूसरी दृष्टि से 'आर्थिक दासता' मालूम होती है। ज़रूर, बहुवित्त और मध्यवित्त कुलों मे भी यदि स्त्रियों को पैसे पैसे के लिये तरसना हो, और पुरुषों का मुँह ताकना हो, तो घोर अन्याय है। भारतवर्ष मे, सभी सद्भावों के, सदाचारों के, भ्रंश के कारण, स्यात् ऐसा अन्याय बहुत घरों मे होता होगा; बहुतेरों मे ऐसा नहीं भी है, प्रत्युत, स्त्रियों के हाथ मे, पुरानी स्मृतियों की आज्ञा के अनुसार, जहां पति-पत्नी मे यथोचित परस्पर स्नेह प्रेम विश्वास है, सब, या पर्याप्त अंश मे, आमदनी दे दी जाती है; पर अल्पवित्त, किं वा दरिद्र, घरों मे तो (और नब्बे फ़ी सदी हिंदू अति दरिद्र ही हैं), मियां-बीबी दोनो, बेचारे, बल्कि छोटे बच्चे भी, सुबह से शाम तक पिसते रहते हैं, और तिस पर भी दो वक़्त की रोटी नहीं पा सकते; ऐसों के लिये, अलग अलग कमाते हुए भी, 'आर्थिक स्वतन्त्रता' और 'आर्थिक दासता' मे कोई भेद नहीं।

देश मे शिक्षा फैले, रक्षा फैले, जीविका फैले, इस लिये पुरोहित चुने माने जाते हैं, राजा बनाये जाते हैं, व्यापारी रोज़गारी के पास धन-धान्य का संचय होने दिया जाता है; उनके निजी ऐश आराम के लिये नहीं।

हिताय राजा भवति, न कामकरणाय तु।
षड् एतान् पुरुषो जह्याद्, भिन्नां नावम् इवाऽर्णवे,
अप्रवक्तारं आचार्यं, अनधीयानं ऋत्विजम्,
अरक्षितारं राजानं, भार्यां चाऽप्रियवादिनीम्,
ग्रामकामं च गोपालं, वनकामं च नापितम्।
लोकरंजनं एवाऽत्र राज्ञां धर्मः सनातनः;
चातुर्वर्ण्यस्य धर्माश्च रक्षितव्या महीक्षिता।
(म० भा०, शान्ति०, अ० ५६)

अरक्षितारं राजानं, बलिषड्भागहारिणम्,
तं आहुः सर्वलोकस्य समग्रमलहारकम्। (म०)

वर-वधू की परस्पर प्रतिज्ञाएँ

हिन्दुओं मे धार्मिक संस्कार-पद्धिति के अनुसार जो विवाह होते हैं, न मे वर-वधू, परस्पर, कई सीधी सादी सुन्दर प्रतिज्ञा करते हैं, कि रस्पर स्नेह प्रेम से, अव्यभिचार से, आमरण और जन्मनि जन्मनि ी, एक दूसरे के साथ जीवन वितावेंगे, एक दूसरे की भूल चूक को मा करेंगे, वर अपनी कमाई वधू के हाथ मे देगा, वर की सलाह से धू किफ़ायत से ख़र्च करेगी, कोई भारी ग़ैरमामूली काम एक दूसरे से रामर्श किये बिना न करेंगे, गृहस्थी के सुखदुःख के कामो मे धीरज से क दूसरे का साथ देंगे और रुष्ट न होंगे, पत्नी को पति अलंकार आभूषण च्छे वस्त्र देगा, पत्नी अपने को स्वच्छ संस्कृत अलंकृत रक्खेगी, तथा ृह को भी, किन्तु जब पति विदेश गया हो तब अपना अलंकार आदि करेगी न पराये घर जायगी, मित्रों के भी, तथा, साधारणतः तीर्थ-नान, देवालय, आदि को पति से कह कर जायगी, इत्यादि ।

धर्मे चार्थे च कामे च, यत्नंष्वेषु अखिलेषु च;
आवां नाऽतिचरिष्यावः कदाचन परस्परं ।
'त्वं मया लभ्यसे भर्त्ता पुण्यैस्तु विविधैः कृतैः,
देवी संपूजिता नित्यं, वंदनीयोऽसि मे सदा ।'
'पुण्यैः पूर्वैर्मया त्वं च प्राप्ता भार्या सुलक्षणा,
आराधनीया, पाल्या च, माननीया च सर्वदा ।'
'सुखदुःखानि कर्माणि गृहस्थस्य भवंति हि,
त्वं सदैव भवेः सौम्यः, मयि रोषं च मा कृथाः;
वापी-कूप-तडागानि, यात्रा-मख-महोत्सवान्,
बह्वायासकार्याणि, मां विमृश्य समारभेः;
व्रतो-द्यापन-दानानि, [illegible]
गच्छेत्, तद् तु भवता प्रसन्नेनाऽनुमन्यतां;
स्वकर्मणाऽर्जितं वित्तं पशु-धान्य-धनाऽऽगमं,

को डिक्री देना चाहिये; तथा, यदि पुरुष एक पत्नी के जीते जो दूसरा विवाह करे, तो उसको वही दण्ड होना चाहिये जो व्यभिचार और बहु-विवाह के लिये निर्दिष्ट है, तथा पहिली ही पत्नी धर्मपत्नी समझी जाय, और उसको उचित जीविका इस पति से दिलायी जाय। अच्छा हो, यदि न्यायालय मे उक्त विचार के सम्भव की दृष्टि से, सप्तपदी के समय की प्रतिज्ञाओं मे ही यह प्रतिज्ञा भी पुरुष की ओर से करा ली जाय, कि दूसरा विवाह इस वधू के जीते जी न करूँगा; यद्यपि, परस्पर अव्यभिचार की प्रतिज्ञा मे यह अंतर्गत है।

नये विचारों की बाढ़ मे कुछ लोग यह तर्क फैला रहे हैं, कि प्रतिज्ञा ही अनुचित है, क्योंकि प्रतिज्ञा करते ही अपने मन मे यह भाव उठता है कि हम तो बंध गये, दास हो गये; इस दासता का विरोधी भाव भी तत्काल उठता है कि इस बन्धन को तोड़ देना चाहिये; और इस आभ्यन्तर द्वंद्व के कारण सब ज़िंदगी खट्टी हो जाती है, स्नेह मारा जाता है, स्त्री-पुरुष के चित्त, एक दूसरे से मिलने सटने की जगह, एक दूसरे से फटने हटने लगते हैं, और उन प्रतिज्ञाओं का प्रभाव उलटा ही हो जाता है; तथा, ऐसे लोगों का कहना है कि, परस्पर प्रतिज्ञा न करने से ही अ-बद्ध स्त्री पुरुष परस्पर सुसंबद्ध रहते हैं। इस शंका का समाधान करना उचित है। दो प्रकार से समाधान होगा।

प्रकृति अनन्त है; स्व-भावों के प्रकार असंख्य हैं; मनुष्यों से नीचे, पशुओं को ऐसी परस्पर प्रतिज्ञा का प्रयोजन ही नहीं; उनके जीव, उनकी बुद्धि, अभी इतनी विकसित नहीं है कि प्रतिज्ञा, व्यक्त रूप से, कर सकें, या उसका अर्थ समझ सकें। मनुष्यों से ऊँचे, देवताओं को भी, यदि उन्हों ने अहंता-ममता को जीत लिया है तो, ऐसी प्रतिज्ञाओं की, परस्पर विश्वासोत्पादन के लिये, आवश्यकता न होगी; "निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः।" (यह उनके लिये लिखा जाता है जो इस बात को मानते हैं कि मनुष्य से ऊँची कक्षा के भी, तथा

कन्या ख़रीदी जाती थीं, अब तो भारत मे, वर ही अधिक ख़रीदे जाते हैं? 'विवाह के इतिहास', जो पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने बड़ी खोज से लिखे हैं, उनमे इन सब प्रकारों का वर्णन है। स्वयं यूरोप मे, अल्पवित्त श्रेणियों मे सब देशों मे, तथा 'लैटिन' जातियों मे (फ़्रांस, स्पेन, इटली आदि मे) विशेष कर, माता-पिता ही प्रायः विवाह तै करते हैं, बहु-वित्त श्रेणियों मे, सब देशों मे, तथा 'ऐंग्लो-सेक्सन' जातियों मे (ब्रिटेन, जर्मनी, आदि मे), विशेष कर संपन्न कुलों मे, स्वयंवर की प्रथा प्रचलित है। पुराणो मे कहीं कहीं, पशुओं के नाम से, विवाह के सम्बन्ध मे, मानव प्रकृतियों का इशारा किया है, यथा सिंह-सिंही, अश्व-अश्वी, कपोत-कपोती, वृष-सुरभि, इत्यादि।

इन सब बातों को विचार कर के, यही उचित जान पड़ता है कि, जो स्त्री पुरुष, स्पष्ट रूप से विवाह-भंग के सम्भव की और एक-विवाह आदि की शर्तों के साथ ही विवाह करना चाहते हों, वे संवत् १९२२ के वर्तमान क़ानून के अनुसार विवाह कर सकते हैं। दूसरी प्रकृति के सभी स्त्री-पुरुषों के लिये, जिनकी आध्यात्मिक बातों मे और धार्मिक कर्मकाण्ड मे आस्था है, और जो साथ ही इसके केवल नाममात्र के वर्णभेद मे आस्था नहीं रखते उनके लिये यह उपन्यस्त विधान उपकारी होगा।

अन्तर्वर्ण-विवाह का नाम लेते ही, 'अपरिवर्तवादी' सज्जनों को तत्काल ध्यान यही हो जाता है कि, यह तो ऊँच नीच को एक करना चाहता है, उत्कृष्ट स्त्री या पुरुष का सम्बन्ध, निकृष्ट पुरुष या स्त्री से कराना चाहता है। इस लिये पुनः पुनः यह बात दुहरानी सिखानी पड़ती है, कि ऐसा करना इस विधान का स्वप्न मे भी नहीं है। यह तो सुतरां नितरां सच्चे उत्कृष्ट का (केवल वर्णनाम से ही नहीं) सच्चे उत्कृष्ट से ही सम्बन्ध चाहता है, और तथापि यह किसी से स्वप्न मे भी ऐसा नहीं कहता कि तुम अवश्य-अवश्य ऐसा ऐसा विवाह करो; बल्कि

समय जग्गो का पहिला पति जीवित था और (२) जग्गो और निक्कूलाल एक ही उपजाति के नहीं थे, इस लिये जग्गो का लड़का श्रीकृष्ण, निक्कूलाल की सम्पत्ति का वारिस नहीं हो सकता।

प्रिवी कौंसिल के विचारपतियों ने राय दी है, कि निक्कूलाल से जग्गो का विवाह जायज़ है, यद्यपि इस विवाह के समय उसका पहिला पति जीवित था। विचारपतियों ने स्पष्ट लिखा है— यद्यपि यह 'विवाह, द्विजों मे गिने जाने वाले वैश्य वर्ण की दो भिन्न उपजातियों के व्यक्तियों मे हुआ है', फिर भी, 'विवाह सम्बन्धी हिन्दू विधि, जिन धर्मशास्त्रों से ठहरायी जाती है, उन मे एक ही वर्ण की दो उपजातियों मे परस्पर विवाह का निषेध कहीं नहीं पाया जाता, और न कोई पहिले की ऐसी नज़ीर या साधारण सिद्धान्त ही है, जिस के अनुसार ऐसा विवाह निषिद्ध माना जाय।'

पति के मरने के बाद देवर से विवाह ; देवर का, एक पत्नी के रहते, दूसरी स्त्री से विवाह ; पति द्वारा पत्नी का त्याग, यानी दर असल तलाक़ ; फिर उस त्यक्ता स्त्री का, एक पति के जीवित रहते, दूसरे पुरुष से विवाह ; अन्त मे एक द्विज वर्ण के अन्तर्गत दो उपजातियों के स्त्री-पुरुष का विवाह—इस एक ही मामले मे, सब से बड़े न्यायालय ने, अंशतः स्मृति, अंशतः लोक, के आधार पर, इन सब बातों को जायज़, धर्म्य, हिन्दूधर्मानुकूल, क़रार दे दिया है।

हाल में, एक समाचार पत्र में मैं ने पढ़ा, कि बिहार प्रांत के एक क़सबे में एक ऐसा कुल क्षत्रियों का है, जिस के आदमी दारोग़ा तह-सीलदार आदि गवर्मेंट नौकर हुए हैं, पर उन में कई पुश्तों से लड़की पैदा ही नहीं हुई। इस का अर्थ पाठक सज्जन स्वयं लगा सकते हैं।

मथुरा प्रांत में, चौबे उपजाति में, अदिलो-बदिलो से विवाह अक्-सर होता है, अर्थात् एक सज्जन की बहिन दूसरे सज्जन से ब्याही जाती है, तो उस दूसरे सज्जन की बहिन पहिले सज्जन से ब्याही जाती है।

धर्माऽनुकूल मान लेने को, क्यों अति-भार माने? "दधता किमु मन्दराचलं परमाणुः कमठेन दुर्धरः ?" । अभी हाल मे एक सरयूपारी ब्राह्मण सज्जन से मै ने सुना कि उनके, और आसपास के, गाँवों मे, उनकी बिरादरी में, हर गाँव मे दस पन्द्रह लड़के 'क्वाँरे', कुमार, अनब्याहे, रह जाते हैं ; और दस पन्द्रह लड़कियाँ भी ; लांछन लगा देने के कारण । यही हालत, कई वर्ष हुए, आरा नगर के एक भूमिहार रईस से, उनकी बिरादरी की, मैं ने सुनी, पर दूसरे कारण से । कहीं लड़कियाँ ब्याह के लिये बेची खरीदी जा रही हैं, कहीं जामाता । हाथी को निगल गये, चूहा गले मे अटकता है !

ऐसी वस्तुस्थिति मे, शास्त्रोक्त विधि से किये गये अन्तर्वर्ण-विवाह को, ऐसा विवाह जिस मे वर और वधू दोनो ही परस्पर अतिचार व्यभिचार न करने और संसार मे परस्पर सहायता करने की एक सी प्रतिज्ञा करते हैं, जिसका पालन करने के लिये उभय पक्ष को पंचायत के और अदालत के द्वारा बाध्य किया जा सकना चाहिये—ऐसे अन्तर्वर्ण-विवाह को क़ानून बना कर जायज़ क़रार देने से, सच्चे वर्णाश्रम धर्म का अणुमात्र भी ह्रास नहीं होगा ; प्रत्युत, अधिकतर उत्कर्ष, और सब प्रकार से विज्ञानसिद्ध और विवेकसम्मत आदर्श, की ही स्थापना होगी ; और धीरे धीरे सद्धर्मविरुद्ध रूढ़ियों, व्यवहारों, रस्म-रिवाजों की प्रचलित अस्तव्यस्तता को, जो ही वस्तुतः 'वर्णसंकर', उचित अनुचित का संकर, है, दूर कर के उसकी जगह सुव्यवस्था स्थापित होगी ।

क़ानून की आवश्यकता

एक और बात का विचार करना बाकी है । कुछ मित्रों का कहना है कि, हम उपर्युक्त विधान के स्वरूप, तत्त्व, सिद्धान्त को मानते हैं, पर हमें यह मंजूर नहीं कि वर्तमान व्यवस्थापक सभाओं द्वारा इस प्रकार का विधान या क़ानून बनवाया जाय । इन मित्रों के भाव को मैं समझता हूँ, और एक हद तक उनका अनुमोदन भी करता हूँ । पर मेरी उनसे प्रार्थना है, कि वे इस बात पर विचार करें कि, इस उप-

धर्माऽनुकूल मान लेने को, क्यों अति-भार माने? "दधता किमु मन्दराचलं परमाणुः कमठेन दुर्धरः ?"। अभी हाल मे एक सरयूपारी ब्राह्मण सज्जन से मै ने सुना कि उनके, और आसपास के, गाँवों मे, उनकी बिरादरी मे, हर गाँव मे दस पन्द्रह लड़के 'क्वांरे', कुमार, अनब्याहे, रह जाते हैं ; और दस पन्द्रह लड़कियाँ भी ; लांछन लगा देने के कारण। यही हालत, कई वर्ष हुए, आरा नगर के एक भूमिहार रईस से, उनकी बिरादरी की, मैं ने सुनी, पर दूसरे कारण से। कहीं लड़कियाँ ब्याह के लिये बेची खरीदी जा रही हैं, कहीं जामाता। हाथी को निगल गये, चूहा गले मे अटकता है!

ऐसी वस्तुस्थिति मे, शास्त्रोक्त विधि से किये गये अन्तर्वर्ण-विवाह को, ऐसा विवाह जिस मे वर और वधू दोनो ही परस्पर अतिचार व्यभिचार न करने और संसार मे परस्पर सहायता करने की एक सी प्रतिज्ञा करते हैं, जिसका पालन करने के लिये उभय पक्ष को पंचायत के और अदालत के द्वारा बाध्य किया जा सकना चाहिये—ऐसे अन्तर्वर्ण-विवाह को क़ानून बना कर जायज़ क़रार देने से, सच्चे वर्णाश्रम धर्म का अणुमात्र भी ह्रास नहीं होगा ; प्रत्युत, अधिकतर उत्कृष्ट, और सब प्रकार से विज्ञानसिद्ध और विवेकसम्मत आदर्श, की ही स्थापना होगी ; और धीरे धीरे सद्धर्मविरुद्ध रूढ़ियों, व्यवहारों, रस्म-रिवाजों की प्रचलित अस्तव्यस्तता को, जो ही वस्तुतः 'वर्णसंकर', उचित अनुचित का संकर, है, दूर कर के उसकी जगह सुव्यवस्था स्थापित होगी।

क़ानून की आवश्यकता

एक और बात का विचार करना बाक़ी है। कुछ मित्रों का कहना है कि, हम उपर्युक्त विधान को सुकृत्य, शास्त्रस्थ, निरापद तो मानते हैं, पर हमें यह मंजूर नहीं कि वर्तमान व्यवस्थापक सभाओं द्वारा इस प्रकार का विधान या क़ानून बनवाया जाय। इन मित्रों के भाव को मै समझता हूँ, और एक हद तक उनका अनुमोदन भी करता हूँ। पर मेरी उनसे प्रार्थना है, कि वे इस बात पर विचार करें कि, इन उप-

श्चित्त-धर्म, संस्कार-धर्म, शिक्षा धर्म, रक्षा-धर्म, वार्ता-धर्म, सेवा-धर्म, देव-पितृ-श्राद्ध-धर्म, महायज्ञ-धर्म, आदि, सर्वोपरि वर्ण-धर्म और आश्रम-धर्म, सभी शामिल हैं। साथ ही, यह बात भी स्पष्ट कर दी गयी है, कि सर्वसंग्राहक 'राज-धर्म' मे यह सब धर्म अन्तर्गत हैं।

सर्वे धर्माः राज-धर्मे प्रविष्टाः। म०भा० शान्ति० अ० ६२)
वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता। (म०)
लोकरंजनं एव अत्र राज्ञां धर्मः सनातनः ;
चातुर्वर्ण्यस्य धर्माश्च रक्षितव्याः महीक्षिता ;
'धर्मसंकर'-रक्षा च राज्ञां धर्मः सनातनः ;
चातुर्वर्ण्याश्रमाणां च, राजधर्माश्च ये मताः।
स्वेषु धर्मेषु अवस्थाप्य प्रजाः सर्वाः, महीपतिः,
धर्मेण सर्वकृत्यानि शमनिष्ठानि कारयेत्।
दण्डनीतिं परित्यज्य, यदा, कार्त्स्न्येन, भूमिपः,
प्रजाः क्लिश्नाति अयोगेन, प्रवर्त्तेत तदा कलिः।
कलौ अधर्मो भूयिष्ठो, धर्मो भवति न क्वचित् ;
सर्वेषामेव वर्णानां स्वधर्माच्च्यवते मनः ;
शूद्राः भैक्षेण जीवंति, ब्राह्मणाः परिचर्यया ;
योगक्षेमस्य नाशश्च, वर्तते 'वर्णसंकरः' ;
ह्रसंति च मनुष्याणां स्वरवर्णमनांसि उत ;
व्याधयश्च भवंत्यत्र, म्रियन्ते चाप्यनायुषः ;
विधवाश्च भवंत्यत्र, नृशंसा जायते प्रजा ;
क्वचिद्वर्षति पर्जन्यः, क्वचित्सस्यं प्ररोहति ;
रसाः सर्वे क्षयं यान्ति, यदा नेच्छति भूमिपः
प्रजाः संरक्षितुं सम्यक् दण्डनीतिसमाहितः।
राजा कृतयुगस्रष्टा, त्रेतायाः, द्वापरस्य च ;
युगस्य च चतुर्थस्य राजा भवति कारणम्।
(म०भा०शान्ति०अ०५६,५९,६९)

नैष्ठिक ब्रह्मचर्य से, यदि वह ब्रह्मचर्य सच्चा हो तो, कोई इस तरह गिरता नहीं, प्रत्युत तपस्या से उत्कर्ष ही पाता है। पर, जो सज्जन विवाह के विषय में वर्तमान व्यवस्थापक सभाओं का हस्तक्षेप असहनीय मानते हैं, इस में कोई आपत्ति नहीं करते कि वर्तमान व्यवस्थापक सभा, शिक्षा के सम्बन्ध में क़ानून बनावे, और 'अन्तर्वर्ण' शिक्षा भी चलावे, जिस में सब जातियों के लड़के और लड़कियां एक स्कूल, एक कालेज, में, एक साथ बैठ कर, एक ही शिक्षा पाया करें। 'सती' प्रथा, विधवाओं के आग में जल जाने या जला दिये जाने की प्रथा, को बन्द कर देने वाले ब्रिटिश क़ानून का विरोध करने की हिम्मत किसी हिंदू धर्म-धुरंधर की नहीं हुई। ऐसे ही और भी क़ानून, प्रचलित हिन्दू 'धार्मिक' प्रथाओं को बदल देने वाले कई हैं। विधवा-विवाह का क़ानून ('हिंदू-विडो-रीमैरेज-ऐक्ट') भी, ब्रिटिश इंडियन-गवर्नमेंट ने बना दिया; और बनाया भी पंडित ईश्वरचंद्र विद्यासागर ऐसे धर्मिष्ठ विद्वान् विख्यात सज्जन की प्रेरणा से। पंजाब में एक क़ानून बनाया गया है, जिस से विशेष विशेष 'जाति' के हिन्दुओं को ज़मीन ख़रीदने से रोक दिया है; 'सारदा ऐक्ट', जिस से, १८ वर्ष के वयस् में कम पुरुष और १२ वर्ष से कम स्त्री के विवाह का निषेध कर दिया गया है, यह भी इसी कोटि में है; इत्यादि।

'राजा' के द्वारा 'धर्म' में हस्तक्षेप का एक मध्यकालीन उदाहरण यहां कहने योग्य है। पर्वतीय ब्राह्मणों में 'पन्त', 'जोशी', 'पाण्डे', तीन मुख्य उपजातियां हैं; 'उप्रेती', 'कुमेती', प्रभृति अवान्तर; प्रसिद्ध है कि 'पन्त' महाराष्ट्र देश से आरम्भ में आये, 'पांडे' संयुक्त प्रान्त से, 'जोशी' स्थानीय हैं; 'पन्त' शाकाहारी हैं, 'पांडे' और 'जोशी' मांसाहारी हैं; इनमें पहिले परस्पर विवाह-सम्बन्ध नहीं होता था; बाद में, एक समय, उस काल के राजा की दृढ़ आज्ञा से ही होने लगा, और अब बराबर होता है।

न्यायपति, सत्प्रकृति का, बुद्धिमान्, धीमान् हो, तो उसका निर्णय भी अच्छा होगा, नज़ीर अच्छी क़ायम करेगा। यदि जज अच्छा न हो, मूर्ख, अविचारी, अविवेकी, जल्दबाज़, बेईमान, रिश्वत-ख़ोर, उत्कोच-ग्राही, रागद्वेषी, स्वार्थी, अदूरदर्शी, देश-काल-अवस्था को न पहिचानने वाला, कूप-मण्डूक हो, तो फ़ैसला और तजवीज़ ख़राब होगी, और नज़ीर ख़राब, हानिकारक, क़ायम करेगा। ऐसा हुआ भी है। हमारा दुर्भाग्य है कि हमारे परम्परागत धर्माधिकारी और धर्मशास्त्री, केवल प्राचीन संस्कृत पोथियों का ही अध्ययन करते हैं, और यद्यपि कोई कोई अपने विषय के बड़े गम्भीर विद्वान् होते हैं, पर उन्हें संसार की गति का, नये विचारों, नयी समस्याओं, नयी ग्रंथियों, नये प्रश्नों, नयी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, व्यावहारिक, कठिनाइयों और आवश्यकताओं, का ज्ञान बिलकुल नहीं होता; अत एव ये प्राचीन 'शास्त्रों' का, नवीन और समयानुकूल 'अर्थ' कर के जीवन की नित्य नैमित्तिक कठिनाइयों का सामना करने में, जनता की कुछ भी सहायता नहीं कर सकते; प्रत्युत, 'पुराणमित्येव हि साधु सर्वं' को हठ से पकड़े रहने के कारण, हिन्दू समाज को अधिक कठिनाई और व्याकुलता में डाल देते हैं। अगत्या, नया 'भाष्य' करने का भार ऐसे लोगों पर आ पड़ा है, जो परम्परागत धर्माधिकारी तो नहीं हैं, पर प्राचीन और नवीन दोनों अवस्थाओं, भावनाओं, विचारों, और आन्दोलनों से परिचित हैं; और आज जो व्यवस्थामण्डल, व्यवस्थापकसभा, धर्मपरिषत्, हैं, उन्हीं की सहायता से, नवीन 'भाष्यों' को, विधान का, क़ानून का, बल और गौरव और रूप दिलाने का यत्न, उन्हें ही करना पड़ता है; जिसमें नित्य के जीवन में, जनता उनका उपयोग कर के, जीवन की कठिनाइयों को सुलझा सके।

पर भी स्मरण रखना चाहिये कि, कोई ख़ास हिन्दू विवाह, शास्त्र-सम्मत, धर्मसंगत, जायज़ है या नहीं, इसका निर्णय करने का अधिकार अब न्यायालयों या अदालतों को ही प्राप्त है। धर्माधिकारी क्या व्यवस्था

प्र-णि-धि, आदि शब्दों की व्युत्पत्ति, उसी 'धा' धातु से है जिस से 'पुरो-हित' 'पुरो-धाः' की ; 'प्रजानां हिताय, धर्म-कार्येषु, सर्वेषां हित-चिन्तकः, यः विद्वान् तपस्वी सज्जनः, पुरः, अग्रे, धीयते, सः, प्रजाभिश्च, शासकेन राज्ञा च, अग्रस्थाने स्थापितः, वि-हितः, नि-हितः, प्र-हितः, पुरो-धाः, पुरो-हितः'; वर्तमान युग (ज़माने) में, ऐसे प्रति-निधि ही पुरो-हित हैं, और धर्मसंस्थान, धर्मव्यवस्थान, धर्मपरिकल्पन कर सकते हैं ; ऐसी अवस्था में यह कहना कि, लेजिस्लेचर से यह काम नहीं लेना चाहिये, अब नितरां व्यर्थ है । बरोदा राज्य में, राजा और 'लेजिस्लेचर' ने, परस्पर सम्मति से, 'अंतर्वर्ण-विवाह' का क़ानून बना भी दिया है, जो उस रियासत की बीस लाख हिंदू प्रजा पर लागू है ; ऐसे अन्य क़ानून भी उस रियासत में बना दिये गये हैं। इस स्थान पर और भी कई बातें, सज्जनों के विचारार्थ, कहता हूं । (अभी जीवित) भूतपूर्व महाराज तुको जी राव होल्कर की अमेरिकन पत्नी, मिस् मिलर को, (कोल्हापुर के) करवीरपीठ के भूतपूर्व 'शंकराचार्य' डाक्टर कुर्तकोटि ने, शर्मिष्ठा देवी का नाम दे कर, 'हिन्दू' बनाया ; ऐसे ही अन्य कई यूरोपीय स्त्रियों और पुरुषों को, जिन को मैं जानता हूं, ऐसे विद्वानों ने, जो 'जन्मना' ब्राह्मण हैं, पर उदार बुद्धि और परार्थी हृदय रखते हैं, हिन्दू-धर्म में दीक्षित किया है । गवर्मेंट ने इस उपन्यस्त विधान के विषय में, देश के प्रमुख अधिकारियों, नेताओं, समितियों, से राय मांगी; उस के उत्तर में, बम्बई, बिहार, पंजाब, मद्रास, अवध के हाईकोर्टों के जजों में से २१ ने (अधिकांश हिन्दू) ने, इस का समर्थन किया, ९ तटस्थ रहे, ६ विरुद्ध [illegible] युक्त-प्रांत, बंगाल, बर्मा के हाईकोर्ट तटस्थ रहे ; बहुत से कमिश्नर, [illegible] गवर्नमेंट मेम्बर, डिस्ट्रिक्ट जज, कलेक्टर, [illegible] [illegible] पक्ष में राय दी ; इस में [illegible] भी ; देश भर [illegible] समितियों ने इस का समर्थन किया ; अखिल-[illegible] [illegible] महासम्मेलन ने, इस का

प्र-णि-धि, आदि शब्दों की व्युत्पत्ति, उसी 'धा' धातु से है जिस से 'पुरो-हित' 'पुरो-धाः' की ; 'प्रजानां हिताय, धर्म-कार्येषु, सर्वेषां हित-चिन्तकः, यः विद्वान् तपस्वी सज्जनः, पुरः, अग्रे, धीयते, सः, प्रजाभिश्च, शासकेन राज्ञा च, अग्रस्थाने स्थापितः, वि-हितः, नि-हितः, प्र-हितः, पुरो-धाः, पुरो-हितः'; वर्तमान युग (ज़माने) में, ऐसे प्रति-निधि ही पुरो-हित हैं, और धर्मशासन, धर्मव्यवसान, धर्मपरिकल्पन कर सकते हैं ; ऐसी अवस्था में यह कहना कि, लेजिस्लेचर से यह काम नहीं लेना चाहिये, अब नितरां व्यर्थ है । बरोदा राज्य में, राजा और 'लेजिस्लेचर' ने, परस्पर सम्मति से, 'अंतर्वर्ण-विवाह' का क़ानून बना भी दिया है, जो उस रियासत की बीस लाख हिंदू प्रजा पर लागू है ; ऐसे अन्य क़ानून भी उस रियासत में बना दिये गये हैं। इस स्थान पर और भी कई बातें, सज्जनों के विचारार्थ, कहता हूं । (अभी जीवित) भूतपूर्व महाराज तुको जी राव होल्कर की अमेरिकन पत्नी, मिस् मिलर को, (कोल्हापुर के) करवीरपीठ के भूतपूर्व 'शंकराचार्य' डाक्टर कुर्त्तकोटि ने, शर्मिष्ठा देवी का नाम दे कर, 'हिन्दू' बनाया ; ऐसे ही अन्य कई यूरोपीय स्त्रियों और पुरुषों को, जिन को मैं जानता हूं, ऐसे विद्वानों ने, जो 'जन्मना' ब्राह्मण हैं, पर उदार बुद्धि और परार्थी हृदय रखते हैं, हिन्दू-धर्म में दीक्षित किया है । गवर्मेंट ने इस ज़बर्दस्त विधान के विषय में, देश के प्रमुख अधिकारियों, नेताओं, समितियों, से राय मांगी; उस के उत्तर में, बम्बई, बिहार, पंजाब, मद्रास, अवध के हाईकोर्टों के जजों में से २१ ने (अधिकांश हिन्दू) ने, इस का समर्थन किया, ९ तटस्थ रहे, ६ विरुद्ध रहे ; युक्त-प्रांत, बंगाल, बर्मा के हाईकोर्ट तटस्थ रहे ; बहुत से कमिश्नर, मिनिस्टर, गवर्मेंट मेम्बर, डिस्ट्रिक्ट जज, कलेक्टर, कौंसल मेम्बर आदि ने इसके पक्ष में राय दी ; कुछ ने विरोध में भी ; देश भर की सभी स्त्रियों की समितियों ने इस का समर्थन किया ; अखिल-भारतीय हिन्दूसभा ने, महाराजा पालनपुर के सभापतित्व में, इस का

किया है, जाति-बहिष्कृत करने की घोषणा करे, या किसी दूसरे को इन के साथ संसर्ग करने से मना करे ।

(३) ऐसे विवाह करने वाले स्त्री-पुरुषों के उत्तराधिकार के विषय मे, जो पति का 'निजी क़ानून', धर्मशास्त्र के अनुसार हो, ('दि हस्बैंडस् हिन्दू पर्सनल् ला'), वही लागू होगा ; पत्नी का वर्ण वही माना जाना जायगा जो पति का हो : तथा सन्तान का वही वर्ण माना जायगा जो पिता का हो । ऐसा होने से वर्ण का अस्तित्व सर्वथा बना रहेगा, और व्यवहार मे कोई अड़चन या कठिनाई न होने पावेगी । यदि, आगे चल कर, इस का प्रयोजन पड़ा, तो उपन्यस्त विधान मे उक्त आशय के शब्द, स्पष्ट रूप से बढ़ा दिये जायंगे ।

(४) इस उपन्यस्त विधान का आशय स्वप्न मे भी कदापि नहीं है, कि सचमुच उत्कृष्ट का विवाह सचमुच निकृष्ट से हो । प्रत्युत, इस का हार्दिक अभिप्राय और अभीष्ट यह है कि, ज़रा ज़रा सी थोथी बातों पर 'जात-बाहर' कर देने की समाजोच्छेदक, संघटन-विनाशक, द्रोह-वर्धक, संघ-ध्वंस-कारक, प्रथा बन्द हो : तथा, जो 'वर्ण' शब्द अब नितरां अर्थ-शून्य हो रहा है, वह पुनः अर्थपूर्ण हो ; स्वाभाविक, स्वप्रकृत्यनुकूल, धर्म-कर्म, जिस वर्ण का जो करे, वह उस वर्ण का नाम पावे ; विद्या-तपः-शील का विवाह विद्या-तपः-शील से हो, शूर-वीर का शूर-वीर से, धन-संग्रही दानी का धन-संग्रही दानी से, सेवा-चतुर का सेवा-चतुर से, सचमुच विशिष्ट का सचमुच विशिष्ट से, समान का समान से ; केवल वर्ण-नाम ही पर एकमात्र अत्यन्त ज़ोर न दिया जाय ।

इन बातों पर शान्त मन से, ('हिंदू') 'मानव' धर्म और ('हिंदू') 'मानव' समाज के जीर्णोद्धार के भाव से, सब सज्जन, गंभीर विचार करें : त्वरा से नहीं, रागद्वेष के भाव से नहीं ; यह काल युग-संधि का है ; दो समयों ज़मानों की, दो समुदाचारों शिष्टताओं की, पुराने नये विचारों आचारों प्रकारों की, मुठभेड़, टक्कर, घोर प्रतिस्पर्धा, हो रही है;

५—चतुःपुरुषार्थसाधक, विश्वव्यवस्था-कारक, विश्वधर्म।

(काशी के 'सिद्धान्त' नामक साप्ताहिक पत्र के १९९८ वि० (३ जून १९४१ ई०) के अंक में, मेरे अंग्रेज़ी ग्रन्थ 'सब धर्मों की तात्त्विक एकता' की छोटी समालोचना छपी ; तथा, १९९९ वि० (१०, १७,२४ मार्च १९४२ ई०) के तीन अंकों में मेरे अंग्रेज़ी ग्रन्थ 'विश्व-युद्ध और उसका एकमात्र औषध—विश्वव्यवस्थाकारक विश्वधर्म' की विस्तीर्ण परीक्षा। समालोचक सज्जन ने अपने अन्तिम लेख में यह इच्छा भी प्रकट की, कि मैं उत्तर लिखूँ। इस लिये उनकी उठाई शंकाओं के समाधान के लिये मैंने कुछ लिखा। वह १९९९ वि० (२६ मई, २,९,१६,२३,३० जून, १९४२ ई०) के छः अंकों में छपा। उसका पुनर्दृष्ट, कुछ संक्षिप्त, कुछ परिबृंहित, रूप, यहाँ छापा जाता है।)

विश्वव्यवस्था और विश्वधर्म।

समालोचक ने, २४-३-१९४२ ई० के लेख के आदि में लिखा है कि "जिस तरह हम डाक्टर भगवानदास जी की 'विश्वव्यवस्था' समझने में असमर्थ हैं, उसी तरह 'विश्वधर्म' से उनका क्या अभिप्राय है, यह भी हम नहीं समझ सके हैं"। इससे मैं कुछ संकट में पड़ गया; ७५० पृष्ठों की पुस्तक (दि एसेन्शल् यूनिटी आफ् आल् रिलिजन्स्', 'सब धर्मों की तात्त्विक एकता') से जब मैं 'विश्वधर्म' का रूप समझा न सका, और ५५० पृष्ठों की दूसरी पुस्तक ('वर्ल्ड् वार ऐण्ड इट्स् ओन्ली क्यूर—वर्ल्ड आर्डर ऐण्ड वर्ल्ड रिलिजन' 'विश्वयुद्ध और उसकी एकमात्र औषध—विश्वव्यवस्था और विश्वधर्म') से 'विश्वव्यवस्था' का आकार-प्रकार समझाने में असमर्थ हुआ, तब छोटे छोटे लेख में, यह साध्य सिद्ध करने में कृतार्थ कैसे हो सकूँगा। और अब, 'विवाद' को दूर, 'वाद' के लिए भी जगह देखें और उनके परिवारभूत व्यक्तियों

सामान्य' अर्थात् 'विश्व-व्यवस्था' और 'धर्म-सामान्य' अर्थात् 'विश्व-धर्म' की आवश्यकता देखता हूँ ; व्यवस्था-विशेषों और धर्म-विशेषों के साथ साथ, परन्तु उनके ऊपर ; पराऽपरन्याय से ; जैसे परम-सामान्य, सत्ता-सामान्य, चैतन्य-सामान्य, परम-महान्, के अन्तर्गत असंख्य चरम-विशेष, सत्ता-विशेष, जीव-विशेष, परम-अणु। उस मानव जाति के कल्याण के लिये इनकी आवश्यकता मानता हूँ, जो 'आदि प्रजापति' 'मनु' की, (जिस शब्द के कई अर्थ हैं, "एतमेके वदन्त्यग्निं, मनुं मन्ये प्रजापतिं") सन्तति है, और जो, कोटियों सिर, भुजा, धड़, पैर वाली जाति, "अनेकबाहु-उदर-वक्त्र-नेत्रः", "सहस्रशीर्षा पुरुषः, सहस्राक्षः, सहस्रपात्, स भूमिं सर्वतः स्पृत्वा अत्यतिष्ठद् दशाङ्ग (ङ्गु)लम्", अपने दस अङ्गों इन्द्रियों के बल से, तथा दो हाथों की दस अँगुलियों के बल से, समग्र भूतल पर 'स्पृत' (अंग्रेजी 'स्प्रेड्', फैलना, फैलाना) विस्तृत (अंग्रेज़ी 'स्ट्रेच') हो रही है।

प्रतिपक्षी सज्जन, व्यवस्था-विशेष और धर्म-विशेष को ही समझते मानते हैं। इस सम्बन्ध में, 'सामान्य' पदार्थ को, वे कोई भी स्थान देते हैं या नहीं, और यदि हाँ तो क्या, यह मुझे नहीं विदित हुआ।

आखिर, यह तो प्रत्यक्ष ही सभी देखते हैं, कि हिन्दू-धर्म' नाम के पदार्थ के अन्तर्गत बहुत से विशेष-धर्म हैं, शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर आदि ; उन विशेष-धर्मों की अपेक्षा से, 'हिन्दू-धर्म' पदार्थ को 'सामान्य' धर्म आप मानेंगे और कहेंगे या नहीं ? इस 'हिन्दू-सामान्य-धर्म', या 'हिन्दू-विश्व-धर्म' का रूप, भारतीय तथा विदेशी जिज्ञासुओं विद्यार्थियों को बताने के लिये ही, चालीस वर्ष हुए, 'सेन्ट्रल् हिन्दू कालिज' के 'बोर्ड आफ़ ट्रस्टीज़' ने 'टेक्स्ट बुक्स् आफ़् सनातन-धर्म' तयार की ; और उनका स्वागत और प्रचार भारतवर्ष के प्रायः सभी प्रान्तों में, कई बड़ी देशी रियासतों में भी, (हिन्दू ही नहीं, अपितु मुसल्मानी राज्यों में भी, यथा निज़ाम के हैदराबाद के सर्कारी स्कूलों में), बहुत अच्छा हुआ ; पर 'सेन्ट्रल हिन्दू कालिज' के 'बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी' के

मिणः ज्ञानेनाऽन्नेन चाऽन्वहम्, गृहस्थेनैव धार्यन्ते, तस्माज् ज्येष्ठाऽश्रमो गृही (म.)", "आन्वीक्षिकी", "व्यवहितपृतनामुखं निरीक्ष्य स्वजनवधाद् विमुखस्य दोषबुद्ध्या, कुमतिमहरद् आत्मविद्यया यः, चरणरतिः परमस्य तस्य मेऽस्तु" (भा.), "राज्ञां दैन्याऽपनोदाऽर्थं, सम्यग्दृष्टिक्रमाय च, ततोऽस्मदादिभिः प्रोक्ताः महत्यो ज्ञानदृष्टयः, अध्यात्मविद्या तेनेयं राजविद्येत्युदाहृता" (यो० वा०), "नह्यनध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलं उपाश्नुते", "सैनापत्यं च, राज्यं च, दंडनेतृत्वमेव च, सर्वलोकाधिपत्यं वा वेदशास्त्रविदर्हति" (मनु०), इत्यादि ; इस सब का आशय, विस्तार से, 'दर्शन का प्रयोजन' नामक हिन्दी ग्रन्थ के दूसरे अध्याय में, दिखाने का यत्न मैं ने किया है ।

'सामान्य' और 'विशेष" के सम्बन्ध में, इस स्थान पर दो श्लोक चरक के लिख देता हूं, जो मुझे बहुत प्रिय हैं, और प्रसक्त विषय पर बहुत प्रकाश डालते हैं—"सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्, ह्रासहेतुर्विशेषश्च; प्रवृत्तिरुभयस्य तु । सामान्यमेकत्वकरं; विशेषस्तु पृथक्त्वकृत्; तुल्यार्थता हि सामान्यं; विशेषस्तु विपर्ययः" ।

'विश्वधर्म' कोई 'विशेषधर्म' नहीं ।

समालोचक ने लिखा है कि "डाक्टर साहब के वाक्यों से तो ऐसा ज्ञात होता है कि वे 'ओदित' धर्मों से भिन्न कोई विशेष 'विश्व-धर्म' चाहते हैं ।" इस पर 'योगवासिष्ठ' का पुराना श्लोक याद आता है । "सकललोकचमत्कृतिकारिणोऽप्यभिमतं यदि राघवचेतसः फलति नो, तद् इमे वयमेव हि स्फुटतरं दृषदो हतबुद्धयः" । निःसंदेह यह मेरी हतबुद्धि और हतभाग्यता का ही दोष है, कि ७५० पृष्ठों की इस पुस्तक के प्रत्येक पन्ने में, और ५५० पृष्ठों की दूसरी पुस्तक के प्रायः प्रति तृतीय चतुर्थ पृष्ठ में, यही दिखाने का यत्न करता हुआ भी, कि 'विश्व-धर्म' 'विशेष' नहीं है, और किसी विशेष धर्म से 'भिन्न' नहीं है, प्रत्युत 'सामान्य' है और सब विशेष धर्मों में 'समवेत' है, अनुस्यूत है, इस यत्न में कृतार्थ नहीं हुआ; और आप को ऐसा भ्रम हुआ, जो मेरे अभीष्ट अभिप्राय से सर्वथा विपरीत है ।

सिद्ध हो जाता है। प्रसक्त वक्तव्य यह कि, शब्द और अर्थ का सम्बन्ध, प्रयोक्ता मनुष्यों के परस्पर सङ्केत से, (सम्-अय) 'समय' से, समझौते से, बँधता है और टूटता है; और इसी हेतु से यदि दो मनुष्य एक सङ्केत मे सम्मिलित नहीं हैं, तो उनके बीच मे एक दूसरे के अभिप्राय का अ-ग्रहण, विपरीत-ग्रहण, भ्रान्त-ग्रहण, और वाद-विवादादि उत्पन्न हो जाते हैं। "वाचि अर्थाः नियताः सर्वे, वाङ्मूलाः वाग्विनिःसृताः; तस्माद् यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन् नरः" (म.); पर, अबुद्धिपूर्वक किये ऐसे 'स्तेय' से बचना बहुत कठिन हो गया है; उक्त हेतु से, और शब्द-बाहुल्य से। 'विज्ञान' शब्द अब कई अर्थों मे प्रयुक्त होने लगा है; मै ने, अपनी उक्त अंग्रेज़ी पुस्तकों मे, 'सायंटिफ़िक्' शब्द का प्रयोग किया है; प्रायः उसी का अनुवाद आप ने 'वैज्ञानिक' किया है; ठीक ही किया है; आजकाल ('अद्य काले') हिन्दी मे प्रायः ऐसा ही सब लेखक करते हैं। अंग्रेज़ी 'सायंस' शब्द का भी मूल धातु 'शंस्' 'शास्' जान पड़ता है, जिससे 'शास्त्र' बना है; ऐसे ही अंग्रेज़ी 'क्नो' का (जिसका उच्चारण 'नो' होता है), मूल धातु 'ज्ञा' है (जिसका उच्चारण महाराष्ट्र प्रान्त मे 'ग्ना' होता है, जैसा अंग्रेज़ी 'ग्नास्टिक' अर्थात् 'ज्ञानी' मे)। 'सायंस' का अनुवाद 'शास्त्र', और 'सायंटिफ़िक्' का 'शास्त्रीय' होता, तो स्यात् अच्छा होता; किन्तु 'सायंस्' का प्रयोग पश्चिम मे प्रायः 'अधिभूत-शास्त्र' के लिये ही आरम्भ हुआ, जिसे भारत मे लोग 'विज्ञान' कहने लगे हैं; और 'सायंस्' और 'सायंटिफ़िक्' शब्दों के अर्थ में 'प्रत्यक्ष और अनुमान' की अनुकूलता, और 'शब्द' 'आगम' आदि के तर्करहित आस्था श्रद्धा की प्रतिकूलता भी, सम्मिलित संकेतित हो गयी है। भारत मे, 'शास्त्र' मे चतुर्विध शास्त्र, 'धर्म-अर्थ-काम-शास्त्र' भी और 'मोक्षशास्त्र' भी, जो ही प्रायः 'ब्रह्मज्ञान' शब्द से अब अभिप्रेत होता है, अन्तर्गत हैं; तथा श्रुति, स्मृति, पुराणादि शब्द प्रमाण से तर्कानपेक्ष, बुद्ध्यतीत, आस्था श्रद्धा प्रायः लिए गयी है; और 'शास्त्रीय' शब्द मे यह अर्थ अब नहीं निकलता जो 'वैज्ञानिक' से लिया जाता है; सङ्केत सब,

हैं; पर हिन्दी-लेखक-लोक-मत ने 'विज्ञान' का अर्थ 'आधिभौतिक-शास्त्र, वा विद्या, वा ज्ञान' मान लिया है, जिसे पश्चिम मे प्रायः 'फ़िज़िकल् सायंस्' कहते हैं।

"श्रुतिद्वैधे यथेष्ट" न्याय से, और हिन्दी लेखकवर्ग के स्वीकृत सङ्केत के अनुसार, तथा व्युत्पत्ति निरुक्ति की दृष्टि से भी, मेरे मन मे यही बैठता है कि, 'ज्ञान' शब्द को 'सामान्य', उभय-संग्राहक अर्थ, मे प्रयोग करना उचित है; "ज्ञानिनो मनुजा नूनं, किन्तु ते नहि केवलं; ज्ञानमस्ति समस्तस्य जन्तोर्विषयगोचरे"; (दुर्गा०) और उसके अवान्तर दो मुख्य 'विशेष' करना ठीक है; यथा, (१) 'प्रकृष्टं ज्ञान, प्रकृष्टस्य, उत्कृष्टस्य, श्रेष्ठ-श्रेष्ठ-पदार्थस्य, आत्मनः, परमात्मनः, सर्वविशेषेषु सामान्येन समवेतस्य, व्यापकस्य, ज्ञानं आत्मज्ञानं, प्रज्ञानं'; और (२) 'विशिष्टं ज्ञानं, विशेषेण, विशेष-विशेष पदार्थानां, ज्ञानं, विज्ञानं'; "यदा भूतपृथग्भावं एकस्थं अनुपश्यति" यह प्रज्ञान; "तत एव च विस्तारं" यह विज्ञान; "ब्रह्म सम्पद्यते तदा" (गी०); "ज्ञान-विज्ञान-तृप्तात्मा", प्रज्ञान-विज्ञान उभय से सम्पन्न हो कर उस ज्ञानी द्रष्टा का ब्रह्म, वेद, ज्ञान, सम्यक्, पूर्ण होता है, और वह द्रष्टा, ज्ञाता, ब्रह्मत्वेन स्वयं सम्पन्न हो जाता है, "ब्रह्म वेद ब्रह्म एव भवति, परमेव ब्रह्म भवति यः एवं वेद", ब्रह्ममय, परमात्ममय, हो जाता है। ऊपर कहा कि, 'फ़िलासोफ़ी' शब्द का अनुवाद 'अध्यात्म विद्या' शब्द से हो तो अच्छा है; इसमें, शब्द विद्या ओ विज्ञान की अपेक्षा से, उसका निकटतम सम्बन्ध 'फ़िलासोफ़ी', 'आत्मविद्या', से प्रकाशित हो जाता है; ऐसा होना चाहिये। गीता में, 'ज्ञान' शब्द, इस 'प्रज्ञान' के अर्थ में बहुधा प्रयोग किया गया है; यथा—[illegible]

जाय ?" और कई वैकल्पिक अर्थों की उद्भावना की है। ऊपर जो 'सामान्य' और 'विशेष' के 'समवाय' के विषय मे कहा गया है, उसपर यदि आप ध्यान देंगे, तो स्यात् यह स्फुट हो जायगा, कि आप के सभी विकल्प, संवादी है, विवादी नहीं; परस्पर अनुकल्प हैं, विकल्प नहीं; अनुरोधी हैं, विरोधी नहीं ; एक ही अर्थ के विविध 'अस्र', अंश, अंशु हैं। यह 'विश्व-धर्म' (१) मानव विश्व भर मे फैला भी है, (२) उसे सब लोग चाहते भी हैं, (३) वह सब मे समान भी है, (४) सनातन सत्य भी है। किन्तु, जिन भिन्न भिन्न भाषाओं, शब्दों, संकेतों से, भिन्न भिन्न देशों और जन-समुदायों ने, उसे लपेट रखा है, उन सब शब्दों और संकेतों की एकार्थता, सामान्यार्थता, समानार्थता, तुल्यार्थता, को, वे सब देश और समूह पहिचानते नहीं; और, अहंकारवश, अपने ही शब्दों और संकेतों मे अभिनिवेश करते हैं, तथा दूसरो के शब्दों संकेतों से प्रतिनिवेश। अविद्या के पाँच पर्व ही महामाया की 'आवरण' और 'विक्षेप' शक्तियों के प्रत्यक्ष रूप हैं; "आवृतं ज्ञानमेतेन कामरूपेण वैरिणा", "आवृत्य विक्षिपति संस्फुरदात्मतत्त्वं", "ज्ञानिनामपि चेतांसि, देवी भगवती हि सा, बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति"; सद्ज्ञान पर आवरण, सच को देखने वाली आँख पर पर्दा, अहंकार-काम-क्रोध से पड़ जाता है; और ये ही, मनुष्य को अभिनिविष्ट प्रतिनिविष्ट 'विक्षिप्त' बना कर, असन्मार्ग पर, अधर्म, अन्याय, पाप के पथ पर, पुनः पुनः धक्का देते हुए, दौड़ाते रहते हैं। इन आवरणों और विक्षेपों से, आज समस्त मानव जगत् मे कलि का, कलह का, विवाद, वैर, और युद्ध का, 'भस्मासुरवाद' हो रहा है। 'सोऽयमात्मा [illegible], सर्वगत, विशुद्ध'; परन्तु शरीरों से, उपाधियों से, "[illegible]" हो कर, अत्यन्त आवृत और विक्षिप्त हो गया है, [illegible] हो गया है; देखने सुनने पहिचानने मे सभी मनुष्य असमर्थ हो रहे हैं। [illegible] भी, नाम बदल कर, कपड़े बदल कर, दूसरे दूसरे देश के [illegible] को पहिचाना नहीं जाता; क्योंकि इन्हीं से उनके [illegible] करते हैं। [illegible]

जाय ?" और कई वैकल्पिक अर्थों की उद्भावना की है। ऊपर जो 'सामान्य' और 'विशेष' के 'समवाय' के विषय मे कहा गया है, उसपर यदि आप ध्यान देंगे, तो स्यात् यह स्फुट हो जायगा, कि आप के सभी विकल्प, संवादी हैं, विवादी नहीं; परस्पर अनुकल्प हैं, विकल्प नहीं; अनुरोधी हैं, विरोधी नहीं ; एक ही अर्थ के विविध 'अस्त्र', अंश, अंग हैं। यह 'विश्व-धर्म' (१) मानव विश्व भर मे फैला भी है, (२) उसे सब लोग चाहते भी हैं, (३) वह सब मे समान भी है, (४) सनातन सत्य भी है। किन्तु, जिन भिन्न भिन्न भाषाओं, शब्दों, संकेतों ने, भिन्न भिन्न देशों और जन-समुदायों ने, उसे लपेट रखा है, उन सब शब्दों और संकेतों की एकार्थता, सामान्यार्थता, समानार्थता, तुल्यार्थता, को, वे सब देश और समूह पहिचानते नहीं; और, अहंकारवश, अपने ही शब्दों और संकेतों मे अभिनिवेश करते हैं, तथा दूसरों के शब्दों संकेतों से प्रतिनिवेश। अविद्या के पाँच पर्व ही महामाया की 'आवरण' और 'विक्षेप' शक्तियों के प्रत्यक्ष रूप हैं; "आवृतं ज्ञानमेतेन कामरूपेण वैरिणा", "आवृत्य विक्षिपति संस्फुरदात्मतत्त्वं", "ज्ञानिनामपि चेतांसि, देवी भगवती हि सा, बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति"; सज्ज्ञान पर आवरण, सत्य को देखने वाली आँख पर पर्दा, अहंकार-काम-क्रोध से पड़ जाता है; और ये ही, मनुष्य को अभिनिविष्ट प्रतिनिविष्ट 'विक्षिप्त' बना कर, अन्यमार्ग पर, अधर्म, अन्याय, पाप के पथ पर, पुनः पुनः धक्का देते हुए, दौड़ाते रहते हैं। इन आवरणों और विक्षेपों से, आज समस्त मानव जगत् में कलि का, कलह का, विग्रह, वैर, घोर युद्ध का, 'साम्राज्यवाद' हो रहा है। 'सोऽयमात्मा [illegible], [illegible], सर्वव्यापक, विशुद्ध'; परन्तु शरीरों से, उपाधियों से, "आच्छन्नात् प्रतिष्ठितः" हो कर, अत्यन्त आवृत और विक्षिप्त हो गया है, छिप गया है; उनको देखने समझने पहिचानने में सभी मनुष्य असमर्थ हो रहे हैं। इसलिए मित्र भी, नाम बदल कर, वस्त्र बदल कर, दूसरे दूसरे वेश में सामने आता है तो पहिचाना नहीं जाता; क्योंकि हमारे उनके ऊपरी आवरणों ही पर ध्यान

को देने वाले, स्वार्थ-परमार्थ दोनो को बनाने वाले, प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनो की वासनाओं को पूरा करने वाले, दुनिया और आक़बत दोनो को बनाने वाले, 'सिन' और 'साल्वेशन' दोनो के पार लगाने वाले—ऐसे 'धार्मिक प्रज्ञान विज्ञान' और 'वैज्ञानिक प्राज्ञानिक धर्म' की, मनुष्य को, अपरिहार्य अनिवार्य आवश्यकता का, और तत्सम्बन्धी शिक्षा का, और तद्द्वारा पृथ्वीतल पर शान्ति स्थापन करने के प्रकार आदि का, प्रतिपादन विवरण किया है।

साम्प्रदायिक ('धार्मिक', 'धर्मीय' !) उपद्रव।

सन् १९३१ के फ़रवरी मास मे, काशी मे, भारी हिन्दू-मुस्लिम 'साम्प्रदायिक उपद्रव' हुआ। दोनो पक्षों के मिल कर प्रायः चालीस आदमियों ने प्राण खोया, और प्रायः चार सौ घायल हुए। इसके बाद, मार्च मास मे, कानपुर मे बहुत अधिक उपद्रव हुआ। प्रायः चार सौ आदमी, स्त्री, पुरुष, बालक, जान से गये, प्रायः बारह सौ घायल हुए, कुछ मन्दिर मस्जिद तोड़े गये, पचासों छोटे बड़े मकान जलाये ढहाये गये, सैकड़ों दूकाने लूट ली गयीं। उपद्रव के कारणो की जाँच और चिकित्सा के उपायों की सूचना के लिये कांग्रेस ने, (जिसका वार्षिक अधिवेशन, उन्हीं दिनो, कराची मे हो रहा था), छः आदमियों की, तीन हिन्दू तीन मुसल्मान की, एक कमेटी नियुक्त की, जिसके 'चेयरमेन' का कार्य मेरे ज़िम्मे किया गया; तीन महीने कानपुर मे रह कर और गली गली मे घूम कर, इस कमेटी ने जाँच की; और प्रायः चालीस हिन्दू मुसल्मान, और दो तीन ईसाई, जानकार सज्जनो के, जिन मे कई प्रकार के व्यवसायों के लोग थे, साक्षिरूपेण कथन, इस कमेटी ने लिखे।

ऐसे उपद्रवों के उन्मूलन का उपाय।

उपद्रव रोकने के उपायों के सम्बन्ध मे प्रायः सब साक्षियों ने यह स्वीकार किया कि (१) दोनो धर्मों के मूलतत्त्व एक ही हैं, केवल कर्मकाण्ड और आचारों मे, जैसा पहिनावे मे हुआ करता है, भेद है; और (२) समान मूलतत्त्वों का प्रचार, शिक्षा संस्थाओं मे और जनता मे

नये रूपों और प्रकारों के, भावों और विचारों का प्रचारण, ऐसे ही 'मिशनरियों' 'संदेशहरों' द्वारा हुआ; यथा बुद्ध, जिन, मूसा, ईसा, मुहम्मद, शङ्कराचार्य, रामानुज, मध्व, चैतन्य, मार्टिन लूथर, कबीर, नानक, गुरु गोविन्दसिंह, आदि के समय मे। मानव जगत् के वर्त्तमान काल मे, इस युग मे, इस अवस्था और 'परि-स्था' मे, 'विश्व-व्यवस्था से उपहित विश्व-धर्म' के रूप मे ला कर 'धर्म' पदार्थ के जीर्णोद्धार की, परम आवश्यकता है; यदि इसके विश्वासी, श्रद्धालु, 'सम्यग्व्यवसित', दृढ़प्रतिज्ञ, संशसक प्रचारक, पर्याप्त मात्रा मे उत्पन्न हो गये, तब यह जीर्णोद्धार सिद्ध, और उनका सङ्कल्प सत्य, हो जायगा। ऐसे विचार और विश्वास वालों की संख्या प्रत्येक देश मे बढ़ती देख पड़ती है। ये सज्जन, समस्त मानव जातियों और देशों का, इस युग मे, अभूतपूर्व सम्बन्धन, विज्ञानकृत और वार्त्ताकृत, देख रहे हैं; साथ ही, इन जातियों के हृदयों मे, प्रतिस्पर्धा-संघर्षात्मक, द्वेष-द्रोह-कारक, पार्थक्यभाव, को भी देख रहे हैं; और विशेष-'धर्म' और विशेष-'राष्ट्रियता' ('नैशनलिज़्म') के भावों से उत्पन्न परिखाओं, भित्तियों, प्राकारों, प्रावारों, को, सामान्य-'धर्म' और सामान्य-'मानवीयता' ('ह्युमनिज़्म') के विरोधी उग्र भेदभाव का, और क्षय जगत् के क्षय का, कारण, जानते मानते हैं: इस लिये इनको हटाना मिटाना चाहते हैं। यह मतलब नहीं, कि सब विशेषता, सब जातीयता, सब राष्ट्रियता मिट जाय; कदापि नहीं; यह तो असम्भव है: किन्तु यह कि, यह सब विशेषताएँ, 'सामान्यता', 'समानता' के 'अधीन' रहें, 'उपरीण' नहीं; विशेष ही नहीं, विशेष भी रहें, और सामान्य भी, संग्राहकत्वेन, समन्वय-कारकत्वेन, समवाद-कारकत्वेन, सार्व-भौमत्वेन, रहे। परन्तु ऐसा चाहने वालों के विचार अभी स्थिर, निश्चित, निर्णीत, सु-स्पष्ट, सु-स्फुट ('आर्गेनाइज़्ड', 'सिस्टेमाटाइज़्ड') नहीं हुए हैं; प्राचीन आर्ष निर्णयों का प्रतिपादन, नये शब्दों मे धर के, इन निश्चयन, सु-दर्शन, सु-स्फुटन, स्थिरीकरण मे सहायक होना, मेरी इस पुस्तकों के लिखे जाने की प्रेरक आशा है।

मन्दिर ही; मस्जिद ही; मूर्त्ति ही; क़ब्र ही; इत्यादि भावों के ही मन मे बसे धँसे रहने के कारण), और सर्व-मानव-कल्याण-कारक 'मानव-धर्म' 'सामान्य-धर्म' पर ध्यान न देने के कारण, समझौता नहीं हो सका; मुस्लिम लीग और हिन्दू महासभा एक दूसरे के दोष ही देखती दिखाती रही; अपने दोष नहीं; दूसरे के गुण नहीं; कांग्रेस दोनो से वि-मत; "मुरारेस्तृतीयः पन्थाः"; कांग्रेस के भीतर भी वैमत्य; कुछ सज्जन, परम-पुरुष की द्वन्द्वात्मक प्रकृति को आमूल बदल कर एकात्मक, शुद्ध अहिंसाऽत्मक, बना डालने पर तुले हुए; केवल इतना कहने से सन्तुष्ट नहीं कि, यद्यपि 'हिंसा' और 'दण्ड' मे महाभेद है, और न्याय्य दण्ड, राजा के परम धर्मों मे परिगणित है, तथा चतुर्विध राजनीति मे चतुर्थ अन्तिम नीति है, तथापि, भारतवर्ष की जो दुर्दशा, अपने और पराये पापों के कारण हो गयी है, उस दुर्दशा की अवस्था मे, भारत-जनता के पास, सिवा 'अहिंसा' के, बर्दाश्त के, "क्षमाशस्त्रं करे यस्य, दुर्जनः किं करिष्यति" पर भरोसा करने के, अथवा यथा-शक्ति यथा-सम्भव शान्त-प्रतिरोध और तटस्थता के, कोई दूसरा उपाय नहीं; तथा कांग्रेस के ही कुछ अन्य सज्जन, शूरता वीरता से, जापानियों के आक्रमण को रोकने की सलाह देते हैं, पर उसी शूरता वीरता से वर्तमान ब्रिटिश-साम्राज्य के स्थान मे भारतीय स्वराज्य क़ायम नहीं कर सकते; इत्यादि।

धर्म-सामान्य; ब्रिटेन-भारतसंघ; मानवजगत्संघ।

यदि ये सब सज्जन 'धर्मसामान्य' और 'सामाजिक व्यवस्था-सामान्य' पर ध्यान दिये होते, और इन को पहिचानते, तो स्यात् बीस वर्ष पहिले ही, भारतवर्ष को 'स्वराज' मिल गया होता; भारत के भीतर भी शान्ति होती; और समस्त मानव जगत् मे भी; क्योंकि चारो ओर ईर्ष्या-मत्सर-द्वेष का, और तज्जनित दारुण युद्ध का, एकमात्र कारण, ब्रिटिश साम्राज्य-वाद, भूतल से हट गया होता, और उसके स्थान मे, 'ब्रिटिश-इण्डियन-कामनवेल्थ', 'ब्रिटेन-भारत-संघ', ('इङ्ग्लिश-अमरीकन-संघ' के ऐसा), प्रतिष्ठित हो जाता; जो 'विश्व-मानवसंघ' का आरम्भक केन्द्र या बीज होता;

इस 'सामान्य' की ओर गया ही नहीं है; अपने अपने 'विशेष' ही मे रम रहे हैं ।

क्या 'सामान्य' पर ज़ोर देने से 'विशेष' भूल जायगा ?

समालोचक ने यह बात कई बेर, प्रश्न के, शंका के, स्वमत-प्रकाश के, शब्दों मे, लिखा है कि, "अधिकतर ज़ोर समानता पर ही देने से अपने विशेष धर्म पर आस्था या श्रद्धा ही क्या रहेगी ?" "क्या विशेष का पालन भी अनावश्यक न समझ लिया जायगा ?" "वास्तव मे जो सब को मानने का दावा रखता है, वह किसी को नहीं मानता", इत्यादि । इन का उत्तर, एक प्रकार से, ऊपर हो गया है ; तौ भी, पुनर्वार, मनफेर के लिये, प्रति-शब्दकों से करूंगा । 'अधिकतर ज़ोर शरीर के सामान्य स्वास्थ्य, सौंदर्य, दार्ढ्य पर देने से, क्या अपने विशेष कपड़ों पर आस्था श्रद्धा रह जायगी ?', 'जो मनुष्य गोहूं-सामान्य का भोजन मे प्रयोग करता है, उसे किसी विशेष प्रकार की रोटी, पूरी, पराँठे, दलिया, भात, मठरी, दल के लड्डू, "सत्यनारायण के चूर्ण", सूजी के हलवे, शक्करपारे, या पाव-रोटी, बिस्किट, नान-खताई, केक, सैंडविच, रोल, बन, रस्क आदि मे रुचि क्या रह जायगी ?', 'जो सामान्य दूध का सेवन करता है, वह नवनीत, हैयङ्गवीन, घृत, दधि, मन्थ, तक्र, छाछ के सेवन को अनावश्यक न समझ लेगा ?', अथवा, 'जो विशेष प्रकार के अपने पहिनावे को अच्छा समझता है, वह क्या दूसरे सब विशेष प्रकारों को बुरा न समझेगा ?' इत्यादि । ऐसा नहीं ; प्रत्येक चित्त मे सामान्य के लिये भी निसर्गतः स्थान है, और विशेष के लिये भी; केवल इस बात को बुद्धिपूर्वक, अभिव्यक्त रूप से, पहिचानने, 'प्रत्यभिज्ञान' करने, की देरी है; ऐसा होते ही, असामंजस्य के स्थान मे सामंजस्य का प्रवाह बहने लगेगा । यह पहिचानवाला, सर्व-विशेषों, सर्व-प्रकारों, का वास्तव-धर्म है । और एक बात ध्यान देने की है; समालोचक ने स्वयं अपनी प्रथम शंका मे, "अधिकतर ज़ोर समानता पर ही देने से" लिखा है; जिसने ऐसा ज़ोर समानता पर ही दिया हो, उससे यह प्रश्न करना उचित है; पर मैंने तो ऐसा कभी नहीं किया; मैं तो दोनों के साथ

आश्रम के विशेष धर्मों का भी विधान किया है, और दूसरी कुछ नीची काष्ठा मे उनको भी गौरव दिया है। इन दोनो मे, सामान्य और विशेषों मे, कोई शत्रुता नहीं, प्रत्युत घनिष्ठ मित्रता और परस्परोपकारिता है। "त्रैगुण्यविषया वेदाः, निस्त्रैगुण्यो भवाऽर्जुन", ऐसा परामर्श देते हुए भी, "स्वधर्ममपि...क्षत्रियस्य" को भी पालने का उपदेश दिया है।

वेदान्त के अर्वाचीन प्रतिपादकों ने, "न वर्णाः, न वर्णाश्रमाचार-धर्माः" "निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतो को विधिः को निषेधः" 'अतिवर्णाश्रमी' आदि लिखा है। इन का अर्थ, अपनी अपनी सुविधा से, विविध व्याख्याता विविध प्रकार से लगाते हैं। यद्यपि इन शब्दों से सूचित भावों, आचरणों, व्यवहारों का यथोचित समावेश, वानप्रस्थ और संन्यास मे हो सकता है।

मेरी क्षुद्र बुद्धि तो वर्ण और आश्रमधर्मों के (प्रचलित नहीं, प्रत्युत) उचित, अध्यात्मविद्या से संशोधित, सुसंस्कृत, परिमार्जित विधान, विवेचन, विभाजन, परिपालन को, (भारतीय ही, या आर्यावर्त्तीय ही, या ब्रह्मा-वर्त्तीय ही नहीं, अपि तु) समस्त मानव जगत् के कल्याण के लिये पर-मावश्यक जानती है। पर, हाँ, 'उचित' क्या है, 'वर्ण' जन्मना है और होना चाहिये, या "स्वभाव-गुण-(जीविका)-कर्मभिः"—इस प्रश्न का उत्तर, मेरे विश्वास से, "(जीविका-) कर्मभिः" उचित है। अन्यथा यह 'मानव' धर्म, मनु की आज्ञा के अनुसार, "पृथिव्यां सर्वमानवाः" को प्राप्य नहीं हो सकता, सर्वलोकहितकारी, सब मनुष्यमात्र का शिक्षक-रक्षक-पोषक-धारक, नहीं हो सकता। केवल थोड़े से परस्पर संघृष्यमाण आदमियों की धरोहर बन कर, उस कलह और संघर्ष के कारण क्रमशः अधिकाधिक घिस कर और क्षीण हो कर लुप्त हो जायगा।

'जन्मना वर्णः' का प्रत्यक्ष दुष्परिणाम।

क्या यह 'जन्मना वर्णः' का ही फल है, या नहीं, कि 'हिन्दू' कह-लानेवाले समाज में ढाई हज़ार से ऊपर ऊपर (सर्कारी मनुष्य गणना के विवरण के अनुसार) परस्पर घातक या बाधक जाति, उपजाति, उपोप-जातियां बन गयी हैं ? क्या इन आनुषङ्गिक जातियों में परस्पर स्नेह, प्रीति,

आश्रम के विशेष धर्मों का भी विधान किया है, और दूसरी कुछ नीची काष्ठा में उनको भी गौरव दिया है। इन दोनों में, सामान्य और विशेषों में, कोई शत्रुता नहीं, प्रत्युत घनिष्ठ मित्रता और परस्परोपकारिता है। "त्रैगुण्यविषया वेदाः, निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन", ऐसा परामर्श देते हुए भी, "स्वधर्ममपि...क्षत्रियस्य" को भी पालने का उपदेश दिया है।

वेदान्त के अर्वाचीन प्रतिपादकों ने, "न वर्णाः, न वर्णाश्रमाचार-धर्माः" "निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतो को विधिः को निषेधः" 'अतिवर्णाश्रमी' आदि लिखा है। इन का अर्थ, अपनी अपनी सुविधा से, विविध व्याख्याता विविध प्रकार से लगाते हैं। यद्यपि इन शब्दों से सूचित भावों, आचरणों, व्यवहारों का यथोचित समावेश, वानस्थ्य और संन्यास में हो सकता है।

मेरी क्षुद्र बुद्धि तो वर्ण और आश्रमधर्मों के (प्रचलित नहीं, प्रत्युत) उचित, अध्यात्मविद्या से संशोधित, सुसंस्कृत, परिमार्जित विधान, विवेचन, विभाजन, परिपालन को, (भारतीय ही, या आर्यावर्त्तीय ही, या महा-वर्त्तीय ही नहीं, अपि तु) समस्त मानव जगत् के कल्याण के लिये पर-मावश्यक जानती है। पर, हाँ, 'उचित' क्या है, 'वर्ण' जन्मना है और होना चाहिये, या "स्वभाव-गुण-(जीविका)-कर्मभिः"—इस प्रश्न का उत्तर, मेरे विश्वास से, "(जीविका-) कर्मभिः" उचित है। अन्यथा यह 'मानव' धर्म, मनु की आज्ञा के अनुसार, "पृथिव्यां सर्वमानवाः" को प्राप्त नहीं हो सकता, सर्वलोकहितकारी, सब मनुष्यमात्र का शिक्षक-रक्षक-पोषक-धारक, नहीं हो सकता। केवल मुट्ठी भर परस्पर संघृष्यमाण आदमियों की धरोहर बन कर, उस कलह और संघर्ष के कारण क्रमशः अधिकाधिक घिस कर और क्षीण हो कर लुप्त हो जायगा।

'जन्मना वर्णः' का प्रत्यक्ष दुर्विपाक।

क्या यह 'जन्मना वर्णः' का ही फल है, या नहीं, कि 'हिन्दू' कह-लानेवाले समाज में ढाई हज़ार से ऊपर ऊपर (हालिया मनुष्य गणना के विवरण के अनुसार) परस्पर खान पान व्याहशादी वर्जित जाति, उपजाति, उपोप-जातियाँ बन गयी हैं? क्या इन आत्मघातियों के परस्पर स्नेह, प्रीति,

तथा, भारत के भी, 'नयी पाश्चात्य शिक्षा पाये हुए' सज्जनो का भी ध्यान इधर आकृष्ट करने मे; पर, बहुत सम्भव है कि, अन्य जनो के यत्न का ज्ञान मुझे नहीं है। अस्तु। प्रसक्त निवेदन मेरा यह है कि 'वर्ण-व्यवस्था' को 'ख़ास देन' मैं भी हृदयेन मानता हूँ, परन्तु 'कर्मणा वर्ण-व्यवस्था को', क्योंकि वही अध्यात्मशास्त्र-सम्मत है; 'जन्मना', अध्यात्मशास्त्र के विरुद्ध है, और मानवों को हानिकर है। इस बात को इन प्रतिप्रश्नों की दृष्टि से विचारिये; वर्णव्यवस्था को भारतवर्ष की ख़ास देन जिस समाज-शास्त्र को आप बताते हो, वह समाजशास्त्र क्या भारतीय समाज से ही सम्बद्ध है, या समस्त मानव समाज से ? यदि भारतीय से ही, तो भारतीयों के अनेक समाजों में से किस 'विशेष' समाज से ?

संघर्ष और संमर्ष का द्वन्द्व।

इन सब से यह अभिप्राय मेरा नहीं, कि 'कर्मणा वर्णः' की व्यवस्था से 'संघर्ष' पदार्थ मानव जगत् से मिट जायगा; न यह कि 'जन्मना' को सामाजिक प्रबन्धन व्यवस्थापन में कोई स्थान ही नहीं। 'द्वन्द्व'-मय सृष्टि में 'सं-घर्ष' भी, सं-मर्ष भी, अपाय भी उपाय और 'सद्भाव' भी, दोनो ही, अविच्छेद्य और अनुच्छेद्य हैं; पर, बुद्धिमान्, दक्ष, प्रबुद्ध, सम्बुद्ध मानवों का कर्तव्य है, कि सं-घर्षण को कम, और सं-मर्षण सह-अयन को अधिक, सर्वथा उचित 'कर्मणा' वर्ण-व्यवस्था के द्वारा, करें; तथा 'जन्मना' को, 'कर्मणा' द्वारा निर्धारित नियन्त्रित करते हुए, उस व्यवस्था में स्थान दें। न यह ही, न वह ही; बल्कि दोनों ही। किन्तु 'जन्मना' को 'अधीन' और 'कर्मणा' को '[illegible]' रक्खें; 'जन्मना' को मातहत और 'कर्मणा' को बालादस्त।

एक मनोरञ्जक उदाहरण।

आप ने लिखा है कि "[illegible] (अर्थात् हिन्दुओं में [illegible] भी अपने समाज में '[illegible]' [illegible], और '[illegible]' वाले लोग, परस्पर [illegible] विवाह करने लगे, [illegible] समय इन लोगों में भी '[illegible]' [illegible]"। बहुत [illegible], किन्तु

तथा, भारत के भी, 'नयी पाश्चात्य शिक्षा पाये हुए' सज्जनो का भी ध्यान इधर आकृष्ट करने मे; पर, बहुत सम्भव है कि, अन्य जनो के यत्न का ज्ञान मुझे नहीं है। अस्तु। प्रसक्त निवेदन मेरा यह है कि 'वर्ण-व्यवस्था' को 'खास देन' मैं भी हृदयेन मानता हूँ, परन्तु 'कर्मणा वर्ण-व्यवस्था को', क्योंकि वही अध्यात्मशास्त्र-सम्मत है; 'जन्मना', अध्यात्मशास्त्र के विरुद्ध है, और मानवों को हानिकर है। इस बात को इन प्रतिप्रश्नों की दृष्टि से विचारिये; वर्णव्यवस्था को भारतवर्ष की खास देन जिस समाज-शास्त्र को आप बताते हो, वह समाजशास्त्र क्या भारतीय समाज से ही सम्बद्ध है, या समस्त मानव समाज से ? यदि भारतीय से ही, तो भारतीयों के अनेक समाजों मे से किस 'विशेष' समाज से ?

संघर्ष और संमर्ष का द्वन्द्व।

इस लय से यह अभिप्राय मेरा नहीं, कि 'कर्मणा वर्णः' की व्यवस्था से 'संघर्ष' पदार्थ मानव जगत् से मिट जायगा; न यह कि 'जन्मना' को सामाजिक प्रबन्धन व्यवस्थापन मे कोई स्थान ही नहीं। 'द्वन्द्व'-मय सृष्टि मे 'सं-घर्ष' भी, सं-मर्ष भी, अपडाय भी उपडाय और 'सहडाय' भी, दोनो ही, अविच्छेद्य और अनुच्छेद्य हैं; पर, बुद्धिमान्, दक्ष, प्रबुद्ध, सम्बुद्ध मानवों का कर्तव्य है, कि सं-घर्षण को कम, और सं-मर्षण सा-हायन को अधिक, सर्वथा उचित 'कर्मणा' वर्ण-व्यवस्था के द्वारा, करें; तथा 'जन्मना' को, 'कर्मणा' द्वारा निरीक्षित नियन्त्रित करते हुए, उस व्यवस्था मे स्थान दें। न यह ही, न वह ही; बल्कि दोनों ही; किन्तु 'जन्मना' को 'अधीन' और 'कर्मणा' को 'उपरीण' रक्खे; 'जन्मना' को मातहत और 'कर्मणा' को बालादस्त।

एक अन्यत्र उदाहरण।

आप ने लिखा है कि "बौद्ध जन्द (अर्थात् सिक्खों से इतर) लोग भी अपने समाज मे 'स्वभावानुसार' चार श्रेणियों के रूप मे हैं, और 'समानशीलव्यसन' वाले लोग, परस्पर शादी विवाह करने लगे, तो निश्चय इन लोगों मे भी 'जन्मना वर्णः' चल पड़ेगा"। बहुत ठीक, किन्तु

इस अभिप्राय को, मैं ने, अपनी उक्त अंग्रेज़ी और संस्कृत तथा अन्य अंग्रेज़ी और हिन्दी पुस्तकों मे भी, "भाँति अनेक बार बहु बरना" 'किन्तु काज तनिकहु नहिं सरना', अब तक लोक-प्रिय नहीं बना सका हूँ ; मेरे ही विचार और बुद्धि मे अशुद्धि, भ्रान्ति, त्रुटि, होगी, तथा शब्दों मे सौष्ठव और प्रभाव का अभाव; अथवा, लोक का चिरकालिक संस्कार बहुत बलवान् है, त्वरित बदला नहीं जा सकता, "रसरी आवत जात ते सिल पर परत निसान", उतने ही चिरकालिक आयास से साध्य है। क्योंकि "स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेशः", (योगसूत्र) किं पुनः अविदुषः साधारणजनस्य; अथवा, "अवश्यभव्येष्वनवग्रहग्रहा, यया दिशा धावति वेधसः स्पृहा, तृणेन वात्येव तयाऽनुगम्यते जनस्य चित्तेन भृशाऽवशात्मना" (नैषध); सौर जगत् के विधाता, सावित्री के सविता, महत्तत्व के अंश, प्रत्यक्ष देव, "सूर्यः आत्मा जगतस्तस्थुषश्च", ब्रह्मा-हिरण्यगर्भ-आदि सहस्रनामधारी, आदित्य-नारायण, 'वेधाः', जिन के चारों ओर ज्योतिषोपग्रह सब ग्रह सदा भृत्यवत् घूमते रहते हैं, उनकी, इस समय, फलित-ज्योतिष में सूचित, इच्छा यही जान पड़ती है कि, "हरः संप्रत्यैनं भजति भरितोऽकूलमविधि"; 'कतहुँ भूमि पर शान्ति न करना, भेदभाव ही दोहन करना, देस देस को खण्डित करना, विग्रह युद्ध घोर [illegible] करना, अपरन बहुतन भूपन भरना, मारामारि के दुःख रस भरना, विविध प्रचारन धन-धर करना; जे यदि आदि इन के हरना, तिन, पापे, परि-ताप, उबरना'। इत्यलम्!

तथापि—"यत्ने कृते यदि न सिध्यति, कोऽत्र दोषः" '[illegible] मम, पुनरपि यद्यपैव चिन्त्यं; [illegible] [illegible], [illegible], पार्श्वः पुनर् [illegible] सुतरां [illegible]'। विरोधता, विरसता, [illegible] की 'नानात्मता' को न [illegible], न भूलते, [illegible], [illegible], [illegible], एक इस परमात्मा की 'एकात्मता' पर अधिक ध्यान करने से, '[illegible]' [illegible] मनस से [illegible] है। [illegible] होने से [illegible] है। एक ही वस्तु के विविध [illegible] विविध [illegible] के होने

रहा है; और इस झुकाव को अपने कुछ विवेकितम, प्रसिद्धतम, शिरः-स्थानीय, 'उत्तमाङ्गोद्भव' व्यक्तियों के द्वारा, यथा ब्रिटेन मे एच्. जी. वेल्स आदि, और अन्य देशों के भी ऐसे ही प्रमुख ग्रन्थ-कर्ताओं, साहित्यिकों, विज्ञान-शास्त्रियों, के द्वारा, प्रकट कर रहा है; तथा सर्वसाधारण के चित्त को उसी ओर झुकाने का प्रयत्न कर रहा है। इस झुकाव, इस प्रकार, के सैकड़ों उदाहरणों का संग्रह, उक्त अंग्रेज़ी ग्रन्थों मे मैं ने किया है; और यह दिखाने का प्रयत्न किया है, कि ऐसे 'न्यू वर्ल्ड् आर्डर' और 'वर्ल्ड रिलिजन' के तात्त्विक सात्त्विक मार्मिक धार्मिक सिद्धान्त, सब, वैदिक-सनातन-आर्य-बौद्ध-(बुद्धिसङ्गत)-मानव-(मनूक्त तथा सर्वमनुष्यसं-ग्राह्य)-धर्म मे उपस्थित हैं; यदि 'वर्ण' को 'कर्मणा' और 'आश्रम' को 'वयसा' मानें तो। कबीर, नानक, प्रभृति सन्तों महात्माओं के, धर्म के जीर्णोद्धार के लिये, उद्यमों का भी तात्त्विक मुख्य उद्देश्य यही रहा कि 'धर्म-सामान्य' को, 'आत्मविद्या पर प्रतिष्ठित धर्म' को, भूली हुई स्मृति को, जनता के हृदय मे पुनः जगावें; और इन सब ने, यथा बुद्ध और जिन ने, 'कर्मणा वर्णः' पर ज़ोर दिया।

जिन भारतीय सज्जनों को "रजोलेशाऽनुविद्धसत्त्व" होने के कारण, इस भाव से कुछ सन्तोष होता हो कि भारतीय प्राचीन आर्यशास्त्र मे, सहस्रों वर्षों से, ऐसे सिद्धान्त विद्यमान हैं, उनको यह सन्तोष भी इस रीति से प्राप्त हो सकता है। और यह सन्तोष, उचित मात्रा मे, अनुचित नहीं है; "यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ"।

'अहम् एव, मम धर्म एव, श्रेष्ठतमः' का फल।

किन्तु, जैसा यहूदी धर्माधिकारियों का हार्दिक विश्वास है, कि यहूदी जाति ही अकेली ईश्वर को प्रिय है, अन्य सब से अलग की हुई है, 'चोज़न' है; जैसा ईसाई धर्माधिकारियों को, और उन के श्रद्धालुओं को, कि ईसा मसीह ही अकेले 'सन् आफ़ गाड', 'ईश्वरपुत्र', हुए, ('ईश्वरस्य पुत्रः', 'आर्य' शब्द के अर्थ में, निरुक्त में आता है), 'हिंसो न भूतो न भविष्यति', यद्यपि स्वयं ईसा ने अपने को मनुष्य

व उसी मृत्-सामान्य के विशेष विशेष विकार हैं; यह भी ठीक है कि त्येक का कार्य भी विशेष है; तथा यह भी सत्य है कि, आवश्यकता पड़ने र, एक के अभाव मे, दूसरे से उस का काम कुछ न कुछ, थोड़ा बहुत, नेकाल ही लिया जाता है; और यह भी ठीक है कि, एक हद तक, 'विशेष' र ज़ोर दिये विना, मानव-सभ्यता मे, प्रगति नहीं हो सकती, क्योंकि 'सर्वथा साम्यं तु प्रलयः; वैषम्यं सृष्टिः"; एवं अपनी अपनी श्रेष्ठता का वेश्वास, यदि पराऽवमर्दक अन्य-तिरस्कारक दर्प गर्व से रहित, श्रेष्ठता के साधन का प्रेरक, हो, यथा प्रीति-पूर्वक अखाड़े मे नियुद्ध करनेवालों का, तो सभाजनीय अभिनन्दनीय ही है; पर, यदि उचित सीमा के पार चला जाय, यदि 'विशेष' ही पर ज़ोर दिया जाय, और 'सामान्य' भुला दिया जाय, तब, जैसा ऊपर कहे यहूदी आदि के उदाहरणो से देख पड़ता है, यह परस्पर द्रोह, कलह, युद्ध, 'कलियुग' का 'कलि-राज्य', जो आजकल चारो ओर मच रहा है, मचता ही रहेगा, और उस का अन्त तभी होगा जब सभी लड़ने वाले नष्ट हो जायेंगे।

वर्तमान समय क्या चाहता है ?

निष्कर्ष यह कि, अब यह समय, यह निमित्त, आ गया है, कि 'सामान्य'-मानवता पर, 'विश्व-धर्म' और 'विश्व-व्यवस्था' पर, और उनके साधने वाले 'वर्णाश्रम-धर्मः' पर, अधिक बल दिया जाय। इस विषय के सहायक निर्णायक पुराने वाक्य हैं, "देशकालनिमित्तानां भेदैर्धर्मो विभिद्यते", "आचाराणां अनैकाग्र्यं तस्मात् सर्वत्र दृश्यते", "कुर्वन्ति [illegible] [illegible], [illegible]", "आपदि [illegible] [illegible], [illegible] [illegible]", इत्यादि। 'वर्णाश्रम धर्म' के अनुसार, वर्ण के परिवर्तन के उदाहरण, इतिहास पुराण में, [illegible]; 'मानव-धर्मसार' ग्रन्थ में उन का संग्रह किया गया है। अस्तु।

[illegible]

विश्व-धर्म से [illegible]

सब उसी मृत्-सामान्य के विशेष विशेष विकार हैं; यह भी ठीक है कि प्रत्येक का कार्य भी विशेष है; तथा यह भी सत्य है कि, आवश्यकता पड़ने पर, एक के अभाव मे, दूसरे से उस का काम कुछ न कुछ, थोड़ा बहुत, निकाल ही लिया जाता है; और यह भी ठीक है कि, एक हद तक, 'विशेष' पर ज़ोर दिये बिना, मानव-सभ्यता मे, प्रगति नहीं हो सकती, क्योंकि "सर्वथा साम्यं तु प्रलयः; वैषम्यं सृष्टिः"; एवं अपनी. अपनी श्रेष्ठता का विश्वास, यदि पराऽवमर्दक अन्य-तिरस्कारक दर्प गर्व से रहित, श्रेष्ठता के साधन का प्रेरक, हो, यथा प्रीति-पूर्वक अखाड़े मे नियुद्ध करनेवालों का, तो सभाजनीय अभिनन्दनीय ही है; पर, यदि उचित सीमा के पार चला जाय, यदि 'विशेष' ही पर ज़ोर दिया जाय, और 'सामान्य' भुला दिया जाय, तब, जैसा ऊपर कहे यहूदी आदि के उदाहरणो से देख पड़ता है, वह परस्पर द्रोह, कलह, युद्ध, 'कलियुग' का 'कलि-राज्य', जो आजकल चारो ओर मच रहा है, मचता ही रहेगा, और उस का अन्त तभी होगा जब सभी लड़ने वाले नष्ट हो जायेंगे।

वर्तमान समय क्या चाहता है ?

निष्कर्ष यह कि, अब वह समय, वह निमित्त, आ गया है, कि 'सामान्य'-मानवता पर, 'विश्व-धर्म' और 'विश्व-व्यवस्था' पर, और उनके साधने वाले 'कर्मणा-वर्णः' पर, अधिक बल दिया जाय। इस विषय के सहायक निर्णायक पुराने वाक्य हैं, "देशकालनिमित्तानां भेदैर्धर्मो विभिद्यते", "आचाराणां अनैकाग्र्यं तस्मात् सर्वत्र लक्ष्यते", "युगानि [illegible] यान्ति, [illegible] च", "[illegible], अति सर्वत्र वर्जयेत्", इत्यादि। 'कर्मणा वर्णः' के अनुसार, वर्ण के परिवर्तन के उदाहरण, इतिहास पुराण मे, [illegible] ; 'मानव-धर्म-सार' [illegible] है। अस्तु।

[illegible]

विश्व-धर्म के सहित विश्व-व्यवस्था [illegible]

प्रकृति वा तबीयत के, मुख-बाहु-ऊरूदर-पाद-स्थानीय, ज्ञान-क्रिया-इच्छा-प्रधान और अनभिव्यक्तबुद्धि, विभिन्नप्रकृतिक,मनुष्य, एक ही वंश मे भी, एक ही कुल मे भी, एक ही दम्पति से भी, उत्पन्न होते रहते हैं; और तदनुसार, चार प्रधान प्रकार, जीविका, पेशा, रोज़गार, व्यापार, व्यवसाय, के भी, होते ही हैं; बुद्धिपूर्वक, सुविचारित, या अबुद्धिपूर्वक, अविचारित। भारत मे, वृद्धों ने, ऋषियों ने, सहस्रों वर्षों के सञ्चित अनुभव और ज्ञान से, एक प्रकृति के साथ एक जीविका बांधने का, और दूसरी जीविकाओं के वर्जन का, प्रबन्ध, जैसा बुद्धिपूर्वक कर दिया था, वैसा बुद्धिपूर्वक अन्य किसी देश के इतिहास मे नहीं पाया जाता। ये चार प्रवृत्तियां, जीविकाएं, यह हैं; (१) शिक्षोपजीविका, शास्त्राऽऽजीविका; (२) रक्षोपजीविका, शस्त्राऽऽजीविका; (३) पोषणोपजीविका, वार्ताऽऽजीविका, (दर्शनोपायः वृत्तिः, "वार्ता च सर्वजगतां परमार्तिहन्त्री"); (४) (शारीर-) श्रमोपजीवी, सेवाऽऽजीवी। अंग्रेज़ी मे, (१) 'लर्नेड् प्रोफ़ेशन्स', (२) 'एक्ज़ेक्यूटिव प्रो०', (३) 'कामर्शल प्रो०', (४) 'लेबर प्रो०'। इन चार मे से प्रत्येक के अवान्तर वृत्ति-विशेष, पराऽपरजाति न्याय से, होते हैं।

ऐसी समाज-व्यवस्था, जो प्रत्येक मनुष्य को, उस के स्व-धर्म, अर्थात् स्व-भाव-निर्दिष्ट-धर्म, के अनुकूल शिक्षा दे कर, रक्षा कर के, उपयुक्त जीविका कर्म में लगा दे—यही 'वर्ण-व्यवस्था' है। ऐसा धर्म जो प्रत्येक मनुष्य को उस के स्व-भाव से उत्पन्न रुचि के अनुसार, सांसारिक अभ्युदय और पारमार्थिक निःश्रेयस के अन्तर्गत चारों पुरुषार्थों की सिद्धि का प्रकार सिखाता है; इहलोक और परलोक, दुनिया और आक़बत, दोनों के यथासम्भव साधारण सुख की प्राप्ति का, और तीव्र दुःख से बचने का उपाय बताता है—यही 'विश्व-धर्म', 'धर्म-सार', है; यही 'वर्णाश्रम' धर्म है; यही 'सत्य' पर प्रतिष्ठित, सत्य की प्रकृति के अनुकूल, 'धर्म' है। इन चार पुरुषार्थों, चार प्रकृतियों, चार वर्णों, चार आश्रमों के समन्वय-प्रकारों का वर्णन ही यहां 'मानव-धर्म-सार' में किया है, और इस में से सुन्दर-सुन्दर श्लोक के शब्दों, इत्यादि, और अंग्रेज़ी पर्याय, इत्यादि और

मद्रासी, बंगाली, गुजराती, मराठे, चीनी, जापानी, अंग्रेज़, जर्मन, पठान, रूसी, अरब, तुर्की, आदि 'जातियां' असंख्य हैं; पेशे,'वर्ण',चार ही मुख्य हैं; सब जातियों के सभी मनुष्य, चार वर्णों में से किसी न किसी वर्ण के अवान्तर उपवर्णों मे देख पड़ते हैं।

आज काल यूनिवर्सिटियों विश्वविद्यालयों मे जो 'पेशा'-रूप 'वर्ण' की डिग्रियाँ दी जाती हैं, वे कैसे दी जाती हैं? 'बैचेलर या मास्टर आफ़ ला' (क़ानून), 'आफ़ मेडिसिन्' (आयुर्वेद), 'आफ़् कामर्स' (वाणिज्य), 'आफ़ एंजिनियरिङ्' (यंत्र-शिल्पादि), 'आफ़् एेग्रिकल्चर् (कृषि), 'आफ़् एजुकेशन' (अध्यापन), इत्यादि बहुत प्रकार की डिग्रियाँ, 'एग्ज़ामिनेशन बोर्डों' ही के द्वारा दी जाती हैं; कैसे दी जाती हैं? आप ने प्रश्न किया है, "नियन्त्रण कौन करेगा"; उत्तर, "राजशक्ति, शासनशक्ति, क़ानून-धर्माऽनुसारिणी दंडशक्ति"; अन्ततो गत्वा, "दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वाः"। यूनिवर्सिटी की डिग्री की प्रामाणिकता की प्रतिभूः, आज भी, अन्ततो गत्वा, राजशक्ति, दण्डशक्ति, ही है; "स राजा पुरुषो दण्डः... धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः"; 'युनिवर्सिटी एेक्ट' को शासनशक्ति ने ही बनाया है।

आप का कहना है कि, "यह सब ऐसे प्रश्न हैं जिन पर पूर्णरूप से विचार करने पर पता लगेगा कि केवल 'कर्मणा वर्णः' की व्यवस्था कितनी अव्यवहार्य है"। प्रतिवाद इस का यह है कि "अब केवल 'जन्मना वर्ण' की व्यवस्था, सर्वथा अव्यवहार्य भी और अव्यवहृत भी हो गई है; 'नितरां अविचारकर और अर्थशून्य हो गई है; केवल भोजन और विवाह के विषय मे कुछ इस का व्यवहार किया जाता है; सो भी नाममात्र को, जैसा शुक्रनीति में स्पष्ट लिखा है; और यह भी टूटता जाता है। "षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका, अध्यापनं, याजनं च, विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः; शस्त्रास्त्रभृत्त्वं क्षत्रस्य, वणिक् पशुकृषिर्विशः, शूद्रस्य सेवा चान्येषां", इस प्रकार से भगवान् मनु ने जो वृत्ति-विभाजन का आदेश किया है, क्या 'जन्मना वर्णः' वाले इस का लेशमात्र भी, आजकल सच, निबाहते हैं

सज्जन ने किस वर्ण में रक्खा है ? अथवा वर्ण-'बाह्य', 'अन्त्यज', भी, और 'हिन्दू' भी, बनाया है ?[१]

यदि इन प्रतिप्रश्नो पर आप विचार करेंगे, तो यह स्फुट हो जायगा कि वर्त्तमान देश-काल-निमित्त-अवस्था मे, 'जन्मना वर्णः' का (गौण) सिद्धान्त कितना अव्यवहार्य, कितना 'हिन्दू' समाज की वृद्धि, पुष्टि, प्रगति का विरोधी, जीवन-सौन्दर्य का प्रतिबन्धक, विहन्ता, विघ्नकर्त्ता, हो गया है। ज़माना, समय, पुकार पुकार कर कह रहा है, कि 'जन्मना' पर ज़ोर कम, और 'कर्मणा वर्णः' के (मुख्य) मूल सिद्धान्त पर बहुत अधिक बलऽधान करना परम आवश्यक है। यदि 'कर्मणा वर्णः' माना जाय, तो श्री शिवशरण जी, अपनी जीविका-वृत्ति के अनुसार, जो भी वह हो, चार में से एक 'वर्ण' के, स्वरसतः गिने जायँगे: यदि शास्त्रोपजीवी हैं, तो 'ब्राह्मण'; यदि शस्त्राऽजीवी, तो 'क्षत्रिय'; 'वार्त्ताऽजीवी', तो वैश्य; साधारण सेवाऽजीवी, तो 'शूद्र'; "नाऽस्ति तु पञ्चमः", यह भी मनु की ही आज्ञा है। कुमारिल, मण्डन, शङ्कर आदि के पीछे, अरबों, अफ़ग़ानों, मुग़लों के आक्रमणों का प्रतिरोध, क्षत्रिय राजाओं की परस्पर अनहृति और संघाऽभाव के हेतु से, न हो सकने के कारण, अन्य उपाय न देख कर 'हिन्दू-समाज' ने 'अ-सहयोग' रूपी सङ्कोच का शरण लिया। विक्रम की सप्तम अष्टम शताब्दी पर्यन्त, बौद्ध-भिक्षुओं और विहारों में वज्रयान-वाममार्ग आदि के दुराचारों और भ्रष्टताओं के आ जाने के पहिले, 'हिन्दू'-समाज का विकास और विस्तार 'कर्मणा' के ही अनुसार होता रहा; और बहुतेरी 'बाहर से आयी' 'दास' जातियों का, इस समाज के शरीर में स्वीकार, अभ्यवहार, ग्रहण, पाचन होता रहा। प्रत्यक्ष ही है, वर्धमान, नीरोग, बलवद् युवा शरीर को स्वस्थ भूख लगी रहती है, और वही स्निग्ध

१—[illegible] 'हिन्दू' बनाया गया, और [illegible] हिन्दुओं [illegible] हिन्दू-समाज के बनाने वाले, [illegible] 'हरदर्शी' [illegible] है।

रहने मे कुछ विशेष सन्तोष हो, तो पकड़े रहें; यदि इन नामो को, मन्वादिष्ट जीविका-कर्मों से पृथक् कर के, केवल 'जाति'-वाचक मान लेना हो, तो भले ही माने जायँ; पर उन नामो का, समाज के दैनन्दिन जीवन-व्यवहार मे, लेशमात्र भी उपयोग नहीं रह गया है। अच्छा हो यदि उनके स्थान मे, 'कर्मणा वर्णः' के अनुसार जीविका-बोधक नये नाम प्रयुक्त किये जायँ--शिक्षक, रक्षक, पोषक, सहायक प्रभृति। बंगाल मे 'सेवक' 'सहायक' के स्थान मे 'धारक' शब्द का प्रयोग होने लगा है। रहा, भोजन और विवाह--तो, इन मे, बलात्कारेण, कोई किसी विशेष स्त्री वा पुरुष के साथ भोजन वा विवाह करने को, न 'जन्मना' बाध्य रहा है, न 'कर्मणा' बाध्य होगा।

संस्थाओं, रीतियों, आचारों की, काल-प्रवाह से, विकृतियाँ।

दूसरे प्रकार से देखिये--समालोचक ने 'थियोसोफ़िकल् सोसायटी' की "व्यवहार में" विकृतियों की चर्चा की है; उस के तीन उद्देश्यों का भी उल्लेख कर दिया है; किन्तु इन तीन उद्देश्यों की निरर्थकता वा अनावश्यकता पर कोई आक्षेप वा कटाक्ष नहीं किया है। उद्देश्य हैं, (१) विश्वव्यापी भ्रातृभाव का वर्धन प्रसारण; (२) विविध धर्मों, मज़हबों, शास्त्रों का सम्प्रधारणात्मक, तुलनात्मक, अध्ययन और मीमांसन, उन सब में अनुस्यूत समान सिद्धान्तों, विश्वासों, उपासनाओं, भावों के ज्ञानार्थ; (३) मनुष्य की अनभिव्यक्त अन्तर्वर्तमान शक्तियों का योगद्वारा अन्वेषण। विचारने की बात यह है कि, जिस को वैदिक वा सनातन धर्म कहते हैं उस की 'सोसायटी' अर्थात् 'समाज' में क्या बहुत अधिक विकृतियाँ, "व्यवहार में", नहीं हो गयी हैं; और नित्य नयी नहीं हो रही हैं! 'थियासोफ़ी' शब्द का ठीक तुल्यार्थ शब्द 'ब्रह्मविद्या' है; (ग्रीक शब्द 'थीओस', देव, परमात्मा; 'सोफ़िया', विद्या); अत्यन्त प्राचीन काल से, ब्रह्मविद्या के मूल ग्रन्थ, 'प्रस्थान-त्रय' के नाम से प्रसिद्ध, भगवद्गीता, दश उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, माने जाते हैं, एक एक के कई कई भाष्य, वार्तिक, टीका, टिप्पण आदि, परस्पर खण्डनात्मक, हो रहे हैं। एक ब्रह्मसूत्र ही के

वर्णव्यवस्था के सुधार की आवश्यकता, आप को भी स्वीकार; पर क्या सुधार ?

आप ने दूसरे लेख मे लिखा है कि, "यह हम मानते हैं कि आज अपने यहां की वर्णव्यवस्था मे कितने ही दोष आ गये हैं; वर्णों ने अपने धर्म को छोड़ रखा है; उस मे सुधार की नितान्त आवश्यकता है"। आप यह भी लिखते हैं कि "अन्य लोगों मे भी वर्णव्यवस्था मान लेने मे कोई हानि नहीं है"।

मैं भी तो यही कहता हूं। यही तो 'विश्व-व्यवस्था' का रूप है। आप सुधार की नितान्त आवश्यकता मानते हुए, उस विकार का निदान कारण नहीं बताते, तथा उस सुधार का कोई स्पष्ट और व्यवहार्य उपाय नहीं बताते। मै बताता हूं। यदि आप मेरे कहे निदान को भ्रान्त मानते हैं, तो दूसरा कारण कहिये; यदि आप मेरे बताये उपाय को व्यर्थ और अव्यवहार्य समझते हैं, तो बहुत अच्छा, मैं भी मान लेता हूं कि वह ऐसा ही है; पर आप उस से अच्छा उपाय बताइये।

अन्त मे आप कहते हैं, "आवश्यकता है धैर्य के साथ स्वधर्म-पालन की, स्वधर्मे निधनं श्रेयः"। यह धैर्य कैसे उत्पन्न किया जाय ? यह आवश्यकता सब के मन मे कैसे बैठायी जाय ? "नियन्त्रण कौन करे ?" प्राचीन प्रकार था कि उत्पथ चलनेवालों का नियन्त्रण (क्षतात् त्रायते, रक्षक, दंड का धारक) दण्डधर 'क्षत्रिय' राजा करे; और जब स्वयं राजा उत्पथ उच्छृंखल हो जाय तो (ब्रह्म का, वेद का, सद्ज्ञान का धारक, शिक्षक) ब्रह्मवेत्ता 'ब्राह्मण' उस का नियंत्रण करे: "ब्रह्मैव संनियन्तृ स्यात्", "प्रजानां तु नृपः स्वामी, राज्ञः स्वामी पुरोहितः"। आजकल, 'जन्मना ब्राह्मण' पुरोहितों की दशा, जो स्व-धर्म के पालन मे धैर्य और शान्ति, हो रही है, वह आप से छिपी नहीं है; क्या ऐसे 'जन्मना' क्षत्रिय राजाओं और 'जन्मना' ब्राह्मण पुरोहितों द्वारा, आप अपने अभिलषित सुधार को सम्भव मानते हैं ? अथवा 'पुरोहित' शब्द का, 'कर्मठ, दूरदर्शी, [illegible], पुरः अग्रे, धर्मसंस्थापन, धर्मप्रवर्तनाय, [illegible]

'स्व-धर्म क्या है !

आप चाहते हैं कि सब लोग "धैर्य से स्वधर्म-पालन" करें; बहुत मुनासिब, बहुत उचित; पर 'स्व-धर्म' क्या है, कौन किस का 'स्व-धर्म' है, इसका निर्णय निश्चय कौन करे, कौन "कोर्स" बनाये और "डिग्रियाँ दे ? 'जन्म' ? और अब, जब सभी देशो का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध, संघर्षात्मक भी, सहायात्मक भी, रेल, तार, रेडियो, जहाज़, विमान द्वारा, बँध गया है, और कोई देश भी सर्वथा 'सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र' नहीं रह गया है, तब एक भारतवर्ष ही मे 'जन्मना-स्वधर्म-पालन' की व्यवस्था सिद्ध भी कर ली जाय, तो उतने से ही काम कैसे चलेगा ? भारतीयों पर परायों का आक्रमण, और विदेशियों के द्वारा उन का दासीकरण, कैसे रुकेगा, यदि सब विदेशी भी भारतीय-धर्माधिकारि-सम्मत-आदृत 'स्व-धर्म' का परिपालन न करेंगे ? यदि इस ग्रन्थि को सुलझाने का प्रयत्न आप करेंगे, इस पर कुछ भी विचार करेंगे, तो यह स्पष्ट हो जायगा कि, 'कर्मणा वर्णः' के अनुसार, मन्वादिष्ट "पृथिव्यां सर्वमानवाः" की संग्राहक, 'विश्व-धर्म' से प्राणित, 'विश्व-व्यवस्था' को छोड़ कर दूसरी गति, शांति-बहुला, प्रेम-प्रचुरा, अग्रजन्माऽनुजन्मभ्रातृभाववर्धिनी, मानव लोक के लिये है ही नहीं। 'नैवास्ति गतिरन्यथा'।

'जन्मना' की कथा यह है कि, पश्चिम में भी, जैसे भारत में, चाहे दूसरे शब्दों में, पर तत्वतः उसी भाव से, 'डिवाइन् राइट् आफ् किंग्ज़् ऐंड प्रीस्ट्स्', राजाओं और धर्माधिकारियों 'पादरियों' का ('पाद्री', 'द्विज', दोनों शब्द एक ही, एकार्थ ही, हैं), 'द्विज', 'देवदूत', ('डिवाइन्', 'डीकन्', 'प्रीस्ट्', [illegible]

स्वकुलाद् विरिंच्मः, स्वशुद्धतायाः प्रथनाय, नूनं अस्मत्स्व-धर्मो यद् अमूंस्तु भंज्मः। अ-श्वेतवर्णान् निखिलांस्तु भुंज्मः, प्रैष्येऽपि दास्येऽपि च तान् नियुंज्मः, मृद्नीमोऽपि सर्वाः कृपणास्तु जातीः, स्व-धर्म एषोऽस्ति सिताङ्गजातेः'। इत्यादि।

जब बलवान् पापिष्ठ शासकों और धर्माधिकारियों का 'स्व-धर्म,' सभी देशों मे, निर्दोष दुर्बलों को सताना, चूसना, ठगना, मूर्ख बनाये रखना; जब राम जी ऐसे सत्क्षत्रियों का 'स्व-धर्म,' (आजकाल के 'जन्मना' क्षत्रियम्मन्य राजाओं मे,'प्रतिमानं महीभुजां'' के ऐसे, शतांशलेश मे भी कितने हैं ?) उन दुष्टों का निग्रह करना, (''क्षत्रियैर्धार्यते चापो नाऽऽर्त्तनादो भवेदिति'' यह राम जी की प्रतिज्ञा है); जब उच्च-पवित्रम्मन्य 'ऊंची' जातियों का 'स्व-धर्म','नीची' जातियों को अधिकाधिक 'नीची' और 'अस्पृश्य' करते जाना; जब दाम्भिकों का 'स्व-धर्म' अपने ही कुल-कुटुम्ब-वंश-जातिवालों को, नितान्त थोथे मिथ्या अभियोग लगा कर 'जात बाहर' कर देना, अपने समाज को दुर्बल कर के दूसरे सम्प्रदायों और और समाजों का बल बढ़ाना; जब, ईसा की छठी शताब्दी से सोलहवीं तक कुछ ईसाई सम्प्रदायों का, और सातवीं से आज तक कुछ मुसलमान सम्प्रदायों का, 'स्व-धर्म' यह रहा है कि दूसरे धर्मवालों को छल से, बल से, विविध प्रलोभन से, अपने धर्म और समाज में ले आना, हब्शी तथा अन्य अफ्रीका-निवासी जातियों को गुलाम बनाना, और दूसरों के 'पूज्य' पदार्थों, चिह्नों, धर्मग्रन्थों, उपासना-स्थानों को नष्ट-भ्रष्ट करना; जब छठी से बारहवीं शताब्दी तक वैदिकम्मन्य और बौद्धम्मन्य सम्प्रदायों, समाजों, दलों का भी ऐसे ही परस्पर व्यवहार का 'स्व-धर्म' रहा; जब आर्य, ईरानी, ग्रीक, गोथ, शक, हूण, मुगल, तुर्क, आदि पौरस्त्य जातियों का, वेदकाल और उपनिषत्काल से ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी तक, पाश्चात्य यूरोप की ओर बढ़ते जाना, और पहिले से बसी जातियों पर आक्रमण कर के उन का ध्वंस करना, 'स्व-धर्म' था; जब सोलहवीं शताब्दी से आज तक इस के उलटे चल रहे हैं, और पाश्चात्य श्वेत जातियों का, पौरस्त्य

बताता है, और अपौरुषेय कहता हुआ भी भूतार्थवाद, अनुवाद, गुणवाद, "रोचनार्था फलश्रुतिः" आदि का बहुत सूक्ष्म सूक्ष्म, बुद्धि पर तीखी सान चढाने वाला, विवेक करता है; ऐसी सान, कि "वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च" के ऐसी बारीक हो कर, बुद्धि अदृश्य और लुप्त ही हो जाती है, स्थूल सांसारिक व्यावहारिक कार्यों के स्पर्श को सहन ही नहीं कर सकती ! प्रत्यक्ष ही, सैंकडों पंथ, परस्पर विवदमान, कलहायमान, भारत मे भर रहे हैं; सभी अपने को हिन्दू, सनातनधर्मानुयायी, स्वधर्म पालक कहते हैं; "अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव, सनातनश्चापि धर्मस्तथैको जातिं जातिं प्रतिजातिर् बभूव"। ऐसी दशा मे, 'स्व-धर्म' के सच्चे रूप का निर्णय कीजिये, और उसका, सब से, धैर्येण अवलम्बन कराने का, उपाय बताइये। गीता मे 'स्व-धर्म' शब्द पांच बार आया है; अ० ३-३५ (दो बार); २-३१, ३३; १८-४७; इन प्रयोगों पर, तथा ४-१२ और १८-४१ पर, विचार करने से मेरे समझ मे यही आया है कि "स्वभाव-नियतं कर्म" ही को कृष्ण ने "स्वधर्म" माना है; अर्थात्, 'स्वस्य भावे प्रधानो यो गुणः, सत्त्वं, रजोऽथवा तमस्, तदुद्गतं कर्म यत्, स्व-धर्मः स एव हि।'

पुनरपि मेरा नम्रनिवेदन।

ऐसे हेतुओं से, वर्तमान अवस्था मे, सब पाठक सज्जनो से पुनरपि मेरा नम्र निवेदन है, (क्योंकि मैं हिन्दूधर्म और हिन्दू समाज का द्रोही नहीं हूँ, प्रत्युत बहुत हितैषी और हितेप्सु, आज पैंतालीस पचास वर्ष से, अधिकाधिक हो रहा हूँ), कि, इस समय मे, 'जन्मना वर्णः' का उद्बोधन, प्रचारण, प्रदर्शन, दुर्लभ तथा असम्भव है, और कल्याणकर नहीं है; प्रत्युत, बलवानों को, निसर्गतः, 'अधिकारों' का अधिकाधिक लुब्ध बनाता है, और 'कर्तव्यों' से अतितरां विमुख और च्युत करता है; और दुर्बलों को अधिकार-हीन, और केवल कर्तव्यों के भार से कुचल और अवमानित, कर देता है। विपरीत इस के, 'कर्मणा वर्णः' का, और तदनुसार अधिकारों और कर्तव्यों के परस्पर दृढ सम्बन्धन का, और नित्य

पहिले कुछ अनुद्बुद्ध रूप से, पीछे अधिकाधिक उद्बुध्यमान रूप से, अब बहुत वर्षों से दृढ़, विश्वास, मेरा यह हो रहा है कि, 'हिन्दू-धर्म' पर प्रतिष्ठित यही 'हिन्दू-समाज-व्यवस्था', यदि अध्यात्मशास्त्र और आत्म-विद्या के अनुसारी 'कर्मणा वर्णः' के सिद्धांत से परिमार्जित, परिष्कृत, प्रतिसंस्कृत, कर दी जाय, तो 'हिन्दू-धर्म' 'हिन्दू-समाज' के कृत्रिम नाम और संकुचित भाव को छोड़ कर, सर्वलोकसंग्राहक तथ्य और उदार और प्राचीन आर्ष नाम और भाव, 'मानव-धर्म', 'मानव-समाज', का ग्रहण कर लेगी; और, "नित्यः सर्वगतः स्थाणुः अचलोऽयं सनातनः", 'सनातन' आत्मा पर प्रतिष्ठित, उस की प्रकृति से निस्सृत 'धर्म', सनातनधर्म', 'विश्व-धर्म' से प्राणित 'विश्व-व्यवस्था', सर्व-मानव-लोक-कल्याणकारिणी हो जायगी।

'डिमाक्रेसी' के दोष।

इस लेख को यहाँ समाप्त करना चाहता था, कि समालोचक के दो और लेख " पाश्चात्य लोकतन्त्र " और "हमारा कटु अनुभव", (सिद्धान्त के १४ और २८-४-१९४२ के अङ्कों में), नज़र आये; उन में जो बातें वर्तमान 'डिमोक्रेसी' के दोषों के सम्बन्ध में कही हैं, प्रायः वह सब, अधिक विस्तार से, बहुत हेतुओं के, और पाश्चात्य लेखकों के मतों के प्रतिपादन के, साथ, 'विश्वयुद्ध और उस की एकमात्र औषध' नाम के ग्रन्थ में मैं ने लिखा है। पर उस ग्रन्थ में एक बात और लिखी है। इतना ही कह और पूछ कर (जैसा समालोचक ने किया है) कि "इन सब प्रश्नों पर क्या अभी से विचार करने की आवश्यकता नहीं है?" मैं ने सन्तोष नहीं किया है बल्कि विस्तार से विचार किया है। आश्चर्य है कि इन विचारों की ओर समालोचक का ध्यान नहीं गया; उस ग्रन्थ में, आरम्भ से अंत तक यही बात तो कही है कि इन प्रश्नों पर अभी से विचार करने की आवश्यकता है, और मेरी बुद्धि में, प्रश्नों के उत्तर-रूप जो विचार उठे हैं, उनका प्रतिपादन किया है; और उन सब उत्तर-रूप विचारों के सूत्र शब्द भी तो ये ही हैं—विश्वधर्मानुप्राणित विश्व-व्यवस्था!

लेखकों ने विस्तार से दिखाया है), जिस से अच्छे, अनुभवी, लोक-हितैषी, निःस्वार्थ आदमी ही धर्मव्यवस्थापक सभाओं मे जायँ, और ऐसे अच्छे क़ानून बनावें, जिन क़ानूनो धर्मों से ऐसी समाज-व्यवस्था बन जाय, कि सब मनुष्यो को, यथोचित, स्व-स्व-प्रकृति के अनुकूल, पेट भर रोटी, पीठ भर कपड़ा, सिर भर छप्पर छाजन, माथे मस्तक मस्तिष्क भर ज्ञान, धर्म (उपासना) और अर्थ (स्वत्व, सम्पत्ति, परिग्रह, रिक्थ, 'प्रापर्टी', मिल्कीयत) और काम (गार्हस्थ्य) का उचित मात्रा मे सुख, और अन्याय के भय से छुटकारा, मिल सके। और, ऐसी प्रार्थना, इन सब से, पुनः पुनः सतत करते हुए, यह सूचना भी, पुनः पुनः उक्त दोनो अंग्रेज़ी और एक संस्कृत ग्रन्थों मे, तथा अन्य कई अंग्रेज़ी और हिन्दी ग्रन्थों और छोटे लेखों मे, समास से भी और व्यास से भी, कर दी है, कि 'मानव-धर्म' के 'मानव आध्यात्मिक और आधिभौतिक, आधिदैविक और आधि-दैहिक, प्रकृति' के, अनुसार 'कर्मणा वर्णः' की नीति रीति से, 'मानव-समाज-व्यवस्था' और 'राष्ट्र-शासन-पद्धति' ऐसी ऐसी होनी चाहिये; और यदि हो, तो उक्त लक्ष्य, जो सब तीन एषणाओं के अन्तःपाती है, तथा मोक्षैषणा भी, अर्थात् स्वार्थ, परार्थ, परमार्थ, सभी तृप्त और सिद्ध हो जायँ; तथा, लोकतन्त्रवाद, साम्राज्यवाद, साम्यवाद, 'शास्त्री राज्य', 'शस्त्री राज्य', 'धनी राज्य', 'श्रमी राज्य', एकराज्य, द्वैराज्य, गणराज्य, स्वाराज्य, संघराज्य, वैराज्य, भौज्य, आदि प्रत्येक मे जो गुण का अंश है, उन सब का आ-कर्ष, और सब के दोष के अंशों का अप-कर्ष, भी, यथासम्भव, हो जाय; यथासम्भव, क्योंकि प्रकृति की अपरिहार्य द्वन्द्वता के कारण, आत्यन्तिक निर्दोषता, कभी, किसी प्रकार से [illegible], सिद्ध नहीं हो सकती; दोष कम, गुण अधिक, दुःख कम, सुख अधिक—किसी एक निर्दिष्ट, परिमित, देश और काल के जनपद और युग के—इतना ही साधा जा सकता है; और सध जाय, तो अहो भाग्यम्।

[illegible]

भारत के लिये विशेष रूप से, सन् १९२१ से, [illegible]

'स्वराज की रूपरेखा', एक कमेटी द्वारा तयार करके जनता के समक्ष विचारार्थ उपस्थित कर दी जानी चाहिये; और मुझे बड़ी आशा उत्पन्न हुई कि यह परम आवश्यक कार्य अब निश्चयेन करा देंगे, तब ऐसी घटनाएं हुईं कि गांधी जी कांग्रेस के नेतृत्व से तटस्थ हो रहे हैं, और 'अनैक्य' की भावना, परस्पर 'अस्पृश्यता', भेद-बुद्धि, जो 'हिन्दू' जनता मे भरी हुई है, और उस के अधःपात का प्रधान कारण है, वही कांग्रेस के भीतर भी सहसा जागी, और 'छोपो,तोपो, बोलो मत' की थोथी नीति को सद्यः पार्ष्णिदान से दूर फेंक कर, कांग्रेस के संघटन का विघटन करने के लक्षण दिखा रही है। और, अब तो ९ अगस्त १९४२ से महात्मा गांधी तथा कांग्रेस के अन्य प्रमुख नेता, प्रायः सभी, पुनः कारावास मे बंद कर दिये गये हैं। (गांधी जी से और मुझसे जो इस विषय पर पत्र-व्यवहार अगस्त-अक्टूबर १९४१ मे हुआ था, वह 'वर्ल्ड वार्' की पुस्तक के पृ० ५३१-५२६ पर छपा है)। "रात्रिर्गमिष्यति, भविष्यति सुप्रभातं, भास्वानुदेष्यति, हसिष्यति पङ्कजश्रीः, इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे, हा हन्त, हन्त, नलिनीं" 'तु करी ममर्द'; अभी भी सर्वथा "गज उज्जहार" नहीं; 'आसा पर साँसा' और 'जब तक साँस तब तक आस।

कांग्रेस की अनवस्था दुरवस्था।

नेता महोदय सदा इसी महाभ्रान्ति मे पड़े रहे हैं, कि पहिले शासन-शक्ति हाथ मे आ जाय, तब पीछे सोचा जायगा कि उस का प्रयोग कैसे किया जायगा; कितना कितना भी कहा गया, इन महाशयों ने अब तक यह नहीं ही पहिचाना कि, बिना इस बात को सब दलों, सब मत-वालों, को समझाये, और उन के मन मे यह विश्वास बैठाये, कि शासन-शक्ति का प्रयोग इस इस प्रकार से किया जायगा, ऐसी ऐसी योग्यता के, 'तपो-विद्या'-गुण 'पुरोहितों' के द्वारा ऐसे ऐसे क़ानून बनवाये जावेंगे, और ऐसी समाज-व्यवस्था बांधी जावगी, जिस से सब को अन्न-वस्त्रादि आवश्यक वस्तुओं की प्राप्ति निश्चित हो जावगी—बिना इस के, सब 'दलों'

उपसंहार ।

भारतभूमि पर, परमात्मा जगदात्मा की इच्छा से, पृथिवी पर प्रचलित सब ही मुख्य धर्म एकत्र हैं; यहाँ हिन्दू, बौद्ध, जैन, पारसी, सिख, भी, ईसाई, मुसल्मान, यहूदी भी, सभी हैं; अतिप्राचीन, 'सनातन'-धर्मसार, धर्म-सामान्य, 'विश्व-धर्म', वेदान्त–तसव्वुफ़–ग्नास्टिक्मिस्टिसिज़्म, का नवाऽवतार भारत मे यदि नहीं होगा, तो अन्य किस देश से आशा है ? "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः, कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः", चातुर्वर्ण्यान्तरायाताः "पृथिव्यां सर्वमानवाः", त्रयो द्विजाः, एकजातिर् एको, "नास्ति तु पञ्चमः"; सर्वधर्मसम्प्रदायान्तर्गत सर्व मानवों को, व्यवस्थासार, समाज-व्यवस्था-सामान्य, 'विश्व-व्यवस्था', भारत का ही देन, 'कर्मणा' ही (न तु 'जन्मना') हो सकता है । और ऐसी **विश्वधर्म से अनुप्राणित विश्वव्यवस्था** से ही मानवजगत् का सब प्रकार का कल्याण हो सकता है, और प्रत्येक मनुष्य के लिये, उस की प्रकृति की गति पर्यन्त, चारो पुरुषार्थ सिद्ध हो सकते हैं ।

"सुलभाः पुरुषाः नूनं सततं प्रियवादिनः, अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः" दुर्लभश्चापि सत्-कृत्यकर्म-निर्देशको जनः । "प्रायः सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यति; आत्मनो बिल्वमात्राणि, जनः पश्यन्, न पश्यति" । "सामान्यमेकत्वकरं, विशेषस्तु पृथक्त्वकृत्; तुल्यार्थता हि सामान्यं, विशेषस्तु विपर्ययः; सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणं; ह्रासहेतुर्विशेषश्च; प्रवृत्तिरुभयस्य तु"। "दीर्घं पश्यत, मा ह्रस्वं ; परं पश्यत, माऽपरम् ; धर्मं चरत, माऽधर्मं ; सत्यं वदत, माऽनृतं" । "सर्वमात्मनि सम्पश्येत्, सच्चाऽसच्च समाहितः; आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति यो जनः, स सर्वसमतामेत्य, स्वाराज्यं अधिगच्छति" ।

ॐ सर्वस्तरतु दुर्गाणि, सर्वो भद्राणि पश्यतु,
सर्वः सद्बुद्धिमाप्नोतु, सर्वः सर्वत्र नन्दतु । ॐ

ॐ

अशुद्धि-शोधन

(कुछ मेरी जरा-जीर्ण आँखों के दोष से, कुछ अन्य हेतुओं से, ग्रन्थ में छपाई आदि की त्रुटियाँ बहुत रह गई हैं; थोड़ी सी, विशेष ध्यान के योग्य, यहाँ शोधी जाती हैं —ग्रन्थकार)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६०	६	अपरा विद्या का	परा विद्या का
६३	२	के	शान्तिपर्व के
९९	१८	हमार	मेरो
१००	१२	कांच	काञ्चन
१०३	७	सब लोकनाथ जो, परमातम	परमातम, जो सब जग में, अरु
११९	१३	क्षिप्राप्रद	शिक्षाप्रद
१२२	७	परस्य	खलस्य
१४५	२०	स्पेन	स्येन
१४६	२	बल	फल
१५२	१६	भाव, वीर	भाव, रौद्र और वीर
१६२	१४	है	है। "आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनं"(गी०)।
१६७	२५	होइ हरि प्रकट	अंश होइ हरि
२०५	१०	अति	रागद्वेषादि में से किसी की अति
२१८	१२	रूपं	पुनः पुनः आविर्भूत रूपं
२५८	१	तान	ताम
२६९	२१	सयोगिनो	प्रतियोगिनो
२४४	१०	'स्व')	'स्व') समझा जाते, और इन समझ से

डाक्टर भगवान् दास के रचे अन्य ग्रन्थ ।

The Science of the Self (आत्मशास्त्र). Rs. 1-8-0

The Science of Peace (शान्तिशास्त्र), 2nd edition, cloth Rs. 3; boards Rs. 2-8-0

The Science of the Emotions (राग-द्वेषादि क्षोभ-शास्त्र). (4th edition; in preparation.)

The Science of Social Organisation, or The Laws of Manu (समाज-व्यवस्था शास्त्र वा मानव धर्म) 2nd edn., Vols I & II (Vol. III in preparation.) Vol. I, cloth, 2-8-0 boards, 2-4-0; Vol. II. Rs. 2-0-0 & 1-12-0.

The Science of the Sacred Word, or The Pranava-Vada (प्रणव-वाद) of Gārgyāyaṇa, 3 Vols. (Out of print.) Rs. 7-8-0

The Science of Religion, or the Principles of Sanatana Vaidika Dharma (सनातन वैदिक धर्म के तत्त्व). (Out of Print.)

Krishna, A Study in the Theory of Avataras, (कृष्ण-अवतार-तत्त्व) Rs. 2-0-0 & 1-12-0

Mystic Experiences, or Tales from the Yoga-Vasishtha (अलौकिक अनुभव, अर्थात् योग वासिष्ठ के कुछ आख्यान) Rs. 0-12-0

Ancient versus Modern Scientific Socialism (प्राचीन और नवीन समाजवाद की परीक्षा) Rs. 1-8-0 & 1-0-0

The Essential Unity of All Religions (सर्व-धर्म-समन्वय, वा सब धर्मों की तात्त्विक एकता) Rs. 2-0-0

World War & Its Only Cure—World Order & World Religion (विश्व-युद्ध और उसका एकमात्र औषध—विश्व-धर्म से अनुप्राणित विश्व-व्यवस्था) Rs. 2-4-0